जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ९ किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

Vol VIII. No. I.

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

JUNE, 1942.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में जून और दिसम्बर में दो भागों में प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ३) और विदेश के लिये ३॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे; प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो, इसकी सूचना जल्द कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैन-धर्म के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए.एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग ८ ज्येष्ठ किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३।। एक प्रति का १।

ई० सन् १९४२

विषय-सूची

पृष्ठ

ग्रन्थमाला-विभाग

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग ९ | जून, १९४२ । ज्येष्ठ, वीर नि० सं० २४६८ | किरण १

राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्षकी जैनदीक्षा

(ले०—श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम.ए., एल-एल.बी.)

राष्ट्रकूटवंशके राजा अमोघवर्ष (प्रथम) इतिहास-प्रसिद्ध हैं। इन्होंने मान्यखेट राजधानी बसाई, जो अपने वैभव और सौन्दर्यमें इन्द्रपुरीसे भी बढ़ गई थी। इनके राज्यकालकी प्रशस्तियाँ शक संवत ७३८ से ७९९ तक की मिली हैं।[1] उनसे पूर्वके राजा गोविन्दराज (तृतीय) का एक ताम्रपत्र शक ७३५ (सन् ८१३) का पाया जाता है, तथा अमोघवर्षका एक लेख शक ७८८ का उनके राज्यकालके ५२ वें वर्षका है। इन उल्लेखों परसे उनके राज्यका प्रारम्भ सन् ८१४-८१५ सिद्ध किया गया है।[2] इससे ज्ञात होता है कि अमोघ-वर्षने सन् ८१५ से ८७७ तक ६२-६३ वर्ष अवश्य राज्य किया।

अमोघवर्ष नरेश किस धर्मके अनुयायी थे, इस प्रश्नका उत्तर भी उनके सम्बन्धके अनेक ताम्रपत्र, शिलालेख व साहित्यिक उल्लेखोंसे चल जाता है। एक कुशल नीतिज्ञ राजा किसी धर्मविशेषका पक्षपाती या विरोधी नहीं हो सकता। तदनुसार अमोघवर्षके हिन्दूधर्म व जैनधर्मके प्रति सत्कारके अनेक उल्लेख मिलते हैं। तो भी हिन्दू धर्म-सम्बन्धी उल्लेख होने पर भी इतिहासकारोंने यह स्वीकार कर लिया है कि अमोघवर्षकी

---

१ रेउ: भारतके प्राचीन राजवंश, भाग ३, पृष्ठ ३९ आदि।

२. Altekar : The Rashtrakutas and their times. P. 71.

यथार्थ चित्तवृत्ति जैन धर्मकी ओर थी। इस संबंधके प्राप्य उल्लेखोंका परिचय कराकर सर रामकृष्ण गोपाल भंडारकरने अपने दक्षिणके इतिहासमें लिखा है[1]—

" From all this it appears that of all the Rashtrakuta princes Amoghavarsha was the greatest patron of the Digambara Jainas; and the statement that he adopted the Jaina faith seems to be true."

अर्थात् उपर्युक्त प्रमाणोंसे यह प्रतीत होता है कि समस्त राष्ट्रकूट राजाओंमेंसे अमोघवर्ष सबसे बड़ा दिगम्बर जैनियोंका संरक्षक था; और उसके जैन धर्म स्वीकार करनेकी बात भी यथार्थ प्रतीत होती है।

उसी प्रकार विश्वेश्वरनाथजी रेऊने भी कहा है कि[2] "इससे ज्ञात होता है कि यह राजा दिगम्बर जैन मतका अनुयायी और जिनसेनका शिष्य था। . . . . इससे प्रतीत होता है कि अपनी वृद्धावस्थामें इस राजाने राज्यका भार अपने पुत्रको सौंपकर शेष जीवन धर्मचिन्तनमें बिताया था।" उसी प्रकार डाक्टर अल्तेकरने स्वीकार किया है कि[3]—

" In religion Amoghavarsha had great leaning towards Jainism."

अर्थात् "धर्मके सम्बन्धमें अमोघवर्षका भारी झुकाव जैन धर्मकी ओर था।"

जिन उल्लेखोंपरसे उक्त इतिहासकारोंने अमोघवर्षके जैनधर्मके अनुयायी या जैन धर्मकी ओर विशेष आकर्षित होनेकी बात स्वीकार की है, वे संक्षेपतः इस प्रकार हैं--

(१) वीरसेनाचार्यने अपनी धवला टीका इन्हींके कालमें शक ७३८ में समाप्त की थी, तथा उनके शिष्य जिनसेनाचार्यने अपने पार्श्वाभ्युदय काव्यकी अन्तिम प्रशस्तिमें इनके सदा राज्य करते रहनेका आशीर्वाद दिया है।[4] इसी पार्श्वाभ्युदयकाव्यकी सर्गान्त पुष्पिकाओंमें जिनसेनाचार्य अमोघवर्ष नरेशके 'परमगुरु' कहे गये हैं।[5]

(२) जिनसेनाचार्यके शिष्य गुणभद्रने उत्तरपुराणमें कहा है कि अमोघवर्ष नृपति जिनसेनाचार्यको प्रणाम करनेसे अपनेको पवित्र समझता था।[6]

१ Bhandarkar: The early History of the Deccan P. 95.

२ रेऊः भारतके प्राचीन राजवंश, भाग ३, पृष्ठ ४८-४५।

३ Altekar: The Rashtrakutas and their times. P. 88.

४ 'भुवनमवतु देवः सर्वदामोघवर्षः'

५ इत्यमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरुश्रीजिनसेनाचार्यविरचिते मेघदूतवेष्टिते पार्श्वाभ्युदये भगवत्कैवल्य-वर्णनं नाम चतुर्थः सर्गः।

६ यस्य प्रांशुनखांशुजालविसरद्धारान्तराविर्भवत्-पादाम्भोजरजःपिशङ्गमुकुटप्रत्यग्ररत्नद्युतिः। संस्मर्ता स्वममोघवर्षनृपतिः पूतोऽहमद्येत्यलं स श्रीमान् जिनसेनपूज्यभगवत्पादो जगन्मङ्गलम्॥

(३) 'प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका' नामक एक छोटासा सुन्दर सुभाषित काव्य है। यह काव्य इतना लोकप्रिय हुआ कि श्वेताम्बर जैनियोंने इसे अपनाकर विमलसूरिकृत प्रकट किया है और हिंदुओंने शंकराचार्यकृत मानकर उसका आदर किया है। किन्तु दिगम्बर सम्प्रदायने इसे अमोघवर्षकृत ही माना है और इसका समर्थन एक प्राचीन तिब्बती अनुवादसे भी हो गया है।[१] इस काव्यके आदिमें कर्ताने वर्धमान तीर्थंकर को नमस्कार किया है[२] और अन्तके पद्यमें कहा गया है कि "यह विद्वानोंकी सुन्दर अलंकार रूप रत्नमालिका राजा अमोघवर्षकी बनाई हुई है जिन्होंने विवेकसे राज्यका त्यागकर दिया।"[३]

इन उल्लेखोंपरसे ज्ञात होता है कि अमोघवर्ष नरेशने न केवल जैनधर्मकी ओर झुकाव ही दिखाया था, किन्तु जैनगुरुओंकी वे बड़ी भक्ति करते थे। अन्तिम उल्लेखसे तो ज्ञात होता है कि अन्ततः वैराग्यसे उन्होंने राजपाट त्याग ही कर दिया था। किन्तु राज्य त्याग कर उन्होंने क्या किया, इस विषय पर उक्त इतिहासज्ञोंने अपना भिन्न-भिन्न मत प्रकट किया है। सर भंडारकरने तो अपने इतिहासमें इतना ही कहा है कि "उनका जैन धर्म स्वीकार करना ठीक प्रतीत होता है।" रेऊजीका कहना है कि "इससे प्रतीत होता है कि अपनी वृद्धावस्थामें इस राजाने राज्यका भार अपने पुत्रको सौंपकर शेष जीवन धर्मचिन्तनमें बिताया था।" डॉ० अल्तेकरने बतलाया है कि अमोघवर्षके राज्यत्यागके संबंधका उल्लेख एक ताम्रपत्रमें भी पाया जाता है। यह ताम्रपत्र अमोघवर्षके ५२ वें राज्यवर्षका, शक ७८८ का, लिखा हुआ है। किन्तु उस उल्लेखसे ज्ञात होता है कि उन्होंने एक नहीं अनेकबार राज्य त्याग किया था। इस परसे डॉ० अल्तेकरका मत है कि—

"It would seem that he was often putting his *Yuvarāja* or the ministry in charge of the administration, in order to pass some days in retirement and contemplation in the company of his Jaina Gurus. This again shows the pious monarch trying to put into practice the teachings both of Hinduism and Jainism which require a pious person to retire from life at the advent of old age in order to realise the highest ideals of human life."

१ Bhandarkar : Early History of the Deccan, P. 95.

२ प्रणिपत्य वर्धमानं प्रश्नोत्तररत्नमालिकां वक्ष्ये।
नागनरामरवंद्यं देवं देवाधिपं वीरम् ॥

३ विवेकात्त्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका।
रचितामोघवर्षेण सुधियां सदलंकृतिः ॥

अर्थात् पूर्वोक्त उल्लेख परसे ऐसा मालूम होता है कि अमोघवर्ष कई बार अपने युवराजको या मंत्रिमंडलको राज्यभार सौंपकर कुछ दिन एकान्तवास और ध्यानके लिये अपने जैन गुरुओंके साथ बिताया करते थे। इससे भी यही ज्ञान होता है कि ये धर्मात्मा नरेश हिन्दू और जैनधर्मके उन उपदेशोंको अपने आचरणमें उतारनेका प्रयत्न करते थे, जिनके अनुसार धर्मिष्ट मनुष्यको अपनी वृद्धावस्थामें संसारकी झंझटोंसे अलग होकर जीवनके उच्चतम आदर्शको प्राप्त करना चाहिये।

तब क्या प्रश्नोत्तर-रत्नमालिकामें अमोघवर्षके किसी ऐसे ही एक अल्पकालीन राजत्याग-का उल्लेख है और उसी अल्पकालमें वह रचना करके वे पुनः सिंहासन पर आ बैठे होंगे? यह बात तो सच है कि जब शक ७८८ के लेखमें उनके राज्य त्यागका उल्लेख है, तब किसी अल्पकालीन त्यागका ही वहाँ अभिप्राय हो सकता है, क्योंकि उसके पश्चात् शक ७८९ व शक ७९९ के भी उनके लेख पाये गये हैं। किन्तु जिस राज्यत्यागका उल्लेख 'प्रश्नोत्तर-रत्नमालिका' में पाया जाता है, वह त्याग ऐसा अल्पकालीन प्रतीत नहीं होता। उस ग्रन्थके भीतर जो भाव भरे हैं, वे लेखकके स्थायी वैराग्यके परिचायक हैं, और अन्तमें 'विवेकात्त्यक्तराज्येन' विशेषण लगाया गया है। उससे तो यही ज्ञान पड़ता है कि राजाका इस बारका त्याग क्षणिक नहीं, स्थायी था; उन्होंने विवेकपूर्वक यह त्याग किया था। पर राज्य छोड़कर उन्होंने किया क्या, यह फिर भी अनिश्चित ही रहा। क्या वे गृहस्थ रहकर एकान्तमें धर्मचिन्तन करते रहे, या हिन्दू संन्यासी या जैन मुनि बन गये? पं० नाथूरामजी प्रेमीका मत है कि[1]—

"यह बात अभी विवादापन्न ही है कि अमोघवर्षने राज्यको छोड़कर मुनि-दीक्षा ले ली थी या केवल उदासीनता धारण करके श्रावककी कोई उत्कृष्ट प्रतिमाका चरित्र ग्रहण कर लिया था। हमारी समझमें यदि उन्होंने मुनि-दीक्षा ली होती, तो प्रश्नोत्तररत्नमालामें वे अपना नाम 'अमोघवर्ष' न लिखकर मुनि अवस्थामें धारण किया हुआ नाम लिखते। इसके सिवाय राज्यका त्याग करनेके समय उनकी अवस्था लगभग ८० वर्षकी थी, इसलिये भी उनका कठिन मुनिलिंग धारण करना संभव प्रतीत नहीं होता।"

उपर्युक्त उपलब्ध प्रमाणोंपरसे यह निष्कर्ष निकालना सयुक्तिक ही है। पर इस विषयके निर्णयके लिये एक और बड़ा प्रमाण उपलब्ध है, जिसकी ओर अभी तक इतिहासज्ञोंका

1 विद्वद्रत्नमाला, पृ० ८४।

पूर्ण ध्यान नहीं गया। अमोघवर्ष नृपका उल्लेख महावीराचार्यने भी अपने गणितसार-संग्रहमें किया है और इस उल्लेखकी सूचना उपर्युक्त समस्त इतिहासज्ञोंके लेखोंमें पाई जाती है। किन्तु गणितसारसंग्रहके पूरे उल्लेखका किसीने अभीतक गंभीर अध्ययन नहीं किया, और इसीलिये उससे उपर्युक्त विषय पर जो प्रकाश पड़ना चाहिए था वह अभी तक नहीं पड़ सका। अब हम यहाँ महावीराचार्य द्वारा गणितसार-संग्रहमें दी हुई अमोघवर्षकी प्रशस्तिका परिचय कराते हैं।

गणितसारसंग्रहके प्रारंभमें मंगलाचरण है जिसके प्रथम पद्यमें अलंघ्य, त्रिजगत्सार, अनन्तचतुष्टयके धारी महावीर जिनेन्द्रको नमस्कार किया गया है। दूसरे पद्यमें उन महाकान्तिधारी जैनेन्द्रको प्रणाम किया गया है, जिन्होंने संख्याके ज्ञानरूपी प्रदीपसे समस्त जगतको प्रकाशित कर दिया है। तीसरेसे आठवें पद्य तक अमोघवर्षकी प्रशस्ति है, जो इस प्रकार है—

प्रीणितः प्राणिसस्यौघो निरीतिर्निरवग्रहः।
श्रीमतामोघवर्षेण येन स्वेष्टहितैषिणा ॥१॥
पापरूपाः परा यस्य चित्तवृत्तिहविर्भुजि।
भस्मसाद्भावमीयुस्तेऽवन्ध्यकोपोऽभवत्ततः ॥२॥
वशीकुर्वन् जगत्सर्वं स्वयं नानुवशः परैः।
नाभिभूतः प्रभुस्तस्मादपूर्वमकरध्वजः ॥३॥
यो विक्रमक्रमाक्रांतचक्रिचक्रकृतक्रियः।
चक्रिकाभञ्जनो नाम्ना चक्रिकाभञ्जनोऽञ्जसा ॥४॥
यो विद्यानद्यधिष्ठानो मर्यादावज्रवेदिकः।
रत्नगर्भो यथाख्यातचारित्रजलधिर्महान् ॥५॥
विध्वस्तैकान्तपक्षस्य स्याद्वादन्यायवादिनः।
देवस्य नृपतुङ्गस्य वर्धतां तस्य शासनम् ॥६॥

इस प्रशस्ति पर विचार करनेसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि लेखकने यहाँ अमोघवर्षकी राजवृत्तिके साथ-साथ द्व्यर्थक विशेषणों द्वारा उनकी मुनिवृत्तिका वर्णन किया है। यही नहीं, किन्तु अंत तक जाते-जाते राजवृत्ति वर्णन बहुत गौण और मुनिवृत्ति वर्णन ही प्रधान हो गया है। प्रथम पद्यमें अमोघवर्ष प्राणी रूपी सस्यसमूहको संतुष्ट व निरीति और निरवग्रह

करनेवाले और स्वेष्टहितैषी कहे गये हैं। यहाँ राजाके ईति-निवारण और अनावृष्टिकी विपत्तिके निवारणके साथ-साथ सब प्राणियोंकी ओर अभय और राग-द्वेष-रहित वृत्तिका उल्लेख है। इस प्रकार वे आत्मकल्याणपरायण हो गये थे, यह 'स्वेष्टहितैषिणा' विशेषणसे स्पष्ट है। दूसरे पद्यमें उनके पापरूपी शत्रुओंका उनकी चित्तवृत्तिरूपी तपोज्वालामें भस्म होनेका उल्लेख है। राजा अपने शत्रुओंको अपने क्रोधकी अग्निमें भस्म कर डालता है; इन्होंने कामक्रोधादि अंतरंग शत्रुओंको कषायरहित चित्तवृत्तिसे नष्ट कर दिया था। वे 'अबन्ध्य कोप' हो गये थे, उनके क्रोधकषायका बन्ध नहीं रहा था। तीसरे पद्यमें उनके समस्त जगत्‌को वशीभूत करने, किन्तु स्वयं किसीके वशीभूत न होनेसे उन्हें 'अपूर्व मकरध्वज' कहा है। यहाँ भी उनके चक्रवर्तित्वकी अपेक्षा उनके समस्त इन्द्रियें व सांसारिक भावनाओंको जीतकर वीतरागत्व प्राप्त कर लेनेकी ओर विशेष लक्ष्य है। चौथे पद्यमें उनकी एक 'चक्रिकाभञ्जन' पदवीकी सार्थकता सिद्ध की है। राजमंडलको वश करनेके अतिरिक्त यहाँ स्पष्टतः उनके क्रमशः तपस्यावृद्धि द्वारा संसारचक्र परिभ्रमणका क्षय करनेका उल्लेख है। पाँचवें पद्यमें उनकी विद्या-प्राप्ति और मर्यादाओंकी वज्रवेदिका द्वारा उनके ज्ञानवृद्धि और महाव्रतोंके परिपालनका उल्लेख किया गया है। 'रत्नगर्भ' विशेषणसे स्पष्टतः उनके दर्शन, ज्ञान और चारित्ररूपी रत्नत्रयके धारणका भाव प्रकट किया गया है। उनके 'यथाख्यात चारित्रके जलधि' विशेषणमें तो निस्संशय रूपसे उनके पूर्णमुनि और उत्कृष्ट ध्यानी होनेका वर्णन है। 'यथाख्यात-चारित्र' जैन सिद्धांतकी एक विशेष संज्ञा है। जो मुनि सकल चारित्रको धारण करके भावोंकी विशुद्धि-द्वारा समस्त कषायोंको शांत या क्षीण कर देता है, उसे ही यथाख्यानचारित्रका धारी कहते हैं। इस पद्यमें तो अमोघवर्षके मुनित्वके वर्णन होनेमें कोई संदेह ही नहीं रहता। अंतिम पद्यमें उनके एकांत छोड़कर अनेकांत-स्याद्वादन्यायका अवलंबन करनेका स्पष्ट उल्लेख है। ऐसे नृपतुंग-देवके शासन अर्थात् धर्मशासनकी वृद्धिकी आशा की गई है।

इस प्रकार इस प्रशस्तिसे कोई संदेह नहीं रहता कि राष्ट्रकूट-नरेश नृपतुंग अमोघवर्षने राज्य त्याग कर मुनिदीक्षा धारण कर ली थी और उन्होंने अपनी चित्तवृत्तिको विशुद्ध और निर्मल बनानेमें कुछ उठा नहीं रखा था।

अब रह जाती है प्रेमीजीकी यह शंका कि यदि उन्होंने मुनिदीक्षा धारण कर ली थी, तो फिर उन्होंने अपना नाम क्यों नहीं बदला ? पर यह आवश्यक नहीं है कि मुनिदीक्षा

लेने पर नाम अवश्यही बदलना चाहिये। विशेषतः जब इतना बड़ा सम्राट् दीक्षा लेता है, तो उसके पूर्व नामके साथ जो यश और कीर्ति सम्बद्ध रहती है, उसकी रक्षार्थ लोग उसके उसी नामको कायम रखना पसंद करेंगे ही। इसी कारण मौर्यनरेश चंद्रगुप्तका नाम उनके मुनि हो जाने पर भी चंद्रगुप्त ही कायम रहा पाया जाता है। अतएव प्रश्नोत्तर-रत्नमालिकामें उसके लेखकका राज्यत्याग और दीक्षाधारणके पश्चात् भी यदि अमोघवर्ष नाम उल्लिखित किया गया है, तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं।

अमोघवर्षके वृद्धत्वके कारण उनके दीक्षा-ग्रहण करनेकी असंभावना भी प्रबल नहीं है। राज्य छोड़नेके समय अमोघवर्ष वृद्ध तो थे, पर ८० वर्ष के नहीं। उनके शक ७८८ के ताम्रपत्रमें उल्लेख है कि उनके पिता गोविंदराज जब अपनी उत्तर भारतकी विजय पूर्ण कर चुके थे, तब अमोघवर्षका जन्म हुआ था। गोविंदराजकी उत्तर भारतकी विजयका काल सन ८०६ से ८०८ तक सिद्ध होता है। अतएव जब वे सन् ८१४-८१५ में सिंहासना-रूढ़ हुए, तब उनकी अवस्था केवल ६ वर्षकी[1] और जब सन् ८७७ के लगभग उन्होंने राज्य त्यागा, तब उनकी आयु ७० वर्षसे कुछ कमकी ही सिद्ध होती है। इस समय तक जिनसेनाचार्य और संभवतः उनके शिष्य गुणभद्रका स्वर्गवास हो चुका था, इसीसे उनकी किन्हीं भी प्रशस्तियोंमें उनके मुनि होनेका उल्लेख नहीं आ सका। महावीराचार्यने अपना गणितसारसंग्रह अमोघवर्षके दीक्षा-ग्रहण कर लेनेके और उनके जीवनकालके भीतर ही किसी समय लिखा होगा।

श्रीयुक्त एम गोविन्द पै ने अपने एक लेखमें[2] प्रकट किया है कि अमोघवर्षके जैनधर्म स्वीकार करने संबंधी सभी आधार निर्मूल मालूम पड़ते हैं। इस संबंधमें उनका प्रथम आक्षेप यह है कि उक्तनरेशके "५२ वें वर्षके शासनमें 'स वोऽव्यात्' इस प्रकारका हरि-हर-स्तुति संबंधी शिरोलेख रहनेसे तब तक उनने जैनधर्मको ग्रहण नहीं किया था, ऐसा कहनेमें कोई आक्षेप नहीं दीखता।" किन्तु एक तो इस उल्लेख परसे उक्त नरेशके ५२ वें वर्षके पश्चात् जैनदीक्षा ग्रहण करनेमें कोई बाधा उपस्थित नहीं होती। और दूसरे शासन शिरोलेख आदि राज्यकर्मचारियों द्वारा प्रायः राज्य-विभागकी परम्परानुसार लिखे जाते हैं, वे सदैव किसी राजाकी निजी धार्मिक मनोवृत्तिके सच्चे परिचायक नहीं कहे जा सकते।

१ Altekar : The Rashtrakutas and their times. P. 71-72.
२ नृपतुंगका मतविचार, अनेकान्त, वर्ष ३, पृ० ४७८ आदि।

पै जीका दूसरा आक्षेप यह है कि उत्तरपुराणमें जो अमोघवर्षके जिनसेनकी वन्दनाका उल्लेख है वह "जिनसेन और अमोघवर्षके बीचमें एक समय परस्पर भेंटका वर्णन मालूम पड़ता है, इससे ज्यादा अर्थ उसमें अनुमान करना ठीक नहीं मालूम होता।" पार्श्वाभ्युदय-की जिन सर्गान्त पुष्पिकाओंमें जिनसेनको अमोघवर्ष राजाका परमगुरु कहा है, वे पुष्पिकाएँ उनके मतसे जिनसेनकी स्वयं रचना न होकर "उस काव्यके टीकाकार योगिराट् पंडिताचार्य द्वारा या और किसीके द्वारा जोड़ी गई होंगी।" गणितसारसंग्रहमें उसके कर्ता-द्वारा ग्रन्थका रचनाकाल नहीं दिया गया, इससे यह निश्चयतः नहीं कहा जा सकता कि वहाँ उल्लिखित अमोघवर्षसे उपर्युक्त नरेशका ही तात्पर्य है, क्योंकि "अमोघवर्ष-नृपतुंग उपाधियोंसे युक्त नरेश बहुतसे हो गये हैं। अथवा यह वही राजा माना तो भी उक्त उल्लेखसे उसका जैनधर्मका स्वीकार करना सिद्ध नहीं होता। प्रश्नोत्तररत्नमालिकाकी जो अमोघवर्षके राज्यत्यागका उल्लेख करनेवाली अन्तिम पुष्पिका है वह शेष काव्यके छंदसे भिन्न छंदमें होनेके कारण काव्यका मौलिक अंश न होकर पीछेसे जोड़ा हुआ छंद हो सकता है।" इत्यादि। पै जीके ये सब आक्षेप तभी कुछ सार्थकता रखते हैं जब पहलेसे ही यह निश्चय कर लिया जाय कि अमोघवर्षने कभी जैन धर्म ग्रहण नहीं किया था। यदि एकाध ही उल्लेख अमोघवर्षके जैनत्वके संबंधका होता तो भी उक्त प्रकार की आपत्ति कुछ मूल्यवान् हो सकती थी। पर अनेक ग्रन्थोंके उल्लेखोंको उक्त प्रकार विना किसी आधारके, केवल शक पदसे ही अप्रमाण ठहराना उचित नहीं जँचता। अमोघवर्षके जैनत्वकी मान्यताकी प्राचीनता और मौलिकताको असिद्ध करनेमें कोई प्रबल दलील पै जीके लेखमें नहीं पाई जाती। अमोघवर्ष संबंधी समस्त उल्लेखों परसे उनके जैनत्व स्वीकार करनेमें कोई ऐति-हासिक विसंगति उत्पन्न नहीं होती।

"मोक्षमार्गस्य नेतारम्"

[ले०—श्रीयुत पं० महेन्द्रकुमार शास्त्री, न्यायाचार्य, काशी]

"मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम् ।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुणलब्धये ॥" —सर्वार्थसिद्धि

यह श्लोक सर्वार्थसिद्धि के मङ्गलश्लोक के रूप में उपलब्ध है। आचार्य विद्यानन्द ने अपनी आप्तपरीक्षा इसी श्लोक में वर्णित आप्तस्वरूप के परीक्षण के लिए बनाई है। आप्तपरीक्षा के अन्त में स्वयं लिखते हैं—

"श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुतसलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य ।
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्
स्तोत्रं तीर्थोपमानं प्रथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत् ।
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै ॥"

अर्थात्—जो दीप्त रत्नों के उद्भव का स्थान है, उस अद्भुत समुद्र के समान तत्त्वार्थशास्त्र के प्रोत्थानारम्भकाल—उत्पत्ति का निमित्त बताते समय या प्रोत्थान-भूमिका बाँधने के प्रारम्भकाल में शास्त्रकार ने जो स्तोत्र रचा और जिस स्तोत्र में वर्णित आप्त की स्वामी (समन्तभद्राचार्य) ने मीमांसा की, उसकी मैं यथाशक्ति परीक्षा कर रहा हूं।

अष्टसहस्री के मङ्गलश्लोक में भी आचार्य विद्यानन्द यही बात लिखते हैं—"शास्त्रावतार-रचितस्तुतिगोचराप्तमीमांसितं कृतिरलङ्क्रियते मयाऽस्य"—अर्थात् शास्त्र—तत्त्वार्थशास्त्र के अवतार-अवतरणिका-भूमिका के समय रची गई स्तुति में वर्णित आप्त की मीमांसा करनेवाले आप्तमीमांसा नामक ग्रन्थ का व्याख्यान किया जाता है। यहाँ 'शास्त्रावतार' शब्द आप्त-

---

नोट: 'जैन-बोधक' वर्ष ४८, संख्या ३, में आस्थानमहाविद्वान् श्रीमान् पं० शान्तिराजजी शास्त्री मैसूर का 'किमयं तत्त्वार्थसूत्रग्रन्थस्य मंगलश्लोकः ?' शीर्षक वाला एक संस्कृत लेख प्रकाशित हुआ है। उस लेख में शास्त्रीजी ने "मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्। ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां वन्दे तद्गुण-लब्धये ॥" इस मंगलश्लोक को सूत्रकार उमास्वाति का सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। न्यायाचार्यजी का यह लेख उसी का खण्डनरूप है। जिन विज्ञ पाठकों ने 'जैन-बोधक' में शास्त्रीजी के उपर्युक्त लेख को पढ़ा है, उन्हें आचार्यजी के इस लेख को भी अवश्य पढ़ लेना चाहिये। मैं आशा करता हूँ कि अनुसन्धानप्रेमी अन्य विद्वान् भी इस विषय पर अपना-अपना मत अवश्य प्रकट करेंगे।

—के० भुजबली शास्त्री

परीक्षा के "प्रोत्थानारम्भकाल" का समानार्थक है। विद्यानन्द के इन उल्लेखों से निम्नलिखित बातों का स्पष्ट सूचन होता है—

१ आप्तपरीक्षा और अष्टसहस्री ग्रन्थ 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोक में वर्णित आप्त की परीक्षा के लिए लिखे जा रहे हैं।

२ इसी श्लोक में वर्णित आप्त की मीमांसा स्वामी समन्तभद्राचार्य ने अपनी आप्त-मीमांसा में की है।

३ यह 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोक तत्त्वार्थशास्त्र की उत्पत्ति का निमित्त बताते समय, या उसकी अवतरणिका-भूमिका बांधते समय शास्त्रकार ने बनाया है।

तीसरी बात से यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस शास्त्रकार ने तत्त्वार्थशास्त्र की उत्पत्ति का निमित्त बताया या उसकी उत्थानिका-भूमिका या अवतरणिका बांधा, उसी शास्त्रकार ने उस भूमिका के प्रारम्भ में इस मङ्गलमय स्तोत्र को रचा है। यहाँ यदि यह तत्त्वार्थशास्त्र तत्त्वार्थसूत्र है, तो उसकी उत्पत्ति का निमित्त बतानेवाले या भूमिका-अवतरणिका बांधनेवाले आचार्य पूज्यपाद हैं। इन्होंने सर्वार्थसिद्धि के प्रारम्भ में ही तत्त्वार्थसूत्र का उत्पत्तिनिमित्त बताया है। और उसी भूमिका के प्रारम्भ में इस जैन वाङ्मय के अमररत्नरूप मङ्गल श्लोक को रचा है।

इस तरह विद्यानन्द के उक्त उल्लेख हमें इस स्पष्ट परिणाम पर पहुँचा देते हैं कि उक्त मङ्गलश्लोक आचार्य पूज्यपाद के द्वारा तत्त्वार्थशास्त्र की भूमिका बाँधते समय सर्वार्थसिद्धि के मङ्गलरूप में रचा गया है।

वस्तुतः यह मङ्गलश्लोक, आचार्य पूज्यपाद ने ही बनाया है। निम्नलिखित कारणों से यह स्तोत्र स्वयं सूत्रकार उमास्वाति का तो नहीं मालूम होता—

१ जहाँ तक प्राचीन आस्तिक सूत्र-ग्रन्थ देखने में आए हैं, उनमें कहीं भी मङ्गलाचरण करने की पद्धति नहीं है।

२ यदि यह सूत्रकार-कृत होता, और तत्त्वार्थसूत्र का ही अङ्ग होता, तो उसकी व्याख्या करनेवाले पूज्यपाद, अकलङ्क और विद्यानन्द आदि आचार्यों ने अपने सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक और श्लोकवार्तिक आदि व्याख्या-ग्रन्थों में इसका व्याख्यान या निर्देश अवश्य किया होता।

३ यदि पूज्यपाद ने स्वयं इसे नहीं बनाया होता और वे इसे सूत्रकारकृत समझते होते तो वे सर्वार्थसिद्धि में इसका व्याख्यान अवश्य करते।

४ सर्वार्थसिद्धि पर प्रभाचन्द्रकृत तत्त्वार्थवृत्तिपद-विवरण नाम का एक विवरण उपलब्ध है। इसमें इस मङ्गलश्लोक को सर्वार्थसिद्धि का मानकर उसका यथावत् व्याख्यान किया है।

५ तत्त्वार्थसूत्र थोड़े-बहुत हेर-फेर के साथ श्वेताम्बर परम्परा में भी मान्य है। उस पर एक स्वयं सूत्रकार का स्वोपज्ञ-भाष्य भी प्रसिद्ध है। सिद्धसेनगणि, हरिभद्र, यशोविजय उपाध्याय आदि आचार्यों ने इसपर टीकाएँ लिखी हैं। इन सभी व्याख्याओं में इस मङ्गलस्तोत्र का उल्लेख तक नहीं है। यदि यह स्वयं उमास्वाति-कृत होता, तो कोई कारण नहीं था कि इन श्वेताम्बर व्याख्याओं में न पाया जाता। इस श्लोक में कोई भी ऐसी साम्प्रदायिक वस्तु नहीं है, जिससे साम्प्रदायिकता के कारण इसके छोड़ने का प्रसङ्ग आता। यदि इन प्राचीन आचार्यों को यह ज्ञात होता कि यह श्लोक सूत्रकार का है, तो वे इस अमूल्य बेजोड़ श्लोकरत्न को कभी भी नहीं छोड़ते। वे इसपर व्याख्या करते और स्वतन्त्र ग्रन्थ तक रचते।

इत्यादि कारणों से यह निःसंकोच कह सकते हैं कि यह श्लोक स्वयं सूत्रकार-कृत नहीं है, किन्तु पूज्यपाद-कृत है।

परन्तु विद्यानन्द आचार्य ही आप्तपरीक्षा (पृ० ३) के प्रारम्भ में इसी श्लोक को सूत्रकार-कृत लिखते हैं—"किं पुनस्तत्परमेष्ठिनो गुणस्तोत्रं शास्त्रादौ सूत्रकाराः प्राहुरिति निगद्यते—मोक्षमार्गस्य नेतारम्...." इस पंक्ति में यही श्लोक सूत्रकार-कृत कहा गया है। पर जब हम विद्यानन्द की लेखन-शैली का ध्यान से समीक्षण करते हैं तब यह उलझन सुलझ जाती है। आचार्य विद्यानन्द की शैली की यह विशेषता है कि वे अपने पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य को सूत्रकार और पूर्ववर्ती किसी भी ग्रन्थ को सूत्र लिखते हैं। उदाहरणार्थ—तत्त्वार्थ-श्लोकवार्तिक (पृ० १८४) में वे अकलङ्कदेव का सूत्रकार शब्द से तथा राजवार्तिक का सूत्र शब्द से उल्लेख करते हैं—"तेन 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्षमतीतव्यभिचारं साकारग्रहणम्' इत्येतत् सूत्रोपात्तमुक्तं भवति। ततः प्रत्यक्षलक्षणं प्राहुः स्पष्टं साकारमञ्जसा। द्रव्यपर्याय-सामान्यविशेषार्थात्मवेदनम्॥ सूत्रकारा इति ज्ञेयमाकलङ्कावबोधने।" इस अवतरण में 'इन्द्रियानिन्द्रियानपेक्ष' वाक्य राजवार्तिक (पृ० ३८) का है तथा 'प्रत्यक्षलक्षणं' श्लोक न्याय-विनिश्चय (पृ० ३) का है। आप्तपरीक्षा (पृ० ६४) में ही वे "तत्त्वार्थसूत्रकारैः उमास्वामि-प्रभृतिभिः" शब्द लिखकर न केवल उमास्वामी को ही सूत्रकार लिखते हैं। अपि तु प्रभृतिशब्द से अन्य पूज्यपाद आदि आचार्यों का भी सूत्रकार होना सूचित करते हैं। अतः मात्र सूत्रकार के नाम से 'मोक्षमार्गस्य नेतारं' श्लोक को उद्धृत करने के कारण विद्यानन्द का झुकाव उसे उमास्वातिकृत मानने की ओर है, यह नहीं कहा जा सकता। जो विद्यानन्द राजवार्तिक को सूत्र तथा अकलङ्क को भी सूत्रकार लिख सकते हैं, वे यदि सर्वार्थसिद्धिकार को सूत्रकार लिखते हैं, तो कोई अनहोनी या आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि सर्वार्थसिद्धि

तो राजवार्तिक या श्लोकवार्तिक के लिए आधारभूत सूचनाकारिणी होने से सूत्रकल्प ही रही है। एक बात और खास तौर से ध्यान देने की है कि विद्यानन्द आप्तपरीक्षा बनाने से पहिले अपने श्लोकवार्तिक और विद्यानन्दमहोदय ग्रन्थों की रचना कर चुके हैं; क्योंकि आप्तपरीक्षा (पृ० ६४) में उन्होंने इनके देखने की प्रेरणा की है। यदि विद्यानन्द इस मङ्गल-श्लोक को सूत्रकार उमास्वातिकृत मानते होते, तो उसकी व्याख्या श्लोकवार्तिक में अवश्य करते। अतः विद्यानन्द का मत इस श्लोक को उमास्वातिकृत मानने की ओर नहीं कहा जा सकता। इसी तरह आप्तपरीक्षा के अन्त में आए हुए—

"इति तत्त्वार्थशास्त्रादौ मुनीन्द्रस्तोत्रगोचरा।
प्रणीताप्तपरीक्षेयं कुविवादनिवृत्तये ॥"

इस अनुष्टुप श्लोक में 'तत्त्वार्थशास्त्रादौ' पद 'प्रोत्थानारम्भकाले' अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ है। ३२ अक्षरवाले इस छोटे से श्लोक में इससे अधिक की गुंजाइश ही नहीं है। 'तत्त्वार्थ-शास्त्रादौ' का अर्थ भी 'तत्त्वार्थशास्त्र की भूमिका के प्रारम्भ में' यही करना चाहिए। इस तरह आचार्य विद्यानन्द के उल्लेख तथा पूज्यपाद आदि आचार्यों के द्वारा उक्त श्लोक की व्याख्या न होने के कारण इस मङ्गलश्लोक को उमास्वाति-कृत किसी भी तरह नहीं माना ज सकता। यह श्लोक निर्विवादरूप से तत्त्वार्थसूत्र की भूमिका बाँधनेवाले, आचार्य पूज्यपाद के द्वारा ही बनाया गया है और सर्वार्थसिद्धि में बराबर उसी रूप में उपलब्ध है। यही कारण है कि स्वयं पूज्यपाद तथा अन्य अकलङ्क आदि दिगम्बर आचार्य तथा सिद्धसेनगणि आदि श्वेताम्बर आचार्यों ने इसको तत्त्वार्थसूत्र का अङ्ग नहीं माना और न इसकी व्याख्या ही की है। श्वे० परम्परा में प्रसिद्ध स्वोपज्ञभाष्य में भी इसकी व्याख्या नहीं है। इस भाष्य में तत्त्वार्थ-सूत्र के प्रारम्भ में ३१ सम्बन्धकारिकाएँ हैं। यदि इस श्लोक को उमास्वाति ने बनाया होता, तो भाष्य में छूटने का कोई भी कारण नहीं है।

नहीं मालूम, श्रुतसागरसूरि (१६वीं सदी), बालचन्द्र योगीन्द्रदेव आदि १५-१६ वीं सदी के व्याख्याकारों ने किस परम्परा के आधार से इस मङ्गलश्लोक को उमास्वामि-कृत लिख दिया है। हो सकता है कि सर्वार्थसिद्धि के प्रारम्भ में उसे देखकर उन्होंने सूत्रकार-कृत मान लिया हो।

विद्यानन्द के उल्लेखानुसार जो दूसरी बात सूचित होती है वह यह है कि इसी श्लोक पर स्वामी समन्तभद्राचार्य ने अपनी आप्तमीमांसा बनाई है, यह इतिहासज्ञों के खास ध्यान देने योग्य है। इस उल्लेख में यदि ऐतिहासिक दृष्टि भी निविष्ट है तो समन्तभद्र का समय पूज्यपाद के अनन्तर नहीं तो समकाल तक तो अवश्य सिद्ध होगा। ऐसी दशा में जैनेन्द्र व्याकरण में आये हुए "चतुष्टयं समन्तभद्रस्य" सूत्र में यदि इन्हीं समन्तभद्र का उल्लेख है, तो समन्तभद्र

को पूज्यपाद का समकालीन मानकर ही निर्वाह किया जा सकेगा। श्रीमान् पंडित सुखलाल जी सा० का इस विषय में यह तर्क† "कि यदि समन्तभद्र पूज्यपाद के पूर्ववर्ती होते, तो समन्तभद्र की आप्तमीमांसा जैसी अनूठी कृति का उल्लेख अपनी सर्वार्थसिद्धि आदि कृतियों में किए विना न रहते" हृदय को लगता है। विद्यानन्द के 'स्वामिमीमांसितं तत्' "प्रपञ्चतस्तदन्वयस्य आक्षेपसमाधानलक्षणस्य श्रीमत्स्वामिसमन्तभद्रदेवैः देवगमाख्याप्तमीमांसायां प्रकाशनात्।" (आप्त प० पृ० ६४)। आदि उल्लेखों के प्रकाश में तो वह पर्याप्त पुष्टि पा लेता है। आशा है, समन्तभद्र स्वामी के समय विचार में इसका पूरा-पूरा उपयोग किया जायगा।

† देखो अकलङ्कग्रन्थत्रय और न्यायकुमुदचन्द्र द्वि० भाग का प्राक्कथन।

नोट: आस्थानमहाविद्वान् पं० शान्तिराजजी शास्त्री ने 'जैन-बोधक' में इसी विषय को लेकर पं० भुजबलीजी शास्त्री पर अनेक अनुचित एवं निर्मूल व्यक्तिगत आक्षेप कर डाले हैं। कहीं-कहीं तो उनकी भाषा शिष्टता को भी लांघ गई है। मेरे विचार से ऐसी बातों की उपेक्षा करना ही उनका सर्वोत्तम उत्तर है। पं० भुजबलीजी शास्त्री की साहित्यसेवाएँ किसी से छिपी नहीं हैं। 'भास्कर' का संपादन ही इसका जीवित उदाहरण है। आस्थानमहाविद्वान्जी ने इसी ऐतिहासिक प्रसङ्ग को लेकर बाबू निर्मलकुमारजी आदि को उभाड़ने का जो प्रयत्न किया है, वह सहृदय विद्वत्समष्टि की दृष्टि में अशोभन है। इससे उनके उद्देश की सिद्धि तो हो ही नहीं सकती। हाँ, हृदय की कमजोरी का प्रदर्शन अवश्य हो जाता है। मैं आशा करता हूँ कि सभी विद्वान् ऐतिहासिक या तात्त्विक चर्चा को व्यक्तिगत आक्षेपों से सर्वथा अलिप्त रखने का पूरा प्रयत्न करेंगे। आशा है, पं० भुजबलीजी शास्त्री इस व्यर्थ की तू-तू मैं-मैं में न पड़ेंगे।

—लेखक

हमारा आयुर्वेद

[ले०—श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

जर्मनी, अमेरिका और इंगलैण्ड आदि पश्चिम राष्ट्रों के विख्यात विद्वान् भी अब मानने लगे हैं कि संसार भर को चिकित्सा-प्रणालियों का जन्मदाता हमारा आयुर्वेद ही है। अपने दीर्घकालीन अविश्रान्त अनुसंधान के फलस्वरूप इतिहास-विशारदों का भी कहना है कि सर्वप्रथम बौद्धों ने चरक एवं सुश्रुत इन महान् ग्रन्थों का अनुवाद पाली भाषा में करके जापान और चीन देशों में फैलाया तथा आज भी उन देशों की चिकित्सा-पद्धति आयुर्वेद-चिकित्सा-पद्धति से मिलती-जुलती है। इतना ही नहीं, अरबी भाषा के प्राचीन ग्रन्थों में भी अनेकत्र उल्लिखित चरकसुश्रुतों का उल्लेख दृष्टि-गोचर होता है।

आयुर्वेदीय औषधों को ढूंढ़ निकालने वाले हमारे जितेन्द्रिय, समदर्शी ऋषि-महर्षियों ने जंगलों में वास करते हुये केवल लोकहित के लिये इस ओर गम्भीर विचार के साथ विपुल परिश्रम किया है। निर्दोष, चमत्कारी एवं अधिक लाभकारी विशिष्ट औषधों को निर्माण करने के लिये स्वार्थ-शून्य विचार अधिक आवश्यक है। आयुर्वेद, ज्योतिष और मन्त्रवाद आदि विद्याएं वास्तव में लोककल्याण के लिये ही पैदा हुई हैं। आजकल के चिकित्सकों में उपर्युक्त वे गुण बहुत ही कम मात्रा में मिलते हैं। इसीलिये आज हमारे आयुर्वेद की दशा इतनी गिर गई है। एक बात और है। आज हमारे आयुर्वेद-विद्वानों में इस विषय में परिपूर्णता प्राप्त कर नवीन नवीन आविष्कारों द्वारा आयुर्वेद के महत्त्व को संसार में प्रकट करने योग्य पण्डित भी नहीं हैं! आजकल की आयुर्वेदाध्ययन की प्रणाली भी इस युग के अनुकूल नहीं है। अन्यान्य चिकित्सा-पद्धतियों में हमें प्रतिदिन नये-नये सुधार दृष्टिगत हो रहे हैं। परन्तु खेद की बात है कि हमारे बहुत से आयुर्वेदज्ञ अभी तक चरक-सुश्रुत युग का ही स्वप्न देख रहे हैं। ये सुधार नहीं चाहते हैं। अनुसंधान की ओर तो इनका लक्ष्य ही नहीं जाता। इसमें सन्देह नहीं है कि प्राचीन ऋषि-महर्षियों के प्रयोगों का ही थोड़ा-सा परिवर्तन कर अपने नाम से रजिष्ट्री कराने वाले वैद्य काफी मिलेंगे। किन्तु वास्तव में यह चीज उनको नहीं है। इस गुरुतर लोकोपकारी विद्या के लिये पसीना बहाने वाले हमारे यहाँ बहुत कम हैं। इसीलिये आज आयुर्वेद की अवस्था इतनी दयनीय हो गई है।

बहुधा बहुमूल्य एलोपैथिक औषध, सुई (इंजेक्शन) आदि के द्वारा आराम नहीं होने वाले सन्निपात, विषम ज्वर, क्षय, प्रसूत, संग्रहणी, मधुप्रमेह आदि असाध्य रोगों को हमारे पूर्वजों के द्वारा हजारों वर्ष के पूर्व ढूंढ़ निकाले गये मकरध्वज, जयमङ्गलरस, च्यवनप्राश, वसन्ततिलक एवं सुवर्णभस्म आदि अमूल्य औषध आसानी से दूर कर सकते हैं। आज भी विशुद्ध विष किस रोगी को किस परिमाण में देना चाहिये, इस बात का विशद ज्ञान बड़े

बड़े सर्जनों की अपेक्षा एक भारतीय वैद्य अधिक रखता है। इस संबंध में हमारे पूर्वजों ने पर्याप्त परिश्रम किया है। आयुर्वेद में नाड़ीज्ञान तो अपना एक खास स्थान रखता है। इस संबंध में 'द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ' में प्रकाशित आयुर्वेदपंचानन पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल के द्वारा लिखित भारतीय चिकित्सा-शास्त्र की विशेषता—नाड़ी-परीक्षा शीर्षक लेख अवश्य पठनीय है। चरकसुश्रुतसदृश बहुमूल्य चिकित्सासंबंधी ग्रन्थ प्राचीन पाश्चात्य चिकित्सा-साहित्य में एक भी उपलब्ध नहीं है। इसीलिये प्रो० विलसन, सर विलीयम हंटर आदि पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय शल्यचिकित्सा, रसायनशास्त्र, धातृशास्त्र, सूचिकाभेदन, सर्पचिकित्सा, पशुचिकित्सा आदि विषयों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा कर आयुर्वेद चिकित्सा-प्रणाली को ही संसार की आदिम चिकित्सा-प्रणाली माना है।

हमारे पूर्वज शल्यचिकित्सा में पूर्ण निष्णात थे, इस बात को प्रमाणित करने के लिये मैं रायबहादुर महामहोपाध्याय श्रीमान् गौरीशंकर हीराचंद ओझा की 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' से कुछ अंश यहां पर उद्धृत किये देता हूँ। इससे शायद हमारी उन्नति-प्राप्त प्राचीन शल्य-चिकित्सा से अनभिज्ञ वर्तमान प्रगतिशील पाश्चात्य शल्यचिकित्सा के अनन्य भक्त भारतीय विद्वानों की आँखें खुलेंगी। हाँ, मैं इस संबंध में इतना और कह देना चाहता हूँ कि जो प्राचीन शल्यचिकित्सा के विषय में विशेष देखना चाहें वे 'नागरी-प्रचारिणी पत्रिका', भाग ८, अंक १, २ में प्रकाशित 'प्राचीन शल्यतन्त्र' शीर्षक लेख अवश्य देखें।

"चीर फाड़ के शस्त्र साधारणतया लोहे के बनाए जाते थे, परन्तु राजा एवं सम्पन्न लोगों के लिये स्वर्ण, रजत, ताम्र आदि के भी प्रयुक्त होते थे। यन्त्रों के लिये लिखा है कि वे तेज खुरदरे, परन्तु चिकने मुखवाले, सुदृढ़, उत्तम रूपवाले और सुगमता से पकड़े जाने के योग्य होने चाहिये। भिन्न-भिन्न कार्यों के लिये शस्त्रों की धार, परिमाण आदि भिन्न-भिन्न होते थे। शस्त्र कुंठित न हो जाय, इसलिये लकड़ी के शस्त्रकोश (cases) भी बनाए जाते थे, जिनके ऊपर और अन्दर कोमल रेशम या ऊन का कपड़ा लगा रहता था। शस्त्र आठ प्रकार के—छेद्य, भेद्य, वेध्य (शरीर के किसी भाग में से पानी निकालना), एष्य (नाड़ी आदि में व्रण का ढूँढ़ना), आर्घ्य (दाँत या पथरी आदि का निकालना), विस्राव्य (रुधिर का विस्रवण करना), सीव्य (दो भागों को सीना), और लेख्य (चेचक के टीके आदि में कुचलना)—हैं। सुश्रुत ने यंत्रों (औजार, जो चीरने के काम में आते हों) की संख्या १०१ मानी है; परन्तु वाग्भट्ट ने ११५ मानकर आगे लिख दिया है कि कर्म अनिश्चित हैं, इसलिये यन्त्र संख्या भी अनिश्चित है; वैद्य अपने आवश्यकतानुसार यंत्र बना सकता है। शस्त्रों की संख्या भिन्न-भिन्न विद्वानों ने भिन्न-भिन्न मानी है। इन यंत्रों और शस्त्रों का विस्तृत वर्णन भी उन ग्रन्थों में दिया है। अर्श, भगंदर, योनिरोग, मूत्रदोष, आर्त्तवदोष, शुक्रदोष आदि रोगों के लिये भिन्न-भिन्न यन्त्र

प्रयुक्त होते थे। व्रणवस्ति, वस्तियंत्र, पुष्पनेत्र, (लिंग में औषध प्रविष्ट करने के लिये), शलाका-यंत्र, नखाकृति, गर्भशंकु, प्रजननशंकु (जीवित शिशु को गर्भाशय से बाहर करने के लिये), सर्प-मुख (सीने के लिये) आदि बहुत से यन्त्र हैं। व्रणों और उदरादि संबंधी रोगों के लिये भिन्न-भिन्न प्रकार की पट्टी बांधने का भी वर्णन किया गया है। गुदभ्रंश के लिये चर्मबंधन का भी उल्लेख है। मनुष्य या घोड़े के बाल सीने आदि के लिये प्रयोग में आते थे। दूषित रुधिर निकालने के लिये जोंक का भी प्रयोग होता था। जोंक की पहले परीक्षा कर ली जाती थी कि वह विषैली है अथवा नहीं। टीके के समान मूर्छा में शरीर को तीक्ष्ण अस्त्र से लेखन कर दवाई को रुधिर में मिला दिया जाता था। गति व्रण (Sinus) तथा अर्बुदों की चिकित्सा में भी सूचियों का प्रयोग होता था। त्रिकूर्चक शस्त्र का भी कुष्ठ आदि में प्रयोग होता था। आजकल लेखन करते समय टीका लगाने के लिये जिस तीन-चार सुइयों वाले औजार का प्रयोग होता है, वह यही त्रिकूर्चक है। वर्तमान काल का (Tooth-elevator) पहले दंत-शंकु के नाम से प्रचलित था। प्राचीन आर्य कृत्रिम दाँतों का बनाना और लगाना तथा कृत्रिम नाक बनाकर सीना भी जानते थे। दाँत उखाड़ने के लिये एनीपद शस्त्र का वर्णन मिलता है। मोतियाबिंद (Cataract) के निकालने के लिये भी शस्त्र था। कमलनाल का प्रयोग दूध पिलाने अथवा वमन कराने के लिये होता था, जो आजकल के (Stomach Pump) का कार्य देता था।" [पृष्ठ १२०—१२२]

इसी प्रकार भारतीय प्राचीन सर्पचिकित्सा और पशुचिकित्सा भी अपना विशिष्ट स्थान रखती हैं। सिकन्दर का सेनापति नियार्कस लिखता है कि यूनानी लोग सर्पविष दूर करना नहीं जानते, परन्तु जो मनुष्य इस दुर्घटना में पड़े, उन सब को भारतीयों ने दुरुस्त कर दिया।* दाहक्रिया एवं उपवास चिकित्सा से भी भारतीय पूर्णतया परिचित थे। शोथरोग में नमक न देने की बात भी भारतीय चिकित्सक हजार वर्ष पूर्व जानते थे। हमारे पूर्वजों का निदान उच्चकोटि का था। 'माधवनिदान' आज भी संसार में अपना खास स्थान रखता है। शुद्ध जल का संग्रह और व्यवहार कैसे किया जाय, औषध द्वारा कुओं का पानी साफ करना, महामारी फैलने पर कृमिनाशक औषधों के द्वारा स्वच्छता रखना आदि बातों का उल्लेख 'मनुस्मृति' में स्पष्ट मिलता है। आयुर्वेद में शरीर की बनावट, भीतरी अवयवों, मांसपेशियों, पुट्ठों, धमनियों और नाड़ियों का भी विशद वर्णन उपलब्ध होता है। वैद्य निघंटुओं में खनिज, वनस्पति और पशुचिकित्सा-संबंधी औषधों का बृहद् भाण्डार हैं। भारतीय आयुर्वेद-विशारदों को शरीर-विज्ञान का ज्ञान भी पर्याप्त था। अन्यथा वे स्त्री, पुरुष, पशु, पक्षी आदि की चित्ताकर्षक मूर्त्तियों को नहीं बना सकते थे। भारतीयों का रासायनिक ज्ञान आशातीत

* वाइज; हिस्ट्री आफ मेडिसिन; पृष्ठ १

विस्मयकारक था। वे गंधक, शोरा आदि के तेजाब (Acid) जस्ता, लोहा, सीसा आदि के ऑक्साइड (Oxide) तथा कारबोनेट और साल्फाइड आदि तैयार करते थे। इन रसायनों के द्वारा वे निराश रोगियों को पुनः स्वस्थ एवं वृद्धों को जवान बनाते थे। सूर्य की किरणें रोगोत्पादक कीटाणुओं को नष्ट करती हैं, इस बात को भारतीय पहले ही से जानते थे। श्वासरोग के लिये धतूरे का धुआँ पीने की विधि यूरोपियनों ने भारतीयों से ही सीखी है। 'विश्वबंधु' ५, अगस्त १९३४ के एक विद्वत्तापूर्ण लेख में लाहौर के कविराज श्रीहरिकृष्ण सहगल ने इस बात को सिद्ध कर दिखा दिया है कि हाल में अमेरिका में पुरुषसंयोग के बिना ही जिन पिचकारियों द्वारा स्त्री गर्भवती बनाई गई है, उन पिचकारियों का उद्गम-स्थान भारतवर्ष ही है। भारतीय रसायन के द्वारा कृत्रिम सुवर्ण बनाना भी भली भांति जानते थे। इन सब बातों का विशद वर्णन इस छोटे वक्तव्य में नहीं हो सकता है। इस संबंध में अंग्रेजी पढ़े-लिखे विद्वानों को The Ayurvedic System of Medicine by Kaviraj Nagendra Nath Sen, A. History of Hindu Chemistry by Praphulla Chandra Roy, The Positive Sciences of the Ancient Hindus by Brajendra Nath Seal आदि पुस्तकों का अवश्य पढ़ना चाहिये।

संसार में जीवन से बढ़ कर प्यारी वस्तु दूसरी नहीं है। यही कारण है कि क्षुद्र से क्षुद्र कृमि-कीट से लेकर मनुष्य तक एवं जीर्ण रोगी से लेकर तन्दुरुस्त जवान तक सभी इस जीवन-रज्जु को अधिक लम्बी करने के उद्योग में सदैव प्रयत्नशील रहते हैं। जिस जीवन से ऐहिक और पारलौकिक दोनों सिद्धियाँ मिलती हैं, उसे दीर्घकाल तक स्वस्थ तथा कार्यक्षम बनाये रखने के लिये ही प्राचीन आर्यों ने आयुर्वेद का अनुसंधान किया था। हिन्दू, जैन एवं बौद्ध इन तीनों भारतीय प्रधान धर्मों के आयुर्वेदीय ग्रन्थों को मिलाने से हमारा आयुर्वेदीय साहित्य बहुत बढ़ जाता है। पूर्व में आयुर्वेद यहाँ की एक सर्वसुलभ विद्या थी। इसीलिये आज भी बड़े-बड़े सर्जनों एवं वैद्यों से आराम नहीं होनेवाले कई एक कठिन रोगों को एक दिहाती अशिक्षित सामान्य व्यक्ति अच्छा कर देता है। भारत की उर्वरा भूमि ने इसके लिये सर्वत्र बहुमूल्य औषधियाँ भी जुटा रखी हैं। यह भी ध्यान में रखने की बात है कि हमारे पूर्वजों ने स्पष्ट घोषित कर दिया है कि जो व्यक्ति जहाँ पैदा हुआ हो, उसे वहीं के औषधियाँ अधिक लाभकारी होती हैं। इसके लिये केवल एक ही दृष्टांत पर्याप्त है कि कुनाइन सल्फेट आदि औषध इंगलैण्ड आदि शीतप्रधान देशों में जितना काम करते हैं, उतना उष्णप्रधान हमारे भारतवर्ष में नहीं कर पाते।*

*नोट: "वैद्यसार" के प्रकाशकीय वक्तव्य का एक भाग। —लेखक

शाकटायन और उनका शब्दानुशासन

[ले०—श्रीयुत पं० नाथूराम प्रेमी]

शाकटायन या पाल्यकीर्ति

शाकटायन नामके एक बहुत प्राचीन आचार्य हो गये हैं जिनके मतका उल्लेख पाणिनिने अपनी अष्टाध्यायीमें किया है। ऋग्वेद और शुक्ल यजुर्वेदके प्रातिशाख्यामें तथा यास्काचार्यके निरुक्तमें भी इनका जिक्र है। इनका समय इतिहासज्ञोंने ईस्वी सन्से लगभग एक हजार वर्ष पहले अनुमान किया है* और उनका उल्लेख करनेवाले पाणिनिका साढ़े छह सौ वर्ष पहले*। इन शाकटायनका कोई व्याकरण-ग्रन्थ था जो अब मिलता नहीं है।

परन्तु शाकटायन नामका एक और व्याकरण ग्रन्थ है जिसके कर्त्ता जैन थे। वे भी शाकटायन नामसे प्रसिद्ध हैं। परन्तु यह बहुत कम लोग जानते हैं कि उनका वास्तविक नाम पाल्यकीर्ति था।

वादिराजसूरि ने अपने 'पार्श्वनाथ-चरित' काव्यमें उनका स्मरण इस प्रकार किया है—

कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्तेर्महौजसः।
श्रीपदश्रवणं यस्य शाब्दिकान्कुरुते जनान्॥

अर्थात्, उस महातेजस्वी पाल्यकीर्तिकी शक्तिका क्या वर्णन किया जाय जिसका 'श्री' पद-श्रवण ही लोगोंको शाब्दिक या व्याकरणज्ञ कर देता है।

शाकटायनकी अमोघवृत्ति नामकी एक स्वोपज्ञ टीका है। उसका आरंभ 'श्रीवीरममृतं ज्योतिः' आदि मंगलाचरणसे होता है। वादिराजसूरिने इसी मंगलाचरणके 'श्री' पदको लक्ष्य करके यह बात कही है कि पाल्यकीर्ति (शाकटायन) के व्याकरणका आरम्भ करनेपर लोग वैयाकरण हो जाते हैं।

पूर्वोक्त श्लोककी टीका आचार्य शुभचन्द्र अपनी 'पार्श्वनाथचरित-पंजिका' में इस प्रकार करते हैं—"तस्य पाल्यकीर्तेः महौजसः श्रीपदश्रवणं। श्रिया उपलक्षितानि पदानि शाकटायन-सूत्राणि तेषां श्रवणं आकर्णनं।" इससे यह स्पष्ट होता है कि पंजिकाकार शुभचन्द्र पल्यकीर्तिको शाकटायन-सूत्रोंका कर्त्ता मानते थे।

शाकटायन-प्रक्रिया-संग्रहके मंगलाचरणमें† जिनेश्वरको पाल्यकीति और मुनीन्द्र विशेषण दिये हैं, जो श्लिष्ट हैं। उसके द्वारा एक अर्थमें जिनेश्वरको और दूसरे अर्थमें प्रसिद्ध

*—† देखो डा० श्रीपाद कृष्ण बेलवलकरका 'सिस्टिम आफ संस्कृत-ग्रामर।'

† मुनीन्द्रमभिवन्द्याहं पाल्यकीर्तिं जिनेश्वरम्। मन्दबुद्ध्यनुरोधेन प्रक्रियासंग्रहं ब्रुवे॥

वैयाकरण पाल्यकीर्तिको नमस्कार किया है।* शाकटायनकी प्रक्रिया बनाते समय यह सम्भव नहीं कि अभयचन्द्र उसके मूल कर्त्ताको छोड़कर अन्य किसी वैयाकरणको नमस्कार करते। इससे भी शाकटायनका वास्तव नाम पाल्यकीर्ति निश्चित होता है।

शाकटायन या शब्दानुशासन

स्वयं ग्रन्थकर्त्ताने और टीकाकारोंने भी इस व्याकरणका नाम 'शब्दानुशासन' बतलाया है। शाकटायन नाम तो पीछे प्रसिद्ध हुआ जान पड़ता है। जिस तरह कवियोंमें कालिदासको अधिक प्रसिद्धि होनेके कारण पीछेके अनेक कवि कालिदास कहलाने लगे, उसी तरह बहुत बड़े वैयाकरण होने के कारण लोग पाल्यकीर्तिको भी शाकटायनाचार्य कहने लगे और उनके व्याकरणको शाकटायन।

वैदिक शाकटायन प्राचीन है

जब सन् १८९३ में मि० गुस्तव आपर्टने 'शाकटायन-प्रक्रियासंग्रह' प्रकाशित किया, तब उन्होंने उसकी भूमिकामें बतलाया कि ये वही शाकटायन हैं जिनका उल्लेख पाणिनिने किया है और इसके प्रमाणमें दो-चार सूत्र ऐसे भी पेश कर दिये जो वैदिक शाकटायनके उन सूत्रोंसे मिलते-जुलते थे जिनकी चर्चा पाणिनिने की है और अन्तमें यह भी कहा कि ये शाकटायन जैन थे। परन्तु जब उनके कथनपर गहराईसे विचार किया तब वह निस्सार साबित हुआ और अब तो उसपर कोई भी विश्वास नहीं करता है।

शाकटायन यापनीय थे

शाकटायन या पाल्यकीर्ति किस सम्प्रदायके थे पहले इस विषयमें काफी मत-भेद रहा। दिगम्बर सम्प्रदायके लोग पहले उन्हें अपने सम्प्रदायका मानते रहे, क्योंकि उनके यहाँ उनके व्याकरणका काफी प्रचार था और मुनि दयापाल आदि दिगम्बर विद्वानोंने उसपर टीकाग्रन्थ भी लिखे थे। उसके बाद स्व० डाक्टर के० बी० पाठक आदिने श्वेताम्बर बतलाया क्योंकि शाकटायन-सूत्रोंमें आवश्यकनिर्युक्ति, छेद-सूत्र, कालिक-सूत्र आदि श्वेताम्बरमान्य ग्रन्थोंका आदरपूर्वक उल्लेख किया गया है। परन्तु अब यह बिल्कुल निश्चित हो चुका है कि वे इन दोनों सम्प्रदायोंसे पृथक् तीसरे यापनीय सम्प्रदायके थे, जो उक्त दोनों सम्प्रदायोंके बीचकी एक कड़ी था और अब नष्ट हो चुका है। क्योंकि—

१ विक्रमकी तेरहवीं शताब्दिके मलयगिरि नामक श्वेताम्बराचार्यने नन्दिसूत्रकी टीकामें उन्हें यापनीय यतियोंका अग्रणी लिखा है।†

---

* मुनीन्द्रमभिवन्द्याहं पाल्यकीर्तिं जिनेश्वरम्। मन्दबुद्ध्यनुरोधेन प्रक्रियासंग्रहं ब्रुवे॥

† शाकटायनोऽपि यापनीययतिग्रामाग्रणी स्वोपज्ञशब्दानुशासनवृत्तावादौ भगवतः स्तुतिमेवमाह 'श्रीवीरममृतं ज्योतिर्नत्वादिं सर्ववेधसाम्।' अत्र च न्यासकृतव्याख्या—सर्ववेधसां सर्वज्ञानां सकलशास्त्रानुगतपरिज्ञानानां आदिं प्रभवं प्रथममुत्पत्तिकारणमिति—नन्दिसूत्र पृ० २३।

२ यापनीय सम्प्रदाय श्वेताम्बरोंके समान स्त्रियोंका उसी भवमें मोक्ष होना और केवलियोंका आहार करना मानता था जो दिगम्बर सम्प्रदायके सिद्धान्तोंसे विरुद्ध है। इन दोनों विषयोंपर शाकटायनका बनाया हुआ 'स्त्रीनिर्वाण-केवलिभुक्तिप्रकरण' नामका एक छोटा-सा ग्रन्थ उपलब्ध हुआ है और वह प्रकाशित भी हो चुका है।* उसमें स्त्रीमुक्तिपर ५५ और केवलिभुक्तिपर ३४ कारिकायें हैं। इनमें वे सब युक्तियाँ दी गई हैं जो इन बातोंको माननेवालोंकी ओरसे दिगम्बरों के प्रति उपस्थित की जाती हैं। इसका कुछ अंश इस प्रकार है :—

प्रारम्भ—प्रणिपत्य भुक्तिमुक्तिप्रदममलं धर्ममर्हतो दिशतः।
वक्ष्ये स्त्रीनिर्वाणं केवलिभुक्तिं च संक्षेपात् ॥१॥
अस्ति स्त्रीनिर्वाणं पुंवद्यदविकलहेतुकं स्त्रीषु।
न विरुध्यते हि रत्नत्रयसम्पन्निवृतेर्हेतु ॥२॥
रत्नत्रयं विरुद्धं स्त्रीत्वेन यथामरादिभावेन।
इति वाङ्मात्रं नात्र प्रमाणमाप्तागमोऽन्यद्वा ॥३॥

अन्त— विग्रहगतिमापन्नाद्यागमवचनं सर्वमेतस्मिन्।
मुक्तिं ब्रवीति तस्माद्द्रष्टव्या केवलिनि भुक्तिः ॥३२॥
नानाभोगाहारो निरन्तरः सो विशेषतो नाभूत (?)
युक्त्या भेदेनाङ्गस्थितिपुष्टिक्षुच्छमास्तेन ॥३३॥
नास्य विशिष्टस्य स्थितिरभविष्यत्तेन सविशिष्टेन।
यद्यभविष्यदिहैषां सालीतरभोजनेनेव ॥३४॥

इति स्त्रीनिर्वाण-केवलिभुक्तिप्रकरणं भगवदाचार्यशाकटायनकृदन्तपादानामिति।

पन्द्रहवीं शताब्दिमें एक विद्वान्ने अपने समयमें उपलब्ध जैनग्रन्थोंकी एक सूची बड़ी खोजके साथ संस्कृतमें लिखी थी। उसमें कौन ग्रन्थ, किस भाषा में, किसने, किस समय, किस विषयपर, कितने परिमाणका लिखा है इसका संक्षिप्त विवरण जहाँ तक उपलब्ध हो सका, दिया है। इस सूचीका नाम बृहट्टिपणिका है। उसमें भी इस प्रकरण का विवरण इस प्रकार दिया है—"केवलिभुक्तिस्त्रीमुक्तिप्रकरणम्। शब्दानुशासनकृतशाकटायनाचार्यकृतं तत्संग्रह-श्लोकाश्च† ९४।"

वादिवेताल शान्तिसूरिने उत्तराध्ययन टीकाके २६ वें अध्यायमें, रत्नप्रभने रत्नाकरावतारिकामें और यशोविजय उपाध्यायने अध्यात्ममतपरीक्षा तथा शास्त्रवार्तासमुच्चयमें इस प्रकरणकी अनेक

* देखो 'जैनसाहित्यसंशोधक' भाग २, अंक ३।
† यह संख्या अनुष्टुप् श्लोकोंके हिसाबसे दी है।

कारिकायें उद्धृत की हैं। इसी तरह आचार्य प्रभाचन्द्रने अपने प्रमेयकमलमार्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्रमें स्त्री-मुक्ति और केवलि-भुक्तिका पूर्वपक्ष इसी प्रकरणसे लिया है और इसकी एक-एक श्लोकका खण्डन किया है।

३ शाकटायनकी अमोघवृत्तिमें, छेदसूत्र, निर्युक्ति, कालिक सूत्र आदि ग्रन्थोंका जिस तरह उल्लेख* किया है उससे ऐसा मालूम होता है कि उनके सम्प्रदायमें इन ग्रन्थोंके पठन-पाठनका प्रचार था और ये ग्रन्थ दिगम्बर-सम्प्रदायके नहीं हैं जब कि यापनीयसंघ इन ग्रन्थोंको मानता था।

४ अमोघवृत्तिमें 'उपसर्वगुप्तं व्याख्यातारः' कहकर शाकटायनने सर्वगुप्त आचार्यको सबसे बड़ा व्याख्याता बतलाया है और ये सर्वगुप्त वही जान पड़ते हैं जिनके चरणोंके समीप बैठकर आराधनाके कर्त्ता शिवार्यने सूत्र और अर्थको अच्छी तरह समझा था। और चूँकि शिवार्य भी बहुत करके यापनीय सम्प्रदायके थे अतएव उनके गुरुको श्रेष्ठ व्याख्याता बतलानेवाले शाकटायन भी यापनीय होंगे।

५ शाकटायनको 'श्रुतकेवलिदेशीयाचार्य' लिखा है और चिन्तामणि-टीकाके कर्त्ता यक्षवर्माने तो उन्हें 'सकलज्ञानसाम्राज्यपदमाप्तवान्' माना है। परन्तु दिगम्बर-सम्प्रदायके अनुसार वीर-निर्वाण ६८३ वर्षके लगभग ही श्रुतकेवलियों या एकदेशश्रुतकेवलियोंका विच्छेद हो गया था। अतएव उनका श्रुतकेवलिदेशीय होना यापनीयसंघकी मान्यताके अनुसार ही ठीक बैठ सकता है।

शाकटायन की रचनायें

शाकटायनकी इस समय तीन ही रचनायें उपलब्ध हैं, शब्दानुशासनका मूल सूत्रपाठ, उसकी अमोघवृत्ति और ऊपर जिसका जिक्र आ चुका है, वह 'स्त्रीमुक्तिकेवलिभुक्तिप्रकरण'। इनके सिवाय संस्कृतके सुप्रसिद्ध आचार्य राजशेखरने अपनी काव्य-मीमांसामें पाल्यकीर्तिके मतका उल्लेख करते हुए लिखा है—"यथा तथा वास्तु वस्तुनो रूपं वक्तृप्रकृतिविशेषायत्तातु रसवत्ता। तथा च यमर्थं रक्तः स्तौति तं विरक्तो विनिन्दति मध्यस्थस्तु तत्रोदास्ते, इति पाल्यकीर्तिः।" इससे मालूम होता है कि पाल्यकीर्ति या शाकटायनका कोई साहित्य-विषयक ग्रन्थ भी था जो अभी तक कहीं मिला नहीं है। क्या आश्चर्य जो उनके और भी ग्रन्थ हों, जिन्हें हम नहीं जानते। 'स्त्रीमुक्ति-केवलिभुक्ति' प्रकरणसे मालूम होता है कि वे बड़े भारी तार्किक और सिद्धान्तज्ञ भी थे।

---

* देखो पृ० ४४ में 'यापनीय साहित्यकी खोज' शीर्षक लेखकी टिप्पणियाँ।

शब्दानुशासन की टीकायें

शाकटायनके शब्दानुशासनपर अब तक नीचे लिखी सात टीकायें प्राप्त हुई है –

१ अमोघवृत्ति—स्वयं सूत्रकारकी ही लिखी हुई है और यही उसकी सबसे बड़ी टीका है। राष्ट्रकूटनरेश अमोघवर्षको लक्ष्य करके उसका यह नामकरण किया गया था। क्योंकि अमोघवर्षके समयमें ही शाकटायन हुए है जैसा कि आगे चलकर बतलाया जायगा।

२ शाकटायन-न्यास—यह अमोघवृत्तिपर प्रभाचन्द्राचार्यकृत न्यास है।* इस ग्रन्थके सिर्फ दो अध्याय उपलब्ध हैं। परन्तु उनसे टीकाकारके सम्बन्धमें कुछ विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्यके खयालमें ये प्रभाचन्द्र न्यायकुमुदचन्द्र आदिके कर्त्तासे भिन्न कोई दूसरे ही प्रभाचन्द्र हैं। संभव है कि वे यापनीय संघके ही हों।

३ चिन्तामणि टीका (लघीयसी वृत्ति)—यह अमोघवृत्तिको ही संक्षिप्त करके रची गई है। इसके कर्त्ताका नाम यक्षवर्मा है। इनके विषयमें और कुछ मालूम नहीं हैं। ये कोई गृहस्थ विद्वान् थे।

४ मणिप्रकाशिका—'मणि' अर्थात् 'चिन्तामणि' को प्रकाशित करनेवाली टीका। इसके कर्ता अजितसेनाचार्य हैं।

५ प्रक्रिया-संग्रह—यह पाणिनि की सिद्धान्तकौमुदीके ढंगकी प्रक्रिया-टीका है। इसके कर्ता अभयचन्द्राचार्य हैं।

६ शाकटायन टीका—भावसेन त्रैविद्यदेवकृत। कातन्त्रकी रूपमाला टीकाके कर्त्ता भी यही मालूम होते हैं। ये 'वादिपर्वतवज्र' कहलाते थे। इनका बनाया हुआ एक 'विश्व-तत्त्वप्रकाश' नामका ग्रन्थ भी उपलब्ध है।

७ रूपसिद्धि—यह लघुकौमुदीके समान छोटी टीका है। इसके कर्त्ता दयापाल मुनि हैं।† ये द्रविड़संघके थे। इनके गुरुका नाम मतिसागर था। ये पार्श्वनाथ-चरित और न्याय-विनिश्चय आदिके कर्त्ता वादिराजसूरिके सधर्मा थे। पार्श्वनाथचरितकी रचना श० सं० ९४७ (वि० सं० १०५२) में हुई थी, अतएव इनका भी यही समय समझना चाहिए। यह टीका प्रकाशित हो चुकी है।

---

* शब्दानां शासनाख्यस्य शास्त्रस्यान्वर्थनामतः।
प्रसिद्धस्य महामोघवृत्तेरपि विशेषतः।
सूत्राणां च विवृतिर्लिख्यते (?) च यथामतिः।
ग्रन्थस्यास्य च न्यासेति (?) क्रियते नाम नामतः॥

† हितैषिणां यस्य नृणामुदात्तवाचा निबद्धा हित-रूपसिद्धिः।
वन्द्यो दयापालमुनिः स वाचा सिद्धस्सताम्मूर्द्धनि यः प्रभावैः॥१४॥
—श्रवणबेल्गोलका ५४ वाँ शिलालेख

अमोघवृत्ति स्वोपज्ञ है

अमोघवृत्ति स्वयं शाकटायन या पाल्यकीर्तिकी है, इसे स्व० डा० के० बी० पाठकने बहुत अच्छी तरह प्रतिपादित किया है। वे कहते हैं—

श्रीवीरममृतं ज्योतिर्नत्वादिं सर्ववेधसां शब्दानुशासनस्येयममोघावृत्तिरुच्यते।

अविघ्नेनेष्टप्रसिद्ध्यर्थं मंगलमारभ्यते—

नमः श्रीवर्द्धमानाय प्रबुद्धाशेषवस्तवे। येन शब्दार्थसम्बन्धाः सार्वेण सुनिरूपिताः॥

शब्दो वाचकः अर्थो वाच्यः तयोः सम्बन्धी योग्यता अथवा शब्दो आगमः अर्थः प्रयोजनं। अभ्युदयो निःश्रेयसं च। तयोः सम्बन्ध उपायोपेयभावः। ते येन सर्वसत्त्वहितेन सता तत्त्वत प्रज्ञापिताः तस्मै परमार्हन्त्यमहिम्ना विराजमानाय भगवते वर्द्धमानाय षडपि द्रव्याणि अशेषाणि अनन्तपर्यायरूपाणि साकल्येन साक्षात्कुर्वते नमः कुर्वे इत्युपस्कारः। एवं कृतमंगल-रक्षाविधानः, परिपूर्णमल्पग्रंथं लघूपायं शब्दानुशासनशास्त्रमिदं महाश्रमणसंघाधिपतिर्भगवाना-चार्यः शाकटायनः प्रारभते। शब्दार्थज्ञानपूर्वकं च सन्मार्गानुष्ठानं। अइउण्। ऋलृक्। एओङ्। .. हल्॥१३॥ इति वर्णसमाम्नायः क्रमानुवन्धोपादानः प्रत्याहारयन् शास्त्रस्य लाघवार्थः। सामान्याश्रयणाद्दीर्घप्लुतानुनासिकानां ग्रहणं। —अमोघवृत्ति

श्रियं क्रियाद्वः सर्वज्ञानज्योतिरनीश्वरीं।
विश्वं प्रकाशयच्चिन्तामणिश्चिन्तार्थसाधनः॥ १॥
नमस्तमः प्रभावाभिभूतभूद्योतहेतवे।
लोकोपकारिणे शब्दब्रह्मणे द्वादशात्मने॥ २॥
स्वस्ति श्रीसकलज्ञानसाम्राज्यपदमाप्तवान्।
महाश्रमणसंघाधिपतिर्यः शाकटायनः॥ ३॥
एकः शब्दाम्बुधिं बुद्धिमन्दरेण प्रमथ्य यः।
सयशःश्रीः समुद्दध्रे विश्वं व्याकरणामृतम्॥ ४॥
स्वल्पग्रन्थं सुखोपायं सम्पूर्णं यदुपक्रमं।
शब्दानुशासनं सार्वमर्हच्छासनवत्परम्॥ ५॥
इष्टिर्नेष्टा न वक्तव्यं वक्तव्यं सूत्रतः पृथक्।
संख्यातं नोपसंख्यानं यस्य शब्दानुशासने॥ ६॥
तस्यातिमहतीं वृत्तिं संहृत्येयं लघीयसी।
सम्पूर्णलक्षणा वृत्तिर्वक्ष्यते यक्षवर्मणा॥ ७॥
ग्रन्थविस्तरभीरूणां सुकुमारधियामयं।
शुश्रूषादिगुणान्कर्तुं शास्त्रे संहरणोद्यमः॥ ८॥

शब्दानुशासनस्यान्वर्थायाश्चिन्तामणेरिदं ।
वृत्तेर्ग्रन्थप्रमाणं (हि) षट्सहस्रं निरूपितं ॥ ९ ॥
इन्द्रचन्द्रादिभिः शाब्दैर्यदुक्तं शब्दलक्षणं ।
तदिहास्ति समस्तं च यन्नेहास्ति न तत्क्वचित् ॥ १० ॥
गणधातुपाठयोगेण धातून लिंगानुशासने लिङ्गगतं ।
औणादिकानुणादौ शेषं निःशेषमत्र वृत्तौ विद्यात् ॥ ११ ॥
बालाबलाजनोऽप्यस्या वृत्तेरभ्यासवृत्तित ।
समस्तं वाङ्मयं वेत्ति वर्षेणैकेन निश्चयात् ॥ १२ ॥

तत्र सूत्रस्यादावयं मङ्गलश्लोकः। नमः श्रीवर्द्धमानायेत्यादि। शब्दार्थसम्बन्धार्थौ वाचक-वाच्ययोग्यता अथवा आगमप्रयोजनोपायोपेयभावाः ते येन सर्वसत्त्वहितेन तत्त्वतः प्रज्ञापिताः तस्मै श्रीमते महावीराय साक्षात्कृतसकलद्रव्याय नमः करोमीत्यध्याहारः। विघ्नप्रशमनार्थमर्ह-द्देवतानमस्कारं परममङ्गलमारभ्य भगवानाचार्यः शाकटायनः शब्दानुशासनं शास्त्रमिदं प्रारभते।

धर्मार्थकाममोक्षेषु तत्त्वार्थावगतिर्यतः। शब्दार्थज्ञानपूर्वेति वेद्यं व्याकरणं बुधैः ॥

अ इ उ ण्। ऋलृक्। ए ओ ङ्। हल् इति वर्णसमाम्नायः क्रमानुबाधोपादानः प्रत्याहारयन् शास्त्रस्य लाघवार्थः। सामान्यग्रहणाद्दीर्घप्लुतानुनासिकानां ग्रहणम्।

— चिन्तामणि टीका

चिन्तामणिके कर्त्ता यक्षवर्माने उपरिलिखित सातवें श्लोकमें कहा है कि "यह उसकी छोटी वृत्ति है जिसे मैंने उसकी (शाकटायनकी) बहुत बड़ी वृत्तिसे संक्षिप्त करके बनाया है।" वे यह नहीं कहते कि यह मेरी स्वतन्त्र रचना है। अब यह देखना चाहिये कि वह अति महती या बहुत बड़ी वृत्ति कौन-सी है जिसको संक्षिप्त करके यह लिखी गई है। विचार करके देखा जाय तो मालूम होगा कि वह वृत्ति और कोई नहीं, अमोघवृत्ति ही है। क्योंकि एक तो उपलब्ध वृत्तियोंमें वही सबसे बड़ी है। दूसरे ऊपर लिखी हुई दोनों प्रशस्तियोंके कुछ भाग समान है, जो यह बतलाते हैं कि एक वृत्ति दूसरीको देखकर या उसीको संक्षेप करके बनाई गई है। 'इति वर्णसमाम्नायः' आदि पाठ दोनोंके मिलते-जुलते हुए हैं। अन्तर केवल यह है कि जहाँ अमोघवृत्तिमें 'सामान्याश्रयणात्' लिखा गया है वहाँ चिन्तामणिमें 'सामान्य-ग्रहणात्' है। तीसरे यक्षवर्माने जिस मंगलश्लोककी 'नमः श्रीवर्द्धमानायेत्यादि' प्रतीक दी है वह अमोघवृत्तिमें ही मिलती है। मूलका या अन्य किसी वृत्तिका यह श्लोक नहीं है। इस श्लोकके उत्तरार्द्धकी व्याख्या भी अमोघवृत्तिसे थोड़ा बहुत इधर-उधर करके नकल कर दी गई है। इन सब बातोंसे यह निश्चय हो जाता है कि चिन्तामणि-टीका अमोघवृत्तिसे पीछे बनी है और वह अमोघवृत्तिका ही संक्षेप है।

यक्षवर्माने अपनी टीका अमोघवृत्तिको ही कुछ फेर-फार करके बनाई है, यह बात दोनों टीकाओंका मिलान करनेसे अच्छी तरह समझमें आ जाती है। कुछ उदाहरण लीजिए—

नामदु: १-१-१७ —मूल शाकटायनसूत्र

यन्नामधेयं संव्यवहाराय हठान्नियुज्यते देवदत्तादि तद्दु संज्ञं वा भवति। देवदत्तीया दैवदत्ताः। षडनयानाहुः सिद्धसेनीयाः सैद्धसेनाः। —अमोघवृत्ति

यन्नामधेयं संव्यवहाराय हठान्नियुज्यते देवदत्तादि तद्दु संज्ञं वा भवति। देवदत्तीयो दैवदत्तः। —चिन्तामणिटीका

कहीं-कहींपर तो यक्षवर्माने अमोघवृत्ति ज्योंकी त्यों नकलभर कर दी है। जैसे—ख्याते दृश्ये ४-३-२०७। —मूल

भूतेऽनद्यतने ख्याते लोकविज्ञाते दृश्ये प्रयोक्तुः शक्यदर्शने वर्तमानाद्धातोर्लङ्प्रत्ययो भवति। लिडपवाद। अरुणद्देवः पाण्ड्यम्। अदहदमोघवर्षोरातीन्। ख्यात इति किम्? चकार कटं देवदत्तः। दृश्य इति किम्? जघान कंसं किल वासुदेवः। अनद्यतने इति किम्? उदगादादित्यः। —अमोघवृत्ति

उक्त सूत्रपर चिन्तामणिकी टीका भी इसी प्रकार है। अन्तर सिर्फ इतना ही है कि अमोघमें जहाँ 'लङ् प्रत्ययो' लिखा है वहाँ चिन्तामणिमें केवल 'लङ्' लिखा है, 'प्रत्यय' छोड़ दिया है।

उपर्युक्त बातोंसे यह तो सिद्ध हो गया कि चिन्तामणि अमोघवृत्तिसे पीछे बनी है और उसीको संकोच करके बनाई गई है। अब यह देखना है कि अमोघवृत्तिका कर्त्ता कौन है? चिन्तामणि टीकाके पूर्व ३-४-५-६-७ श्लोकोंका अर्थ अच्छी तरह लगानेसे इसका भी निश्चय हो जायगा।

३—जिन्होंने सकलज्ञानरूपी साम्राज्य-पदको प्राप्त किया है और जो बड़े भारी साधु-समाजके अगुआ थे, वे शाकटायनाचार्य जयवंत हों।

४—जिन अकेलेने बुद्धिरूप मन्दराचलसे शब्द-समुद्रका मंथन करके, उसमेंसे यशोरूप लक्ष्मीके साथ-साथ सम्पूर्ण व्याकरणोंका साररूप यह अमृत निकाला,

५—जिनका रचा हुआ शब्दानुशासन आर्हत धर्मकी तरह स्वल्प ग्रन्थ (प्रमाणमें थोड़ा), सुख-साध्य और सम्पूर्ण है,

६—जिन (शाकटायन मुनि) के शब्दानुशासनमें इष्टि, उपसंख्यान, वक्तव्य, न वक्तव्य आदिका झगड़ा नहीं है,

७—उनकी (तस्य शाकटायनस्य) बड़ी भारी वृत्ति (अमोघवृत्ति) को संकोच करके यह छोटी-सी परन्तु सम्पूर्ण लक्षणोंवाली वृत्ति मैं (यक्षवर्मा) कहूँगा।
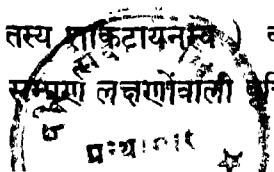
ध्यान रखना चाहिए कि ये पाँचों श्लोक शाकटायनका वर्णन करनेवाले हैं। इनमेंके 'यः' (श्लोक ३-४), यदुपक्रम शब्दका 'यत्' (श्लोक ५) और 'यस्य' (श्लोक ६) ये तीनों सम्बन्धद्योतक सर्वनाम सातवें श्लोकके 'तस्य' शब्दसे सम्बन्ध रखते हैं। यह 'तस्य' शब्द कर्त्तरि षष्ठीमें बनाया गया है और यह सातवें पद्यका मुख्य वाक्यांश है। अन्वय इस तरह होता है--'यदुपक्रमं शब्दानुशासनं सार्वं तस्य महतीं वृत्तिं संहृत्य इयं लघीयसी वृत्तिर्वक्ष्यते यक्षवर्मणा' अर्थात् जिसका बनाया हुआ सर्वोपयोगी शब्दानुशासन नामक व्याकरण है, उसीकी बनाई हुई बहुत बड़ी टीकाको संकोचकर मैं यह छोटी-सी टीका बनाता हूँ। इससे निश्चय हो गया कि मूल शब्दानुशासन और उसकी अमोघवृत्ति टीका ये दोनों ग्रन्थ एक ही शाकटायनने बनाये हैं।

मि० राइस साहबने इसके लिए चिदानन्द कविके 'मुनिवंशाभ्युदय' नामक कन्नड काव्यसे एक प्रमाण दिया है। यह कवि मैसूरके चिक्कदेवराजाके समयमें (ई० सन् १६७२-१७०४) हुआ है और 'चारुकीर्ति पंडितदेव' इसकी उपाधि (?) थी। कविके कन्नड़ श्लोकोंका अर्थ यह है--

"उस मुनिने अपने बुद्धिरूप मन्दराचलसे श्रुतरूप समुद्रका मन्थन कर यशके साथ व्याकरणरूप उत्तम अमृत निकाला। शाकटायनने उत्कृष्ट शब्दानुशासनको बना लेनेके बाद अमोघवृत्ति नामकी टीका--जिसे बड़ी शाकटायन कहते हैं--बनाई जिसका कि परिमाण १८००० है। जगत्प्रसिद्ध शाकटायन मुनिने व्याकरणके सूत्र और साथ ही पूरी वृत्ति भी बनाकर एक प्रकारका पुण्य सम्पादन किया। एक बार अविद्धकर्ण सिद्धान्तचक्रवर्ती पद्मनन्दिने मुनियोंके मध्य पूजित शाकटायनको मन्दर पर्वतके समान धीर विशेषण से विभूषित किया।"

गणरत्नमहोदधिके कर्त्ता वर्धमान कवि--जो विक्रम सं० ११९७ में हुए हैं--अपने ग्रन्थमें शाकटायनके नामसे जिन-जिन बातोंको उद्धृत करते हैं वे अमोघवृत्तिमें ही मिलती हैं, मूलसूत्रोंमें नहीं। इससे मालूम होता है कि वर्धमान जानते थे कि अमोघवृत्ति शाकटायनकी ही है और इसीलिए उन्होंने उसके उदाहरण शाकटायनके नामसे देना अनुचित न समझा।

शाकटायनस्तु कर्णे टिरिटिरिः कर्णे चुरु-चुरुरित्याह।

—गणरत्न पृष्ठ ८२ और अमोघवृत्ति २।१।५७

शाकटायनस्तु अद्य पंचमी अद्य द्वितीयेत्याह।

—गणरत्न पृ० ९०, अमोघवृत्ति २।१।७९

इसके सिवाय नन्दिसूत्रकी मलयगिरिकृत टीकाका उद्धरण ऊपर दिया जा चुका है जिसमें टीकाकर्त्ताने 'श्रीवीरममृतं ज्योतिः' आदि मंगलाचरणको शाकटायनकी स्वोपज्ञवृत्तिका बतलाया है। इससे सिद्ध है कि अमोघवृत्ति स्वयं शाकटायनकी बनाई हुई है।

रचना-काल

ऊपर 'ख्याते दृश्ये' सूत्रकी जो अमोघवृत्ति दी है, उसमें एक उदाहरण है—"अदहद-मोघवर्षोऽरातीन्।"* अर्थात् अमोघवर्षने शत्रुओंको जला दिया। इस उदाहरणमें ग्रन्थकर्त्ताने अमोघवर्ष (प्रथम) की अपने शत्रुओंपर विजय पानेकी जिस घटनाका उल्लेख किया है, ठीक उसीका जिक्र शकसंवत् ८३२ (वि० सं० ९६७) के एक राष्ट्रकूट-शिलालेखमें† इन शब्दोंमें किया है—"भूपालान् कण्टकामान् वेष्टयित्वा ददाह।" और इसका भी अर्थ लगभग वही है; अमोघवर्षने उन राजाओंको घेरा और जला दिया जो उससे एकाएक विरुद्ध हो गये थे। उक्त शिलालेख अमोघवर्षके बहुत पीछे लिखा गया था, इसलिए उसमें परोक्षार्थवाली 'ददाह' क्रिया दी है। उसके लेखकके लिए उक्त घटनाका स्वयं देखना अशक्य था। परन्तु अमोघवृत्तिके कर्त्ताके लिए शक्य था, इसलिए उसने 'अदहत्' यह लङ् प्रत्ययकी क्रिया दी है। अर्थात् यह उसके समक्षकी घटना होगी।

बगमुराके दान-पत्रमें‡ जो श० सं० ७८९ (वि० सं० ९२४) का लिखा हुआ है इस घटनाका उल्लेख है। उसका सारांश यह है कि गुजरातके माण्डलिक राजा एकाएक बिगड़ खड़े हुए और उन्होंने अमोघवर्षके विरुद्ध हथियार उठाये, तब उसने उनपर चढ़ाई कर दी और उन्हें तहस-नहस कर डाला। इस युद्धमें ध्रुव घायल होकर मारा गया।

अमोघवर्ष श० सं० ७३६ (वि० सं० ८७१) में सिंहासनपर बैठे थे और यह दानपत्र श० सं० ७८९ (वि० सं० ९२४) का है। अतः सिद्ध है कि अमोघवृत्ति ७३६ और ७८९ के बीच किसी समय लिखी गई है और यही पाल्यकीर्ति या शाकटायनका समय है।

महाराजा अमोघवर्ष (प्रथम) जैन विद्वानोंके बड़े भारी आश्रयदाता थे। भगवज्जिनसेन-को वे अपना गुरु मानते थे और अन्तमें तो उन्होंने शायद जैनधर्मके विवेकसे राज्यका त्याग भी कर दिया था। अतएव यदि वैयाकरण शाकटायनने उनके जैन धर्म और साहित्यिक प्रेमी होने के नाते अपनी वृत्तिका नाम अमोघवृत्ति रक्खा हो तो कोई आश्चर्य नहीं और फिर 'अदहदमोघवर्षोऽरातीन' उदाहरणसे तो अमोघवृत्तिके कर्त्ताकी समकालीनता स्पष्ट ही हो रही है।

शाकटायनके पूर्ववर्ती आचार्य

शाकटायनने अपनी पूर्व गुरु-परम्पराका कोई उल्लेख नहीं किया है, यहाँ तक कि अपने

* इसी सूत्रकी वृत्तिमें एक उदाहरण और है—'अरुणद्देवः पाण्ड्यम्' अर्थात् देवने पाण्ड्यनरेश को रोका। अमोघवर्षके शर्वदेव, तुंगदेव, आदि अनेक नाम हैं। इस देवसे भी उन्हींका मतलब जान पड़ता है; उन्होंने इसके अनुसार किसी पाण्ड्य राजाको रोका या कैद कर लिया होगा।

† एपिग्राफिआ इंडिका जिल्द १, पृ० ५४। ३

‡ विवेकात्यक्तराज्येन राज्ञेयं रत्नमालिका।
रचितामोघवर्षेण सुधियां सदलंकृतिः॥—प्रश्नोत्तररत्नमाला

गुरुका नाम भी नहीं दिया है। प्रकरण और सूत्र-ग्रन्थमें तो खैर इसके लिए स्थान नहीं था, पर अमोघवृत्तिमें गुंजाइश थी और संभव है उसमें प्रशस्ति रही भी हो; परन्तु जो प्रतियाँ उपलब्ध हैं उनमें शायद प्रति-लिपिकारोंकी कृपा से वह नहीं रही है।

अमोघवर्ष (प्रथम) के पिता प्रभूतवर्ष या गोविन्दराज तृतीयका जो दान-पत्र कदंब (मैसूर) में मिला है वह शक सं० ७७५ का अर्थात् अमोघवर्षके राजा होनेसे एक वर्ष पहलेका है। उसमें अर्ककीर्ति मुनिको मान्यपुर ग्रामके शिलाग्राम जिनेन्द्र-भवनके लिए एक गाँव दान करनेका उल्लेख है। अर्ककीर्ति यापनीय-नन्दिसंघ-पुंनागवृक्षमूलगणके थे। अर्ककीर्तिके गुरुका नाम विजयकीर्ति और प्रगुरुका श्रीकीर्ति था। बहुत संभव है कि पाल्यकीर्ति (शाकटायन) इसी परम्पराके हों, और आश्चर्य नहीं जो अर्ककीर्तिके ही शिष्य या उनके सधर्मा हों

शाकटायन सूत्र-पाठमें इन्द्र, सिद्धनन्दि और आर्यवज्र इन तीन पूर्वाचार्योंका मत दिया है। वे तीनों दिगम्बर सम्प्रदायके नहीं मालूम होते। या तो ये यापनीय सम्प्रदायके ही होंगे या फिर श्वेताम्बर सम्प्रदायके।

इन्द्र—गोम्मटसार (जीवकाण्ड) में पाँच तरह के पाँच मिथ्यादृष्टियोंके उदाहरण देते हुए लिखा है—एयंत बुद्धदरसी विवरीओ बम्ह तावसो विणओ।
इंदो वि य संसइयो मक्कडिओ चेव अण्णाणी ॥१६॥

अर्थात् बौद्ध एकान्ती, ब्रह्म (याज्ञिक) विपरीत, तापस वैनयिक, इन्द्र संशयी और मस्करि (आजीवक) अज्ञानी मिथ्यादृष्टियोंके उदाहरण हैं। इनमेंसे इन्द्रको टोकाकारने श्वेताम्बर गुरु बतलाया है। परन्तु इन्द्र नामके श्वेताम्बराचार्यका अभीतक कोई उल्लेख नहीं मिला है। बहुत सम्भव है कि वे यापनीय ही हों और श्वेताम्बरतुल्य होनेसे श्वेताम्बर कह दिये गये हों। द्विकोटिगत ज्ञानको संशय कहते हैं, जो श्वेताम्बर सम्प्रदायमें घटित नहीं हो हो सकता।[१] परन्तु यापनीयोंको कुछ श्वेताम्बर और दिगम्बर होनेके कारण एक तरहसे संशय-मिथ्यादृष्टि कहा जा सकता है। बहुत सम्भव है कि शाकटायन-सूत्रकारने इन्हीं इन्द्र गुरुका उल्लेख किया हो और यापनीय सम्प्रदायके कोई प्रसिद्ध आचार्य रहे हों।

सिद्धनन्दि—इनके विषयमें हम कुछ नहीं जानते; परन्तु ये भी यापनीय ही मालूम होते हैं। नन्द्यन्त नामधारी आचार्य यापनीयोंमें भी बहुत हुए हैं—चन्द्रनन्दि, मित्रनन्दि, कीर्तिनन्दि, कुमारनन्दि आदि।

आर्यवज्र—श्वेताम्बर सम्प्रदायकी कल्पसूत्र-स्थविरावलीमें अज्ज वइर (आर्य वज्र) नामके एक आचार्यका नाम मिलता है जो आर्य सिंहगिरिके शिष्य और गोतम गोत्रके थे। तपागच्छ-पट्टावलीके अनुसार दशपूर्वधारियोंमें उनकी गणना होती है और वीर नि० सं० ५८४ में उनका स्वर्गवास हुआ था। संभव है, शाकटायनने इन्हींका उल्लेख किया हो। सम्प्रदाय-भेद होनेके पहले होनेके कारण तीनों सम्प्रदायवाले इनका उल्लेख कर सकते हैं। तिलोयपण्णत्तिके वज्रयश नामक अन्तिम प्रज्ञाश्रमण भी शायद यही हों।

---

१ देखो दर्शनसार-विवेचना।

जैन-सिद्धान्त-भवन और तत्सम्बन्धी कार्यप्रणाली का दर्शन

[ले०—श्रीयुत बाबू पद्मराज जैन, कलकत्ता]

मेरा जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा के साथ बहुत प्रगाढ़ सम्बन्ध रहा है। मेरे बाल्य-जीवन का कार्यक्षेत्र यह भवन ही था। श्रद्धेय स्वर्गीय बा० देवकुमार जी और मेरे परम मित्र बाबू करोड़ीचन्द्रजी के सहयोग से मुझे बहुत-से जैन तीर्थ-क्षेत्र और अन्यान्य ऐतिहासिक महत्वपूर्ण क्षेत्रों का दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उस आनन्दमय अवसर का जब कभी स्मरण होता है तो मेरा हृदय गद्गद् हो उठता है।

दिगम्बर जैन महासभा का सभापतित्व, मथुरा का महत्वपूर्ण अधिवेशन, कानपुर और हाथरस की प्राण-प्रतिष्ठाएँ, बड़े बड़े मेलों में सैद्धान्तिक और साहित्यिक अखाड़े और मल्लयुद्ध का दृश्य आज भी प्राचीन स्मृतिपट पर अंकित चतुर शिल्पी द्वारा चित्रित, मृत-घटनाओं का प्रतिबिम्ब उपस्थित करता है। कलकत्ते के बाबू पूरणचन्द्जी नाहर के मकान में बैठकर जब 'भास्कर' के प्रकाशन का अन्तिम निर्णय हुआ था, वह शुभ घड़ी आज भी मुझे अच्छी तरह याद हैं। मेरा हृदय और हाथ-पावँ काँपते थे। मैं कहता था, "करोड़ीचन्द ! तुम मेरे अयोग्य एवं निर्बल कन्धे पर हिमालय का भार रख रहे हो, मुझे कुछ दिखाई नहीं देता, परिणाम क्या होगा !"

हमारे सामने केवल निःस्वार्थ सेवा, आत्मत्याग और कठिनतम घोर अन्धकारमय कण्टकाकीर्ण मार्ग पर चलना ही था। जैन इतिहास गिरिकन्दराओं की निविड़ अन्धकारमय गुफाओं में आच्छादित पड़ा था। उसीकी खोज का भार मुझ सरीखे अनभिज्ञ और ऐतिहासिक ज्ञानशून्य व्यक्ति के सिर पर लादा गया। मैंने भी यह समझकर स्वीकृति दे दी कि यदि मैं कहीं हास्यास्पद हुआ तो अपने ही पूज्यों के सामने होना पड़ेगा। बा० करोड़ीचन्द्रजी ने और मैंने तीन महीने में प्रथम किरण की कुछ सामग्री एकत्र की। बा० करोड़ीचन्द्रजी के आरा चले जाने पर मैं अकेला अन्धकार में झूलने लगा और दूसरे दो महीने में किसी न किसी तरह प्रथम किरण प्रकाशित कर ही दी। प्रथम किरण की प्रथम प्रति जब मैंने आरा भेजी, तो बधाई के तारों का ढेर लग गया। सबसे बड़ा उपहार स्वर्गवासी बा० देवकुमारजी और करोड़ीचन्द्रजी के हाथों का पुष्पहार पार्सल से आया था, यह आज मुझे याद है। मैंने कहा, समाज इस खोज का स्वागत करे अथवा न करे, देवकुमारजी और करोड़ीचन्द्रजी की बधाई मेरे सारे परिश्रम का फल है। मेरा हृदय आनन्द से नाचने लगा।

'भास्कर' की दूसरी किरण निकालने के समय आरे वाले पं० हरनाथजी द्विवेदी और कर्णाटक-निवासी पं० पांगलजो, और एक दूसरे साधारण लेखक की सहायता मुझे प्राप्त हुई। पहली किरण के प्रकाशन का फल शीघ्र ही देदीप्यमान सूर्य-चन्द्र की तरह जैन ऐतिहासिक आकाश में दिखाई दिया। इंगलैण्ड से निकलनेवाली 'ओरियन्टल हिस्ट्री सिरीज' के सम्पादक ने लिखा कि 'जैन पंडितों ने सम्राट् चन्द्रगुप्त को जैन प्रमाणित करने में जो अकाट्य और असंदिग्ध ऐतिहासिक प्रमाण एकत्र किये हैं, उनसे विचारों में आघात लगे विना नहीं रहता। यद्यपि चन्द्रगुप्त के जैन स्वीकार करने में कुछ समय सापेक्ष है, तो भी इन प्रमाणों के रहते अस्वीकार करना भी उतना ही कठिन है।"

हमलोग हिन्दू-महासभा के अधिवेशन पर भागलपुर आये हुए थे, मेरे साथ प्रधान साथियों में मनेपर निवासी, राजस्थान हिन्दू संगठन के प्रधान नेता श्री बा० दुर्गा प्रसाद जी का उल्लेख विशेष महत्त्व रखता है। कई दिनों तक सरकारी जेलों में रहकर जब हमलोग बहुत-से मित्रों के साथ ता० ५ जनवरी सन १९४२ को पटने आये, और पटने में कुछ आरे के भाइयों ने हमलोगों से हिन्दू-सभा के प्रचारार्थ आरा आने का आग्रह किया, तो वही 'जैन-सिद्धान्त-भवन', वही देवकुमारजी का 'देव-भवन', वही करोड़ीचन्द्रजी की कुटिया, और वयोवृद्ध बच्चू बाबू का कटाक्ष-निरीक्षण याद आकर हृदय हिलोरें लेने लगा। आज 'जैन-सिद्धान्त-भवन' एक भव्य, सुन्दर, रमणीक, स्थान में विराजमान है। आलमारियों में हिन्दी, संस्कृत, कन्नड, पाली, तामिल और अन्यान्य भाषाओं के मुद्रित, प्रकाशित, हस्त-लिखित, ताड़पत्र, भोजपत्र के अनेक गौरवमय ग्रन्थ नियमित रूप से सुसज्जित हैं—देखकर बड़ा ही आनन्द हुआ और मालूम पड़ने लगा कि आज भविष्य का आनन्दमय स्वप्न प्रत्यक्ष हो रहा है। इस आनन्द का किसी भी साहित्यिक भाषा से वर्णन नहीं हो सकता। पण्डित के० भुजबली शास्त्री बड़ी योग्यता के साथ भवन का संचालन कर रहे हैं। भवन द्वारा प्रकाशित, कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ वे मुझे अर्पण कर धन्य करना चाहते थे, परन्तु मैं कहाँ जाऊँगा, और अन्ताराष्ट्रीय परिस्थिति मुझे कहाँ रहने के लिए वाध्य करेगी, यह न जानते हुए शास्त्रीजी के उस अपूर्व दान को मैं कृपण की सम्पत्ति की तरह उन्हीं के पास सुरक्षित रख आया हूँ। केवल भास्कर का भाग ८, किरण २ पढ़ने के लिए साथ लेता आया, आरा से राजगृही तक पढ़ने और मनन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आज इसीलिए मैं इस किरण में प्रकाशित "अर्द्धफालक-सम्प्रदाय" शीर्षक लेख की ओर ध्यान आकर्षित करना चाहता हूँ। "जैन सम्प्रदाय का दो भागों में अर्थात् श्वेताम्बर व दिगम्बर में विभक्त हो जाना जैन इतिहास की एक विशेष महत्त्वपूर्ण घटना है, अस्तु, इस घटना पर भारत के अन्य इतिहासकार क्या प्रकाश डालते हैं और उसके साथ इस घटना का कितना सम्बन्ध है, यह सारी बातें इसके निर्णय में एक विशेष स्थान रखती हैं।"

आचार्य रत्ननन्दी का 'भद्रबाहुचरित्र' अथवा 'भावप्रकाश' आदि ग्रन्थ ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसी घटनाओं पर प्रकाश डालने के लिए यथेष्ट नहीं समझे जाते। आचार्य रत्ननन्दीजी का समय बहुत आधुनिक है। भावप्रकाश तो ऐतिहासिक दृष्टि से कोई महत्त्व ही नहीं रखता। वह तो बहुत-सी सुनी सुनाई किम्वदन्तियों, और रोचक कथाओं का संग्रह मात्र है; इसलिये उक्त लेख के विद्वान् लेखक की यह कल्पना कि श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदाय का जन्म विक्रम सम्वत् के १३६ वर्ष बाद हुआ है, ऐतिहासिक कसौटी पर नहीं ठहर सकती। अन्तिम श्रुतकेवली, भद्रबाहु के समय में ही दोनों सम्प्रदायों के भिन्न हो जाने का सबसे बड़ा प्रमाण तो यह है कि यहाँ से दोनों सम्प्रदायों की गुरु-पट्टावलि (आचार्यावलि) भिन्न-भिन्न दो भागों में विभक्त हो जाती है। एक ओर भद्रबाहु स्वामी और दूसरी ओर स्थूलभद्र स्वामी से पट्टावलियाँ प्रारंभ होती हैं। भद्रबाहु स्वामी के समय में ही जैन साधु-संघ के अधिवेशन में दोनों सम्प्रदायों के भिन्न हो जाने का उल्लेख आज पर्यन्त श्वेताम्बर ग्रन्थों में पाया जाता है। अस्तु, इस घटना को ५०० वर्ष पीछे खींचना युक्त्यसंगत है। साथ ही सम-सामयिक विदेशी साहित्य में भी नग्न, वस्त्रसहित और पीताम्बर अर्थात् बौद्ध संन्यासियों का उल्लेख पाया जाता है। ग्रीक सेनानायक सैल्युकश के पीछे आनेवाले कई ग्रीक दूतों ने उस समय के साहित्य में तीन प्रकार के साधुओं का स्पष्ट उल्लेख किया है। अन्य भी कई स्थानों में वस्त्रधारी जैन साधुओं का उल्लेख पाया जाता है। यद्यपि उनके श्वेतवस्त्र अथवा अन्य किसी रंगविशेष का कोई विशेष वर्णन न होने पर भी जब पीतवस्त्र धारण करनेवाले संन्यासियों का भिन्न उल्लेख पाया जाता है, तो दो प्रकार के जैन साधु नग्न और वस्त्रधारी दिगम्बर और श्वेताम्बर के सिवाय दूसरा कोई होना संभव दिखाई नहीं देता, क्योंकि दिगम्बरों में उस समय तक भट्टारकों का आविर्भाव नहीं हुआ था। श्वेताम्बर भाई भी इस घटना में कोई सन्देह नहीं करते परन्तु इतना वे अवश्य कहते हैं कि मूल सम्प्रदाय उन्हीं का है। उस समय नग्न और वस्त्रधारी दोनों ही प्रकार के साधु होते थे। स्थूलभद्र स्वामी के पीछे से दिगम्बर सम्प्रदाय मूल सम्प्रदाय से भिन्न हो गया जैसे श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने नग्नता के मोक्ष के प्रतिप्रतिबंधक नहीं माना, उसी प्रकार दिगम्बर आदि ग्रन्थों ने भी ऊपर से पड़े हुए वस्त्र को निर्वाण में प्रतिबंधक नहीं माना। जो दिगम्बर सिद्धान्त यह कहता है कि कर्मों का अत्यन्त अभाव ही मोक्ष है, वह सिद्धान्त यह कैसे स्वीकार कर सकता है कि जिस जीव ने कर्मों का सर्वथा अभाव कर दिया हो और उसे यदि एक वस्त्र पहना दिया जाय, तो वह जीव मोक्ष पाने से रोका जा सकता है! अस्तु, यह सिद्धान्त अथवा यह कारण सर्वथा निर्मूल मालूम होता है कि वस्त्र मोक्ष का प्रतिबंधक कारण सिद्ध हो। यह बात भिन्न है कि अन्तरंग परिग्रह वस्त्र क्यों एक तृण भी आत्मानुभव की चरमसीमा का प्रतिबन्धक है। इसे दोनों ही सम्प्रदायवाले

स्वीकार करते हैं। अस्तु, दोनों ही सम्प्रदायों में कोई मूल सैद्धान्तिक भेद तो है नहीं, केवल पीछे के कुछ ग्रन्थकारों ने अहमिका बुद्धि को सामने रखकर मिथ्या साम्प्रदायिक रंग चढ़ाने का प्रयत्न किया है।

मेरा भास्कर के सुयोग्य विद्वान् सम्पादकों से यह निवेदन है कि पहले तो यथासंभव साम्प्रदायिक झगड़ों में पड़ना ही नहीं चाहिये, अनिवार्य कारण होने पर केवल निर्भ्रान्त ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर ही लेखनी उठनी चाहिये। अभी मेरी तो धारणा है कि जैन इतिहास आज से २५ वर्ष पहले जिस निविड़ अन्धकार में था, आज भी वह वहीं है। किसी महानुभाव ने परमाणुमात्र भी प्रकाश डालने का योग्य प्रयत्न नहीं किया। आज भी राजगृही में भगवान महावीर के समवशरण का अनेकों बार, यहाँ आने और धर्मोपदेश देने का उल्लेख पाया जाता है—तो भी आज पर्यन्त किसी भी जैनी भाई ने यह प्रयत्न नहीं किया कि वह ढूँढ़ निकालता कि महावीर स्वामी के समवशरण का केन्द्र अथवा मध्य बिन्दु कहाँ था, केवल पहाड़ों की चोटियों पर उबड़-खाबड़ पत्थरों को जोड़कर अरब के आदर्श को सामने रखकर कुछ टेढ़े-मेढ़े मन्दिरों के निर्माण से इस परम महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक स्थान में जैन सम्प्रदाय का महत्त्व नहीं बढ़ता। बिंबसार (श्रेणिक), अजातशत्रु (कोणक) के ऐतिहासिक ध्वंशावशेष इस बात में सन्देह उपस्थित कर रहे हैं कि ये दोनों सम्राट् जैन धर्मावलम्बी थे या बौद्ध धर्मावलम्बी। ऐलोरा, अजन्ता भारतीय इतिहास के दो जाज्वल्यमान रत्न आज भी जैन इतिहास की दृष्टि से अगम्य है, हालांकि वहाँ जैन मन्दिर और जैन मूर्तियों का ध्वंशावशेष आज भी हमारी ऐतिहासिक अनवधानता पर अश्रु बहाता है। एक नहीं, सौ नहीं, हजारों स्थान ऐसे बताये जा सकते हैं कि जहाँ, इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि वर्तमान प्राप्य सामग्री को ही लेकर जैन इतिहास के किसी अन्धकारमय स्थान पर प्रकाश डालने का प्रयत्न हो सकता है। यदि हमारे भाई इस ओर ज्यादा ध्यान देंगे, तो उनका प्रयत्न बहुत-कुछ फलप्रद हो सकेगा।

सम्पादकीय नोट—बाबू पद्मराजजी का 'भास्कर' से पुराना सम्बन्ध है—आप उसके आदि सम्पादक थे। आज 'भास्कर' के विषय में उनका अभिप्राय हमारे लिये रुचिकर है। किन्तु इस अवधि में बाबू जी के दृष्टिकोण में अन्तर पड़ गया है—उनका व्यक्तित्व भी तब से परिवर्तित और परिवर्द्धित हुआ है। वे आज उतने इतिहास-जगत के विद्वान् नहीं, जितने कि हिन्दूराष्ट्र के अग्रणी नेता हैं। इस रूप में हमें उनपर गर्व है। किन्तु आज वे हिन्दू संगठन के रंग में यदि इतिहास को भी रंगना चाहें तो यह शोध-ज्ञान के लिये उपादेय नहीं कहा जा सकता! हमारे कतिपय कांग्रेसी नेता भी हिंदू-मुस्लिम-ऐक्य के लिए भारत के प्राचीन इतिहास का अद्भुत रूप उपस्थित करते हैं। ऐसी बातें राष्ट्रीय दृष्टि से शायद ठीक हों, परंतु इतिहास जगत तो घटनाओं का विशुद्ध नग्नरूप ही

देखना चाहेगा—उसे किसी सम्प्रदाय से कोई सरोकार नहीं! 'भास्कर' की नीति सदा से स्पष्ट है—उसमें सम्प्रदाय-विशेष को लक्ष्य करके विद्वेषभाव से कुछ-भी नहीं लिखा जाता। विशुद्ध ऐतिहासिक आधारों से जो बात प्रमाणित होती दिखती है वह प्रकट की जाती है। उसपर ऊहापोह करने का भी अवसर प्रत्येक विश्रुत पाठक को प्राप्त है। बाबू पद्मराजजी ने हमारे 'अर्द्धफालक सम्प्रदाय' विषयक लेख पर आपत्ति की है और वह भी यात्रा में उसे पढ़ कर स्मृति पर से ही की गई है। बाबूजी को इतना अवकाश नहीं है कि वह विषय का अध्ययन करके कुछ लिखें; परन्तु इस प्रकार स्मृति-से ही आपत्ति उपस्थित करके आपने एक बड़ा साहस ही किया है! आश्चर्य है, आप 'भावप्रकाश' व 'दर्शनसार' सदृश प्राचीन ग्रन्थों को कोई महत्त्व नहीं देते और उन्हें इतिहास के लिए उपयोगी नहीं मानते! किन्तु जिन्होंने इन प्राचीन ग्रंथों को देखा है वे जैन इतिहास के लिए इनकी उपयोगिता से इनकार नहीं कर सकते। वि० सं० १३६ वर्ष के लगभग (बाद में नहीं) श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदायों का स्पष्ट भेद होना हमारी कल्पना नहीं है, बल्कि दोनों सम्प्रदायों की प्राचीन मान्यता है और आधुनिक विद्वान् भी उसे ठीक मानते हैं। आप दोनों सम्प्रदायों का स्पष्ट भेद चन्द्रगुप्त मौर्य के समय से मानते हैं, क्योंकि दोनों सम्प्रदायों की पट्टावलि तभी से भिन्न-भिन्न मिलती है। किन्तु पट्टावलियों की भिन्नता इस बात का प्रमाण नहीं है कि दोनों सम्प्रदाय तभी बिल्कुल स्पष्ट हो गये थे। श्वेताम्बर मतानुसार भद्रबाहु के पश्चात् भी कई आचार्य दिगम्बर भेष में रहे बताये गये हैं और उन्होंने प्राचीन निर्ग्रन्थ (नग्न) वेष को ही पुनः धारण करने का उपदेश भी दिया था। इससे भी स्पष्ट है कि उन्होंने एकदम वस्त्र धारण नहीं कर लिये थे। उस पर पट्टावलियाँ बाद में रचीं गई हैं और वह बाद में अपनी-अपनी सम्प्रदाय को भिन्न प्रकट करने के लिये भिन्न-भिन्न रूप में रचीं जा सकती हैं। अतः उनके आधार से यह कैसे सिद्ध हो सकता है कि भद्रबाहु जी के समय से ही श्वेताम्बर साधु वस्त्र पहनने लगे थे। इन पट्टावलियों से प्राचीन मथुरा का पुरातत्त्व है। उनमें ऐसे कई शिलापट हैं जिनमें श्वेताम्बरीय पट्टावली में आये हुए आचार्यों के नाम हैं, परन्तु उनमें कोई भी साधु सचेल (वस्त्रसहित) नहीं अङ्कित है। प्रत्युत कलाई पर खंडवस्त्र डाले हुए नग्न साधु अङ्कित हैं, जैसे कि वीर-गर्भपरिवर्तन के दृश्य वाले पट पर। इस पुरातत्त्व का उल्लेख हमने अपने पूर्वलेख में किया है; परंतु आश्चर्य है कि बाबूजी जानबूझ कर उस पर एक शब्द भी नहीं लिखते। इस शिला-लेखीय साक्षी से इनकार भी कैसे किया जाय? फिर हमारी शोध को 'कल्पना' कहना, कहाँ तक ठीक है, यह निष्पक्ष पाठक स्वयं समझ सकते हैं। निस्सन्देह जैनसंघ में सम्प्रदाय-भेद की जड़ मौर्यकाल में ही पड़ गई थी; परंतु वह पूर्णरूप में स्पष्ट ईस्वी प्रथम शताब्दि में ही हुई। इस अवधि में दोनों ही सम्प्रदायों ने अपने ग्रन्थ और अपने सिद्धान्त बिल्कुल स्पष्ट और मान्य करके घोषित कर दिये थे। प्राचीन नग्नमूर्तियों के स्थान पर वस्त्रलाञ्छनयुक्त-प्रतिमायें भी उपरान्त बनाई जाने लगी थीं। बाबूजी लिखते हैं कि समसामयिक विदेशी साहित्य जैनियों के दिगम्बर और श्वेताम्बर साधुओं का उल्लेख करता है; परंतु कोई पता निशान नहीं दिया है; जिससे उस पर विचार किया जा सके। अन्त में हिन्दू संगठन की धुन में बाबूजी ने यहाँ तक लिखा है कि दोनों सम्प्रदायों में कोई मौलिक भेद नहीं है। दिगम्बर मान्यता को लक्ष्य करके आप लिखते हैं कि "वह यह कैसे स्वीकार कर सकता है कि जिस जीव ने कर्मों का सर्वथा अभाव कर दिया हो और उसे यदि एक वस्त्र पहना दिया जाय, तो वह जीव मोक्ष पाने से रोका जा सकता है?" किन्तु बाबूजी यहाँ भूल रहे हैं। जिस जीव ने कर्मों का सर्वथा अभाव कर दिया होगा, उसे वस्त्र पहनाया ही नहीं जा सकता! वह तो उसी

समय निर्वाण में पहुँच जायगा। यदि आपका अभिप्राय उस साधु से हो जो कर्मों का सर्वथा नाश करने के लिये उद्यमी हुआ हो और कदाचित् उसे वस्त्र पहनाया जावे, तो वह साधु उसे उपसर्ग समझेगा और वैसी चर्या करेगा। परन्तु जो साधु रुचि पूर्वक वस्त्र पहनता है—उसकी सारसंभाल करता है, उसे मोह-मुक्त कैसे कहा जायगा? कैसे यह माना जायगा कि वह सूक्ष्मतम रूप में वासनामुक्त है? लज्जा को उसने जीत लिया है। इस प्रकार का विशुद्ध तत्त्वचर्चा और ऐतिहासिक शोध को 'साम्प्रदायिक-कोटि' में ढकेलना ज्ञानोपयोग का उपहास करना है। आशा है, बाबूजी भविष्य में ऐतिहासिक बातों को अधिक सावधानी से समझने-बूझने का प्रयत्न करके इतिहास-जगत का हित साधेंगे। इसमें शक नहीं कि जैनियों ने जैन इतिहास की शोध में चाहिये वैसी दिलचस्पी नहीं ली है—इस ओर कोई भी संगठित उद्योग नहीं किया गया है। जैनसमाज को इस ओर ध्यान देना चाहिये।

—कामता प्रसाद जैन

सर्वार्थसिद्धि के शकयवनादि शब्द

श्री आचार्य उमास्वातिकृत 'तत्त्वार्थसूत्र' के तृतीय अध्याय में 'आर्या म्लेच्छाश्च' (सूत्र सं० ३६) जो सूत्र है, उसकी श्री आचार्य पूज्यपादकृत 'सर्वार्थसिद्धि' नामक प्राचीन वृत्ति में पूज्यपाद ने कर्मभूमिज म्लेच्छों का भेद गिनाते हुए 'कर्मभूमिजाश्च शकयवनशबर-पुलिंदादयः' यों शक, यवन, शबर एवं पुलिंद आदि जातियों को कर्मभूमिज म्लेच्छ बतलाया है। इन उल्लिखित शक, यवनादि जातियों पर विशेष प्रकाश डालने की जरूरत है। मनु, महाभारत एवं अशोक के लेख आदि से पता लगता है कि इन यवन, पुलिंद आदि जातियों का भारतीय प्राचीन राजतंत्र से भी घनिष्ठ संबंध था। आशा है कि अनुसंधानप्रेमी विद्वान् इस विषय पर अवश्य प्रकाश डालेंगे।

—के० भुजबली शास्त्री

श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में भौगोलिक नाम

[ले०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद, जैन, एम० आर० ए० एस०]

(क्रमागत)

नविलूर ग्राम २४। श्रीवल्लभ के पुत्र महासामन्ताधिप रणावलोक श्रीकम्बय्यन् के राज्य में मनसिज की राज्ञी के व्याधिमुक्त होने पर मौनव्रत की समाप्ति के उपलक्ष में जो भूमिदान किया गया था, उसकी सीमा का एक ग्राम था।

नागति २९१। नागति के राजा ने देव व तीर्थ की वन्दना की थी।

नागरनविले ३६१। यहाँ के केतिसेट्टि ने चतुर्विंशति जिनालय मोसले को वार्षिक चन्दा देना स्वीकारा था।

नीलगिरि, ५३, ५६। गंगवाडि में स्थित थी।

नेडुबोर, ६। शक सं० ६२२ के लगभग इस ग्राम के पानप (मौनद) भट्टारक ने व्रत पालकर श्रवणबेल्गोल में प्राण विसर्जन किये थे।

नोलम्बवाडि प्रदेश ५३, १२४, १३०, १३७, ४९१, ४९४ नोलम्ब वंशी राजाओं के शासनाधीन प्रदेश 'नोलम्बवाडि' कहलाता था। यह देश 'पल्लवदेश' के अन्तर्गत समझा जाता था। इसके अन्तर्गत ३२००० ग्राम थे।

पडेवलगेरे, ८९। गंगवाडि का एक ग्राम था जो गोम्मटेश को भेंट किया गया था।

परमग्राम, ४५, ५९। गंगवाडि का एक ग्राम जिसे सेनापति गंगराज ने गोम्मटेश को भेंट किया था।

पाटलिपुत्र नगर, ५४। "पूर्व्वं पाटलिपुत्र-मध्य-नगरे भेरी मया ताडिता" इन शब्दों में स्वामी समन्तभद्र ने इस नगर को पूर्व देश में स्थित बताया था। अतः यह मगध देश की राजधानी पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) होना चाहिये। कन्नड भाषा के 'राजावलीकथे' नामक ग्रंथ में लिखा है कि "कार्त्तिकी पूर्णिमा की रात्रि को पाटलिपुत्र के राजा चन्द्रगुप्त को सोलह स्वप्न हुए थे। प्रातः उपवन में जाकर राजा ने भद्रबाहु से उनका फल पूछा था और अन्त में वह उनके निकट दिगम्बर जैन मुनि हो गए थे। जब भद्रबाहु स्वामी संघ-सहित दक्षिण भारत में पहुंचे और श्रवणबेलगुल में (कटवप्र पर) ठहरे तब चन्द्रगुप्त उनकी सेवा-सुश्रूषा के लिये उनके साथ रहे थे। यहाँ उन्होंने धर्म साधा था।" इसीलिये कटवप्र पर्वत उपरांत 'चन्द्रगिरि' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। स्वामी समन्तभद्र ने इस नगर में भेरी बजाकर विद्वानों को शास्त्रार्थ के लिये ललकारा था। मौर्यवंश के राजाओं के पहले से पाटलिपुत्र जैनधर्म का केन्द्र हो रहा था। उदयनराज ने गंगातट पर बसे हुए पाटलिग्राम को वृहदाकार देकर पाटलिपुत्र को जन्म दिया था। उन्होंने स्वयं एवं उपरान्त मौर्य सम्राटों ने यहाँ जिन-

मंदिर बनवाये थे। मेगास्थनीज़ नामक यूनानी एल्चो ने इसका विशद वर्णन लिखा था। उसने इसका नाम 'पलिबोथ्र' (Palibothra) लिखा था और उसे गंगा एवं अरुणवर (Erannoboar) नामक नदियों के संगम पर बसा हुआ बताया था। वह लगभग २५-२६ मील की लम्बाई-चौड़ाई में बसा हुआ था। उसके चहुंओर नगरकोट था जिसमें ६४ दरवाजे और ५७० बुर्जे थीं। आधुनिक पटना इस प्राचीन नगर के ध्वंशावशेषों पर बसा हुआ है—प्राचीन पाटलिपुत्र आज १०-२० फीट नीचे दबा पड़ा है। सन् १९१२-१३ में डॉ० स्पूनर ने यहाँ खुदाई कराई थी, जिसमें मौर्यों के सहस्र स्तंभ भवन का पता लगा था। यहीं से मौर्यकालीन जिनप्रतिमायें भी उपलब्ध हुईं थीं। पाटलिपुत्र का वर्णन चीनी यात्री हुएनसांग ने इस प्रकार लिखा था: "यहाँ पर पहले से ही सुन्दर मकान (एक) युवा के नाम से बना हुआ था, इस कारण इसका नाम पाटलिपुत्रपुर, (अर्थात् पाटली वृक्ष के पुत्र का नगर) हो गया। प्राचीन राजभवन के उत्तर में एक पाषाणस्तंभ बीसियों फीट ऊँचा है। यह वह स्थान है जहाँ पर अशोक राजा ने एक नरक बनवाया था। तथागत के निर्वाण प्राप्त करने के सौवें वर्ष यहाँ पर एक अशोक (उदयन) नामक राजा हो गया है, जो बिम्बसार (श्रेणिक) राजा का प्रपौत्र था। इसने अपनी राजधानी रजगृही को बदल कर पाटली बनाई थी, और प्राचीन नगर के चारों ओर रक्षा के लिए बाहरी दीवार बनवाई थी। इसकी नींव, यद्यपि तबसे अनेक वंश समाप्त हो गये अब भी वर्तमान है। संघाराम, देवमन्दिर और स्तूप जो खंडहर होकर धराशायी हो गये हैं, उनकी संख्या सैकड़ों हैं। केवल दो या तीन कुछ अच्छी दशा में वर्तमान हैं।" (हुएनसांग का भारत भ्रमण पृ० ३७४-३७५)। जैनियों का यह तीर्थधाम है, क्योंकि सेठ सुदर्शन ने यहीं से श्रेष्ठगति पाई थी।

पाण्ड्यदेश ३८, ५३, ५४, १२४ इत्यादि। दक्षिण भारत का प्राचीन देशविशेष, जहाँ के राजा जैनधर्मानुयायी थे। मदुरा इसकी राजधानी थी। वर्तमान मदुरा और टिन्नेवेली जिले तथा ट्रावंकोर और कोयम्बुत्तूर व कोचीन के कुछ भाग पाण्ड्यदेश के अन्तर्गत थे। चीनी यात्री हुएनसांग ने 'मालकूट' नाम से इस देश का वर्णन लिखा है, जिससे प्रकट है कि इस राज्य का क्षेत्रफल लगभग ५००० ली था। वहाँ नमक बहुत होता था। लोग पूर्णरूप से व्यापार में ही निरत थे। यहाँ उसे असंख्य बौद्धेतर लोग मिले थे, जिनमें अधिकतर निर्ग्रन्थ (जैनी) थे। (भा० भ्र० पृ० ५७७) भद्रबाहु स्वामी का संघ इस देश में भी विचरा था। यहाँ के एक नरेश ने चतुर्मुख देव नामक जैनाचार्य को 'स्वामी की उपाधि दी थी।

पानीपथ, ३३८, ३४० इत्यादि। आगरा, अवध व पंजाब की ओर प्रचलित नागराक्षरों में लिखित अग्रवाल जैन यात्रियों के लेखों में कई एक यात्री 'पानीपथीय' थे। अतः यह नगर करनाल जिले का पानीपत प्रतीत होता है।

पुरस्थान, ३२२। उत्तरभारत का कोई नगर, जहाँ के बहुपाल जैनी ने सं० १५४६ में गोम्मटदेव की यात्रा की थी।

पेनुगोण्डे, १३६, दक्षिण भारत का एक ग्राम।

पेरुमाल्कोविल, १३६। काञ्ची का अपर नाम था।

पेर्गल्वप्पुगिरि, २४। एक पहाड़ी का नाम जो संभवतः गंगवाड़ी में थी।

पेर्जेडि, १३। यह स्थान दक्षिणभारत के तलेकाडु नामक प्रान्त में था। यहाँ के कलापक नामक धर्मात्मा सज्जन ने २१ दिन का सन्यास धारण किया था।

पोम्बुञ्च, पोम्बुर्च ५३, ५६, १४४। गंगवाड़ी का यह एक प्रसिद्ध दुर्ग था जिसे होयसल राजाओं ने जीता था।

प्रतापपुर ग्राम, ४०। गंगवाड़ि में था, वहाँ पर रूपनारायण बस्ति का जीर्णोद्धार महामण्डलाचार्य देवकीर्ति पंडितदेव ने कराया था।

बङ्कापुर, ३८, ५५, १३७। राजा मारसिंह गंग ने यहाँ पर ही श्रीअजितसेनाचार्य के निकट सल्लेखनाव्रत धारण किया था। यहाँ के जैनाचार्य प्रसिद्ध रहे हैं, जिनमें एक देवेन्द्र मुनि भी थे (बङ्कापुर-मुनीन्द्रोऽभूद् देवेन्द्रो रुन्द्रसद्गुणः)। सेनापति हुल्ल ने यहाँ के जिनमंदिरों का जीर्णोद्धार कराया था। कलिविट नायक के बनवाये हुए जिनमंदिर को उन्होंने फिर से कैलाश इतना ऊँचा बनाया था। बङ्कापुर बनवास देश का मुख्य नगर था। इसे चेल्लकेतन वंश के राजा बकेयरसु ने बसाया था। लोकसेन नृप के समय में यहाँ जैनधर्म की विशेष उन्नति हुई थी।

बनवसे (बनवासी) दुर्ग व प्रान्त, ३८, १२४, १३०, १३७ इत्यादि। उत्तर कन्नड जिले के सिर्सि तालुक में वरदानदी के तट पर अवस्थित था। सन् ३००—१२०० ई० तक कदम्बवंश के राजाओं की राजधानी रहा, जो मैसूर रियासत के पश्चिमोत्तर भाग और उत्तर कन्नड जिले के बहुभाग पर शासन करते थे। यह बनवासी वैजयन्ती नाम से भी प्रसिद्ध था। पश्चिमीय चालुक्य नरेश त्रैलोक्यमल्ल सोमेश्वर प्रथम (सन् १०४२—१०६८ ई०) के सामन्त महामंडलेश्वर चामुण्डरायरस यहाँ के वायसराय जैनधर्म के अनन्य भक्त थे। निस्सन्देह बनवासी प्राचीन काल से जैनधर्म का केन्द्र रहा है। वहाँ बलात्कारगण की गद्दी थी। १४ वीं श० में यहाँ के वर्द्धमानस्वामी और बनवासस्वामी नामक जैनाचार्य प्रसिद्ध हुए हैं।

बम्मेयनहल्लि ग्राम, १२४ ४९४। दंडाधिप चन्द्रमौलि की प्रार्थना पर यह ग्राम आचल देवी द्वारा निर्मापित जिनमंदिर के लिये दान दिया गया था।

बर्ब्बरदेश १३८। होयसल नरेश विष्णुवर्द्धन के लिये लिखा है कि उन्होंने बर्ब्बरदेश के गर्व्व को मुष्वित किया था। भारत का पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त अरबसागर तक कौटिल्य के समय में बर्ब्बरदेश कहलाता था।

बलिपुर—५४। शक सं० १०२२ में बलिपुर मैसूर प्रदेश में जैनधर्म का एक केन्द्र था। वहाँ दि० मुनियों की एक परम्परा प्रतिष्ठित रही थी। उनमें से मलधारी गुणचन्द्रजो 'मुनीन्द्र बलिपुरे मल्लिकामोदशान्तीशचरणार्चकः कहे गये हैं। इससे यह ध्वनित होता है कि बलिपुर के शान्तीश भगवान प्रसिद्ध थे। बलिपुर के सूर्याभरणत्रिपुरान्तकसूरि भी प्रसिद्ध थे। इन्होंने मागुण्डी में शङ्कर सामन्त द्वारा निर्मापित 'रत्नत्रयबस्ति' की प्रशंसा की थी—वह खूब अच्छा व सुन्दर बनाया गया था।

बलेयपट्टण—५६। गंगवाड़ि का एक दुर्ग जिसे होयूसल नरेश विष्णुवर्द्धन ने जीता था।

बस्तिहल्लि—१०७। होयूसल राज्य में एक ग्राम था।

बहगिगे—३६१। एक ग्राम था।

बागडेगे—८५। यहाँ के कवडमय्यदेव के आग्रह से कन्नडकवि बोप्पण ने यह सुललित शासन लेख रचा था।

बागिपूर—९१। इस ग्राम में रूपवती, पतिव्रता और धर्मप्रिया श्राविका सायिव्वे ने अपने पति के साथ लड़ते हुए युद्ध में वीरगति पाई थी!

बाणारसि—५३, ५६, ५९, ८३, ११६। लेखों में वाणारसि का उल्लेख शासनरक्षा के लिये शपथ रूप में किया गया है। यह उत्तर भारत का प्रसिद्ध नगर और तीर्थ बनारस प्रतीत होता है; जहाँ भ० सुपार्श्वनाथ और भ० पार्श्वनाथ के गर्भ, जन्म, तप कल्याणक हुए थे। यह प्राचीन काशीदेश की राजधानी थी। चीनयात्री हुएनसाँग के समय में यह राज्य ६६७ मील (४००० ली) में विस्तृत था। वाराणसी गंगा के पश्चिमी तट पर तब भी स्थित थी—उसका विस्तार तीन मील लंबा और एक मील चौड़ा था। अबुलफज़ल ने 'आईन-ई-अकबरी' (२।२८) में लिखा है कि 'बारानसी को आमतौर पर बनारस कहते हैं। वह एक बड़ा नगर है जो दो नदियों 'बर्ना' और 'असि' के बीच में बसा हुआ है।' भदैनी भेलूपुरा में जैनियों के पुराने मंदिर हैं।

बारकनूर, ९४। इस ग्राम के मेधाविसेट्टि की स्मृति में ३ मन दूध प्रति दिन गोम्मटेश के अभिषेकार्थ देने का दान किया गया था। यह ग्राम वहीं कहीं होगा।

बिटेयनहल्लि--३३०। इस ग्राम के मेणसिसोयिसेट्टिने गोम्मटाभिषेक के लिए दान दिया था।

बिडित--३५६। इस ग्राम गुम्मट सेट्टिने संघ सहित बेलुगल की वन्दना की थी और व्रतोद्यापन किया था।

बिलिकेरे--९८। इस ग्राम के निवासी देवराज अरसु मैसूर नरेश श्रीकृष्णराज वोडेयर के प्रधान अङ्गरक्षक थे। उनकी मृत्यु गोम्मटेश्वर के मस्तकाभिषेक के दिवस हुई। अतएव उनके पुत्र पुट्टदेवराज ने दान दिया था। --**क्रमशः**

गुजराती भाषा में दिगम्बर-साहित्य

[ले०—श्रीयुत बा० अगरचन्द नाहटा]

जैनधर्म के प्रधान सम्प्रदाय दिगम्बर एवं श्वेताम्बर का प्रचार-स्थल क्रमशः दक्षिण और उत्तर भारत है। उत्तर भारत में भी गुजरात प्रान्त में श्वेताम्बर सम्प्रदाय ही विशेष रूप से फला-फूला है, सैकड़ों वर्षों से यह प्रान्त उनका प्रधान केन्द्रस्थल रहा है। तब दि० सम्प्रदाय के अनुयायियों की संख्या इस शताब्दी में कुछ बढ़ जाने पर भी अपेक्षाकृत अत्यंत न्यून है। निश्चित प्रमाण के अभाव में अद्यावधि यह कह सकना कठिन है कि दि० सम्प्रदाय का गुजरात से संबंध* कब एवं किस कारण से हुआ एवं समय-समय पर उसका कैसा प्रभाव रहा। फिर भी सं० ११८१ में पाटण में इस शर्त पर दि० कुमुदचंद्रजी से श्वे० वादीदेव-सूरि का शास्त्रार्थ हुआ कि जो हारेगा उसे इस प्रान्त को छोड़ देना पड़ेगा।† ऐसा उल्लेख प्राप्त होने के कारण उस समय से पूर्व ही उनका गुजरात से अच्छा सम्बन्ध था, ऐसा प्रतीत होता है। सं० १२९४ में अंचलगच्छीय महेन्द्रसूरि-रचित शतपदी ग्रन्थ में भी दि० भट्टारकों आदि के आचरण के विषय में उल्लेख होने से उस समय के आसपास भी दि० साधु या भट्टारक गुजरात में थे, ऐसा ज्ञात होता है। दि० समाज के विद्वानों को उचित है कि वे इस सम्बन्ध में विशेष अनुसंधान कर ज्ञातव्य इतिवृत्त प्रकाशित करें।

गुजरात प्रान्त में रचित दि० साहित्य विशेष परिमाण में नहीं पाया जाता, विशेषतः गुजराती भाषा का दि० साहित्य तो नगण्य ही है। जो थोड़ा-सा उपलब्ध है उसके सम्बन्ध में भी सर्वसाधारण की तो बात ही दूर, दि० विद्वानों में से बहुत कम व्यक्तियों को शायद ही कुछ जानकारी हो; अतः इस लेख में दि० गुजराती साहित्य का संक्षिप्त परिचय प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है दि० विद्वानों को इससे स्फूर्तिदायक प्रेरणा मिलेगी और इस लेख के अतिरिक्त जितना साहित्य उपलब्ध है, उसकी खोज करके विशेष ज्ञातव्य प्रकट करेंगे एवं गुजरात निवासी दि० भाई अपनी मातृभाषा के साहित्य के उद्धार-प्रकाशन की ओर विशेष रूप से ध्यान देंगे।

दि० गुजराती साहित्य की प्राचीनता एवं प्रगति—

दि० गुजराती भाषा की सर्वप्रथम रचना अद्यावधि सं० १५२० की मिली है, जिसके रचयिता ब्रह्म जिनदास हैं। सोहलवीं शताब्दी में केवल इसी कवि की कई रचनाओं का पता चला है। इसके बाद सत्रहवीं शताब्दी में अच्छी प्रगति हुई और उस समय के ११ गु० कवियों का पता चला है। अठारहवीं शताब्दी में रचना-प्रवाह सूख-सा गया, अतः केवल दो ही कवियों का अभी तक पता चला है। इसके पश्चात् की कोई रचना हमारे जानने में नहीं

* काठियावाड़ प्रान्त से दि० जैनों का ८ वीं शताब्दी के पूर्व से सम्बन्ध था, प्रमाणित है।

† जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास पृ० २२८।

आई। संभव है गुजरात के दि० ज्ञानभंडारों में खोज करने पर अन्य अनेक कवियों एवं रचनाओं का पता चले। मै भिन्न सम्प्रदाय का एवं गुजरात से दूर का ठहरा, अतः गुजरात प्रान्त के भाइयों से इस संबंध में विशेष ज्ञातव्य की आशा रखते हुए अपनी परिमित जानकारी ही यहाँ व्यक्त कर रहा हूँ।

गुजराती भाषा के दि० जैनकवि एवं उनके ग्रन्थ

सोलहवीं शताब्दी

१ ब्रह्मजिनदास :—ये मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण के आचार्य सकलकीर्ति के शिष्य थे। इनकी रचित २५ कृतियों की सूची मैंने अपने "श्रीपाल चरित्र साहित्य" में, जो कि 'अनेकान्त' वर्ष २, अंक २ में प्रकट हुआ था, दी थी। आपकी समस्त रचनाओं की भाषा गुजराती ही है या उसके भिन्न भी, यह अज्ञात है। अतः नीचे उनमें से जितने ग्रन्थ निश्चित तथा गुजराती भाषा के हैं उन्हीं की नामावलि दी जाती है :—

(१) हरिवंश रास सं० १५२०
(२) यशोधर रास
(३) आदिनाथ रास
(४) श्रेणिक रास
(५) करकंडु रास
(६) हनुमंत रास
(७) समकितसार रास
(८) सासरवासर रास
(९) कर्मविपाक रास
(१०) श्रीपाल रास
(१०) प्रद्युम्न रास

(नं० १ से ८ का उ० जै० गु० क० भा० १-३)
(नं० ८ से ११ सूरत से प्रकाशित)

सत्रहवीं शताब्दी

२ सुमतिकीर्त्तिसूरि :—ये भी मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ, बलात्कारगण के भट्टारक थे। इनकी गुरुपरम्परा कृतियों के आधार से इस प्रकार ज्ञात होती है :—

पद्मनंदि, देवेन्द्रकीर्ति, विद्यानंदि, मल्लिभूषण (लघुवय में दीक्षा), लक्ष्मीचंद्रसूरि (सुमतिकीर्ति के दीक्षागुरु थे एवं इनके और भी अनेक शिष्य थे)—वीरचंद्र (१८ वर्ष तक अन्न, व्यंजन के त्यागी), ज्ञानभूषण (सुमतिकीर्ति के आचार्यपदप्रदाता), प्रभाचंद्र (गच्छपति, हुंबड ज्ञातीय)। इनकी रचित कृतियाँ इस प्रकार हैं :—

१ धर्मपरीक्षा रास (सं० १६२५ मि० सु० २ महूआ में आरंभ, हांसोट में पूर्ण)।
२ त्रैलोक्यसार-धर्मध्यान चौपई, सं० १६२७ मा० सु० १२ कोदादा में रचित।
३ लोंकामत निराकरण चौ० सं० १६२७ वै० सु० ५ र० कोदादा।

इनमें से नं० २ की प्रति नं० ३ की प्रतिलिपि हमारे संग्रह में है। नं० ३ का कुछ परिचय मैंने अपने लोंकासाह और दि० साहित्य लेख में प्रकाशित किया था जो जैनसिद्धान्त भास्कर के भाग ४, किरण १ में प्रकाशित हुआ था।

३ रत्नभूषण—आप उपर्युक्त सुमतिकीर्ति सूरि के शिष्य थे। इनके रचित १ रुक्मिणी-हरण (आ० व० ११ सूरत) उपलब्ध है।

४ **वादीचंद्र**—आप सुमतिकीर्ति के गुरुभ्राता एवं प्रभाचंद्र के शिष्य थे। इनकी रचित एक श्रीपाल आख्यानक कथा (सं० १६५१ संघपति धनजी सवा के वचन से रचित) उपलब्ध है।

५ **ब्र० मेघराज**—ये ब्रह्मजिनदास के गुरु सकलकीर्ति के शिष्य भुवनकीर्ति के शिष्य ज्ञानभूषण, शि० विजयकीर्ति शि० शुभचंद्र शि० सुमतिकीर्ति, शि० गुणकीर्ति के शिष्य थे। इन्होंने ब्रह्म जिनदास के रचित ग्रन्थ के अनुसार एक शांतिनाथ चरित रास (सं० १६१७ लिखित प्रति उपलब्ध) एवं दूसरा श्रावण द्वादशी फल रास बनाया।

६ **ब्र० वस्तुपाल**—ये उपर्युक्त मेघराज के गुरुभ्राता एवं सुमतिकीर्ति गुणकीर्ति के शिष्य थे। इनका रचित एक रोहिणीव्रत-प्रबंध (सं० १६५४ आषाढ़ सुदी ३ सोम मावलो, रायदेश) उपलब्ध है।

७ **नरेन्द्रकीर्ति**—आप गुणकीर्ति पट्टधर वादीभूषण—सकलभूषण के शिष्य थे। इन्होंने सं० १६५८ के मार्गशीर्ष शुक्ला १३ को मेवाड़ के जाउरपुर में ब्रह्म नेमिदास के कथन से एक अंजना रास बनाया।

८ **पद्म**—ये शुभचंद्रसूरि एवं विनयचंद्र सूरि के शिष्य थे। इन्होंने एक ध्यानामृत रास बनाया।

९ **धर्मभूषण**—ये देवेन्द्रकीर्ति के पट्टधर धर्मचन्द्र के शिष्य थे। इनकी रचित एक चंपकवती, शीलपताका चोपइ (वै० सु० २ दक्षिणदेश सुरजालहणा में रचित) उपलब्ध है।

१० **अनन्तकीर्ति**—इनके रचित एक भविष्यदत्त चौ० (सं० १६६३ का० सु० १४ सांगानेर) की प्रति बीकानेर के मंगलचंद जी माल्हू के संग्रह में है।

११ **देवेन्द्रकीर्ति**—ये वादीभूषण के शिष्य रामकीर्ति के शिष्य थे। इनकी रचित एक प्रद्युम्न कथा रास उपलब्ध है।

अट्टारहवीं शताब्दी

१२ **ब्र० ज्ञानसागर**—काष्ठासंघीय श्रीभूषण के शिष्य थे। इनकी रचित निम्नोक्त छोटी छोटी व्रत-कथायें उपलब्ध हैं—

१	अनंतचतुर्दशी कथा गा० ५४	५	रत्नत्रय व्रतकथा गा० ४४
२	सुगंधदशमी कथा गा० ४३	६	सोलकारणकथा गा० ३४
३	दशलक्षणिक कथा गा० ५५	७	निर्दोषसप्तमी कथा गा० ४१
४	अट्ठाहीव्रत कथा गाथा ५३	८	आकाशपंचमी कथा गाथा ५९

(ये सब कथायें सं० १७८९ लिखित प्रति में हैं।)

१३ **जयसागर** ये नं० ४ वादीचंद्र के शिष्य महीचंद्र के शिष्य थे। इन्होंने सं० १७३२ मि० सु० १३ हांसोट में महीचंद्र शि० जीवंधर छीता के वचन से अनिरुद्ध-हरण ग्रन्थ बनाया।

इस शताब्दी के अन्य एक दि० कवि सूर का पता चलता है। पर वास्तव में उसने श्वे० सूरविजय रचित रत्नपाल रास की प्रति में कुछ रद्दोबदल कर उसे ही अपने रचित बतलाने की असफल चेष्टा कर साहित्यिक अपराध किया है। देखें जैनगुर्जर कविओ भा० ३, पृ० १२३।

इस लेख के लिखने में जैन गुर्जर कविओ भाग १, २, ३, से पूर्ण सहायता ली गई है जिनमें भाग ३ अप्रकाशित है।

उपर्युक्त रचनाओं से दि० सम्प्रदाय के मूल संघ सरस्वती गच्छ, बलात्कारगण की दो भट्टारक परम्परा का अच्छा परिचय मिलता है, पता नहीं अब इनकी परम्परा विद्यमान है या नहीं। इनको पट्टावलि मिलती हो तो प्रकाशित करना चाहिये। कृतियों से ज्ञात परम्परा की नामावलि इस प्रकार है—
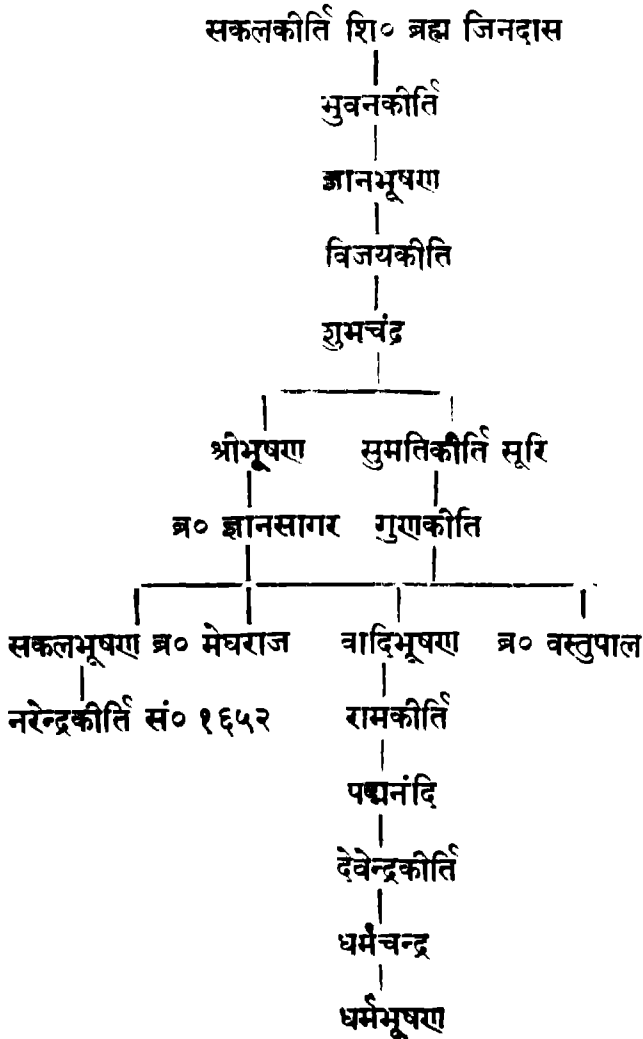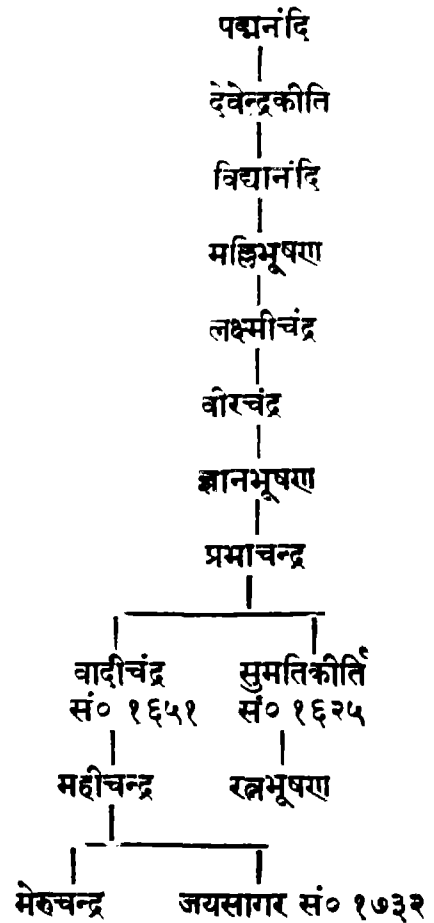
दि० संप्रदाय के भट्टारक एवं मुनि-परम्परा की पट्टावलियों का भी कोई संग्रह ग्रन्थ अभी तक प्रकट नहीं हुआ। अतः दि० समाज को अपनी पट्टावलियों के संग्रह को शीघ्र प्रकाशित करना चाहिये, जिससे अनेक नवीन ज्ञातव्य प्रकट हो सके। आशा है दि० विद्वान् इस ओर शीघ्र ध्यान देंगे।

परिशिष्ट

इस लेख के भेज देने के बाद श्री मूलचंद किसनदास कापड़िया से १ लेख एवं ग्रन्थ मिला जिससे सूरत की भट्टारक-परम्परा एवं दि० गुजराती साहित्य के बहुत से नये ग्रन्थों का पता चला। गुजरात में ईडर एवं सूरत में दि० भट्टारकों की गद्दियाँ थीं पर अब दोनों गद्दीयाँ खाली हैं। सूरत की शाखा के भट्टारकों की रचना बहुत विशाल है; अतः दि० विद्वानों को विशेष अनुसन्धान कर ज्ञातव्य प्रकट करना चाहिये। प्रस्तुत लेख में उल्लिखित दि० गु० ग्रन्थों के अतिरिक्त कापड़िया जी के लेख से ज्ञात ग्रन्थों की तालिका इस प्रकार है:

सुदर्शनचरित्र, सकलकीर्ति, ले० १५६४
मांडनबंधन उ खाडनरास-सुमतिकीर्ति
रामसीतारास—ब्रह्म सीधना
समाधितंत्र (गु० पद्य)।
तत्वार्थटीका—खीवसीमंत्री
पद्मपुराण-रामपुराण—खुशालदास ले० १७८३
श्रेणिकप्रश्नोत्तर-गुणभूषण ले० २ सं० १६३०
यशोधररास
चंद्रप्रभुचरित्र—भ० यशकीर्ति र० ले० १८५५
सम्यक्त्वकौमुदी—भ० यशःकीर्ति
आदिनाथफाग—ज्ञानभूषण
जीवंधररास—ज्ञानभूषण
सगरचक्रवर्तीरास—ब्रह्म जयसागर र० १७१७
श्रावकाचाररास
रामायणरास—ब्रह्म विनयसागर
रामपुराणभाषा—ब्रह्म जिनदास र० १५७८ (?)
रेणुकारास—ब्रह्म जिनदास
सीताहरणादि ३ रास—ब्रह्म जयसागर ले० १७३२
आराधनाप्रतिबोध कथायें—ब्रह्म जयसागर ले० १७३२
बलीभद्रआख्यान—ब्रह्म श्रीदयालसागर र० १७३२
हनुमान कथा—सूरदास र० १६१६
पञ्चविधानरास—भ० शुभचंद्र ले० १७२१
धर्मपरीक्षारास—ब्रह्म श्रीचंद्रसागर र० १६२५
आदित्यवारकथा—ब्रह्म श्रीसागर
आदिसमोवसरणरचना—सुरेन्द्रकीर्ति ले० १७४७
चंदनाधर्मपरीक्षादि ८ रास—वादिचंद्र, प्रभाचंद्र र० १६२५ सं० १७७०
अमरदत्तरास—जयकीर्त्ति
कर्मविपाकरास—गणेशजी
गर्भाख्यान—रत्नभूषण
महावीररास—शुभचन्द्र
शांतिनाथचरित्र—ब्रह्म जयसागर सं० १७४५
देवेन्द्ररास र० १६३९

तत्त्वार्थभाष्य और अकलंक (लेखांक ५)

[ले०—श्रीयुत प्रो० जगदीशचन्द्र जैन, एम०ए०]

(क्रमागत)

२ आक्षेप—सिद्धसेनगणि सूत्र और भाष्य का एककर्त्तृत्व सिद्ध करने के लिये कोई प्रबल प्रमाण नहीं देते। वे तो सूत्रकार को सूरि और भाष्यकार को भाष्यकार कह कर दोनों को भिन्न-भिन्न ही सूचित करते हैं, तथा 'शास्तीति च ग्रन्थकारः' आदि और 'सूत्रकारादविभक्तोऽपि भाष्यकारः' आदि दोनों स्थलों पर सिद्धसेन को उत्पन्न होनेवाली सन्देह की रेखा, और खींचातानी द्वारा उसके परिमार्जन की चेष्टा, स्पष्ट है।

२ उत्तर—सिद्धसेन का एककर्त्तृत्व में प्रबल प्रमाण न देने की बात बड़ी अनोखी है। जब सिद्धसेन सूत्र और भाष्य दोनों पर टीका लिख रहे हैं, सूत्र और तद्गत भाष्य पर अक्षरशः लेखनी चला रहे हैं, तथा सूत्र और भाष्य का भिन्नत्व एक भी स्थल पर सूचित नहीं करते तथा अन्त में उमास्वातिवाचक के वंश, गोत्र स्थान आदि का परिचय तक देते हैं फिर इससे अधिक और क्या प्रमाण चाहिये? यह तर्क इसी तरह का है जैसे कोई कहे कि अभयनन्दि ने देवनन्दि के सूत्र और सूत्रवृत्ति का एककर्त्तृत्व सिद्ध करने के लिये कोई प्रबल प्रमाण नहीं दिया, अतएव जैनेन्द्र-प्रक्रिया के कर्त्ता देवनन्दि नहीं हो सकते। सिद्धसेन सूत्र और भाष्यकार को एक मानते थे, यह बात उनके निम्न उल्लेखों से अत्यन्त स्पष्ट है—

(अ) एतच्च यथा दुःस्थितं चातुर्विध्यं तथा भाष्यकार एव उत्तरत्र दर्शयिष्यति (१-१) अर्थात् प्रमाणचातुर्विध्य किस तरह ठीक नहीं बैठता, इस बात को भाष्यकार स्वयं आगे चल कर पहले अध्याय के बारहवें सूत्र (प्रत्यक्षमन्यत्) में बतायेंगे (पृ० ५२)।

(आ) सूत्रावयवं स्पष्टतरेण वृत्तिवाक्येन व्याचष्टे—अर्थात् (ग्रन्थकार ने) सूत्रावयव को स्पष्टरूप से वृत्तिवाक्य (भाष्यवाक्य) द्वारा कहा है (पृ० ३३३)।

(इ) स्वकृतसूत्रसन्निवेशमाश्रित्योक्तम्—अर्थात् स्वकृतसूत्र-सन्निवेश के आश्रय से कहा है (पृ० २५३ दूसरा भाग)।

(ई) भाष्यकारस्तु "पूर्वविद" इति सूत्रावयवं पृथग् विवृणोति—अर्थात् भाष्यकार तो "पूर्वविदः" इस सूत्रावयव को अलग लिखते हैं (पृ० २७५)।

सूत्र और भाष्य का ही नहीं, परन्तु भाष्यगत आदि और अन्त की संबंधकारिकाओं का भी सिद्धसेन ने निम्न शब्दों में एककर्त्तृत्व स्वीकार किया है—

(अ) अमुनाऽप्याचार्येणोक्तं—"ज्ञानैः पूर्वाधिगतैः" (संबंधकारिका १२)—(पृ० १५४)।

(आ) दशमेऽध्याये (१९ तम) कारिकाभाष्येण व्याख्यास्यते "तन्वी मनोज्ञा सुरभिः, पुण्या परमभासुरा" इत्यादिनेति (पृ० २३२)।

यह कहना कि सिद्धसेन ने सूत्रकार को सूरि और भाष्यकर्त्ता को भाष्यकार कह कर दोनों का अलग-अलग उल्लेख किया है, सर्वथा मिथ्या है। यह बात निम्न उद्धरणों से स्पष्ट होगी--

(अ) "सर्वस्य" इत्यत्रसूत्रे तैजसयोगमाचार्यो अन्यमतेन निराकरिष्यति (पृ० १७९) - यहाँ 'आचार्य' का अभिप्राय सूत्रकार से है।

(आ) अत्र आचार्येणाव्बहुलं काण्डं नोपात्तं (पृ० २३०) यहाँ 'आचार्य' का अभिप्राय भाष्यकार से है।

(इ) प्रावचनक्रमोऽयम्, आचार्येण त्वन्यथोपात्तः (पृ० २९३-४)—यहाँ भी 'आचार्य' से भाष्यकार के वाक्य ही अपेक्षित हैं।

(ई) ऊर्ध्वं सौमनसान्नन्दनवनाद्धाधो न सूरिणा परिहाणिरुक्ता (पृ० २५२)—यहाँ 'सूरि' कहकर भाष्यकार के वचनों का संकेत किया गया है।

इससे स्पष्ट है कि सूत्र और भाष्य की स्वोपज्ञता में सिद्धसेन को लेशमात्र भी सन्देह नहीं। एक ही ग्रन्थकार का वे वाचक, वाचकमुख्य, सूरि, आचार्य, सूत्रकार आदि शब्दों द्वारा उल्लेख करते हैं, लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि भाष्य के वाचक, वाचकमुख्य आदि अनेक कर्त्ताओं का सिद्धसेन ने उल्लेख किया है।

'शास्तीति च ग्रंथकारः' और 'सूत्रकारादविभक्तोऽपि भाष्यकारः' इन वाक्यों में, समझ में नहीं आता, सिद्धसेन की सन्देहजन्य खींचातानी कैसे टपकी पड़ती है! प्रत्युत इन वाक्यों से तो सूत्र और भाष्य की स्वोपज्ञता ही स्पष्ट मालूम हो रही है। "सूत्रकारादविभक्तोऽपि हि भाष्यकारो विभागमादर्शयति, व्युच्छित्तिनयसमाश्रयणात्"—अर्थात् व्युच्छित्ति नय की अपेक्षा भाष्यकार सूत्रकार से अविभक्त होने पर भी विभाग का प्रदर्शन करते हैं। इससे सिद्धसेन की कौन-सी संदिग्धता प्रकट होती है? क्या अनेकांत-सम्पादक कुछ प्रकाश डालेंगे? इससे तो यह अत्यन्त स्पष्ट है कि सिद्धसेन सूत्र और भाष्यकार दोनों को एक मान रहे हैं। इसी तरह 'शास्तीति च ग्रन्थकार एव द्विधा आत्मानं विभज्य सूत्रकारभाष्यकाराकारेणैवमाह"—अर्थात् ग्रंथकार ही अपने आपको सूत्रकार और भाष्यकाररूप में विभक्त करता है, इन वाक्यों द्वारा भी सिद्धसेन सूत्र और भाष्य की असंदिग्ध स्वोपज्ञता ही प्रकट कर रहे हैं। यहाँ ऐसे कौन-से वाक्य हैं, जिनसे उनका सन्देह अथवा खींचातानी प्रकट होते हों? शायद इसी तरह की युक्तियाँ देकर लेखक अपने आपको 'दिव्यचक्षु' सिद्ध करना चाहते हैं! इस तरह के और भी उदाहरण सिद्धसेन की टीका में से दिये जा सकते हैं, जहाँ

सिद्धसेन ने सूत्र और भाष्यकार के एककर्त्तृत्व का पूर्ण समर्थन किया है। "अनुश्रेणि गतिः" सूत्र के भाष्य में 'पुद्गल' शब्द आया है। इस पर सिद्धसेन शंका उठाते हैं कि जब "अनुश्रेणि गतिः" सूत्र में 'पुद्गल' शब्द नहीं आया, तो वह भाष्य में कहाँ से कूद पड़ा? इसके उत्तर में सिद्धसेन कहते हैं कि सूत्र में लाघवापेक्षा इष्ट रहती है, अतएव 'पुद्गल' शब्द सूत्र में न होने पर भी भाष्य में आ गया है। "पृथिव्यम्बुवनस्पतयः स्थावराः" की टीका में भी इसी तरह की शंका की गई है कि सूत्र में 'काय' शब्द न होने पर भी भाष्य में कहाँ से आ गया? इसके उत्तर में भी सूत्रकार को लाघवार्थी बताकर समाधान किया गया है। इस तरह के उदाहरण यही सिद्ध करते हैं कि सिद्धसेन अत्यंत असंदिग्धरूप से सूत्रकार और भाष्यकार को एक मानते हैं। इसीलिये तो वे सूत्र और भाष्य की संगति बैठा कर दोनों पर टीका लिख रहे हैं।

३ **आक्षेप**—'उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये' पद में 'द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वादौ वा श्रूयमाणं पदं प्रत्येकं संबध्यते' इस नियम के अनुसार उमास्वातिवाचकोपज्ञ विशेषण प्रत्येक विशेष्य (सूत्र और भाष्य) के साथ लगाया जा सकता था, लेकिन व्याकरण का उक्त नियम असंदिग्ध अवस्था में लागू होता है। जहाँ संदिग्धता रूप विवादस्थ विषय हो, वहाँ यह नियम नहीं लगता। यहाँ का विषय संदिग्ध इसलिये है कि उक्त वाक्य सिद्धसेनगणीय टीका के केवल सप्तमाध्याय के अन्त में आया है, अन्य अध्यायों के नहीं। इसके अतिरिक्त सिद्धसेनगणि सूत्र और भाष्य को स्वोपज्ञता में सर्वथा असंदिग्ध न थे। यदि वे असंदिग्ध होते, तो 'उमास्वातिवाचकोपज्ञे सूत्रभाष्ये' अथवा 'उमास्वातिवाचकोपज्ञे सूत्रे, उमास्वातिवाचकोपज्ञे भाष्ये च' ऐसा स्पष्ट लिखते। अतएव उमास्वातिवाचकोपज्ञसूत्रभाष्ये—यह पद प्रथमान्त द्विवचन है। इससे मेरा आशय है कि सूत्र और भाष्य दोनों ही उमास्वातिकृत नहीं हैं, केवल सूत्र ही है।

३ **उत्तर**—सिद्धसेन गणि की असंदिग्धता में ऊपर पुष्ट प्रमाण दिये जा चुके हैं। जब सिद्धसेनगणि सभाष्यतत्त्वार्थ की टीका लिखते समय सूत्र और भाष्य की स्वोपज्ञता के विषय में इतने असंदिग्ध रहे हैं—उनकी समस्त टीका में एक स्थल पर भी संदेह को गुंजायश नहीं, तो फिर उनके संधिवाक्य से उनकी संदिग्धता कैसे सिद्ध की जा सकती है? अतः ऐसी हालत में "द्वंद्वादौ वा श्रूयमाण" आदि उल्लिखित नियम के अनुसार यहाँ सप्तम्यंत पद मानकर क्यों न सरल और स्वाभाविक अर्थ किया जाय? सूत्र और भाष्य का ज़बर्दस्ती भिन्न कर्तृकत्व सिद्ध करने के लिये उक्त पद को प्रथमान्त द्विवचन मानने का ऐसा क्या खास आग्रह है? उक्त वाक्य केवल सिद्धसेनटीका में सातवें अध्याय में ही क्यों मिलते हैं, एतद्विषयक संदिग्धता का समाधान तो आपने प्रतिलेखकों को निरंकुश मानकर स्वयं कर दिया है। अतः यदि प्रतिलेखक निरंकुश न होते, तो संभवतः अन्य अध्यायों में भी यही संधिवाक्य

दृष्टिगोचर होता, ऐसा क्यों न मान लिया जाय ? उक्त पद को प्रथमान्त द्विवचन मानकर भी आपकी इष्टसिद्धि नहीं हो सकी। 'अर्हत्प्रवचन तत्त्वार्थाधिगम में उमास्वाति प्रतिपादित सूत्र और भाष्य हैं' इसमें उमास्वाति-प्रतिपादित सूत्र ही है, भाष्य नहीं, यह अर्थ कौन-से व्याकरण के नियम से निकलता है, यह बताने की जरा भी कृपा नहीं की गई। तथा श्री तत्त्वार्थाधिगमेऽर्हत्प्रवचनसंग्रहे भाष्यानुसारिण्यां तत्त्वार्थटीकायां प्रथमोऽध्यायः इन संधि-वाक्यों का अर्थ करने का भी कष्ट नहीं उठाया गया। सूत्र और भाष्य की स्वोपज्ञता में सिद्धसेन सर्वथा असंदिग्ध थे, इसलिये जो ऊपर असमासांत भिन्न-भिन्न पदों के देने की बात है, उसका स्वतः खंडन हो जाता है। उदाहरण के लिये इत्याशाधरविरचितायां स्वोपज्ञ-धर्मामृतसागारधर्मदीपिकायां आदि वाक्यों में आशाधर ने असमासांत भिन्न-भिन्न पद क्यों नहीं दिये ? आशाधर जी को भी लिखना चाहिये था—स्वोपज्ञधर्मामृतसागारधर्मे, स्वोपज्ञदीपिकायां च। इसी तरह सिद्धसेन के विषय में भी समझना चाहिये। किसी पद में समास हो सकने की संभावना होने पर भी समास का उपयोग न करना, यह रचनादोष है।

४ **आक्षेप**—'यथोक्तनिमित्तः षड्विकल्पः शेषाणां' इस श्वेताम्बर सूत्र में 'यथोक्त-निमित्तः' पद का अर्थ 'क्षयोपशमनिमित्तः' किया गया है। इससे मालूम होता है कि सूत्र और भाष्यकार जुदेजुदे थे।

४ **उत्तर**—यदि लेखक महोदय उक्त सूत्र के पूर्व दो सूत्र देखते, तो यह शंका न होती। इससे पहले का एक सूत्र है - द्विविधोऽवधिः। यहाँ अवधिज्ञान के भवप्रत्यय और क्षयोपशम-निमित्त—ये दो भेद बताये जा चुके हैं। इसीको ध्यान में रखकर यथोक्तनिमित्तः का अर्थ क्षयोपशमनिमित्त किया गया है। इसमें अर्थ की कोई असंगति नहीं। अतएव जो उक्त अर्थ को दिगम्बरीय सूत्र या उसके भाष्यों से ले लेना बताया है, वह निर्मूलक है।

(३) वृत्ति

१ **आक्षेप**—शब्दस्तोममहानिधि कोष में रचना के भेदों में सात्वती रचना का भेद भी है। सात्वती सत् शब्द से बना है, जिसका अर्थ सार होता है, और सूत्र भी सारता को लिये होता है, अतः सात्वती और सौत्री एक अर्थ के वाचक हैं। "तथा 'भवप्रत्ययोऽवधि-र्देवनारकाणां' सूत्र के वार्त्तिक भाष्य में "देवशब्दो हि अल्पाजभ्यर्हितश्चेति वृत्तौ पूर्वप्रयोगार्हः" इत्यादि शब्दों से स्पष्ट है कि यहाँ 'वृत्तौ' का अर्थ सूत्ररचना के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हो सकता" (सम्पादक अनेकांत का फुटनोट)।

१ **उत्तर**—ऊपर जो कोष प्रमाणपूर्वक सात्वती और सौत्री को पर्यायवाची मानकर तथा राजवार्त्तिक का उद्धरण उपस्थित कर इष्टसिद्धि करने का प्रयत्न है, वह कितना भ्रमोत्पादक और हास्यास्पद है, यह बात निम्न वक्तव्य से स्पष्ट होगी। बात यह है कि साहित्यदर्पण

आदि ग्रन्थों में दो प्रकार की वृत्ति बताई है, एक शब्दवृत्ति दूसरी अर्थवृत्ति। अर्थवृत्ति के तीन भेद हैं—कौशिकी (कैशिकी), सात्वती और आरभटी; शब्दवृत्ति एक तरह की है—भारती। उक्त चारों वृत्तियाँ नाट्य की वृत्तियाँ हैं, और इन वृत्तियों का वर्णन भरत के नाट्यशास्त्र आदि ग्रन्थों में आता है। सात्वती वृत्ति का नाट्यशास्त्र में निम्न लक्षण किया गया है—

या सत्त्वजेनेह गुणेन युक्ता न्यायेन वृत्तेन समन्विता च।
हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा सा सात्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः॥
वागङ्गाभिनयवती सत्त्वोत्थानवचनप्रकरणेषु।
सत्त्वाधिकारयुक्ता विज्ञेया सात्वती वृत्तिः॥

इस लक्षण में 'सूत्ररचना' अर्थ को गंध तक नहीं। यहाँ हर्षोत्कट शोकरहित भावयुक्त, वाक और अंग के अभिनय वाली वृत्ति को सात्वती वृत्ति कहा है। मालूम होता है शास्त्री जी ने 'सात्वती' शब्द का वास्तविक अर्थ बिना समझे, उसकी निष्पत्ति सत् शब्द से वतुप् आदि लगाकर झट से कर डाली, और 'सत्' तथा 'सूत्र' शब्दों का अर्थ 'सार' मानकर सात्वती और सौत्री का गँठजोड़ा कर दिया। आश्चर्य है कि इतना सब गोलमाल करने पर भी आप 'दिव्यचक्षु' कहलाने का अधिकार समझते हैं और सम्पादक-अनेकांत आपकी पीठ ठोकते हैं। कितनी भी खींचातानी की जाय लेकिन वृत्ति का अर्थ 'सूत्ररचना' कभी नहीं होता, और खासकर राजवार्त्तिक के प्रस्तुत प्रकरण में। अनेकांत-सम्पादक ने जो वृत्ति का अर्थ 'सूत्ररचना' बताया है वह भी नितान्त भ्रममूलक है, और इसलिये सम्पादक जी ने 'सत्यानुसन्धान के नाते अपने दावे को वापिस लेने की हिम्मत' आदि की जो बात कही है, वह उन्हीं के लिये अधिक लागू है। लेकिन उन्होंने तो 'पर-उद्धार' का ठेका ले लिया है वे 'स्व-उद्धार' की बात क्यों सुनने लगे! खैर, राजवार्तिक के उक्त वाक्यों में वृत्ति का अर्थ समास है, सूत्र अथवा सूत्ररचना कभी नहीं। अल्पाच् और अभ्यर्हित होने के कारण देव शब्द का जो पूर्व निपात बताया गया है, वह सूत्रस्थ द्वन्द्वसमास को लक्ष्य में रखकर बताया है। मेरी यह व्याप्ति नहीं कि जहाँ कहीं भी राजवार्त्तिक में वृत्ति शब्द आया है, उस सब का लक्ष्यभूत तत्त्वार्थभाष्य है। संभवतः यह व्याप्ति तो आपलोगों की है कि जहाँ कहीं राजवार्त्तिक में वृत्ति शब्द है, वह 'सूत्ररचना' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। मालूम होता है कि वृत्ति का अर्थ शिवकोटीय वृत्ति छोड़ कर, अब अनेकांत-सम्पादक भी सूत्र-रचना ही मानने लगे हैं। राजवार्त्तिक तथा श्लोकवार्त्तिक में अन्य स्थलों पर भी 'वृत्ति' शब्द समास अर्थ में प्रयुक्त हुआ है—

(अ) अजीवकाया इति समानाधिकरणा वृत्तिः ॥२॥ अजीवाश्च ते कायाश्च ते अजीवकाया इति समानाधिकरणलक्षणा वृत्तिरियं वेदितव्या (राजवार्त्तिक पृ० १८७)।

* तुलना कीजिये—मनोऽग्रगाररूपा सात्त्विकी सात्वती, सदिति प्रकाशरूपं संवेदनं, तद्यत्रास्ति तत्सत्त्वं मनस्तत्स्थेयमिति (अभिनवगुप्तटीका, पृ० २०)।

(आ) स्यान्मतं वृत्तिरत्र न्याय्या संयमादियोगक्षांतिशौचानीति (राज० पृ० २६१)।

(इ) नवादीनां भेदशब्दोपसंहितानामन्यपदार्थे वृत्तिर्भवति नव च चत्वारश्च दश च पंच च द्वौ च भेदा अस्य नवचतुर्दशपंचद्विभेदमिति (राज० पृ० ३४३)।

(ई) यथोष्ट्रस्य मुखमुष्ट्रमुखं, उष्ट्रमुखमिवमुखमस्येति वृत्तावेकस्य मुखशब्दस्य निवृत्तिः (राज० पृ० ६२-६३)।

(उ) विग्रहाय गतिः विग्रहगतिः अश्वघासादिवदत्र वृत्तिः (श्लोकवार्त्तिक ३३१)।

(ऊ) अत्र तृतीयांतपूर्वादुत्तरपदे लोपश्चेत्यनेन वृत्तिः दध्योदनवत् (श्लो०, ३५५)।

इत्यादि अनेक स्थलों पर अकलंक और विद्यानन्दि ने वृत्ति शब्द को समास अर्थ में लिया है। लेकिन उसका अर्थ कहीं भी सूत्ररचना नहीं किया। उक्त स्थल शिवकोटीय वृत्ति के भी द्योतक नहीं। स्वयं जैनेन्द्रव्याकरणकार ने अपने व्याकरण में वृत्ति का अर्थ समास किया है:—

(अ) वृत्तौ कृतशब्दार्थोऽन्तर्भूतः इति न कृतशब्दः प्रयुज्यते (पृ० १३६)।

(आ) मयूरव्यंसक इत्येवं प्रभृतयः कृतवृत्तिपूर्वनिपाता निपात्यंते (१३९)। लघुकौमुदी व्याकरण में भी कृततद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पंचवृत्तयः (पृ० १०६) लिखकर कृदन्त, तद्धित, समास आदि पाँच वृत्तियाँ बताई गई हैं। अतः वृत्ति का अर्थ सूत्ररचना करना बड़ा भारी भ्रम है। क्या अनेकांत-सम्पादक अपनी अनर्थकारक भूल स्वीकार करेंगे?

२ आक्षेप—वृत्ति का अर्थ सूत्ररचना यहाँ प्रकरणसंबद्ध है। 'वृत्तौ पंचत्ववचनात्' आदि राजवार्त्तिकगत वार्त्तिक में दिगम्बरसूत्र रचना पर शंका उठाई है। बात यह है कि "नित्यवस्थितान्यरूपाणि" सूत्र तक तथा आगे भी सूत्ररचना में पाँच द्रव्यों का ही कथन है, छः का नहीं। "अतएव नित्यावस्थितानि" सूत्रगत तीसरे वार्त्तिक में 'अवस्थितानि' शब्द की व्याख्या करते हुए जो द्रव्यों की इयत्ता का प्रमाण छः बताया गया है, उसीको लेकर अकलंक की शंका है कि—वार्त्तिके वा वार्त्तिकभाष्ये भवता उक्तानि धर्मादीनि षड्द्रव्याणि परंतु वृत्तौ (सूत्ररचनायां) धर्मादीनि पंचैव अतः कदाचित् तानि पंचत्वं न व्यभिचरन्ति। दूसरी बात, जिस वृत्ति के ऊपर अकलंक ने शंका उठाई है, यदि उस वृत्ति का अर्थ तत्त्वार्थभाष्य अभिप्रेत है, तो वृत्तिगत शंका का परिहार वृत्तिगत सूत्र 'कालश्चेत्येके' से ही होना चाहिये था; तथा जब आपने लेखांक (३) में उमास्वाति के अनुसार छः द्रव्यों की मान्यता सिद्ध की है, तो फिर राजवार्त्तिकगत पंचत्व की शंका उमास्वातीय तत्त्वार्थभाष्यगत कैसे हो सकती है?

२ उत्तर—ऊपर कहा जा चुका है कि वृत्ति शब्द का प्रयोग राजवार्त्तिककार ने समास (द्वन्द्वसमास आदि) अर्थ में बीसों जगह किया है। ऐसा एक भी स्थल नहीं, जहाँ उन्होंने 'वृत्ति' शब्द सूत्र रचना के अर्थ में व्यवहृत किया हो। जहाँ कहीं सूत्ररचना के विषय में वे कुछ कहना चाहते हैं वहाँ स्पष्टरूप से "सौत्रीमानुपूर्वीमाश्रित्य इदमुक्तं॥ (राजवार्त्तिक पृ०

१९८) आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं, वृत्ति शब्द का नहीं। अतएव 'नित्यावस्थितानि' सूत्रगत तीसरी वार्तिक में आगत विषय के साथ जो उसका संबंध बैठाया जा रहा है, उसका कोई अर्थ नहीं। "स्यान्मतं वृत्तावुक्तमवस्थितानि धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरंति" आदि अकलंक के वाक्यों का—वार्त्तिके वार्त्तिकभाष्येवा भवता उक्तानि धर्मादीनि षड्द्रव्याणि परंतु वृत्तौ (सूत्ररचनायां) धर्मादीनि पंचैव अतः कदाचित् तानि पंचत्वं न व्यभिचरंति—अर्थ करके, फिर यही कहना होगा कि राजवार्त्तिक पर अभूतपूर्व भाष्य सर्जन करके अनधिकारचेष्टा की जा रही है। शास्त्री जी के उक्त भाष्य में 'वार्त्तिके वार्त्तिकभाष्ये वा भवता' ये शब्द कहाँ से आ कूदे? 'परन्तु' शब्द कहाँ से आ गया? ये सब शब्द अध्याहार से तो आये नहीं। तथा ऐसा कौन-सा दिगम्बरीय सूत्र या सूत्र-रचना है, जहाँ पाँच ही (पंचैव) द्रव्य बताये हैं।* अतएव राजवार्त्तिककार के वाक्यों को स्पष्ट करने के लिये जो स्वभाष्य रचा गया है, वह सदोष है। वस्तुतः बात क्या है कि 'नित्यावस्थितानि' आदि सूत्र के तीसरे वार्त्तिक में 'अवस्थितानि का अर्थ करते हुए धर्मादि षड्द्रव्यों की इयत्ता का जो उल्लेख किया गया है, उसीको लेकर 'वृत्तौ पंचत्ववचनात' आदि वार्त्तिक में कहा गया है कि ऊपर तो अभी अपने 'अवस्थित' शब्द का अर्थ किया है कि द्रव्य अपनी छः की इयत्ता का उल्लंघन नहीं करते, परंतु 'वृत्ति' में तो 'अवस्थितानि' पद का अर्थ दूसरा ही किया गया है कि "धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरंति", अर्थात् धर्मादि का पंचत्व से कभी व्यभिचार नहीं; अर्थात् 'वृत्ति' में कहा है कि धर्मादि पाँच ही द्रव्य हैं, छः नहीं। इसके उत्तर में अकलंक कहते हैं कि 'वृत्ति' के उक्त उल्लेख के कारण षड्द्रव्यत्व का व्याघात नहीं होता, क्योंकि तुमने वृत्तिकार का अभिप्राय नहीं समझा। वृत्तिकार का यह अभिप्राय है (अयमभिप्रायो वृत्तिकरणस्य) कि 'कालश्च' रूप से आगे चलकर काल का लक्षण कहा जायगा, अतएव यहाँ काल की अनपेक्षा से द्रव्य-पंचत्व का कथन है। यहाँ वृत्तिकरणस्य' का अर्थ सूत्रकार अथवा सूत्र-रचनाकार त्रिकाल में भी नहीं हो सकता। तथा उमास्वातीय दिगम्बरीय कोई सूत्र ऐसा नहीं, जिसमें "धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरंति" इतना बड़ा सूत्र हो; तथा जैसा ऊपर कहा जा चुका है, दिगंबरीय सूत्रों में ऐसा कोई स्थल भी नहीं जहाँ 'धर्मादिक का कभी पंचत्व से व्यभिचार नहीं' इतने बलपूर्वक द्रव्यपंचत्व का प्रतिपादन हो। यह बात दूसरी है कि 'नित्यवस्थितानि' आदि सूत्र तक तथा आगे भी पाँच द्रव्यों का सामान्य कथन आया हो, और वह तो आता ही। एक बात और है। काल द्रव्य को लेकर सौत्रीरचना पर शंका उठाने का अवसर तो "अजीवकाया धर्माधर्माकाश पुद्गलाः" सूत्र में है। और अकलंक ने यहाँ शंका उठाकर पूछा भी है कि धर्माधर्मादि द्रव्य गिनाते हुए कालद्रव्य क्यों नहीं गिनाया? उसका उत्तर अकलंक

* तदेवं जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशभेदात्पंचविधत्वेन द्रव्यं इति वदंतं प्रत्याह—"कालश्च" (श्लोकवार्त्तिक, पृ० ४३९)—यहाँ 'पंचविधत्वेन द्रव्यं' कहकर विद्यानन्दि भी श्वेताम्बरीय द्रव्यपंचत्व की मान्यता का ही निर्देश करना चाहते हैं, क्योंकि दिगम्बरों में तो छः ही द्रव्य हैं।

ने दिया है कि आगे चलकर उसका लक्षण कहेंगे (वार्त्तिक १६ और ३६)। जब सौत्री-रचना पर काल को लेकर यहाँ शंका-समाधान कर चुके, तो फिर से वही शंका 'नित्यावस्थितानि' आदि सूत्र में उठाने का क्या प्रयोजन? अतएव मानना होगा कि 'नित्यावस्थितानि' सूत्र के विवादास्पद वार्त्तिकभाष्य में सौत्री रचना पर शंका नहीं उठाई, यहाँ तो 'अवस्थित' शब्दार्थ का स्पष्टीकरण किया है, और बताया है कि हमारे कथन में और 'वृत्ति' के कथन में कोई विरोध नहीं आता॥ अब दूसरी शंका होती है कि जब वृत्ति शब्द से अकलंक को तत्त्वार्थभाष्य इष्ट था तो उन्होंने भाष्यगत सूत्र 'कालश्चेत्येके' क्यों नहीं दिया? इसका संक्षिप्त उत्तर पूर्व लेख में आ चुका है। सबसे पहली बात तो यह है कि "कालश्चेत्येके" सूत्र के भाष्य में 'एकेत्वाचार्या व्याचक्षते कालोऽपि द्रव्यमिति' लिखकर यद्यपि उमास्वाति ने कालद्रव्य के संबंध में किन्हीं आचार्यों का मतभेद सूचन किया है, फिर भी कुछ लोगों को उक्त सूत्र से यह संदेह होता था कि स्वयं उमास्वाति काल द्रव्य को मानते हैं या नहीं। यही कारण है कि सिद्धसेनगणि तक 'वाचकमुख्यस्य तु पंचैव' कहकर यह लिख गये कि उमास्वाति पाँच ही द्रव्य मानते हैं, यद्यपि आगे चलकर उन्होंने उमास्वाति के मत से ही छः द्रव्य बताये हैं (विशेष के लिये देखो लेखांक ३)। ऐसी हालत में यदि अकलंक भी 'कालश्चेत्येके' सूत्र उद्धृत करते, तो उससे षड्द्रव्यत्व की शंका का समाधान होने के बदले शंकाकार की संदेहवृद्धि ही होती, जिसका समाधान फिर से अकलंक को करना पड़ता। दूसरी बात, अकलंक, पूज्यपादसम्मत दिगम्बरीय सूत्रों को ठीक मानते थे। उन्होंने अनेक स्थलों पर तत्त्वार्थभाष्यगत सूत्रों का खंडन किया है, अतएव उन्होंने दिगम्बरीय सूत्र का ही उद्धरण दिया। यदि कहा जाय कि जब वे भाष्यगत सूत्र ही न मानते थे, तो उन्होंने भाष्यगत वाक्योल्लेखपूर्वक काल द्रव्य के संबंध में शंका ही क्यों उठाई, तो इसका उत्तर है कि अकलंक की दृष्टि में तत्त्वार्थभाष्य एक महत्त्वपूर्ण लब्धप्रतिष्ठ ग्रन्थ था, जिसकी उपेक्षा करना उनके लिये अशक्य था। उन्होंने इस भाष्य में से अनेक स्थलों पर वाक्य के वाक्य स्वग्रन्थ में भी लिये हैं, यद्यपि अमुक कारणों को लेकर दिगम्बरों ने उसे मानना छोड़ दिया था। अकलंक को यह सह्य नहीं हो सका कि तत्त्वार्थभाष्य जैसे ग्रन्थ को लेकर लोग द्रव्यपंचत्व जैसे जैन-धर्म के मौलिक सिद्धान्तों के विषय में शंका उपस्थित करें, यद्यपि दिगम्बर-परम्परा विरुद्ध वस्त्र-पात्र आदि की भाष्यगत मान्यताओं का उन्होंने निरसन भी किया है; इससे उनकी गुणग्राहिता और तत्त्वनिष्ठता का ही पता लगता है। इससे इस आक्षेप का भी निरसन हो जाता है कि जब उमास्वाति के अनुसार छः द्रव्य सिद्ध किये गये हैं, तो राजवार्त्तिकगत पंचत्व की शंका का लक्ष्य प्रस्तुत भाष्य कैसे हो सकता है। लेखांक (३) में विस्तार से बताया जा चुका है कि "कालश्चेत्येके" सूत्र तथा "न हि कदाचित्पंचत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरंति" यह 'नित्यावस्थितानि' आदि सूत्रगत भाष्य-वाक्य, द्रव्यपंचत्व की शंका के उत्पादक थे। वस्तुतः उमास्वाति छः ही द्रव्य मानते थे। अकलंक ने "न हि कदाचित्" आदि भाष्यगत वाक्य पूर्व-पक्ष में रख कर षड्द्रव्य-विषयक समाधान करके इस कथन का समर्थन किया है। यदि अकलंक "कालश्चेत्येके" सूत्र उद्धृत करते, तो सम्प्रदाय-विरोध के साथ-साथ उक्त सूत्र से शंका की निवृत्ति भी पूर्णतया न होती, इसीलिये उन्होंने दिगम्बरीय सूत्र 'कालश्च' प्रमाणरूप से दिया।

(क्रमशः)

उत्तर कर्णाटक और कोल्हापुर राज्य के कुछ शिलालेख

[ले०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद, जैन, एम० आर० ए० एस०]

प्रो० के० जी० कुन्दनगार ने उत्तर कर्णाटक और कोल्हापुर राज्य में यत्र-तत्र बिखरे हुए शिलालेखों को संग्रह करके प्रकाशित किया है। निस्सन्देह इतिहास के विद्वानों के लिये उनका यह सुंदर कार्य प्रशंसनीय और बहुमूल्य है। उस संग्रह में से हम यहाँ पर कतिपय उन उल्लेखनीय लेखों को हिन्दी अनुवाद में सधन्यवाद उपस्थित करते हैं, जिनका सम्बन्ध जैनधर्म से है। इस संग्रह में नं० १ का स्तंभ लेख अधूरा ३०" × १४" लम्बा-चौड़ा है। उसका हिन्दी-अनुवाद निम्न-प्रकार है :—

(पश्चिम पार्श्व)—

१ श्रीवाग्देवी (सरस्वतीदेवी) का विवरण है।

२-३ उत्तरीय व पूर्वीय क्षेत्रों का वर्णन है।

३-६ मंदर (मेरु) पर्वत भद्रसाल वन से ५०० योजन ऊँचा है और १००० योजन पृथ्वी पर है।

७-८ वहाँ से ५०० योजन में नन्दनवन है।

८-९ वहाँ से ६२५०० योजन ऊपरी भाग है।

१०-११ वहाँ से ५०० योजन में देववन है।

११-१२ वहाँ से ३६०० योजन चढ़ा जाता है।

१३-१४ तब वहाँ से ४९४ योजन में पांडुक वन है।

१५-१६ वहाँ से ४० योजन ऊँचा उसकी शिखर है।

१७-२१ जम्बूद्वीप का नामकरण अज्ञातकालीन जम्बूवृक्ष की अपेक्षा हुआ है। मंदरमेरु के चहुंओर उत्तम भोगभूमि है .. ।

२१-२२ जम्बूद्वीप के भरतशाला(?) खण्ड में विनीताखण्ड के अन्तर्गत अयोध्या है।

२२-२५ (अयोध्या से) दक्षिण में कुन्तलदेश है। यह प्रदेश चालुक्य साम्राज्योद्धारक प्रतापी आहवमल्लदेव का साम्राज्य है। उन्हींके राज्य के अन्तिम तीन वर्ष......... ।

२७-३० ....,

(उत्तरी पार्श्व) : २-३ उस देश में ८४ लाख देवताओं के प्रफुल्ल मुखकमलों में।

३-८ शारदा देवी का वर्णन है।

८-९-१०-३० शारदादेवी का चित्रण है। (अक्षरवृत्त, त्रिपदी, दोहवृत्त, चौपदीवृत्त छंदों का उल्लेख है)।

(दक्षिण पार्श्व) : १-९ अपनी युवावस्था में ऐश्वर्य, धन और मान के वश हो वह नरेश एक महान् व्यक्ति था। वह आत्मसम्मानी, दानवीर, संयमशील, दोषमुक्त, सेवा के योग्य, दयालु .....सद्गुणों का अधिकारी और सर्वप्रिय था। उस विद्वान् पुरुष में गुणों की जाज्वल्यज्योति चमकती थी।

१० १३ गुणस्थानों में धर्मात्माओं के भूषणरूप ....पाँच आणुव्रतों में, तीन गुण-व्रतों में......और चार शिक्षाव्रतों में... ..।

१४ ऐसे व्रत हैं ... ।

१५-१९ ...कुसुमकलिकाओं की टोकरी ...मैत्री......इस मार्ग पर जाते, ठहरते... ..और स्थिर रहते......विचारशील, क्योंकि परिणामगुणों में ऐसी महानता है।

२०-२३ परिणामगुण बाधायें लायें .... वे असत्य को डरायें और वे (मन को) प्राप्त धन में से आधा दान करने में लगायें......।

२३-२७ जब ऐसा सुख इस सांसारिक जीवन में प्रतीक्षा कर रहा था, जैसे कि कमलपत्र पर ओसबिन्दु अथवा फलितोन्मुख हुए आम्र-मञ्जरियों पर तुषार अथवा सरस और हरे-भरे बगीचे में ज्येष्ठ की तप्त बयारि......

२८-३० खूब सुदृढ़......रणक्षेत्र में घायल हुये .. ..।

३१ ... ।

उपर्युक्त लेख खंडित है। तो भी यह स्पष्ट है कि उसमें आहवमल्लदेव नामक चालुक्यसम्राट् के अंतिम तीन वर्षों के राज्यकाल का वर्णन है। यह आहवमल्ल चालुक्यसम्राट् तैलपदेव हैं, जिन्होंने राष्ट्रकूट-सम्राट् कक्क द्वितीय को सन् ९७३ ई० में परास्त करके चालुक्य-साम्राज्य-लक्ष्मी को पुनः प्राप्त किया था। जैनकवि रन्न (रत्न) के वह आश्रयदाता थे। उन्होंने कवि रन्न को 'कविचक्रवर्ती' की उपाधि प्रदान की थी। कविरत्न ने सम्राट् तैलप की निम्न-लिखित विरुदावली लिखी है, जिसमें उनका महान् व्यक्तित्व स्पष्ट है :—

"समस्तभुवनाश्रयम्, श्रीपृथ्वीवल्लभम, महाराजाधिराजम्, राजपरमेश्वरम्, परमभट्टारकम्, करहाटमयङ्करम्, जादिलान्द्र-कुलीन-भुवन-सद्गुण-मणि-विभूषणम्, सिंधुर-कंधराधिरूढ़-पञ्चि-कोटोल्लंघनम्, भद्रकविद्रावणम्, कोङ्कण-भयंकरम्, उभयबलदक्षणम्, मार्मलेवरि-गज-

केसरि, करीन्द्र-कंठीरवमङ्कम् वरि-फणीन्द्र सौवर्णम्, काकलिक-राज-गजकेसरि, रणकुंभि-कुंभकंठीरवम् यादवकुलाम्बर-द्युमणि··········श्रीमन्नूर्मडितैलपनेनिसिदाहवमल्लदेवनिम्।
—(गदायुद्ध, २ पृ० १५)"

तैलप ने २४ वर्षो तक उल्लेखनीय राज्य किया था। संभवत: शिलालेख में उन्हींके व्यक्तित्व का चित्रण है, जिससे स्पष्ट है कि वह अपने अन्तिम जीवन में श्रावक के व्रतों को पालते थे। सांसारिक जीवन की क्षणिकता को जानते थे। धर्म-कर्म पालते हुए भी वह राज्य-संरक्षण के कर्तव्य से विमुख नहीं थे। श्रावकाचार के व्रतनियम दर्शनीय हैं। भावविशुद्धि उस समय भी खास चीज़ थी, जिसका उल्लेख 'परिणामगुण रूप' में हुआ है। शारदादेवी (जिनवाणी) का चित्रण महाकवि पुष्पदन्त के सरस्वती-चित्रण की याद दिलाता है। लेख नं० १७ (११९६ ई०) में यादवनरेश जैत्रपाल के राज्यकाल में इन्डि नामक प्रदेश में हरि-हर-अरहंत-बुद्ध के मंदिर और ब्राह्मण ऋषि, जैनमुनि एवं बौद्धभिक्षु विचरते लिखे हैं (श्लोक ८)।

ले० नं० २२ (१२०९) एक जैन लेख है, और उसका हिन्दी रूपान्तर निम्नप्रकार है:

१-२ नमः सिद्धेभ्यः। 'श्रीमान् जीयात्—' श्लोक है। (?)

२-३ जिन्होंने काम को जीत लिया है और जिनके पदतल नतमस्तक हुए सुरासुरों की मुकुटमणियों से लाल हुए हैं, वह पार्श्वजिन इच्छित सुख प्रदान करें ॥२॥

४-५ यह शासन लेख जो जिनेन्द्र-द्वारा अभिभाषित जिनशासन का बखान करता है, पृथ्वी पर उस समय तक चमकता रहे, जब तक सूर्य, चन्द्र और ज्योतिर्मयी (मेरु) पर्वत रहें ॥३॥ वह (जिनशासन) इस प्रकार है—

५-६ जम्बूद्वीप के मध्य में स्तंभवत् मंदर (मेरु) पवत है, मंदर (मेरु) के दक्षिण में स्थित प्रदेश सदा भरत नाम से प्रसिद्ध है ॥४॥

७-१० अगणित रत्नसमूह से भरपूर उस भरतक्षेत्र में वेणुग्राम (बेलगाँव) में जो, महान् व सुंदर नगर, राज्य-लक्ष्मी का लीला-केन्द्र (राजधानी) होने के कारण है और जो तीन हज़ार ग्रामों, बड़े ग्रामों एवं नगरों से मंडित कुंडिमंडल के मध्यभाग को शोभित करता है, उसमें नाना राष्ट्रों के लोग और अनेक प्रकार की सामग्री मिलती है।

१०-११ अपने भयंकर शौर्य के लिये प्रसिद्ध राजाओं के समूह से मंडित रट्टवंश इस धरातल पर पृथ्वी के भूषण रूप में प्रसिद्ध था ॥५॥

११-१२ उस समस्त गुणाश्रय रट्टवंश में:—

१२-१७ स्वस्ति! अनेक विरुदावली-अलंकृत समस्तभुवनाश्रय, पृथ्वीपति, महाराजाधिराज, महाप्रभु, महापवित्र, कंधारपुराधीश्वर, स्वर्ण-गरुड़-ध्वज-मंडित, रट्ट-कुल-कमल-सूर्य, रणभयंकर, नृत्य-संगीत-लय-ताल-केलि-वररत, गांधर्व-विद्या-निपुण, शरणागत-वज्र-पंजर।

१८ भुवन विख्यात, चतुर्भुजदेव-रूप।

१८-१९ कृष्णराज चहुंओर समुद्र-वेष्ठित पृथ्वी की रक्षा अपने अतुल्य शूर-वीरता से करते सम्राट् हुए ॥६॥

२० कृष्ण के महान् और विस्तृत साम्राज्य में अनेक राजाओं के मंडलेश्वर कंधर (Kandhara)।

२१-२३ स्वस्ति! वह क्षत्रियों में श्रेष्ठ हैं। समस्त विरुदों से शोभित प्रतापी महामंडलेश्वर, लट्टनूरु-पुरवराधीश्वर, त्रिवलीशाकगत, रट्टकुलभूषण, माण्डलिकवीराग्रणी, शत्रुभयंकरादि।

२३-२४ कार्तवीर्य थे। वह राजाओं में श्रेष्ठ और सुदृढ़ थे। गरीबों की रक्षा करते थे और दुष्टों का निग्रह करते और रणभूमि में उन्हें सुगमता से निगल जाते थे ॥७॥ उनके पुत्र।

२५-२६ लक्ष्मीदेव थे। वह मानी वीर रट्टकुल में सर्वश्रेष्ठ थे। शत्रुओं के लिये साक्षात् यमराज थे ॥८॥

२६-२: लक्ष्मीदेव का शासन हरि को मात करता है, क्योंकि वह पृथ्वी की रक्षा करते थे और वामनरूप में भिक्षा लेने के लिए अवतरित हुए ॥९॥

२८-२९ उस पृथ्वीपति की प्रिय हृदयेश्वरी श्रेष्ठ चान्दलदेवी पट्टरानी थीं, जो शरणागत के लिये अभय और आश्रयदा-रत्न थीं, जिनकी प्रशंसा सुरांगनायें करतीं थीं, जो विद्वानों के लिये इच्छापूरक चिन्तामणि और अपने वंश की शिखामणि थीं ॥१०॥

३०-३१ जब कि प्रतापलंकेश्वर भयंकर मंडलेश्वर लक्ष्मीदेव अपनी राजधानी वेणुग्राम से शासन कर रहे थे, तब :—

३२-३४ अन्तिम तीर्थनाथ, सुर-नर-खेचर-पाद-वंदित, सर्वगुणाश्रय, केवलज्ञान-लक्ष्मीमंडित, पृथ्वीनेत्र, सर्वतोभद्र महावीर ने मोक्ष प्राप्त कर लिया था, तब उनकी परम्परा में यापनीयसंघ उद्भूत हुआ और पृथ्वी पर चमक रहा था ॥११॥

३४-३५ स्वस्ति! उस प्रख्यात यापनीयसंघ के कारेयगण में देवतुल्य यतिगण थे, जिन्होंने अस्ति-तत्व का प्रचार करके गण की वृद्धि की थी ॥१२॥

३५-३६ इस प्रकार तपस्या करके अनेक यति मुक्त हुए। उस अन्वय में।

३६-३७ निर्ग्रन्थ-मुनि-रूप में प्रसिद्ध कनकप्रभ जन्मे। उनका कनकप्रभ नाम इस लिये पड़ा था कि निरन्तर विद्वानों को स्वर्णदान दिया करते थे ॥१३॥

३८-४० उनके श्रेष्ठ और प्रिय शिष्य श्रीधरदेव-त्रैविद्य-चक्रेश्वर थे; जो मीमांसक-कमल-दलन-हस्ति, चार्वाकवादी-गज-केसरी, वैशेषिक-सर्प-गरुड़, सांख्यभूभृत-खंडन-वज्र और बौद्ध-घन-विलय-झंझावात थे ॥१४॥

४०-४१ उस पवित्रान्वय के कनकप्रभ की प्रशंसा लोकजन करते थे। वह सर्वविद्याविद्, महान् पुण्यशाली और श्रीधरमुनीन्द्र के शिष्य थे ॥१५॥

४२-४३ धवल-प्रशंसाश्रय कनकप्रभ पंडितदेव की क्षेम लोगों के लिये आनन्द की वस्तु है। प्रसिद्ध कुंडीदेश उनके चरणों में शरणागत है। यह मुनि विद्वज्जन के लिये जंगम इच्छापूरक चिन्तामणि रत्न हैं ॥१६॥

४४-४५ निष्पाप कनकप्रभ पृथ्वी पर प्रसिद्ध थे। वह जिनवचनरूपी कमलों को प्रफुल्लित करने के लिये चन्द्र, जिनाम्बुधि-कमल-सरोज और जिनपूजा करने में इन्द्र-तुल्य थे ।१७।

४५-४६ उन कनकप्रभ के चरणामृत चंचरीक भ्रमर—

४६-४८ अनुपम होट्टिगौड के पुत्र धनसम्पन्न अम्मगौड पृथ्वी पर प्रसिद्ध थे। उनकी पत्नी व्यालजिगौड़ि के दान-धर्म कार्यों की बराबरी कोई भी रानी नहीं कर सकती थी। इस दम्पत्ति का पुत्र होलन था ॥१८॥

४८-५२ जब मुरियर अम्म-गौड सानन्द अपने पुत्र-पौत्र और पत्नी सहित रह रहे थे, और सत्तर गांवों के मंडल में आठ गांवों वाले चिनचुनिके के मूलस्वामी थे, तब उन्होंने योग-वस्त्र धारण करके पार्श्वजिन का मंदिर सर्व कर्मों के क्षय के लिये बनवाया। उस मंदिर में मानस्तम्भ, मकरतोरण आदि सब ही बने हुए थे।

५३-६० शाक संवत् ११३० विभव संवत्सर फाल्गुण कृष्ण तृतीया सोमवार को प्रतापी महामंडलेश्वर लक्ष्मीदेव की आज्ञानुसार महाप्रभु मूलिग-मुरियर-अम्मगौड ने यापनीय संघ मैलापान्वय कारेयगण के आचार्य कनकप्रभमंडितदेव के चरणकमल भक्तिपूर्वक जल से धोकर ७०० कम्बी (?) भूमि ...... एक बाग आदि आहार, भैषज्य, शास्त्रदान और जिनमंदिर की मरम्मत के लिये दान दी।

६०-६१ सगर आदि अनेक राजाओं ने भूमिदान दिये हैं। जिसकी भूमि है उसी को पुण्य मिलता है ।१९।

६१-६२ विष कदाचित् विष न भी हो, परन्तु देवद्रव्य विष है। विष एक व्यक्ति को मारता है, परंतु देवद्रव्य पुत्र-पौत्रादि के नाश का कारण होता है ॥२०॥

६२-६५ शक सं० ११७९ पिंगल संवत्सर चैत्र कृष्ण ७ बृहस्पतिवार को टैक्सों के नायक प्रतापी मत गौड ने कल्लरस और महादंडनायक चौडसेट्टि की आज्ञानुसार पंचदर्शन विद्यालय चिनचुनिके के लिये दान दिया।

६५-६६ तीन...... करमुक्त दान है।

६७ जो कोई स्वदत्त या परदत्त दान को लेगा वह साठ हजार वर्षों तक मल में कृमि होगा। (सशेष)

समीक्षा और प्राप्ति-स्वीकार

पञ्चमकर्मग्रन्थ—हिन्दी भाषानुवाद सहित; मूल लेखक—श्री देवेन्द्रसूरि; अनुवादक एवं सम्पादक—न्यायतीर्थ पं० कैलाशचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री, प्रधानाध्यापक स्याद्वाद जैन-विद्यालय, बनारस; प्रकाशक—श्री जैन पुस्तक-प्रचारक-मण्डल, रोशन मुहल्ला आगरा; पृष्ठ संख्या सब मिलाकर २८+५७+३७०=४५५; वीर संवत् २४६८; मूल्य ३) रु०; मुद्रण आदि चित्ताकर्षक।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में स्व० श्रीमती पानबाईजी का संक्षिप्त परिचय दिया गया है जो मरते समय इस पञ्चमकर्मग्रन्थ के प्रकाशन के लिये ५०८) रु० दे गई थीं। इसके बाद प्रकाशक का वक्तव्य है। इस वक्तव्य के आगे श्री पं० सुखलालजी संघवी, प्रधानाध्यापक—जैन दर्शन हिन्दू युनिवर्सिटी, बनारस के द्वारा लिखित १५ पृष्ठों का 'पूर्वकथन' है। पण्डितजी ने विद्वत्तापूर्ण अपने इस 'पूर्वकथन' में कर्मतत्त्वविचारक सभी परम्पराओं की शृङ्खला पर ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत सुन्दर ढंग से प्रकाश डाला है। इस गम्भीर 'पूर्वकथन' से पण्डितजी के गहरे अध्ययन का पता आसानी से लग जाता है। आप है भी एक बहुदर्शी उल्लेखनीय विद्वान्। इसके अनन्तर सम्पादक का वक्तव्य है। इस वक्तव्य के बाद उन्हींकी ४६ पृष्ठों की एक पाण्डित्यपूर्ण लंबी प्रस्तावना है। पं० कैलाशचन्द्रजी ने अपनी इस सुन्दर प्रस्तावना में कर्मसिद्धान्त, कर्मविषयक साहित्य, नवीन कर्म-ग्रन्थ एवं नवीन कर्मग्रन्थों के रचयिता इन विषयों पर अच्छा प्रकाश डाला है। इसमें पण्डितजी के दर्शनान्तरीय ग्रन्थों के परिशीलन का विशद परिचय मिल जाता है। वास्तव में प्रस्तावना बहुत सुन्दर लिखी गई है। इस प्रस्तावना के बाद पञ्चमकर्मग्रन्थ का विषयानुक्रम तथा इस विषयानुक्रम के उपरान्त सानुवाद पञ्चमकर्मग्रन्थ है। ग्रन्थ का अनुवाद बहुत सुन्दर हुआ है। पं० कैलाशचन्द्रजी ने इसमें पर्याप्त परिश्रम किया है। पं० सुखलालजी के शब्दों में 'मेरे प्रथम के चार अनुवादों में दिगम्बरीय साहित्य की तुलना थी पर वह उतनी न थी जितनी की इस अनुवाद में है। कारण स्पष्ट है। पण्डितजी को सारा दिगम्बरीय कर्मशास्त्र स्मरण है। इस तरह प्रस्तुत अनुवाद में श्वेताम्बरीय-दिगम्बरीय कर्मशास्त्र जो असल में एक ही स्रोत के दो प्रवाहमात्र हैं, जो गंगा-यमुना की तरह मिल गये हैं। उन्होंने जो प्रस्तावना लिखी है वह भी गहरे अध्ययन के बाद ही लिखी है। उनकी भाषा तो मानो विशद प्रवाह है। .... इस अनुवाद के द्वारा श्वेताम्बरीय अभ्यासियों को दिगम्बर परम्परा का तत्त्व जानने की बहुत कुछ सामग्री

मिलेगी। और जो दिगम्बरीय अभ्यासी इस अनुवाद को पढ़ेंगे उन्हें श्वेताम्बरीय वाङ्मय का सौरभ भी अनुभूत होगा।' ग्रन्थ के अन्त में शुद्धिपत्र को लेकर ७ परिशिष्ट लगे हुए हैं, जो कि बहुत उपयोगी हैं। सारांशतया प्रकाशन सर्वाङ्ग सुन्दर हुआ है। इसके लिये प्रकाशक महोदय भी हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं।

महावीरवाणी—प्रस्तावना-लेखक— डॉ० भगवानदास; सम्पादक—बेचरदास दोशी; प्रकाशक—सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली; पृष्ठ सं० सब मिलाकर २८+१८८=२१६; मूल्य अजिल्द एक रुपया, सजिल्द डेढ़ रुपया; ई० सन् १९४२; मुद्रण आदि सुन्दर।

इसमें अहिंसादि २५ सूत्रों या अध्यायों में ३४५ प्राकृत गाथाओं का सानुवाद संग्रह है। इन गाथाओं का संग्रह श्वेताम्बर सूत्र साहित्य से किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में पारिभाषिक शब्दों का सरल हिन्दी भाषा में अर्थ भी दिया गया है। ऐसे ग्रन्थ के संकलन की बड़ी आवश्यकता थी। इसके लिये विद्वान सम्पादक के साथ साथ संकलनकर्त्ता, हिन्दी भाषानु-वादक, अनुवाद के संशोधक एवं प्रकाशक सभी धन्यवाद के पात्र हैं। हाँ, महावीरवाणी में यतिधर्म से सम्बन्ध रखनेवाली गाथाएँ अधिक हैं एवं गृहस्थोपयोगी कम। गृहस्थोपयोगी उपदेशों का संकलन भी अधिक मात्रा में होना चाहिये था। दूसरी बात है कि अगर इस संकलन में दिगम्बरीय साहित्य से भी सहायता ली जाती, तो संग्रह और उपयोगी होता। गाथाओं का अनुवाद सुन्दर हुआ है। सारांशतया ग्रन्थ उपयोगी एवं सुन्दर है।

—के० भुजबली शास्त्री

बनारसी-नाममाला—रचयिता—पं० बनारसी दासजी; सम्पादक—जुगलकिशोरजी मुख्तार; अधिष्ठाता 'वीर-सेवा-मन्दिर'; प्रकाशक—वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा, जिला सहारनपुर; पृष्ठ संख्या १०८; पाकेट साइज ६४ पेजी; मूल्य ।); छपाई-सफाई सुन्दर।

यह नाममाला मध्यकाल के संस्कृत कोशों के अनुकरण पर १७वीं शताब्दी में पद्यबद्ध रची गयी है। इसकी प्रस्तावना में पं० परमानन्द शास्त्री ने लिखा है—"इस ग्रन्थ की रचना संवत् १६७० में बादशाह जहाँगीर के राज्यकाल में, आश्विन मास के शुक्लपक्ष में विजयादशमी को, सोमवार के दिन 'भानु' गुरु के प्रसाद से पूर्णता को प्राप्त हुई है। इस ग्रन्थ के बनवाने का श्रेय आपके परम मित्र नरोत्तम दासजी को है, जिनके अनुरोध एवं प्रेरणा से यह बनाया गया है, जैसा कि ग्रन्थ के १७०, १७१, १७२ और १७५ वें दोहों से स्पष्ट है।" आपने यह भी बतलाया है कि इस रचना का प्रधान आधार धनंजय-कृत 'नाममाला' है। पं० नाथूरामजी प्रेमी ने 'बनारसी-विलास' में 'धनञ्जय नाममाला' का पद्यानुवाद

बतलाया है। मैं भी उपर्युक्त ग्रन्थ का ही आधारत्व स्वीकार करूँगा, क्योंकि परायण करने से मुझे कई मौलिक हिन्दी शब्द मिले हैं और आरंभ में अमरकोश का ढंग भी देखने में आता है। यह ठीक है कि संस्कृत कोशों का पूरा-पूरा अनुकरण किया गया है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि कोशकार प्रतिभाशाली थे, उनके पास शब्दों का भाण्डार था, फिर भी—तात्कालिक पद्धति के अनुसार पद्यबद्ध ही सही—यदि स्वतन्त्रता से उन्होंने काम लिया होता, तो इतने अप्रचलित अर्थात् भाषाकाव्य में अश्रुत शब्द नहीं आने पाते और उस काल के व्यावहारिक कुछ देशज तथा विदेशी शब्द भी इस नाममाला में स्थान पा जाते। इस ग्रन्थ में त्रिदश=देवता, संपा=बिजली, भानि=नक्षत्र और लेलिहान=सर्प इत्यादि के समान चतुर्थांश शब्द भरे पड़े हैं। पाठक 'भानि' शब्द पर विचार करें—'भ' नक्षत्र का पर्यायवाची है। बहुवचन में 'भानि' रूप हुआ। ग्रन्थकार ने जल्दी में ज्यों का त्यों रख दिया है। शुद्धि-पत्र में सम्पादक ने 'भं' बनाकर ग्रन्थकार को स्यात् निर्दोष बनाना चाहा है पर फिर भी वह संस्कृत का सविभक्तिक शब्द ही रह जाता है। अनुस्वार-रहित हो 'भ' किसी प्रकार हिन्दी में प्रयुक्त हो सकता था, पर उससे छन्दोभङ्ग हो जाता है। तात्पर्य यह कि कितने ही ऐसे शब्द हैं, जो कभी व्यवहृत नहीं होते। तथापि मैं कहूंगा कि यह नाममाला अपने समय में बड़ी अच्छी और नवीन होगी, प्राचीन हिन्दी-साहित्य के अध्ययन के लिए आज भी यह उपयोगी है।

ग्रन्थ के अन्त में संपादक ने अकारादि-क्रम से जो शब्दावली दी है और कोष्ठक में शुद्ध रूप देने का जो स्तुत्य कार्य किया है, उससे यह पुस्तक इतर शब्दकोशों की तरह पूर्ण आधुनिक हो गयी है। यह दूसरी बात है कि इसका रूप छोटा है। आखिर सम्पादक को तो ग्रन्थ में पठित शब्दों की ही आवली बतानी थी!

सम्पादन सुन्दर हुआ है। हाँ, छापे की अशुद्धियाँ तो कुछ रह ही जाती हैं। कुल अशुद्धियाँ शुद्धि-पत्र में नहीं आ सकी हैं। २९वें दोहे के 'कख पदमकर' पद का शुद्ध रूप 'कच्छप मकर' तो मैंने शुद्धिपत्र में पाया, किन्तु उसी पंक्ति का 'नवनिपि' अभी अशुद्ध पड़ा पाया।

सम्पादक यदि अपने 'शब्दानुक्रमकोश' में प्रत्येक शब्द के आगे एक-एक व्यावहारिक पर्यायवाची शब्द इटालियन फेस के छोटे अक्षरों में दे देते, तो स्यात् यह नाममाला अधिक उपयुक्त हो जाती। मिला-जुलाकर संपादन बड़ा बढ़िया हुआ है। संस्कृत-हिन्दी के प्रेमियों को एक-एक प्रति रखनी चाहिये।

जैन झंडागायनसंग्रह—यह पुस्तक दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत से प्रकाशित हुई है। पाकेट साइज; पृष्ठसंख्या ३६; मूल्य चार पैसे।

इस में जैन समाज के प्रसिद्ध निम्नलिखित कवियों के गीत संगृहीत हैं—(१) श्री कल्याण कुमारजी (२) स्व० कवि ज्योति प्रसादजी जैन (३) बाबा मंगतरायजी जैन 'साधु' (४) मा० शिवराम सिंहजी जैन (५) भगवत्स्वरूपजी जैन (६) ब्र० प्रेमसागरजी 'पंचरत्न' (७) श्री कमलादेवी जैन 'कोविद' और (८) पं० राजेन्द्रकुमारजी 'कुमरेश'।

सभी कवियों के गीतों का विषय 'झंडा' है। 'कुमरेश' जी के पाँच और गीत भिन्न-भिन्न विषयों पर हैं। सभी 'झंडागायन' परस्पर भाव और शब्दों द्वारा पूर्ण साम्य रखते हैं और छठें तथा सातवें गीत को छोड़ कर इन सभी गीतों का आधार कांग्रेस का प्रसिद्ध 'झंडाभिवादन गीत' है। सभी गीतों में जातीय उत्साह और ओज भरे हुए हैं। वे गीत जुलूस और उत्सवविशेष के लिये ही रचे गये हैं, अतः सर्वसाधारण के उपयोग के हैं। हाँ, तुक बैठाने के लिये शब्दों की खींचातानी जहाँ तहाँ हुई है। छन्दोभङ्ग दोष भी बहुधा देखने में आता है। कई गीत निर्दोष भी हैं।

कवि श्री कल्याणकुमारजी 'शशी' के "यह तीर्थंकर ने अपनाया, ऋषभदेव ने यह फहराया" इन दोनों वाक्यों में व्याकरण की अशुद्धियाँ है। 'वीर प्रभू' शब्द में ह्रस्व उकार भी रखते तो छन्दोभङ्ग नहीं होता। क्योंकि संयोग का पूर्ववर्ती ह्रस्व भी गुरु समझा जाता है। हिन्दी में भी इस नियम का पालन गुप्त जी आदि करते हैं। २तीय स्व० कविजी के कई शब्दों में मात्राओं की अशुद्धियाँ हैं। उनके गीत की ८, ९, १५, १६ और ४१ वीं पंक्तियों की अशुद्धियों को आसानी से हटाया जा सकता है। ३तीय कवि के गीत की ३, ६, ८, ११, १६, १७, १८, १९, २२ पंक्तियों में भिन्न-भिन्न अशुद्धियाँ हैं। ४र्थ कवि का गीत अच्छा उतरा है। ५म कवि अपेक्षाकृत अधिक सफल हुए हैं। ६ष्ठम कवि और ७म कवियित्रीजी की रचनाएँ भी सुन्दर हैं। कवयित्रीजी ने मुखपृष्ठ के पताका-चित्र का भाव-चित्रण बड़ी सुन्दरता से किया है। ८म कवि 'कुमरेश' जी में प्रतिभा और लगन के साथ-साथ साहित्यिक स्वच्छन्दता भी है, इनके 'झन्डा म्हारा', 'उन्नती द्वारा', 'धिक्कारा', 'तृतिया', 'मिलो ना' इत्यादि शब्दों के कारण भाषा भद्दी हो गयी है। सब कुछ होने पर भी साधारण कोटि की जनता के लिए यह पुस्तक उपादेय है।

— कमलाकान्त उपाध्याय
व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य

पुराण और जैनधर्म—लेखक पं० हंसराजजी शर्मा और श्री आत्मानन्द जैन पुस्तक-प्रचारक-मण्डल, रोशन मुहल्ला—आगरा, द्वारा प्रकाशित ; मूल्य ।||) ; प्रकशन संस्था से ही प्राप्य ।

इसमें प्रकाशन संस्था के मन्त्री दयालचन्दजी जौहरी का एक पृष्ठ में वक्तव्य एवं लेखक की छः पृष्ठों में प्रस्तावना भी सम्बद्ध हैं। 'पुराण और जैनधर्म' इस छोटी सी पुस्तक में केवल हिन्दू-पुराणों को आलोचना की गयी है, अतः 'हिन्दू पुराण और जैनधर्म' इसका यह नामकरण कहीं अच्छा होता। लेखक के आलोच्य पुराण भागवत, कूर्म, विष्णु, स्कन्द, मत्स्य, शिव, अग्नि, वाल्मीकि और महाभारत हैं। इनमें जैनधर्म की किसी न किसी रूप में की गई चर्चा का उल्लेख कर लेखक ने अपना मन्तव्य प्रकट किया है। वास्तव में जिस विद्रूप भाव से जैनधर्म का स्मरण उक्त पुराणों में किया गया है, वह नितान्त अवाञ्छनीय है। इस विषय में मेरी समझ तो यह है कि ऋषिकल्प पुराणकर्त्ताओं की लेखनी से जैनधर्म के बारे में ऐसी असंगत एवं द्रोहात्मक उट-पटांग बातें नहीं लिखी गयी होंगी। किसी अनुदार हिन्दू पण्डित ने बीच में ऐसी कारसाजी की होगी। क्योंकि महाभारत की कथांशमात्र, गीता, ने डंके की चोट से अपनी उदारता की घोषणा कर रक्खी है कि—"श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् । स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥" दुःख है कि आजकल के धर्मवादी अपने धर्म की श्रेष्ठता इसीमें समझते हैं कि भोले-भाले लोगों को उनके पैत्रिक धर्म से विमुख किया जाय। किसी धर्म की शोभा उसके सदनुष्ठान से हो सकती है न कि ऐसे मनुष्यों की संख्या बढ़ाने से जो उसके मर्म को नहीं समझते या नहीं समझ सकते।

जैनधर्म में विरोध-मूलक इस किम्वदन्ती "हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम् ।" का उल्लेख करके लिखा है कि "यह उक्ति आबाल-गोपाल प्रसिद्ध है। भारत के एक कोने से दूसरे कोने तक इसका प्रचार देखा जाता है।" वास्तव में हिन्दुओं की ओर से यह लोकोक्ति प्रचलित हुई है अवश्य। मेरी समझ में उन दिनों जैनमन्दिरों में बड़े-बड़े सिद्ध महात्मा तान्त्रिक विद्वान् रहा करते थे। उनके धर्मोपदेश का प्रभाव लोगों पर अबाध रूप से पड़ा करता था। यही वजह है कि जैनमन्दिरों में जाने की मनाही कुछ हिन्दू पण्डितों ने बड़े विकट रूप से कर रक्खी थी। पर, वह जमाना अब बहुत दूर चला गया। अब इस उक्ति को जैन-साहित्य में स्थायी रूप देकर पारस्परिक द्रोहभाव जागरित कर रखना मेरे जानते समुचित नहीं है।

जैन जनता की अपेक्षा हिन्दू-जनता के हाथों में इसका पहुंचना बहुत आवश्यक है। पर इसका मूल्य ।||) द्विगुण मालूम होता है। अतः प्रकाशक मण्डल से मेरा अनुरोध है कि

इसके मूल्य में कमी अधिक कर दी जाय, जिससे धर्मजिज्ञासु जनता इसे आसानी से खरीद सके। यों तो पुस्तक के अन्त में अशुद्धियों का एक शुद्धिपत्र भी लगा दिया है, पर इसके अतिरिक्त भी कई अशुद्धियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। १९२७ ई० की छपी हुई इस पुस्तक के आज १५ वर्ष गुजर गये। हिन्दी की लेखनशैली उत्तरोत्तर निखरती जा रही है। ऐसी दशा में इस पुस्तक की हिन्दी कुछ पुरातनता लिये हुई सी नजर आती है।

जैनधर्म, जैनसाहित्य भारत के लिये एक गौरव की वस्तु हैं। इसकी अवहेलना करना भारत की अमूल्य निधि खोने के सामान है। जैनधर्म को बौद्धधर्म का अंग मानने का अपराध अजैनों की अपेक्षा जैनों के माथे डालना उचित प्रतीत होगा। क्योंकि अजैनों के समक्ष उन दिनों बौद्धसाहित्य प्रकाशरूप में आया। उन बेचारों ने जैनधर्म की दो चार पुस्तकें छपी देख एवं दोनों धर्मों को अहिंसा-मूलक समझ कर बौद्ध धर्म का अंग जैनधर्म को मान लिया, तो इसमें उनका दोष ही क्या है? अब भी तो अनेक जैनग्रन्थ-रत्न दीमकों की खुराक बन रहे हैं—उनका मुद्रित होना अखर्व असम्यक्त्वि मसला हो रहा है। अतः आशा है कि जैन-विद्वान् इस ओर ध्यान देंगे। बल्कि उक्त पुस्तक के लेखक ने भी इसका दिग्दर्शन कराया है।

—हरनाथ द्विवेदी, काव्य-पुराण-तीर्थ

जैनधर्म में दैव और पुरुषार्थ—लेखक—ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी; प्रकाशक—मूलचन्द किसनदास कापडिया, मालिक, दि० जैन पुस्तकालय, सूरत; मूल्य—बारह आने; पृ० १६७; वीर सं० २४६८।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखक ब्रह्मचारी शीतलप्रसादजी हैं। आपने इसमें दैव और पुरुषार्थ का स्वरूप आधुनिक ढंग से समझाया है। पूर्वीय और पश्चिमीय दोनों मतों की समीक्षा करते हुए तुलनात्मक दृष्टि से दैव की विवेचना की है। और धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन चारों पुरुषार्थों का स्वरूप बतलाते हुए इनका सेवन कैसे करना चाहिए आदि बातों पर विशेष रूप से जोर दिया है। वर्णनशैली आधुनिक ढंग की और रोचक है। परन्तु भाषा परिमार्जित नहीं है। फिर भी इसके अध्ययन से जैनधर्म के कर्मसिद्धान्त का ज्ञान अच्छी तरह से हो सकता है। इसमें गोम्मटसार (कर्मकाण्ड) संबंधी बन्ध, उदय, सत्व आदि का वर्णन बड़ी सरल रीति से किया गया है। आगे गुणस्थान का स्वरूप और गृहस्थ-धर्म का वर्णन संक्षेप में बड़ी उत्तमता से किया है। ब्रह्मचारीजी की सजीव लेखनी से लिखी गयी यह पुस्तक स्वाध्याय प्रेमियों के लिए बड़े काम की है। इसकी छपाई और सफाई साधारण है।

प्रूफ-संशोधन में कहीं-कहीं त्रुटियाँ रह गई हैं। अतः आगामी संस्करण में इन सब बातों पर ध्यान देना चाहिए।

पुस्तक सरल और उपयोगी है। प्रत्येक गृहस्थ को मंगाकर पढ़नी चाहिए।

तत्त्वार्थसूत्र जैनागम समन्वय—समन्वयकर्ता—साहित्यरत्न जैनधर्मदिवाकर, उपाध्याय मुनि श्री आत्मारामजी महाराज; प्रकाशिका—श्रीमती रत्नदेवी जैन, लुधियाना; भाषा संस्कृत और प्राकृत; पृष्ठ ४+१०+२+३+४+१६+८६४+२१; सन् १९४१।

उपाध्यायजी का यह प्रयत्न प्रशंसनीय है। आपने तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों के साथ जो आगमसूत्रों का समन्वय किया है वह तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करनेवालों के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। वास्तव में आज ऐसी सामग्री की अत्यन्त आवश्यकता है। जैन-समाज में तत्त्वार्थसूत्र का स्थान बहुत ऊँचा है। इस एक ही ग्रन्थ के अध्ययन से जैनधर्म का पर्याप्त ज्ञान हो सकता है। इसीलिए तत्त्वज्ञानसंबंधी संस्कृत-रचना में सबसे ऊँचा स्थान इसी ग्रन्थ को प्राप्त है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों की समानता जिन-जिन आगम सूत्रों में पाई जाती है, उन सभी आगमसूत्रों का आवश्यक अंश उन-उन सूत्रों के नीचे उद्धृत कर दिया गया है। आगमसूत्रों की तत्त्वार्थसूत्र के सूत्रों के साथ कहीं-कहीं पर अक्षरशः समानता पायी जाती है और कहीं-कहीं पर अर्थशः। जिन सूत्रों के समन्वय में कमी प्रतीत होती है, उन सूत्रों के आगम पाठ परिशिष्ट नं० १ व २ में दिये गये हैं। आशा है, आगामी संस्करण में परिशिष्ट के आगमपाठों को सूत्रों के ही साथ में दे दिया जायगा। इससे पाठकों को अधिक लाभ होगा। आपने जो परिशिष्ट नं० ३ दिया है वह भी बड़ा महत्त्वपूर्ण है। आपने इसमें दिगम्बर और श्वेताम्बर सूत्रों का पाठभेद भी दिखलाया है। इससे अन्वेषक विद्वानों को तो लाभ होगा ही, साथ ही साथ साधारण पाठकों को भी दोनों सम्प्रदायों की मान्यता का भेद ज्ञात हो जायगा। अगर उपाध्यायजी प्राचीन दि० जैन ग्रन्थों के साथ भी इसका समन्वय दिखलाते, तो यह चीज और उत्तम बन जाती।

यह गुटका प्रत्येक स्वाध्यायप्रेमी को अपने पास रखना चाहिये। इसका यह संस्करण सर्वांग सुन्दर है। यह गुटका जैसा बहिरंग में चित्ताकर्षक है वैसा ही अंतरंग में भी।

—नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ

प्रशस्ति-संग्रह

पं० के० भुजबली शास्त्री

६ प्राकृतव्याकरण । यह ग्रन्थ हमें अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। यशस्तिलकटीका में एक जगह उन्होंने अपने लिए यह विशेषण भी दिया है—"प्राकृतव्याकरणाद्यनेकशास्त्र-रचनाचञ्चुना" इससे और षट्पाहुडटीका में जो जगह-जगह प्राकृतव्याकरण के सूत्र दिये हैं, उनसे भी मालूम होता है कि इनका बनाया हुआ कोई प्राकृतव्याकरण अवश्य है। इस ग्रन्थ का पता लगाने की बहुत आवश्यकता है।

इनके सिवाय तर्कदीपक, विक्रमप्रबन्ध, श्रुतस्कन्धावतार, आशाधरकृत पूजाप्रबन्ध की टीका, बृहत्कथाकोश आदि और भी कई ग्रन्थ इनके बनाये हुए कहे जाते हैं।

इन्होंने अपने किसी भी ग्रन्थ में अपने समय का उल्लेख नहीं किया है; परन्तु यह प्रायः निश्चित है कि ये विक्रम की १६ वीं शताब्दि में हुए हैं। क्योंकि—

१—ऊपर जिस महाभिषेकटीका की प्रति का उल्लेख किया गया है, वह वि० सं० १५८२ की लिखी हुई है और वह भट्टारक मल्लिभूषण के उत्तराधिकारी लक्ष्मीचंद्र के शिष्य ब्रह्मचारी ज्ञानसागर के पढ़ने के लिए दान की गई है और इन लक्ष्मीचन्द्र का उल्लेख श्रुतसागर ने स्वयं अपनी टीकाओं में कई जगह किया है।

२—आराधनाकथाकोश के कर्त्ता ब्र० नेमिदत्त वि० १५७५ के लगभग हुए हैं और वे श्रुतसागर के गुरुभ्राता मल्लिषेण के शिष्य थे।

३—स्वर्गीय बाबा दुलीचन्द जी के सं० १९५४ के बनाए हुए हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची में श्रुतसागर का समय वि० संवत् १५५० लिखा हुआ है।

४—षट्प्राभृतटीका में जगह-जगह लोंकागच्छ पर तीव्र आक्रमण किये गये हैं और श्वेताम्बरसम्प्रदाय में से यह मूर्तिपूजा का विरोधी पन्थ वि० संवत् १५०८ के लगभग स्थापित हुआ है। अतएव श्रुतसागर का समय इसकी स्थापना से अधिक नहीं तो चालीस-पचास वर्ष पीछे अवश्य मानना चाहिये।

---

(५३) ग्रन्थ नं० ७६/क

पार्श्वपुराण

कर्त्ता—सकलकीर्त्ति

विषय—पुराण

भाषा—संस्कृत

लम्बाई १३ इञ्च चौडाई ७ इञ्च पत्रसंख्या ९६

प्रारम्भिक भाग—

नमः श्रीपार्श्वनाथाय विश्वविघ्नौघनाशिने ।
त्रिजगत्स्वामिने मूर्द्ध्ना ह्यनंतमहिमात्मने ॥१॥
जित्वा महोपसर्गान्यो ज्योतिर्देवकृतान्भुवि ।
स्ववीर्यं केवलं व्यक्तं चक्रे चेडे तमद्भुतम् ॥२॥
यन्नामस्मृतिमात्रेण विघ्नाः कार्यविनाशिनः ।
विलीयन्तेऽखिला नृणां सुमंत्रेण विषाणि वा ॥३॥
अरयो दुर्निवारा हि त्यक्त्वा वैरं व्रजन्त्यहो ।
बन्धुभावं सतां नूनं यन्नामजपनेन हि ॥४॥
क्षुद्रा देवा दुराचाराः पीडयन्ति न जातुचित् ।
चाहिसिंहादयोऽहोयच्छरणान्वितचेतसाम् ॥५॥
असाध्या दुष्करा रोगाः सर्वे यान्ति क्षणात्क्षयम् ।
यन्नामभेषजेनाऽपि तमांसि भानुना यथा ॥६॥
यद्ध्यानेन प्रणश्यन्त्यत्रानन्ताः कर्मराशयः ।
यद्यतो परविघ्नादिनाशे को विस्मयः सताम् ॥७॥
इत्यादि महिमोपेतं जगन्नाथं जगद्गुरुम् ।
तं श्रीपार्श्वं स्तुवे वंदे प्रारब्धविघ्नशान्तये ॥८॥
दिव्यवाक्किरणैरादौ रागद्वेषं तमश्चयम् ।
उच्छिद्य संप्रकाश्योच्चैर्मोक्षमार्गं सतां चयम् ॥९॥

× × ×

मध्य भाग (पूर्व पृष्ठ ४८, पंक्ति १)—

नमः श्रीमुक्तिकान्ताय काममल्लविनाशिने ।
श्रीपार्श्वस्वामिने सिद्ध्यै जगद्भर्त्रे चिदात्मने ॥१॥
दिग्भिः सार्द्धं नभोऽप्यासीन्निर्मलं जिनजन्मतः ।
अम्लानकुसुमैश्चक्रुः पुष्पवृष्टिं सुरद्रुमाः ॥२॥
अनाहता महाध्वाना दधतुर्दिविजानकाः ।
ववौ तदा मरुन्मन्दं सुगंधिः शिशिरः स्वयम् ॥३॥
अभूद्घंटारवोऽतीव गम्भीरो निर्जरान्प्रति ।
वदतीव जिनेन्द्रस्य जन्म नाकालये स्वयम् ॥४॥
आसनानि सुरेशानामकस्मात्प्रचकम्पिरे ।
देवानुच्चासनेभ्योऽधः पातयन्तीव भक्तये ॥५॥
शिरांसि प्रचलन्मौलिमणीनि प्रणतिं दधुः ।
कुर्वन्तीव नमस्कारं भक्त्या तीर्थेशपादयोः ॥६॥
दृष्ट्वेत्यादिमहाश्चर्यं ज्ञात्वा तीर्थेशजन्म ते ।
कल्पेशावधिज्ञानाज्जन्मस्नाने मतिं दधुः ॥७॥

× × ×

अन्तिम भाग—

न कीर्त्तिपूजादिसुलाभलोभान्न वा कवित्वाद्यभिमानतोऽयम् ।
ग्रन्थः कृतः किन्तु परार्थबुद्ध्या स्वस्यापरेषाञ्च हिताय नूनम् ॥९२॥
अक्षरस्वरसुसंधिसुमात्रादिच्युतं यदपि किञ्चिदपीह ।
ज्ञानहीनचलचित्तप्रमादात्तच्क्षमस्व जिनवाणि समस्तम् ॥९३॥
अवगमजलधिश्रीपार्श्वनाथस्य दिव्यं
सकलविशदकीर्त्तेः प्रादुरासीन्मुनीन्द्रात् ।
यदिह वरचरित्रं तद्धि दक्षैः ननंतु (?) [दक्षाः स्मरन्तु]
यतिसुजन(सु)सेव्यं जैनधर्मोऽस्ति यावत् ॥९४॥
सर्वे तीर्थकरा महातिशयिनः सिद्धार्हकर्मातिगाः
दिव्याद्यद्भुतसद्गुणाश्च सहिताः श्रीसाधवश्च त्रिधा ।
शुक्लध्यानसुयोगसाधनपरा विद्याम्बुधेः पारगाः
ये ते विश्वगुणाकराश्च शिवदं कुर्वन्तु मे मङ्गलम् ॥९५॥

विश्वार्च्या विश्ववन्द्याः सकलवृषधरा मुक्तिकान्ताप्रसक्ताः
हन्तारः कर्मशत्रून्सुगुणजलधयो ज्ञानरूपेण नित्यम् ।
आराध्या भव्यलोकैरगतिसुखकरास्तीर्थनाथाश्च सिद्धाः
ये तेऽनन्ता मुनीन्द्राः शुभसुखसदनं मङ्गलं वः प्रदद्युः ॥९६॥
जिनवररुचिमूलो ज्ञानसत्पीठबन्धः
सकलचरणशाखो दानपात्रप्रसूनः ।
शिवसुखफलनम्रो धर्मकल्पद्रुमो वः
सुशिव(सु)फलकामैः सेव्यमेवेष्टसिद्ध्यै ॥९७॥
धर्मो विश्वसमीहितार्थजनको धर्मं व्यधुर्धार्मिकाः ।
धर्मेणाशु शिवं भजन्ति मुनयो धर्माय मुक्त्यै नमः ।
धर्मान्नास्त्यपरोऽखिलार्थसुखदा धर्मस्य मूलं सुदृग्
धर्मे चित्तमहं दधेऽन्तकमुखाद्धे धर्म रक्षाशु माम् ॥९८॥
सर्वे श्रीजिनपुङ्गवाश्च विमलाः सिद्धा अमूर्त्ता विदः
विश्वार्च्या गुरवो जिनेन्द्रमुखजाः सिद्धान्तधर्मादयः ।
कर्त्तारो जिनशासनस्य सहिताः संवन्दिता संश्रुताः
ये ते मेऽत्र दिशन्तु मुक्तिजनके शुद्धिश्च रत्नत्रये ॥९९॥
पञ्चादशाधिकान्येवाष्टविंशतिशतान्यपि ।
श्लोकसंख्याऽस्य विज्ञेया सर्वग्रन्थस्य लेखकैः ॥१००॥

इति श्रीपार्श्वनाथचरित्रे भट्टारकश्रीसकलकीर्त्तिविरचिते श्रीपार्श्वनाथमोक्षगमनो नाम त्रयोविंशतितमः सर्गः समाप्तः ।

ज्ञानभूषण भट्टारक विक्रम की १६ वीं शताब्दी में हुए हैं। ज्ञानभूषण भुवनकीर्ति के पट्ट पर, भुवनकीर्ति सकलकीर्ति के पट्ट पर और सकलकीर्ति पद्मनन्दी के पट्ट पर बैठे थे। १६ वीं शताब्दी के बने एवं लिखे हुए बहुत से ग्रन्थों में इस पट्टावली का उल्लेख पाया जाता है। इससे सहज ही में पद्मनन्दी के पट्ट पर प्रतिष्ठित होनेवाले तथा भुवनकीर्ति के गुरु सकलकीर्ति भट्टारक का समय विक्रम की १५ वीं शताब्दी अनुमान किया जाता है। बल्कि डॉ० विन्टरनिट्ज का कहना है कि यह सकलकीर्ति लगभग ई० सन् १४६४ में स्वर्गासीन हुए थे।*

'ज्ञानार्णव' की प्रशस्ति में इन्हीं सकलकीर्ति भट्टारक के संबंध में लिखा है कि इन्होंने

* See 'A History of Indian Literature,' Page 592.

अपनी लीलामात्र से शास्त्रसमुद्र को भले प्रकार बढ़ाया है।* 'प्रश्नोत्तररत्नमाला' में सकलभूषण ने इन्हें 'पुराणमुख्योत्तमशास्त्रकारी' विशेषण के साथ स्मरण किया है। जिनदास ब्रह्मचारी ने अपने 'पद्मपुराण' और 'हरिवंशपुराण' में इनका 'महाकवित्वादि-कलाप्रवीणः' ऐसा विशेषण दिया है। 'पाण्डवपुराण' में शुभचन्द्र भट्टारक ने इनकी प्रशंसा में यह वाक्य कहा है—'कीर्तिः कृता येन च मर्त्यलोके शास्त्रार्थकर्त्री सकला पवित्रा।' इसी प्रकार और भी बहुत से विद्वानों ने इनके महान् ग्रन्थकार होने का उल्लेख किया है। इससे ऐसा अनुमान किया जाता है कि जैन-समाज में सकलकीर्ति के नाम से जो बहुत से ग्रन्थ प्रचलित हैं और जिनपर उनके बनने का संवत् आदि नहीं दिया है उनका अधिकांश भाग इन्हीं सकलकीर्ति भट्टारक का बनाया हुआ है। १९ वीं शताब्दी में सकलकीर्ति भट्टारक नाम के दूसरे भी एक विद्वान् हुए हैं। परन्तु वे इतने अधिक प्रसिद्ध नहीं थे।†

कामराजकृत 'जयपुराण' की प्रशस्ति में सकलकीर्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित वाक्य दिये हैं:—

आचार्यः कुन्दकुन्दाख्यस्तस्मादनुक्रमादभूत्।
स सकलकीर्तियोगीशो ज्ञानी भट्टारकेश्वरः॥२॥
येनोद्धृतो गतो धर्मो गुर्जरे वाग्वरादिके।
निर्ग्रन्थेन कवित्वादिगुणानेवार्हता पुरा॥३॥
तस्माद्भुवनकीर्तिः श्रीज्ञानभूषणयोगिराट्।
विजयकीर्तयोऽभूवन् भट्टारकपदेशिनः॥४॥

इनसे मालूम होता है कि इन्हीं सकलकीर्ति भट्टारक ने, जिनके पट्ट पर क्रमशः भुवनकीर्ति और ज्ञानभूषण बैठे थे, गुजरात और वागड़ आदि देशों में जैनधर्म का प्रचार किया है।‡ 'दिगम्बर जैनग्रन्थकर्त्ता और उनके ग्रन्थ' इस ग्रन्थतालिका में भट्टारक सकलकीर्ति के निम्नलिखित ग्रन्थों के नाम उपलब्ध होते हैं—

सिद्धान्तसार, तत्त्वार्थसारदीपक, सारचतुर्विंशतिका, धर्मप्रश्नोत्तर, मूलाचारप्रदीपक, प्रश्नोत्तरश्रावकाचार, यत्याचार, सद्भाषितावली, आदिपुराण, उत्तरपुराण, धर्मनाथपुराण, शान्तिनाथपुराण, मल्लिनाथपुराण, पार्श्वनाथपुराण, वर्धमानपुराण, सिद्धान्तमुक्तावली, कर्मविपाक, देवसेनकृत तत्त्वार्थसारटीका, धन्यकुमारचरित्र, जम्बूस्वामिचरित्र, श्रीपाल-चरित्र, गजसुकुमालचरित्र, सुदर्शनचरित्र, यशोधरचरित्र, अष्टाह्निकासर्वतोभद्र, उपदेशरत्न-माला, सुकुमालचरित्र।

इनमें से प्रश्नोत्तरश्रावकाचार आदि कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।

* भट्टारकपदारूढः सकलाद्यन्तकीर्तिभाक्। येन शास्त्राम्बुधिः सम्यग् वर्धितो निजलीलया॥१४॥

† देखें—'जैनहितैषी' भाग ११, अंक १२ ‡ देखें—'जैनहितैषी' भाग १२, पृष्ठ ९०–९१

(५४) ग्रन्थ नं० ७८/क

कातंत्रविस्तर

कर्त्ता—वर्द्धमान

विषय—व्याकरण

भाषा—संस्कृत

लम्बाई ११। इञ्च　　चौड़ाई ७ इञ्च　　पत्रसंख्या २५०

प्रारम्भिक भाग—

जिनेश्वरं नमस्कृत्य गौतमं तदनन्तरम्।
सुगमः क्रियतेऽस्माभिरयं कातन्त्रविस्तरः ॥
अभियोगपराः पूर्वं भाषायां यद्बभाषिरे।
प्रायेण तदिहास्माभिः परित्यक्तं न किञ्चन ॥

सिद्धो वर्णसमाम्नायः। सकललोकप्रसिद्धः प्रसिद्धसंज्ञासहित इह शास्त्रे वर्णसमाम्नायो वेदितव्यः। वर्णाः अकारादयः। तेषां समाम्नायः पाठक्रमः। तत्र चतुर्दशादौ स्वराः। तत्र सिद्धवर्णसमाम्नाये आदौ चतुर्दश वर्णाः स्वरसंज्ञा भवन्ति। अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ। लृवर्णस्य स्वरसंज्ञया किं प्रयोजनं।† योऽपि लृकारं पठति लृच्छादय इत्यादि। स्वरप्रदेशाः। स्वरोऽवर्णवर्जो नामि इत्येवमादयः। दश समानाः। तस्मिन् वर्णसमाम्नायविषये आदौ दश वर्णाः समानसंज्ञा भवन्ति। अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ। लृवर्णस्य समानसंज्ञया किं प्रयोजनं। गम इत्याख्यादजीगमदित्यादौ सन्वद्भावो न भवति। समानप्रदेशाः। समानः सवर्णे दीर्घीभवति परश्चलोपम् इत्येवमादयः। तेषां द्वौ द्वावन्योऽन्यस्य सवर्णौ। तेषामेव दशानां समानानां मध्ये यौ यौ द्वौ द्वौ वर्णौ तावन्योन्यस्य सवर्णसंज्ञौ भवतः। अआ इई उऊ ऋॠ ऌॡ। द्वयोर्ह्रस्वयोर्दीर्घयोश्चान्वर्थबलाद्व्यतिक्रमे च तेषां ग्रहणस्य क्रमविवक्षार्थत्वात्सवर्णसंज्ञा सिद्धेति। लृवर्णस्य सवर्णसंज्ञया किं प्रयोजनं। शक्लृकार इति लत्वं न भवति। सवर्णप्रदेशाः। समानः सवर्णे दीर्घीभवति परश्च लोपम् इत्यादयः। ऋकारलृकारौ च। अन्योन्यस्य सवर्णसंज्ञौ भवतः।

× × × ×

†—'विरामे वा' अनेन सूत्रेण पदान्तो मकारोऽनुस्वारमापद्यते।

मध्य भाग—(पूर्व पृष्ठ १२६, पंक्ति १०)

नाम्नां समासो युक्तार्थः। नाम्नो च नामानि च (?) नाम्नां समुदायो युक्तार्थः समास-संज्ञो भवति। यदि वा युक्तश्चासावर्थश्चेति शब्दोऽपि तथार्थाभिधानाद् युक्तार्थः। संज्ञेति युक्तार्थस्तु नरसिंहवदखण्डः तदभिधायिवाक्याद्भिन्नः। समासराशिः सिद्धः। तस्यालोप्या दिभिर्विभक्तिलोपविधानादर्थाद्वाक्यमेव वा समासीभवति। नीलोत्पलं। पञ्चगुः। कष्टश्रितः। चित्रगुः। देवदत्तयज्ञदत्तौ। उपकुंभं। स पुनः समासः कश्चिन्नित्यः। कृष्णसर्पः। लोहित-शालिः। ब्राह्मणार्थापूपाः। सप्तर्षयः। क्वचिद्विकल्पः। राज्ञः पुरुषः। राजपुरुषः। क्वचिन्न-भवति। दीर्घश्चारायणः। रामो जामदग्न्यः। व्यासः पाराशर्यः। अर्जुनः कार्तवीर्यः। नाम्नामिति किं। कार्याणासमासान्तासमीपयोरिति (?)णत्वविकल्पो न स्यात्। युक्तार्थ इति किं। पश्य कष्टं श्रितश्चैत्रो राजकुलं। औद्धस्य [ऋद्धस्य] विशिष्टस्यापत्यमित्यत्रार्थे विशिष्टापत्य-मिति न स्यात्।

× × × ×

अन्तिम भाग —

स्वार्थे अण्। तदन्तादिप्रत्ययः। स्वागतादीनां वृद्धिप्रतिषेधौ न भवतः। शोभनमागतं तदाह स्वागतिकः। सुष्टु अध्वरः स्वध्वरः। तेन चरति स्वाध्वरिकः। शोभनानि तान्यंगानि यस्य स्वांगस्तस्यापत्यं स्वांगिकः। एवं व्यांगिः। व्याडिरिति केचित्। व्याडस्यापत्यं व्याडिः। विगतोऽवहारो विशेषेण वावहारः। तेन चरति व्यावहारिकः। व्यायामिकः। स्वागतः। स्वध्वरा। स्वंगा। व्यंगा। व्याडः। व्यवहारः। व्यायामः। स्वादेरिति श्वन्शब्दस्येकारादौ तद्धिते वृद्धिरागमो न भवति। श्वभस्त्रस्यापत्यं श्वाभस्त्रिः। श्वाशीर्षिः। शुनां गणस्थेन चरति श्वागणिकः। श्वायूथिकः। आदिग्रहणात्केवलस्य निषेधः। श्वभिश्चरति शौविकः। इकारादाविति किं। शौवादंष्ट्रो मणिः। इणश्चादेः। इण्प्रत्ययान्तस्य सणे तद्धिते वृद्धिरागमो न भवति। श्वाभस्त्रेरिदं श्वाभस्त्रकं। श्वाकर्णेरिदं श्वाकर्णकं। अणि लुप्तेऽपि तत्कृतः प्रतिषेधो भवत्येवेति। अनर्थकमेतदिति चांद्राः। पदस्यानीति वा। श्वशब्दादेः पदशब्दस्यानिकारादौ वा वृद्धिर्न भवति। शुनः पदं श्वपदं। तस्येदमित्यण्। शौनपदं। श्वपदं। अनिनीति किं। श्वपदेन चरति श्वापदिकः। श्वन्शब्दस्य द्वारादिपाठात् तत्र तदादिविधेर्ज्ञापितत्वान्नित्यं प्राप्ते विकल्पो विधीयते। न्यंकोश्च। सणे तद्धिते वृद्धिरागमो वा भवति। न्यंकोरिदं न्यांकवं।

इति श्रीमत्कर्णदेवोपाध्यायश्रीवर्द्धमानविरचिते कातन्त्रविस्तरे तद्धिते

दशमप्रकरणं समाप्तम्।

इस 'कातन्त्रविस्तर' के मूल सूत्र के रचयिता शर्ववर्मा हैं। वे मूल सूत्र कातन्त्र, कौमार एवं कलाप के नाम से प्रसिद्ध हैं। कातन्त्र में संस्कृत व्याकरण का विषय ऐसे सुन्दर ढंग से गुंफित किया गया है जो अधिक विस्तृत न अधिक संक्षिप्त ही कहा जा सकता है। साथ ही साथ सरल भी है। हाँ, इसमें कुछ त्रुटियाँ भी हैं। स्त्रीप्रत्यय, तद्धित आदि कुछ प्रत्ययों की मुष्टिमेयता एवं सार्वधातु-असार्वधातु का पार्थक्य आदि ही ये त्रुटियाँ हैं। फिर भी मध्यमरूप से व्याकरण की शिक्षा पाने के लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उत्तम है। और और प्रान्तों की अपेक्षा बंगाल में इसका अधिक प्रचार है। इसके प्रणेता शर्ववर्मा जैन थे या जैनेतर यह अभी विवादग्रस्त है। महाकवि सोमदेव भट्ट-रचित कथा 'सरित्सागर' में इस ग्रन्थ की उत्पत्ति की एक कथा मिलती है। उससे इसके निर्माता शर्ववर्मा अजैन सिद्ध होते हैं। किन्तु दिगंबराचार्य भावसेन त्रैविद्यदेव अपनी 'रूपमाला' नामक टीका में कातन्त्र को जैनग्रन्थ घोषित करते हैं। बल्कि 'कातन्त्रविस्तर' और 'रूपमाला' नामक दिगम्बरीय टीकाओं के अतिरिक्त कातन्त्र पर श्वेताम्बरों की भी कई टीकायें उपलब्ध होती हैं।† अस्तु, कातन्त्र के रचयिता के संबंध में विशेष खोज करने की आवश्यकता है।

उपर्युक्त 'कातन्त्रविस्तर' के रचयिता वर्द्धमानजी हैं। 'भवन' की यह प्रति अपूर्ण है, इसलिये आपकी गुरुपरम्परा आदि का कुछ भी पता नहीं लगता। प्रस्तुत प्रति मूड़बिद्री जैनमठ के ग्रन्थ-भाण्डार में वर्तमान एक तालपत्रीय प्रति की नकल है। वहाँ की वह प्रति भी अधूरी है। स्वर्गीय बा० पूरणचन्द्रजी नाहर ने 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' भाग २, किरण १ में प्रकाशित 'धार्मिक उदारता' शीर्षक अपने एक लेख में वर्द्धमानजी को श्वेतांबर लिखा है। ज्ञात नहीं होता है कि आपके इस कथन का आधार क्या है। क्योंकि 'जैन-साहित्यनो इतिहास' एवं 'जैनग्रन्थावली' आदि में इस बात का कुछ भी संकेत नहीं मिलता है। बल्कि नाहरजी ने उक्त लेख में इन्हें सूरी (आचार्य) के रूप में उल्लेख किया है। पर 'कातन्त्रविस्तर' की इस प्रति में उपलब्ध किसी भी प्रकरण के अन्त में वर्द्धमान इस नाम के साथ 'सूरी' शब्द नहीं मिलता है। हाँ, 'कर्णदेवोपाध्याय' यह विशेषण अवश्य मिलता है। पता नहीं लगता है कि वर्द्धमानजी के द्वारा प्रतिपादित यह कर्णदेव कौन हैं। इन सब बातों को हल करने के लिये ग्रन्थ की अन्तिम प्रशस्ति अत्यधिक अपेक्षणीय है। आशा है कि किसी ग्रन्थालय में 'कातन्त्रविस्तर' की पूर्ण प्रति हो, वहाँ के उदार विद्वान् उस प्रशस्ति की अविकल नकल हमारे पास भेजने की कृपा अवश्य करेंगे।

---

† देखें—'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' भाग २, किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. VIII JUNE, 1942. No. I.

Edited by
Prof. Hiralal Jaina, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt
Babu Kamta Prasad Jaina, M. R. A S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription
Inland Rs. 3, Foreign 4s, 8*d*, Single Copy Rs. 1-8

CONTENTS.

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "

Vol. VIII No. I | ARRAH (INDIA) | June, 1942

SOME OF THE LATEST INSTITUTIONS AND JOURNALS AND THEIR WORK IN THE FIELD OF PRĀKRIT STUDIES, ETC. [1]

By

Dr. A. N. Upadhye

It may look strange, but it is a fact that though the material was available on the Indian soil, the credit of the pioneer work of assessing its value and interpreting its significance to the modern world goes to Western scholars, especially the great savants working in the Indological departments of European Universities. Many of them were inspired by a zeal for learning and scientific study quite characteristic of the last century. For decades together the march of Sanskrit and Prākrit studies was led by German scholars of great repute. They have given excellent methods to us, and they are like ideals to us to inspire us by their patient labour, scruitinising system, methodical thoroughness and maturity of judgment. Our

1. This forms a portion of the Address delivered by Prof. A. N. Upadhye, as the President of the Prākrit, Pāli, Ardhamāgadhi (Jainism and Buddhism) Section of the Eleventh All-India Oriental Conference, Hyderabad, December 1941.

traditional methods require rejuvination in the light of the progress of Oriental studies in the West At present we are passing through a transitional period. The old generation of veteran Indologists is fast disappearing in the Western Universities ; the materialistic forces let loose under the auspices of nationalistic madness are destroying whatever little good was there in the Western Civilization and Culture; the younger generation has not got that mental quiet; and there is such an all round obsession due to the cataclysms in domestic affairs that hereafter the attention of Western scholars towards Indian studies is sure to disappear gradually. In India, on the other hand, there is national awakening everywhere; and many scholars are devoting their time to the study of different branches of Indology. I have the highest respect for all that the Western savants have done for Indian studies. But we too have to be alive to our duties towards our ancestors who have left to posterity the great heritage of literature. Our ancient centres of learning like Nālandā and Takṣaśilā did attract students from abroad. That reputation has to be recovered once more. It is in the fitness of things that Sanskrit and Prākrit studies have to be carried on by Indian scholars at the front. Our ancient ideals must be pursued according to modern methods What is needed is strenuous and methodical labour coupled with earnest devotion and singleness of purpose. The sons of that land that produced Pāṇini and Hemacandra need not be despondent : only they have to put forth skilled and organised work as the time requires to-day. In later years some new Institutions have come into existence ; and their arms and activities, so far as they are connected with this section, might be reviewed here.

The Deccan College Post-graduate and Research Institute has been started under the auspices of the Government of Bombay. Remembering the great traditions of Sanskrit learning associated with the Deccan College, the zeal with which this Institute has been started and that it has been founded in a prominent educational centre like Poona, there are reasons to hope that it would soon establish itself as a research centre of an all-India repute with its eminent Professors leading the front of Indological studies in various

lines. The departments, so far opened, do testify to a comprehensive outlook; but one fails to understand how the Bombay Government and its advisers omitted to assign a chair for Prākritic languages along with those of Linguistics and Sanskrit. It is a gap that is detrimental to an all-sided study of Indian literature and comes like a reversal of the long-standing and well-planned policy of the Government of Bombay. For decades together valuable Prākrit Mss. were collected by the Bombay Government, and now they are deposited in the Bhandarkar O. R. Institute. This is one of the richest treasures of Prākrit Mss. Important Prākrit texts were edited by Pandit and others and published in the Bombay Sanskrit and Prākrit Series. Valuable Reports were compiled by Peterson, Bhandarkar and others; and they were published directly or indirectly under the Government patronage. After collecting such valuable material and doing so much spade-work, the Government and its advisers should have assigned a separate Department for Prākrit studies. Still it is not too late to fill this gap The Bulletin of the Institute (Vol. I) contains the following papers connected with this section. H. D Sankalia: Jaina Yakṣas and Yakṣiṇīs and the so-called Buddhist Images from the Baroda State; S. M. Katre: The roots of the Pāli Dhātupāṭhas; M. A. Mehendale: Ṭakki or Ḍhakki; R. D. Laddu: The Prākrit stanzas in the Kavīndracandrodaya. Some of the papers connected with Prākritic languages testify to the fact that there is much unworked material in Prākrits and that consequently there is a need of a special department for Prākrits.

Vīrasevāmandira of Sarsawa (Dt. Saharanpur) is an academic enterprise of Pt. Jugalkishore to start a centre for research in Jaina literature We have in him a first-rate living authority on various problems connected with Jaina literary chronology. Under his editorship the Mandira issues a Hindī monthly which has published a good deal of valuable material in the last two years Pt. Jugalkishore has discussed many important topics: The relative age of Kundakunda and Yativṛṣabha (II, 3 ff.); Earlier glosses on the Bhagavatī Ārādhanā (II, 57 ff); Pūjyapāda and his works (II, 400 ff; 443 ff.); Tattvārthasūtra of Prabhācandra (III. 394 ff, 433 ff.); and Piṅgala of Rājamalla (IV. 245 ff., 303 ff.). Pt. Paramananda is

doing very useful work, and some of his contributions have brought important facts to light; some of his important articles are: Kundakunda and Mūlācāra (II 222 ff. 319 ff); Bhagavatī Ārādhanā and Vijayodayā (II. 371 ff., 437 ff.); Pañcasaṁgraha, Gommaṭasāra and the Karmaprakṛti (III. 256 ff., 279 ff., 378 ff, 537 ff.); Siddhasena's indebtedness to the Sarvārthasidhi (III, 629 ff.); and on the seeds of the Tattvārthasūtra (IV. 17 ff.). Pt. Mahendrakumar has discussed the date of Prabhācandra (II. 61 ff., 215 ff, IV. 124 ff.) and has brought to light the Ms. of Sātyaśāsanaparīkṣā of Vidyānanda (III. 660 ff.). Mr. Agarchand Nahta is doing useful work on the Mss. from Rajputana, and he has written on the following topics. Various works on the life of Śrīpāla (II. 155 ff., 428 ff); Digambaras and Śvetāmbaras (II. 543 ff.); and Padmasundara and his works (IV 470 ff). The discussions of Pt. Jugalkishore (II. 485 ff., 685 ff.); Pt. Dipachanda Pandya (II. 611 ff.) and Pt. Premi (II 665 ff.) have fully brought to light not only a complete Ms. of Jagatsundarīyogamālā, a medico-tantric text in Prākrit, but also a good deal of information about it and its relation with Joṇīpāhuḍa. An informative article of Muni Chaturavijayaji on Bhadrabāhu is translated into Hindī (III 678 ff.). Pt. Premi in some of his articles has brought new facts to light and in others supplemented his earlier discussion: Researches into Yāpanīya literature (III 59 ff.); Āśādhara (III 669 ff, 695 ff.), Śrīcandra and Prabhācandra (IV. 82); and Mahākavi Puṣpadanta (IV. 403 ff.) Whether Akalaṅka is indebted to the Tattvārtha-bhāṣya has been discussed with much fervour by Prof. Jagadishchandra, Pt. Jugalkishore and others (III. 304 ff., 623 ff., 666 ff., 728 ff.). When the sentiments ebb away, the facts will clearly stand out; and the dispassionate student would be able to pick them up in their proper perspective after some time. Prof. Hiralal has given his observations on the Pañcasaṁgraha and the Karmaprakṛti (III 409 ff., 636 ff)

The Bhāratīya Vidyā Bhavana, Bombay, owes its existence to the academic zeal of Sri K. M. Munshi and the liberal patronage of Sheth Goenka. It aims to be an association which will organise active centres where ancient Āryan learning is studied and where modern Indian culture is provided with a historical back-ground.

Through the munificence of different donors, the Institution is equipped with various departments; and we are glad to note that besides Sanskrit and Comparative Philology, a department of Prākrit languages also has been organised. We may entertain legitimate hopes that the Institution will be a guiding centre for the study of Sanskrit and Prākrit philology and the history of Prākrit literature for which rich material lies neglected in the Bhaṇḍāras of Western India. In the near future it should be possible for this Institute to equip the departments of Philology, Prākritic languages and Jainism with ready accessories in the form of select topical bibliographies, card indexes for journals and books, critical summaries of important papers in magazines etc., so that the Institute might become an useful bureau of information for Oriental scholars, working in these subjects, all over the world. Thus the need of a central organisation for co-ordinating the results of research-workers, so far as Jainism and Prākrits are concerned, might be partly fulfilled.

This Institute has started a Series for the publication of works, the first volume of which is the Visuddhimagga edited in Devanāgarī characters in a nice form by Śrī Dharmananda Kosambi by whose labours this edition occupies a distinct place among the Pāli texts. Further it conducts two journals: one half-yearly in English and the other, a quarterly in Hindī-Gujarāti In the last two volumes of the English Journals we have the following contributions connected with this section. A. S. Gopani: Characteristics of Jainism (I. 168 ff.); Ājīvika sect, a new Interpretation (II. 201 ff, III 47 ff.); and Riṣṭasamuccaya (being published as a supplement). Jinavijayaji: Kuvalayamālā (II 77 ff., 211 ff.). S M. Katre: New Approach to the Study of Middle and Modern Indo-Aryan (I. 135 ff) and Some Problems of Historical Linguistics in Indo-Aryan (II 220 ff.). Kosambi: On the Life of Buddhaghoṣa (I. 113 ff). P. T. Raju: Nāgārjuna's Conception of the Śūnya (II. 43 ff.). V. S. Sukthankar: The position of Linguistic Studies in India (II 23 ff). A N. Upadhye: Gommaṭa (II 48 ff), Vālmīkisūtra, a Myth (II 160 ff.) and Siricimdhakavvam of Kṛṣṇalīlāśuka (III. 61 ff) In the Hindī-Gujarāti quarterly we may note the following articles. Bechardas: Etymology of some Sanskrit and Prākrit Words (I 381 ff.). M. D.

Desai: A Jaina Gurvāvalī in old-Gujarati prose written in Saṁvat 1482 (I. 133 ff.) Jinavijayaji: The Royal saint Kumārapāla (I 221 ff.). M. C. Modi: Svayambhū and Tribhuvana Svayambhū, the two Apabhraṁśa poets (I. 157 ff., 253 ff.). S. M. Nawab: Old Jaina Images from Gujarāt (I. 179 ff.). Sukhalalaji: Pramāṇamīmāṁsā of Hemacandra (I. 9 ff.). The latest number gives two important supplements: Bharateśvara-Bāhubali Rāsa, the earliest Gujarāti poem and the first forme of Abdul Rahman's Saṁdeśa Rāsaka in Apabhraṁśa, both of which are ably edited by Śrī Jinavijayajī

The Jaina Vidyā Bhavana is lately founded at Lahore 'with the object of creating a centre of Jaina studies.' A comprehensive programme is chalked out for advancing Jaina studies which are 'quite indispensable for a full understanding of India's past. The programme includes the 'reconstruction of a comprehensive history of Jainism' which, as far as I know, has not been undertaken by any Institution. Of this there is an urgent need; and the Bhavana can co-operate with Bhāratīya Itihāsa Pariṣad, Benares, in completing the 3rd volume of the National History of India planned by the latter. The first number of the Jaina Vidyā the Anglo-Hindī Quarterly of the Bhavana, contains some important articles. A. M. Ghatage: The title Mūlasūtra. M D Desai: Some Farmans granted by Akbar to the Jainas. P. K. Gode: The date of Nāṭyadarpaṇa, between A. D. 1150 - 1170 Becharadas: The various Names of Mahāvīra (in Hindī). With the co-operation of Motilal Banarasidas and Mehrachand Lacchmandas it should be possible for this Journal to publish an up-to-date list of published Jaina works month to month.

The Jaina Research Society, Delhi, and C. P. Berar Jaina Research Institute, Yeotmal, are some of the latest institutions; but as yet we are not fully acquainted with the work carried on by them.

I have referred to the activities of some of the latest Institutions so far as they come under this section. The rise of the Institutions is quite in tune with the spirit of the time. Further it is necessary

that every one of these institutions in consultation and co-operation with others, old as well as new, should see that there is no duplication of work and no waste of labour. Specialisation, so far as it is practicable, is necessary on the part of these institutions so that all of them together contribute to the advancement of knowledge in different branches of Indology. Luckily much work has been done in the fields of Pâli and Buddhism. But in contrast to the wealth of material and the problems that face us in Prâkritic and Jaina studies the number of serious workers in the field has been unfortunately very small.

DOES UDAYANA REFER TO JŌINDU ?

Dr. V. Raghvan, Madras.

On page 57 of his Introduction to the Paramātmaprakāśa of Yogīndu, edited by him as No. 10 of the Rāyachandra Jaina Śāstramālā, Dr. A. N. Upadhye says about the name of the author that Jōindu or Jogīndu or Yogīndu is the correct name of the author and that, by a mistake, the Sanskrit form Yogīndra had become popular.

On pp. 63–67, ibid., Dr. Upadhye discusses the date of Jōindu and concludes that the date falls between those of the Samādhiśataka and the Prākṛta Lakṣaṇa. Since Jōindu " closely follows Samādhiśataka of Pūjyapāda " and since " Pūjyapāda lived a bit earlier than the last quarter of the 5th cent. A. D.", the upper limit of the date of Jōindu can be taken as the last quarter of the 5th cent. A. D. The lower limit is furnished by Caṇḍa one of whose illustrative dōhās in his Prākṛta Lakṣaṇa happens to be from Jōindu's Paramātmaprakāśa. Dr. Upadhye notes some want of settlement on the question of Caṇḍa's text and date and says in conclusion that the revised form (of Caṇḍa's work) can be tentatively placed about 700 A. D.

In view of the difficulties relating to this lower limit evidence, i.e., Caṇḍa's Prākṛta Lakṣaṇa, I may add here a note on what I take to be a reference to Jōindu by an author of known date. If we leave Caṇḍa, the next limit suggested by Dr. Upadhye is Devasena who finished his Darśanasāra in A. D. 933. This evidence rests on the similarities of some verses of Devasena and Jōindu. If, on the other hand, there is a definite mention of the writer, it would be a more conclusive evidence. Such a mention, I think, is available.

Udayanācārya wrote his Lakṣaṇāvali in A. D. 984. In his Ātmatattvaviveka, Chowk. Skt. Series, 1940, p. 430, we read the following :—

" 'वेदविद्वेषिदर्शनान्तःपातिपुरुषप्रणीतत्वात्'
इति मा शङ्किष्ठाः, जिनेन्द्रजगदिन्दुप्रणीतेष्वप्यादरात् ।"

I think the name *Jagadindu* in the above passage is a slight corruption of Jōindu or Yōgīndu.

If this suggestion is acceptable, Udayana's date will give a definite lower limit and will clearly prove the untenability of any later dates proposed for Jōindu. (See Dr. Upadhye's Foot-note on p. 67 of the Intro. on the date proposed by Mr. M. C. Modi).

MAGIC & MIRACLE IN JAINA LITERATURE

By

Kalipada Mitra, M.A., B.L.

(*Continued from Vol. VII No. II, page 88.*)

Cowell and Rouse translate *Vāruṇī* as "one possessst." Rhys Davids compares Maddī with a Vāruṇī woman who used to prophesy under the professed influence (āveśa) of god Varuṇa. The P T. S. dictionary gives the following meanings of Vāruṇī: an intoxicated woman; female fortune-teller, J. VI. 500; *devatā-bhūta-paviṭṭhā, yakkha-dāsī viya gahitā, ikkhaṇikā viya.* The *Siṅgālovāda- uttanta* (D.N. xxxi) has '*akkh-itthiyo Vāruṇī.*" The Pali Commentary has: *yakkhāviṭṭhā ikkhaṇā* The P. T S dictionary explains *yakkha-dāsī* as "a female temple-slave" or perhaps possessed by a demon (? J vi. 501 (v. i), *BB. devatā-paviṭṭhā*, cf. 586). In the *Āvaśyakasūtra* we read (Part I. p 219): *Itthī puriso vā jakkhāiṭṭho pīyamajjo vā jāto kāyavikkhevakiriyāto daṃsei sā viḍaṃbanā.* In the *Upamiti* we read of magic contrivances to ward off diseases, which among others consist of asking questions, summoning *yoginis* etc., (*avatāritāh praśnāh abhyarthitāh yoginyah* .)

It seems that the female temple-servant (*devaaāsī*) was sometimes used as a medium for communicating oracular answers by causing her to be possessed by some god or spirit, so that she also became a *devadarśinī* or seeress. This practice (as well as similar practices, *e.g. Kumārīpañha*, or obtaining oracular answers from a girl supposed to be possessed by a spirit, *D.* I. 11 = *D.A.* i. 197) was of course condemned by the Buddha, but it had such a fascination for the people, that we may conjecture that it was nevertheless practised, though sometimes clandestinely.

In Vātsyāyana's *Kāmasūtra* 4. 1. 9 the wife is warned against associating with an *īkṣaṇikā* or a fortune-teller. The Commentator explains *īkṣaṇikā* as *vipraśnikā*; *īkṣaṇikā* is derived from the verb

īkṣ to see, *vipraśnikā*, from *pracch*, to ask. One who has to tell another's fortune pretends to see the future, and in this sense may be an ***īkṣaṇikā***, but what has she to do with questioning so as to be *vipraśnikā*? Evidently in order to be able to tell the future, she pretends to ask some spirit-possessed person her questions and to get answers, as interpreted in the Jaina commentary mentioned above.

There is reference to this science of questioning in Jaina literature, known as *pasiṇavijjā*, e.g , in the *Thāṇāṅgasutta*, 10, and *pasiṇā-pasiṇa* in *Pravacanasāroddhara* 2, and *Bṛhatkalpabhāṣya*, etc. By means of a magic spell a deity or a spirit was invoked, and it was compelled to appear either in dream or trance, and then was caused to give oracular answers, to say why such and such a thing happened, how a particular calamity was to be averted, whether a particular undertaking was to be fruitful or fruitless etc. In the *addāapasiṇa* a deity was caused to appear in a mirror and was asked questions. Even it was believed that the particular disease which attacked a person could be made to be reflected in a mirror (*addāavijjā* in *Vavahārasutta*) and be asked to leave the patient. This shows that the disease was regarded as an evil spirit and could be exorcised—an idea which has persisted since the time of the Atharva-veda. People believed that deities appeared in dreams and announced future events, *e.g.* in *Pārśvanātha* (Bloomfield, p. 179) the parrot who had become a god visited a person in a dream and told him that he would die at the end of seven days, or warned people against their transgressions (see *Samarāiccakahā*, p. 292: *tao sumiṇayammi coiyā ahaṃ bhayavaie*). They could also be compelled by means of magic to appear in dreams or trance to answer their questions. Portents from *ruya* or sounds of birds and animals, *nimittas* etc. I propose to treat separately under the heading "Dreams and Omens."

Sakka came to the lying-in room and told the mother of Tīrthaṅkara Ṛṣabha that he had come to celebrate his birth. By magic he put them all to sleep (*osoyaṇim dalai*), made an image of Tīrthaṅkara which he placed by the side of the mother and created five Sakkas...and transported the babe to the Mandara hill. He does the same thing in the case of Tīrthaṅkaras Supārśvanātha and

Pārśvanātha.[21] Harinegameṣī while transferring the foetus of Mahāvīra from the womb of Devānaṃdā to that of Triśalā puts Devānaṃdā and her attendants to magic sleep (*Devānaṃdāe saparivanāe osoyaniṃ dalei*). Draupadī is in this way put to sleep in *Nāyādhammakahā*[22] by a god and abducted to King Paumanābha's Asoka park in Amarakaṅkā, his capital. *Osayaṇi* or *osāvaṇiyā* is *avasvāpanī* or *avasvāpanīkā* (from root, *svap*, to sleep) or sleeping charm. We find reference to it in *Pariśiṣṭaparvan*, 2,173, and to *avaśvāpinī* in Rauhiṇeya Carita 14, *viz.*

> *kathayitvā khaned garttaṃ dattvāvasvāpinīmapi* |
> *yāti jāgarayitvā so'kalanīyaś ca duhsahah* ||

Prabhava, the bandit son of Vindhya, King of Jaypur, and the Chief of the gang of robbers had two spells, *viz.* (1) *avasvāpaṇikā* for casting all asleep, and (2) *tālodghāṭinī* for opening locks. He could put even walking persons to sleep, but *avasvāpaṇikā*, " this aristocratic spell, had no effect on Jambu ",[23] for he was a *bhāvayāti*, about to renounce the world. When the robbers entered the room of Jambu, he warned them not to touch one of his sleeping wives. Prabhava asked him to be his friend and give him the spells of *stambhanī* and *mokṣaṇī* in exchange for his two spells.[24] In *Supāsanāha*. (p. 221) a thief stole without being seen. The king caused him to be brought to his presence by means of his *Ceṭaka* spell. He asked the thief ;

> *kaham na musanto dīsasi sa bhaṇai osoyaṇie vijjāe* |
> *sovāvīṇa loyaṃ musemi sicchāe gharasāyaṃ* || 378 ||

21. *Supāsanāhacaria*, p. 47,

Iya thoūṇ jiṇajaṇaṇiṃ avasovaṇidānapuvvayaṃ Sakko |
Thabiūṇaṃ veyuvvīyajiṇapaḍirūvaṃ jaṇaṇipāse ||

Pārśvanātha (Bloomfield) p. 233 . Sakka (Indra) casts *osovoniyā* in 5. 85 and takes it away in 5. 113.

22. *Op. cit.* p. 214 ; dovatīye osāvaniyam dalayi...dovatiṃ devīṃ giṇhai...

23. Stevenson—*Heart of Jainism*, p. 69.

24. *Pari.* Canto II Sls. 171—184.

In the *Divyāvadāna* (story of Makandika) the seraglio was thus put to sleep (*antahpurasya āsvāpanam datvā*).[25]

In the story of Bandhudatta, narrated in the life of *Pārśvanātha* (p. 75) we read that a thief frightened by a Muni's exposition resorted to asceticism, under the instruction of his *guru.* Out of regard for him the teacher had bestowed on him the sciences (*vidyā*) of going through the air and of opening locks, with the proviso, unless he preserved purity of life and avoided lies he would lose them. But in case he did lie from carelessness, he was to stand in the water up to his navel and with arms held upward recite the *vidyās* 1008 times. He jocosely told a lie and did not perform the expiation for this lie. He committed theft by night, and was seized by the guards, whereupon the *ākāśagāminī vidyā* left him[26]. The same story is told in *Samarāiccakahā*, p. 230. In the *Nāyādhammakahā* (p. 237), Cilāe, the leader of the gang of robbers intending to loot the house of merchant Dhanna and especially to seize his daughter Suṃsumā for himself, comes by night to the eastern gate of Rāyagiha, recites (*āvāhei*) the *tālugghaḍāṇivijjāṃ*, sprinkles water[27] on the gate and opens it. It has been claimed for each one of the 44 verses of the *Bhaktāmarastotra* of Mānatuṅga, that if repeated it could break open a locked door[28].

The *stambhanī* (*thambha*, or *thambhaṇa*, *thambhaṇī*) *vidyā* has the effect of stunning or making one motionless[29] and *mokṣaṇī* of dissolving the spell, bringing about release. There is mention of *jambhaṇī vidyā* in *Sūyagaḍaṃga* (2. 2. 15) and *Paumacaria* (7, 144),

25. cf. the *Telapatta-jātaka*.

26. cf. for *Tāludghāṭinī vidyā Parśvanātha*, 8. 158, and *Vasudevahiṃdi.*

27. Water had magic property. cf. Harṣa's *Priyadarśikā* (p. 88, Nariman and Jackson) for use of water before reciting a charm and for beginning incantation to counteract the effect of poison taken by the heroine

28. Stevenson, *op. cit*, p. 80.

29. *Sūyagaḍaṃga*, 2. 2. 15 ; *Supā*, 493, 599 ; *Nāyā*. 1. 16. *Kumāraprati* p. 1 ; 5, " to joginā pautta iṃtassa thambhaṇi vijjā ; p. 405, devie thambio dhanio... thambhovva thiro nipphaṃda loyano ; p. 469.

which apparently had paralysing effect. Probably it caused people to yawn (*Vijṛmbh*). Lava paralyses the army through the aid of the *jṛmbhaka* weapons.

The magical power of flying through the air was well known. It was condemned by the Buddha as *uttarimanussadhamma* [30]. The Jaina saint Pādalipta acquired the magical power of flying through the air by applying medicinal ingredients to his feet, and daily performed pilgrimage of the five sacred places including Śatruñjaya (Palitana and Girnar or Ratnagiri [31]. A story is related in *Pari* how Vajra obtained the lore of flying through the air. Some Jṛmbhaka gods, in order to test the character of Vajra, who was destined to be a monk, produced by magic an encampment, made out a laager of carts (*maṇḍalakṛtaśakaṭaṃ*), spread out goods for sale, stabled horses, bulls and camels etc., and invited the Ācārya to get alms from them. He sent Vajra for the purpose; the latter returned as imperceptible rain-drops were still falling. The gods caused the rain to cease entirely, and Vajra went out to collect alms, but perceiving that the things given were out of season, and the donors' eyes did not twinkle nor did their feet touch the earth (*dātaropyanimeṣākṣā abhūspṛkcaraṇā iti*) he concluded that they were gods, from whom the Jaina monks were forbidden to take alms. The gods revealed themselves to him, and, satisfied with him for his correct conduct, gave him the *Vaikriya* spell (*vaikṛiyi labdhyākhyāṃ vidyāṃ*). He was tested again and rewarded with the

---

30. *C. V.*, V. 8. 2. The Buddha reprimanded Piṇḍola Bhāradvāja for flying through the air (*vehāsam abbhugantvā*) thrice round Rājagaha; "*katham hi nāma tvaṃ Bhāradvāja chavassa dārupattasa kāraṇā gihīnaṃ uttarimanussadhammaṃ iddhipāṭihāriyaṃ dassessasi.*" Sariputta and Moggallana flew through the air. Āyasmā Sāgata (M. V., v. 1. 5-8) and Āyasmā *Pilindavaccha* (M. V. vi. 15. 8-9) showed *uttari iddhi.*

31. Jhaveri—Pâdaliptasuri's *Nirvāṇa-kalikā*. Intro p. xi, quoted by C. J. Shah—*Jainism in North India* p. 190. See also Stevenson, *op. cit.*, footnote 1 to p 78; and Tawney's *Kathākośa* p. 95

ākāśagāminī spell [32]. The Vidyādharas had this faculty of going through the air [33]. Prince Jayadratha obtained from goddess Vairoṭyā two pills (*guṭike*), the one of which thrown into the mouth gave him the power of flying through the air, and the other, the power of assuming the desired form [34].

It is related in *Pari* that once a dreadful famine in Northern India caused immense distress and the monks could not get alms. Vajra created by magic " a large carpet on which he bade all the monks stand. The carpet flew up in the air with the Samgha assembled on it " (p. 325, *paṭaṃ vicakre vipulaṃ cakrabhṛccarmaratnavat*). The carpet landed them in Puri. The king of Puri was a Buddhist and so were some of the inhabitants, but the majority were Jainas. At one time the king forbade selling flowers to Jainas, whereupon Vajra went through the air to the garden of Hutāśana and then to the Himalaya and Padmahrada, and thereafter returned with Śrīdevī's lotus and twenty lakhs of flowers from the park of Hutaśana to Puri The miracles induced the Buddhist king and his subjects to adopt the Jaina faith [35].

It is said that Vajra possessed the *padānusṛti vidyā* since his birth (*janma-samsiddhipadānusṛti-labdhinā*). Jacobi says that it is derived

---

32. *Pari.* Canto XII, Sls. 140-60 pp. 307-9 ; Sls. 280-91, 307-309, for his magical powers ; also the *Āyāraṅga.* Dr Jacobi remarks that the possession of magic spells appears to be attributed to Vajra in the legends because the sign of the Vajra is made use of by the professors of the occult art in *Pari.* p. 74.

33. *Samarāicca.* p. 339, *nahagāminī* or *nahaṅgana gāminī vijjā* ; pp. 413. 414 *gayaṇagāminī vijjā* ; *Kupra.* p. 126, " *sāhiyāo gayaṇagāmiṇippamuhāyo vijjāo.*" See also *Paumacaria,* 7, 144, " *āgāsagamā* ;" Ovavāiya, " *āgāsāivāi* " *vijjā* ; *Surasundarīcaria,* 13, 186, *nahagamā*, 3, 28, *nahagāminī vijjā.*

34. *Kupra* pp. 361, 362, *nabhogamanasām arthyaṃ* :

Kariṣyati mukhekṣiptā tavaikā vyomagāmitāṃ I
dvitīyā tvīpsitaṃ rūpamityuktvā devatā yayau II

35 *Pari* Canto XII. Sls. 375-88 ; also Stevenson, op. cit. p. 78. She observes : The more enlightened Jainas say that this carpet really represents some modern notion of locomotion (steam engine, motorcar, or aeroplane), the secret of whose construction Vajra had anticipated.

from Prakrit *payānusārī* which may be either *padānusārin* or *padānusmārin.* Vajra remembered every word that he had heard (*Pari.* XII-161) To remember a word that one has heard before is nothing extraordinary, but to trace a word which has never been heard before must be due to magic power In *Samarā.* Dharaṇa became a *padānusāri* (p. 407, *payānusāri saṃvutto*). Once he observed a Vidyādhara named Hemakuṇḍala trying in vain to fly up into the air, as he had lost the faculty of flying, since he had forgotten one word of his spell. Dharaṇa made him recite the spell, and discovered for him that missing word (p. 414, *paṭhiyā vijjā* .. *laddhaṃ payaṃ Dharaṇeṇa*) Dharaṇa never knew or heard the spell before, so it is not a case of remembering, but the mysterious faculty of divining one or many unuttered or unheard of words on hearing one word [36].

Pādalipta applied medicinal ingredients to his feet to enable him to fly through the air. We read in *Pari* of a Brahmanical ascetic of the Tāpasa sect who used to anoint his feet with a magical unguent to enable him to walk on the water as if it were dry land. In this way he visited the town to the astonishment of the people[37]. He bragged of the superiority of his religion and abused Jainism. Āryaśamita discovered that the Tāpasa had no real power, and wanted to show him up as an impostor. On his advice a rich Śrāvaka invited the Tāpasa to a sumptuous dinner, and washed his feet and sandals in such a fashion that no atom of the magical ointment was left on them. The Tāpasa became sad, yet he hoped that some ointment might still cling to them. After dinner he attempted to walk on the river but sank down, and was ridiculed by the crowd. Āryaśamita bade the banks of the river meet and stepped on the opposite shore. The miracle produced so great an impression on the Tāpasas that they became Jaina monks. Even without the application of unguents saints were said to have walked the waves. The Buddha and the Christ walked the waves.

36. *Ova., Bṛha,* 1, *Paṇha,* 21.

37. Canto XII, Sl. 69-99 :
Vidhya pādalepaṃ ca pāduke paridhāya ca |
jalepi sthalavat pādam vinyasya sañcacra sa ||

The *Vaikriya* spell was given to Vajra by the Jṛmbhaka gods. *Vikurva* (Pr. *Viuvva*) means to 'make by magic'. Devas and *Vyantara* gods by their own divine power could assume several forms. In the *Uvāsagadasāo*, Kāmadevajjhayanaṃ, a god assumes the forms of a *piśāca*, an elephant, a serpent and a *deva* to frighten Kāmadeva [38]. In the Āvaśyakasūtra, a deva, in order to test Vāsudeva, assumes the form of a black dog (*Kālasuṇagarūvaṃ viuvvai*). In the *Upamiti* a *vyaṃtara* god named Kālajña assumes the form of Mugdha (Kṛtamanena devaśaktyātmano *vaikriyaṃ* Mugdharūpaṃ goes to Akuṭilā, Mugdha's wife, with whom he has fallen in love and leads her to a plantain bower; meanwhile Kālajña's wife, Vicakṣaṇā who has fallen in love with Mugdha, assumes the form of Akuṭilā and leads him to the same bower. Mugdha thought that by the grace of sylvan deities he and his wife had been doubled [39]. In the life of Pārśvanātha there are many such references [40]. In Pāli literature we come across such instances, *e.g.*, Indra's assuming forms in the Illīsajātaka, Sivijātaka etc.

But forms could be assumed or changed by means of magic spells, or ointments etc. A yogī gives Prince Maṇicuḍa the science of changing forms (*rūvaparivattinī vijjā*).[41]

In *Supā* the Vidyādevī pleased with the valour of Prince Guṇarāja gives him the power of assuming any form he likes [42]

In the *Kathākośa* is related the story of Sumitra who entered a seven-storied palace in a deserted city and saw two female camels. In the window there were two vessels, in the one there was white

---

38. Eye māyī micchādiṭṭhi maham pisāyarūvaṃ, divvaṃ hatthirūvaṃ, sapparūvaṃ, devarūvaṃ, viuvvai.

39. *Upamiti*, pp. 244-245, bhagavatīnāṃ vanadevatānāṃ prasādādeva dviguṇo' ham sampanno devī ca.

40. Pārśvanātha, 1, 601, thief producing by magic a big rock ; 2. 352, assuming the form of lion, 2. 411, producing an excellent vimāna, etc.

41. *Kupra*. p. 126 ; also p. 244, ' dinno garuḍa manto rūvaparivattinī tahā vijjā" ; and p. 336 : " ato rūpaparāvartavidyāmādaya me priyaṃ."

42. *Supā*. p. 151, kāmiyarūvadharatteṇa taṃ ca tuha hou maha vayaṇā ||82||

collyrium, in the other black. In the same place there was a collyrium pencil for the eyes. Guessing that the white collyrium had turned them into camels, he applied the black collyrium to their eyes when they became two girls of unexampled loveliness.[43] In the second story of the *Pañcadaṇḍachhatraprabandha* a cat was found with eyes smeared with white ointment (*añjana*); when black ointment was applied she turned into a lovely princess Ṛṣidattā received from her father knowledge of herbs, one of which she put in her ear and became man, and at a suitable moment recovered her womanly form by means of another herb.[44] In *Kupra* a parivrājikā says that she has two herbs, by one of which a woman becomes a man, and by the other a man becomes a woman.[45]

Stories are related of magic places or pools reputed to possess metamorphic virtue. "In a wood on the Ganges there lived a couple of monkeys who loved each other tenderly. Once the male monkey jumped carelessly, fell down and died, but rose at once as a man, such was the holiness of the place. His spouse followed his example and became a girl of great beauty. The man hoping to become a god by repeating the experiment, jumped again but was changed into a monkey".[46]

We read of the magic power of making oneself or others invisible. Sanatkumāra received from his friend Manoharadatta a magic shawl which rendered the wearer invisible.[47] Robber Caṇḍarudra had a magic pill named *paradiṭṭi-mohanī*; if rubbed with water and applied to one's eyes, like collyrium, it would make him

43. Tawney—*Kathākośa*, p. 130.

44. *Kathākośa*, p. 110.

45. *Kupra.* p. 239.

Atthi maha osahi dugam gurudinnaṃ tattha nimmie tilae I

Ekāe thīpuriso bīyāe so havai itthī. II

46. Pari. p. 26, II, 407 ff ; for parallels see Bloomfield's Pārśvanātha p. 127. *Parable of the monkey pair who became human, and other citations.*

47. *Samarāiccakahā*, p. 329, nayana-mohanābhihāṇaṃ padarayaṇaṃ.

invisible, even to the thousand-eyed Indra.[48] King Hariṣeṇa received from abbot Viśvabhūti the secret of preparing a collyrium which had the property of making one invisible; with this he made his daughter Ṛṣidattā invisible[49]. When for twelve years a famine lasted, Ācarya Susthita, who lived in Candragupta's capital, sent away his *gaṇa* to some other country. Two young pupils came back. They suffered from hunger unable to bear which they learnt the science of making themselves invisible by rubbing their eyes with a miraculous ointment. They then went to the palace, sat by the side of the king, and ate from his plate. Cāṇakya however discovered them.[50] This device of making oneself invisible and then taking away the food is called *cūrṇayoga*, and comes under *utpīdanadoṣa* in the *Uttarādhyayanasūtra* (Lect. 24) where the faults of monks' seeking food have been enumerated, some of which are *vidyāpiṇḍa* (conjuring a god to get alms), *yogapiṇḍa* (teaching people spells, tricks etc.), *mūlakarman* (averting evils by roots, charms etc.), and *mantradoṣa*. In *Kupra* Abhayasiṃha obtains from his mother, who has become a Vyaṃtarī, a spell that renders one invisible (*paḍhiyasiddham adissīkaraṇamantaṃ*) and escapes the city-guard by being invisible[51] Mention is also made of it in *Supā*,[52] *Sūyagadaṃ*.[53] (antaddhāṇiṃ), etc. There is an abundant reference to it in Sanskrit literature. Celestial nymphs used the *tiraskariṇī vidyā* [54] when on earth. A magic ring renders a hero invisible to all but his beloved.[55] In *Mṛcchakaṭika* a magical ointment named *yogarocanā* renders one

48. *Ibid*, p. 423, ... paradiṭṭhimohanī nāma coraguliyā; tie udayasamjoeṇa añjiehim nayaṇehiṃ sahassaloyaṇo devāhīvo na pecchai ..

49. Tawney. Kathākośa, p 103.

50. *Pari.*– pp. 60, 61. Canto VIII Sls. 377-413, *adṛśyatva*-kārakaṃ divyamañjanaṃ.

51. Kupra. pp. 37 - 39.

52. *Supā*, pp. 454—55.

53. *Sūya* 2. 2. 15.

54. *Vikramorvaśī* by G. Vaidya, pp. 24, 28, 30, 52, 53, Urvaśī and Śakuntalā become invisible. See S. B. E., Vol. XLIV, p. 70.

55. *Avimāraka*, Act, IV; also *Śakuntalā*, Act VI.

invisible and invulnerable.[56] In Pali literature there is reference to this *vidyā*.[57]

In *Pārśvanātha* (pp 57, 58) an atmospheric crystal (*āgāsaphalihā, ākāsaphaṭikā, khaphaṭikā*) is reputed to have the virtue of making a thing invisible, also it could make anything into which it was fixed float in the air. When it was fixed to a throne by a king, it made it float in the air.

There are stories of inanimate statues or paintings on the walls suddenly becoming alive, doing something special and relapsing into *status quo*. When Bhīma ascended the seventh story of a palace, he was greeted by sweet sounds emitted by Śāla-wood statues which descended from their pedestals and conducted him to a golden throne.[58] In *Samarā* (p. 500) merchant Sāgara witnessed something strange. His wife had lost her necklace sometime ago; that day when he was in his picture-gallery (*citraśālā*, properly a room with frescoes on the wall), he saw a peacock stepping bodily out of the painting; after depositing the lost necklace the bird returned to its original place and form in the picture. When Nanda's dependent chiefs refused to obey him, he asked the armed guard to put the assembled chiefs to death, but they disobeyed him. Now there were two sentinels painted *al fresco* on the wall (*pratīhārau lepyamayau*). Into these pictures a goddess moved by Nanda's merits puts life, upon which the sentinels stepping out of the wall immediately put to death the disloyal chiefs.[59] Similarly in the *Kathāsaritsāgara* (130 ff.) Vikramāditya with a vetāla enters a temple and beholds there a dance before a *liṅga*, executed by singers and

56. *Mṛccha*. p. 74.

Anayā hi samālabdhaṃ na māṃ drakṣyanti rakṣinaḥ I

Śastraṃ ca patitaṃ gātre rūjam notpādayiṣyanti II

57. Cf. *Milindapañho* (ed. V. Trenckner, 1880) p. 199. Idha pana Mahārāja puriso *dibbaṃ antardhānaṃ* mūlam hatthe kareyya yāva tam mūlam tassa hatthagataṃ tāva na añño koci pakatimanusso tam purisaṃ passati...

58. *Pārśvanātha*, p. 52.

59. *Pari.* p. 46; Canto VI Sls. 244—52.

players. At the end of the spectacle the dancing nymphs disappear in the figures carved on the pillars of the temple, in the same way the singers and players go into the figures of men, painted on the walls[60].

By means of magic, charm, medicinal (and magic) powders and the art of maddening (lit. making the heart leap), making himself invisible, softening, bringing others under his influence and dependence the eunuch Piyaseṇa enjoyed many pleasures.[61] In *Nāyā* (pp. 186, 187), Poṭṭilā, who has lost the love of her husband is anxious to regain his affection, for which she tried some remedies, viz., *cuṇṇajoe vā mantajoe vā kammaṇajoye vā hiyauḍḍāvaṇe vā kāyauḍḍāvaṇe vā abhiogie vā vasīkaraṇe vā kouakamme vā bhūikamme vā mūle kande challī vallī siliyā vā guliyā vā osahe vā bhesajje vā ..*

Cuṇṇa is a mixture of powders for magically effecting *vaśīkaraṇa* (submission) etc. *Joga* is a powder employed to effect *vaśīkaraṇa* or making one mad.[62] When Ṛpudāraṇa is struck with a fist containing magical dust by Yogeśvara, the *tantravādī*, he became infatuated and his nature undwent a change.[63] *Kammaṇa* is the act of infatuating a person, overpowering one's senses, making one subject to one's will, distracting one etc, also poisonous charm or drug.[64] *Uḍḍāvaṇa* is attraction (of the mind and the body). *Ābhiyogiya* is *vaśikaraṇa* [65] *Siliyā* means herbs (*kirātatiktaprabhṛtikā, chireta,* commy. *Vivāga,* 23). *Guliyā* means pills.

---

60. *Pārśva,* p. 194.

61. *Vivāgasuyaṃ* (P. L. Vaidya's ed. 1935) para 54......bahūhi ya vijjāpayogehi ya mantacuṇṇehi ya hiyauḍḍāvaṇāhi ya nihṇavaṇehi ya paṇhavanehi ya vasīkaraṇehi ya ābhiyogehi ya abhiyogittā... (see notes and glossary).

62. *Surasundarī-caria,* 8, 201 ; *joga maimohakarī* sise khitto *imīna suttīna*. For a monk to obtain food (*jogapiṇḍa*) from a lay man by performing for him the service of *vaśīkaraṇa* etc., has been forbidden in *Uttarādhyayana* (*see ante*) ; and in *Paṃcāśakaprakaraṇa.* 13, and *Niśīthacūrṇī,* 13.

63. *Upamiti* p. 720 prahato' ham mukhe yoga cūrṇamuṣṭyā ...... tasminneva kṣaṇe saṃjāto me prakṛtiviparyaya ..mohitaśca tena yogaśaktyā.

64. *Samarā.* p. 108. sajjaghāyanam se kammaṇajogam pauañjami ; also p. 202 ; *Kupra.* p. 43.

65. *Paṃcāśaprakaraṇa*

Merchant Yaśodāsa, husband of Bandhusundarī, slighted her as she had no children, and fell in love with another woman, named Madirāvatī. When a *joga* (charm) was administered to him his love for Madirāvatī ceased and for Bandhusundarī returned.[66] In the commentary of Śīlaṅka to *Sūyagadaṅga* (2·2) a story is told of a Rājagṛha friar who acquired power from magic science, charm and herbs (*vidyāmantrauṣadhilabdhasāmarthya*). With the help of this he used to carry off beautiful women. The king at last killed him, and restored them to their relations. But one of them being still under the influence of the charm loved him and did not want to return to her own husband whereupon she was made to drink with milk the pounded bones of the friar. Thus the spell was dissolved, and her strange passion for him died away.[67] In the *Āvaśyakyacūrṇi* (Part I, p. 279) the following story is related:— At Sāvātthi lived a householder named Piudatta, his wife Siribhaddā used to give birth to still-born children. She was instructed by a soothsayer named Sivadatta to carefully wash her foetus, chop it very finely, and cook it with milk in a room with closed doors so that no one might know, and give the thing to an austere monk, in this way she would bear living sons unfailingly.[68] Gosāla in his round got this alms.

In *Upamiti*. King Karmapariṇāma gives some magical pills to Bhavitavayatā (p. 185, *sarvārthakāriṇya ekabhavavedyasaṃjñāh pradhānaguḍikāh*), and Vaiśvānara gives some magical pills called 'cruel thoughts' to Nandivardhana (p. 204, *Krūracittābhidhānāni vaṭakāni .. kurvanti dīrghataram cāyuṣkaṃ*). Goddess Vairoṭyā gave Jayadratha two pills (*guṭike*) which gave him the power of flying through the air and assuming any form he liked.[69]

---

66. *Samarā*. pp 676—78

67. Tatra caikā sīmantinī atyantamauṣadhibhirbhāvitā necchatyātmīyamapi bhartāram, tatastadvidhirabhihita uyathā ' syāh parivrāṭsakānyasthīni dugdhena saha saṃghṛṣya yadi dīyante tadeyam tadāgraham muñcati...

68. "Jo sutavassī tassa tam gabbham aṭīva pakkhāliūna sanhakhaṇḍāni kāūṇa pāyaseṇa saha paittā deha...evam thirāṇi puttabhaṃḍāni bhavessāti ..

69. *Kupra*, pp. 361—62.

Herbs had magic virtue. There grows in the Himalayas a wonderful herb which cures all wounds. A ring of this herb (*osahivalayakhandam*) was given by a Vidyādhara named Hemakuṇḍala to Dharaṇa. With this the latter cured a Śabara Chief who had killed a lion, but whose skull had been fractured in the contest On another occasion his caravan having been looted by a gang of Śabaras he escaped with his wife Lakṣmī and wandered about in the forest. She was exhausted with hunger and thirst and could not move. Unable to find water Dharaṇa drew blood from his arm, and cut a piece of flesh from his thigh and sustained his wife in this way. He healed the wounds with this miraculous herb.[70] In *Supā* a *cedaya god* is pleased with a prince, cures wounds by *saṃrohiṇī mantra* and gives him *gārudamantra*. In the *Supriyāvadāna* of *Divyāvadāna* mention is made of various kinds of potent *oṣadhi*, such as *Śaṅkhanābhi*, *mahāmakarī*, *amogha*, *sammohanī*, *sañjīvanī* etc.

The goddess of the wishing tree gave Sena a miraculous stone which cured all diseases. With this he cured king Samaraketu when all physicians failed.[71] A god gave Asokadatta a miraculous stone which would fulfil only one wish of its possessor. With its help he procured some mangoes out of season and satisfied the craving of Bandhumatī who had a longing (*dohala*) for them [72] Bhadda, the son of a merchant, gets from goddess Aśokā, the *cintāmaṇi* gem, which gives 500 *dinaras* daily.[73] It was the wishing jewel.[74] There is a reference to it in *Samarā* (p. 781). In *Upamiti* Ratnacuḍā gave Vimala a magic gem which equalled the cintāmaṇī in virtue.[75] In Pāli literature also we read of *maṇika-vijjā* and *cintāmaṇi* gem [76]. The *jalakanta* gem when thrown into the water

70. *Samara.* pp. 415—17, 423—27, mahosahim...(acinto himanimantosahīna pabhāvo...osahipahāvassa pubbarūvao...

71. *Samarā.* pp. 564—68 ; Sabbarogavisaniggh̤ayaṇasamattham āroggomaṇirayaṇam.

72. *Samarā* p. 478 Sī hi ihalokapadivadaham egadivase egappayoyanam .

73. *Kupra*, p. 88.

74. *Kummāputta*. *Sls.* 72 ff; cintāmaṇī maṇiṇam siromaṇī cintitatthakaro cintārayaṇam, also *Kupra*...p, 419.

75. *Upamiti.* p. 749.

76. *Jataka*, IV, 214, III, 504,

made it appear as dry ground.[77] In the *Divyāvadāna* (p. 119) mention is made of a gem which can disperse fears from a king, thief, fire, water, lion, tiger, *yakṣa, rakṣasa, preta, piśāca, kumbhāṇḍa, pūtanā, kaṭapūtana,* want of rain, famine, etc. The Ekāvalī in Bāṇa's *Harṣacarita* (Bk. VIII) had the magical power of protecting Harṣa against being poisoned and giving him success in undertaking.

From the time of the Atharvaveda, serpentlore (*sarpa-vidyā*), demonology (*devajanavidyā*), magic (*māyā*, or *asuravidyā*) etc seems to have been known, for in the *Śatapatha* (*kāṇḍa* 13, *adhyāya* 4, *Brāhmaṇa* 3) we find : " The *devajanavidyā* is the *Veda* ; this it is ; magic is the Veda, this it is " Disease was regarded as an evil spirit, hence a physician seems to have learnt *bhūyavijjā* or the science of warding off evil spirits, which is included in the *aṭṭhaṅgāuvveda* read by *vejje* Dhannantarī in *Vivāgasūyaṃ* (para 134). Of course there were special spirit doctors, or medicine-men. In *Milinda* p 23), we come across a *bhutavejja*, and in *Sumaṅgalavilāsinī* (p. 67) *bhūtavijjā*.

The doctor (*vejja-vijja*) had to learn *jaṅgola* or *jaṅgolī* (*Ṭhānaṅga* 8) *i.e.* the science of cure for poisons (*Vivāga* 1—7, Vaidya's ed. 134). It was also called *jaṅguli vidyā Tīrthakalpa*), and the professor of the *vidyā* was called *jaṅgulīya* (*Paumacariya*, 105, 57 ; Skt. *jāṅguli, jāṅgulika*, a poisoncharmer, a snake-doctor). In Sanskrit literature we find mention of the snake-goddess Jāguli devi. While inspecting the records preserved in the Record room of the Collector of Cuttack I came across grants of land made to the *mārfatdars* (*Sevaits*) of some *grāmadevatīs* of Orissa, among whom are mentioned Jāgulāi Ṭhākurānī, Buḍi Jāgulāi (*mārfatdar* Videhī, Pānigrāhi. Perg. Jajpur, vil. Sundarpur etc). She is probably the modern representative of Jāṅguli mentioned in the *Sādhanamālā* (G O. S., XLI, q. v.) In *Sumaṅgalavilāsinī* (p. 67) we get *visavijjā*.

A magician (*siddhaputto*) restores life to Sāgaradatta to whom his mother administered strong poison.[78] In *Kathākośa* there is a story of poisoning being cured by the drink of a solution of gold,[79] and of a charm which destroyed the effects of poison.[80]

---

77. *Kupra.* p. 209 ; *Kummāputtacaria*, sl. 70, where other gems such as *sūrakanta, masāragalla* etc. are mentioned.
78. *Samarā*. p. 153, 79. *Katha* pp. 118—19, 80. *Ibid*, p. 162.

Maheśvaradatta, a Kāpālika monk, gave a most powerful snakecharm to the shipwrecked merchant Dhana in gratitude for the help rendered to him previous to his conversion. With this Dhana cured the king's son, Sumaṅgala, who had been stung by a snake and could not be cured by any serpent doctors (*gāruḍio*) with their *mantas* or medicine.[81] In *Supā* (pp. 136—37) an elephant seeing the water of a lake blue with poison makes it poisonless by throwing in it the branch of a tree. Mention is made of an herb which can bring to life a person even if stung by Death itself (*kālaḍaṃsiāvi manne jīvaveuṃ samattho'ti*). A beggar (*kappaḍiya*) cures a boy who was bitten by a snake (p. 138) and was being conducted to the crematorium. Similarly a prince knows by the peculiar sound of a trumpet that a girl who was bitten by snake (and was alive) was going to be burnt. He revives her by *gāruḍamantra.*[82] In *Kupra* Prince Dīpaśikha likewise revives Līlāvatī.[83] There are many references to *sarpavidyā*, *gāḍurika* and *ahi-tuṇḍika* or *ahiguṇḍika* in Buddhistic literature (Pāli and Sanskrit).[84] An instance of sympathetic magic as a cure for snakebite is given in *Mālavikāgnimitra* (Act IV p. 104, *udakumbhavidhāna*). Bloomfield cites some references to poison being cured by charms, prayers, charmed water—*Kathākośai* p. 102, *Daśa* i p. 11, 149 etc. Jewel from serpents' head cures poison in *Campakaśreṣṭhikathānakaṃ* Hertel, *ZDMG*, LXV pp. 436, note 1 451. Ralston, *Tibetan Tales*, pp. 58 ff. Benfey, *Das Pañca.* vol. , pp. 518, 534, Steel and Temple, *Wide-awake Stories* pp. 417 ff.[85] The science of poison was well studied; and there was even a treatise called *viṣakanyā-lakṣaṇa* to find out whether a girl was a *viṣakanyā*. In Kauṭilya's *Arthaśāstra* the subject has been well treated.

Continued.

---

81. *Samarā*. pp. 215—17.

82. *Supa.* p. 217—19.

83. *Kupra.* p. 140 ; for *gāruḍamantra*, see also pp. 244, 248, 250. *Upadeśa-padaṭīkā*, 986 ; *Thānaṅga*, 9. Garuḍa was the enemy of snakes.

84. *Jātakas* ; *Sumaṅgalavilāsinī* p. 67, ahivijjiāti sappadaṭṭhatikicchanavijjā ceva sappavhāyana vijjā ca., *Divyāvadāna*.

85. *Pārśvanātha* pp. 187, 198.

A CONTEMPORARY MANUSCRIPT OF THE HASTASAÑJĪVANA-BHĀṢYA OF MEGHAVIJAYAGAṆI, BELONGING TO RAGHUNĀTHA MAHĀDEVA GHĀṬE— BETWEEN A. D 1680 AND 1700.

By

P. K Gode, M.A.

In a recent paper contributed by me to the *Bhāratīya Vidyā*,[1] Bombay, I tried to establish that Meghavijayagaṇi, the author of numerous works in Sanskrit and a few works in Gujarāti, composed his commentary on the *Hastasañjīvana* either in A D. 1680-81 or between A. D 1680 and 1705. I further suggested that this view of mine was in harmony with the known dates of composition of the works of this Jaina author *viz.*, A, D. 1660, 1665, 1671, 1691, 1701, 1702 and 1704. Since my paper was sent to the above journal for publication I have come across a rare MS of the *Hastasañjīvana*, which appears to be identical with the *Hastasañjīvana* together with *Bhāṣya* the authorship of which is ascribed to Meghavijayagaṇi. This MS though incomplete is very important as it is a contemporary copy of the *Hastasañjīvana* with *Bhāṣya*, composed by Meghavijaya and hence supports my chronology for it viz., *A.D. 1680*-81 or "*between A.D. 1680 and 1705.*"

The MS [2] of the *Hastasañjīvana* referred to above belongs to the Sanskrit Pāṭhashālā, Rajapur (Ratnagiri District of the Bombay Presidency). It was presented to this Pāṭhshālā in 1931 by the late Narayan Sitaram Ghāṭe [3] of the village Harḍi near Rajapur along

---

1. Vide Vol. III (1942.)

2. This MS was made available to me by my friend Pandit Raghunath Shastri Patankar of Rajapur.

3. He was in his 90th year in 1931 and died 5 years later.

with many valuable MSS from his family collection. The description of the MS is as follows :—

Size :—10 inches by 4¼ inches.

Material :—Country paper, very old, though well preserved.

Extent :—14 folios ; 14 lines to a page ; about 42 letters to a line

On folio *1a* we find the following endorsement. "श्रीहस्तसंजीवनप्रारंभ

अथ हस्तसंजीवनपुस्तकं घांटोपनामक-कौशिकगोत्रोद्भव-यशस्करभट्टस्य श्रीरस्तु शिवमस्तु ete. "

A similar endorsement [1] is found at the close of the MS on folio 14*a*.

The MS begins as follows : —

"श्रीगणपतये नमः ॥ श्रीभद्रकाल्यै नमः ॥

श्रीशंखेश्वरपार्श्वं प्रणम्य ध्यायंस्तमेव जिनवृषभं ।
हस्तप्रशस्तलक्षणपरीक्षणे दक्षतां वक्ष्ये ॥१॥
श्रीनाभेयः प्रभुर्जीयात् सर्वज्ञो जगदीश्वरः ।
येन लाक्षणिकी विद्या निर्दिष्टा भुवनश्रियै ॥२॥
श्रीवर्द्धमानो जयतु सर्वज्ञानशिरोमणिः ।
पंचहस्तोत्तरो वीरः सिद्धार्थनृपनंदनः ॥३॥
अंगविद्या निमित्तानामष्टानामपि गीयते ।
मुख्या शुभाशुभज्ञाने नारदादिनिवेदिता ॥४॥

यदुक्तं etc. "

Folio 2a—"इतिश्रीहस्तसंजीवने शास्त्रपीठिका

—verses 1 to 19

Folio 3a—"इति हस्तसंजीवने सिद्धज्ञाने पुण्यसाधने ध्यानविधानं "

—verses 1 to 21

Folio 3b - "इति हस्तसंजीवने सिद्धज्ञाने नामानि "

—verses 1 to 15

Folio 4a—" इति हस्तसंजीवने सिद्धज्ञाने हस्तविलोकनविधिः "

—verses 1 to 17

---

1. This endorsement reads as follows :—
" श्रीमत्कौशिकमहर्षेः वंशकुलपरंपरागत र (?) घंटाभिधान-यशस्करभट्ट-सर्वज्ञसंपन्नसर्वंकुसु (?) सुखंद्यश्रीमद्यशस्करभट्टस्येदं पुस्तकं हस्तसंजीवनाख्यमित्यास्तां विस्तरः प्रकृतमनुसरामः ।"

Folio 4b—" इति हस्तसंजीवने तिथिदर्शनं " —verses 1 to 18

Fotio 8b—" इति ह० अंगुलीस्वरूपचक्रं " —verses 1 to 83

Folio 13—ends—

" पितृरेखांगुष्टरेखा ·· ह्रेशे तद्भव: ॥८७॥

The MS breaks off here and is followed by the endorsement regarding its ownership which we have quoted already in this paper. *Verse* 87 " पितृरेखांगुष्टरेखा etc.") quoted above corresponds to verse 87 of the 3rd *adhyāya* (रेखाविमर्शनं, of the हस्तसंजीवन of the B. O. R. Institute MS of the work acquired in 1942. The rest of the work as represented by folios 14 to 20 of the B. O. R I. MS is wanting in the Rajapur MS before me and hence it is incomplete as the work consists of 4 *adhyāyas*. Perhaps the original from which the Rajapur copy was prepared was incomplete. The B. O. R. I. copy which is complete and which gives us some verses at the close about Meghavijaya, Vijayaprabha and Kṛpāvijaya has the same text (verses and prose भाष्य) as is found in the incomplete Rajapur MS.

The *Bhāṣya* on folio 3 of the B O. R. I. MS mentions as an example "*Saṁvat 1737, Śaka 1602 Pramoda Saṁvatsara* with other chronological details which give us the date *Friday 18th June 1680* [1] *Saṁvat 1737* is again mentioned on folios 8 [2] and 10 of the B O. R. I. MS. This mention of the year A.D. 1680 warrants an inference that the work *Hastasañjīvana—bhāṣya* of Meghavijaya was composed either in A.D. 1680 or between A. D 1680 and 1705, which is the last recorded date of one of Meghavijaya's works.

I shall now state my evidence for regarding the Rajapur MS of the *Hastasañjīvana* as a contemporary copy. This evidence is as follows :—

(1) यशस्कर घांटे of कौशिक गोत्र the owner of the हस्तसंजीवन MS flourished between A.D. 1650 and 1700 and was a contemporary of मेघविजयगणि whose dates range between A D. 1660 and 1704.

1. Folio 4*a* of Rajapur MS Contains the extract giving these Chronological details.

2. Vide folio 9*a* of the Rajapur MS.

(2) यशस्कर was also called येसंभट्ट or रघुनाथभट्ट. His genealogy as reconstructed by me is as follows .—
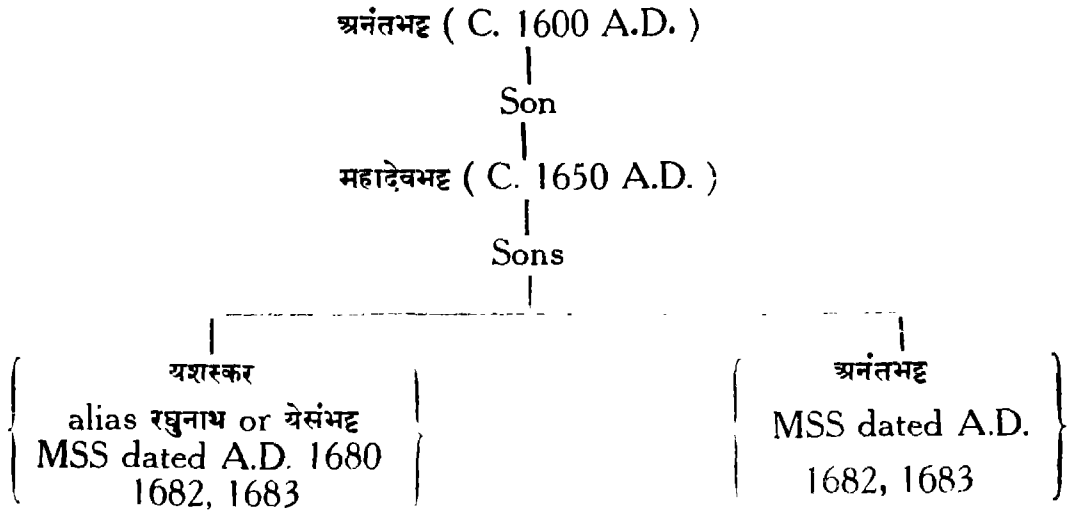
(3) यशस्कर घांटे or घांटे composed some works on *dharmaśāstra* viz, श्राद्धनिर्णयदीपिका निर्णयरत्नावलि, सोमेश्वरदशक etc. In these works he mentions निर्णयसिंधुकार *i.e.*, the author of the निर्णयसिंधु of Kamalākara which was composed in A.D. 1612.

(4) यशस्कर performed a जप in A.D 1680 and kept a record of it in his own handwriting. This document records his name and the year A.D. 1680 when the जप was performed.

(5) The Rajapur MS of the हस्तसंजीवन must have been copied presumably between A.D. 1680 and say 1700 *i.e.*, during the life-time of यशस्करभट्ट or रघुनाथ महादेव घांटे of the village Hardi near Rajapur, where his descendants are still living. The fact that this MS belonged to यशस्कर (*alias* रघुनाथ) महादेव घांटे is clear from the endorsements at the beginning and end of the Rajapur MS of the हस्तसंजीवन. Similar endorsements are found on other MSS belonging to यशस्कर भट्ट and his brother अनंतभट्ट both of whom flourished between A.D. 1650 and 1700. These brothers were definitely living between A.D. 1680 and 1683 as proved by the record of these dates on their MSS. In my paper[1] on रघुनाथ महादेव घांटे (between A.D. 1650 and 1700) I have recorded

1. This paper has been sent for publication to the Editor of the *Journal of the Sarasvati Mahal Library. Tanjore.*

sufficient contemporary documentary evidence regarding the chronology of the works of this author and hence it need not be repeated here.

That an author who flourished between A.D. 1650 and 1700 should own a copy of the हस्तसंजीवनभाष्य of मेघविजय proves beyond challenge the contemporary character of the copy and hence supports my limits for the date of composition of this work *viz.*, between A.D 1680 and 1700" Most probably the work was composed in the year A.D. 1680 which is mentioned twice or thrice in the body of the work.

The Jaina Chronology.

By Kamta Prasad Jain, LL. D., M R. A. S.

(*Continued from Vol. VII, No. II, page 80.*)

EVENTS OF THE ANCIENT HISTORICAL PERIOD

No.	Period & Date.	Events.
63	573 or 522 B. C.	Mankhali Gośāla, who formerly belonged to the lineage of Nirgrantha disciples of Tīrthankara Pārśva, sets up as a teacher of the Ajîvikas. His doctrines although differing on main points, were taken from the Jaina *Pûrvas*. [Ref. K. P. Jain, *Saṃ-Jain Itihāsa*, vol. II, pt. I, pp. 62—73.]
64	561, 543 or 506 B. C.	Mañkhali Gośāla dies at Srāvastî. [*Ibid*].
65	554 B. C.	Koṇika Ajātaśatru having interned his father Śreṇika Bimbisāra, ascends to the throne of Magadha.
66	545, 527, 590, 580, 467 B. C.	Tîrthankara Mahāvīra Vardhamāna reaches *Pā*vā, after preaching in the whole of India and its border countries and attains Nirvāṇa from that place on Kārtika Kṛṣaṇā Amāvasyā at the age of about 73. Three years and eight and half months after this great event *Panchama Kāla* commenced. [Ref. SJI, II, i, 116].

No.	Period & Date.	Events.
67	Ditto.	Indrabhūti Gautama attains Kevalajñāna and becomes the leader of the Jaina Saṁgha
68	Ditto.	Pālaka succeeds to the throne of Ujjain and reigns for 60 years.
69	543 B. C.	Koṇika Ajātśatru having killed his father and usurping the throne of Magadha, wages war against Vajjian republic and becomes a Jain.
70	543 or 506 B. C.	Jambu-Kumāra, son of Śrestin Arhadāsa or Ṛṣabhadatta and Jinamati Dhārini of Kāsyapagotra born at Rājagraha.
71	Ditto. & 480 B. C.	Śākya Muni Gautama Buddha dies at Kusinārā.
72	533 B. C. *533, 515* or *450 B.C.*;	Indrabhūti Gautama attains Nirvāṇa at Rājagraha at the age of 92, twelve years after the Nirvāṇa of Mahāvira. Sudharmana-Svāmî attains Kevalajñāna and leadership of the Jain Order. [SJI. II, i, 126—127].
73	Ditto.	Sudharmanaswām preached and toured in the countries of Pundravardhana and Udradeśa. Yama was the king of Udras, who became an ascetic with his five hundred sons at the feet of Sudharman. His son Gardabha succeeded him and adopted the vows of a Jain layman. [*Ibid.*]

No.	Period & Date.	Events.
74	521 or 503 B. C.	Sudharman gains Nirvāṇa at the age of 100 and Jambū attaining Kavalajñāna, succeeds him as the head of the Order. [*Ibid.*]
75	3 B. C.	Jambū, the last Kevalin attains Nirvāṇa at Rājagraha He with his Vidyuta and other five hundred disciples performed austerities ere this at Mathura and attained *Samādhi* having been attacked by some alien figure. In their sacred memory 500 stupas were erected at that place. [*Ibid.* 178]
76	Ditto.	Nandi or Visṇu, the first Śrutakevalin succeeds Jambû as head of the Sangha. [Ref. Dhavalā, INTRO. p. 23.]
77	463 B. C.	Nandimitra, second of the Śrutakevalins becomes the leader of the Saṁgha. [*Ibid.*]
78	443 B. C.	Śrutakevalin Aparājita succeeds Nandimitra as head of the Saṁgha.
79	433 or 396 B. C.	Bhadrabāhu, the last Śrutakevalin born at Kotipura in Pundravardhana, his parents being Somaśarma and Somaśrî. [SJI, II, i, 205]
80	423 B. C.	Śrutakevalin Govardhana succeeds Aparājit most probably at this time.
81	411 B. C.	Sthûlabhadra born āt Pāṭaliputra of Sakatala, the *mantrin* of the 9th Nanda King.

No.	Period & Date.	Events.
82	400 B. C. or later	Tirumalai caves (district Arcot) South India, sacred to Jainas, contain foot-prints (1½ feet in length), said to have been built to commemorate the presence of those Jaina munis, who came to this place and remained there for a time during the 4th century B.C., when Bhadrabāhu led a great Jaina migration to South India. [Ref Sitalprasad, MJS., p. 74].
83	403 B. C.	Bhadrabāhu succeeds Govardhana as last Śrutakevalin and head of the Saṃgha.
84	383 or 365 B. C.	Bhadrabahu abdicates his Āchāryaship and Viśākhāchārya succeeds him.
85	374 B. C.	The pre-Asokan Brahmî Inscription of Barli records a dedication of a certain item to Lord Mahāvira by lady Sāli Mālini at Mādhyamikā. Ref JBORS., Vol. XVI pp 67–68.
86	327 B. C.	Alexander, the Great, attacks India and he is joined by Omphis, King of Taxilla, and other chiefs who had tendered their submission. At Taxilla, A. sees the Digambara Munis, called the Gymnosophists, and gets impressed by their wisdom and learning. From Taxilla, A despatches one part of his army to the river Indus by way of the Khaibar Pass while, with the other, he himself pursues a more northerly and circiutous route, subduing on his way the

No.	Period & Date.	Events.
		Nysains, Aspasians, Assakerians and Goraxaus and capturing the strong cities of Massaga and Penkelastis and the celebrated Rock Aornos. [SJI., II, i, 183—5]
87	326—322 B. C.	Bhadrabāhu becomes instructor of the Mauryan emperor Chandragupta and leads a Jain migration to South India. The Mauryan Emperor adopts vows of a Jain Śramaṇa and accompanies the Jain monk The Samgha of Bhadrabāhu visits Girnāra and other sacred places of west and south India and reaches on Katvapra hillock near Śravaṇabelagola in Mysore State, where Bhadrabāhu observes *Sallekhana* and passes to celestial world. Chandragupta also follows his preceptor. [SJI., II, i, 203—243.]
88	321 B. C. (371 – 321 B. C.	After the Nirvāṇa of Mahāvira, the Jaina Saṁgha is said to have numbered over five hundred thousand members and subsequently the nine kings of the Nanda dynasty of Magadha, (with their ministers), were patrons of the Jaina Order. The founder of the Mauryan dynasty Chandragupta, as well as his Brahmin minister Chāṇakya, were also enclined towards Mahāvira's doctrines and even Aśoka is said to have been led towards Buddhism by a previous study of Jain teaching." [Refs. HARI. p. 59 ; EHI. p. 33.]

No.	Period & Date.	Events.
89	324—21 B. C.	Alexander on his way stops at Susa (Persia), where Kalanus, the gymnosophist (Kalyāṇa Digamber Muni), who had accompanied him from Taxilla, burns himself after breathing his last and performing *Sallekhana* on a funeral pile. [SJI. II, i, 183—85.]
90	"	The ancient Nirgrantha (Jaina) Saṃgha suffered at the hands of its ascetic members—some of them put on a cloth to hide their shame and came to be known as 'the *Ardhaphālakas*'; who are proved to be the forerunners of the latter Śvetāmbaras. [Ref. 'A Volume of studies in Indology, (Poona), pp. 228—237.]

To be contd.

NĀRĀYANAS, PRATINĀRĀYANAS AND BALABHADRAS.

BY

(Dr. Harisatya Bhattacharya M.A., B.L., LL. D.)

The same supreme veneration for a perfect human being which characterises the Jaina religion, is also manifest in its account of the *Narāyaña* and the *Pratinarāyaña*. The orthodox literature of the Brāhmanic school describe Nārāyaña as the supreme Being. The Brahma-vaivarta Purāña says:—"The wise know that by the term, Nāra is understood salvation, in which the emancipated Being becomes of the similar form with the Supreme Lord. That God is Nārāyaña who is the way to it. Again, *Nāra* may mean a sinner and *Ayaña*, his way. The god Nārāyaña is so called because he is the way (to salvation for the sinner). *Nāra* may also mean the blessed deliverance and *Ayaña* knowledge. He is the Nārāyaña, from whom come the two." The Vishñu-Purāña, again holds: "By *Nāra* is meant *Ap* (water); it may also mean Sons of Man. Nārāyaña is so called because he dwelt in them." It is urged that "Nara is the 25th principle over and above the Prakriti. *Nāra* are the objects which belong to Nara. Narāyaña is so called because He is the abode of all these." It is thus abundantly clear that Nārāyaña, according tō the Vēdic literature is the super-sensuous Supreme God or Principle, governing the Phenomēna of the world.

According to the Jainas, however, Nārāyaña is a mighty human king who rules over three parts of the earth. He dies while ruling over his kingdom *i.e.*, without getting himself initiated into the order of the monks. Upon his death, he goes to hell and on the termination of his infernal life, he is reborn into this world and attains salvation. Nine such Nārāyañas are mentioned in the Jaina Purāñas, af whom, the account of Lakshmaña and Krishña will be of interest to students of comparative religion, as they are glorified in the Vēdic Purañas also.

Nārāyaña, according to Jainism is thus a human being and according to the Brāhmiñic school, the supreme divine principle. He is again the deliverer of the sinning mankind, according to the Vēdic School. The words, *Nāra* and *Nārayaña*, may both derivatively mean "Son of Man." If we combine the views of the Jaina and the Brāhmiñic schools, we may arrive at a curious idea of the Nārāyaña being identified with the Jesus of the Christians. 1. The sacred scripture of the Christians call Jesus " Son of Man " According to the Jainas, Nārāyaña is a man The word, Nārāyaña may also derivatively have the exact significance, " Son of Man." Indeed, the Brāhmiñic Purañas say that, " in some Manvantara, Nārāyaña became the son of *Nara*, a human sage." 2 According to the Christians, Jesus is nevertheless divine; this is also the Brāhmiñic conception of the Nārāyaña. 3. Lastly, Jesus the divine, the Son of Man, is the deliverer of the sinners. What we have quoted from the Brahma-vaivarta Purāña, goes also to show that derivatively, the word, Nārāyaña means exactly the same thing He, the Supreme Beings according to the Vēdic School, becomes " flesh and blood," lives among men and shows the way to or effect their liberation. The fundamental theory of the Christian religion, its Son-of-Man dogma *i.e.*, its doctrine of God appearing as Man and working for the deliverance of sinners and sufferers, may thus be said to have been implied in the Nārāyaña doctrine in ancient India

Prati-Nārāyañas, again, are persons who are antogonists of Nārāyañas. The Prati-Nārāyañas are pre-destined to be killed by the Chakra of the Nārāyañas, who, on their death, rule over the three parts of the earth, owned by the Prati-Nārāyañas. Prati-Nārāyañas,on their death, go to hells and on the termination of their lives there, are born and re-born in this world, till at last they attain salvation. Nine Prati-Narāyāñas are described in the Jaina Purāñas. In the list of the Jaina Prati-Narāyañas, we find the names of some familiar demons, the accoūnt of whose deeds or misdeeds fill the pages of the sacred books of the Brahmañas. We come across, for instance, the names of Aswa-griva and Madhu-Kaitabha, who were killed by Vishñu-nārāyaña according to the Vēdic

Purāñas, of Tāraka who was killed by the mighty Kartikēya, the general of the gods and of Nisumbha who was killed by the goddess Chandikā. We find also the mention of Bali who is said to have been humbled by Vishñu in his incarnation as the Vāmana or the man of short stature. But although it is remarkable that both the Vēdic and the Jaina sacred literature agree in describing the above mentioned mythic heroes as evildoers, we are surprised to find the name of Prahlada mentioned in the list of the Jaina Prati-Nārayañas. Here the Vēdic and the Jaina legends seem definitely and openly to be at the parting of ways. For, Prahlāda of Vēdic Purāñas is the ideal servant of Nārāyaña,— all-submissive and prayerful —whereas in the Jaina Purānās, he is a Prati-Nārāyaña or the enemy of the Nārāyaña. More important, however, of the Jaina Prati Nārāyañas are Rāvaña and Jarāsandha,—the accounts of whose misdeeds and consequent annihilations form so great a part of the Vēdic epics the Rāmāyaña and the Mahābhārata.

Balabhadras in the Jaina Purāñas are the elder step-brothers of the Nārāyañas and are said to be attached fast to them Unlike the Nārāyañas, they enter the order of the Jaina monks, which they do on the death of the Narāyñas and upon their deaths they either attain salvation or at least go to the high heavens. Of the nine Balabhadras, glorified in the Jaina literature, Padma, otherwise known as Rāma-chandra and Bala-deva are the most important as they are notable persons in the Vēdic Epics also.

From the short account of the Nārāyañas, the Prati-Nārāyañas and tne Bala-bhadras which we have given above, one may guess that there are Jaina versions of the stories of the Rāmāyaña and the Mahābhārata. We shall presently give the barest outline of the Jaina accounts of Rāma or Rāvaña and Krishña or Jarāsandha. We may however, just make a passing reference to a point which is of some importance to a student of comparative mythology. The sacred books of the Vēdic school regard Rām-chandra as the Nārāyaña and Lakshamaña, as the incarnation of Ananta, whereas according to the Jainas, Lakshmaña is the Nārāyaña. The Vēdic

Purāṅas describe Krishṅa as the Nārāyaṅa and his older brother, Bala-dēva or Bala-bhadra, as the incarnation of Ananta. Thus, so far as the natures of Krishṅa and his brother are concerned, the two religious may be said to agree,——although stray passages may be met with in some of the Vēdic Purāṅas, stating that Bala-bhadra the step brother of Krisṅa is the incarnation of Nārāyaṅa. Jaya-dēva, for instance, in his celebrated Hymn to the ten Incarnations, invokes Bala-deva as the Kēśava (Nārāyaṅa). It would thus appear that the Jaina inversion of the order of the Nārāyaṅa and his brother in the case of Rāma and Lakshmaṅa is parallel to the similar inversion of the same order in the case of Krishṅa and Bala-deva, made by the some of the devotees of the orthodox Vēdic school.

I

The story of the Rāmāyaṅa, as stated in the Jaina Purāṅas is substantially similar to the account of Vālmiki. We are told that king Daśaratha had four sons Rāma, Lakshmaṅa, Bharata and Satrughna, who were the most accomplished of the princes of the day. Rāma broke the mighty bow of Janaka and was given Sitā in marriage to him. Daśaratha wanted to make Rāma the king but was compelled by his promise, previously made to Kēkayi, to banish him and make Bharata king in his stead. Rāma went to the forest with Sitā and Lakshmaṅa. Sūrpanakhā (called Chundra-nakhā in the Jaina Purāṅas) became enamoured of the brothers but on her advances being slighted, there was the fight with Kharu-Dūshaṅa King Rāvaṅa of Lankā, who was the brother of Chandra-nakha came to the forest. The brother who was protecting Sitā was deceived and made to believe that his brother was in trouble. He run to his rescue leaving Śita alone and Rāvaṅa stole her away in his air-chariot, called the Pushpaka. Rāvaṅa look Śita to Lankā and put her under the Aśōka tree. He tried his best to induce Śitā to surrender her fair body to his lust but Śita sternly refused. Rāvaṅa was angry but was prevented from forcibly violating her by a previous imprecation of a saint. Sugriva, the king of Kishkindhā, was restored to his kingdom and to his wife by the brothers. For a time, Sugriva was too much engrossed in his enjoyments to think of any duty to the brothers. He was, however brought to his

senses by the firy Lakshmaña and then, according to his direction Hanumān went to Lanka. He met Śītā who gave him her head-jewel to be delivered to Rāma. Rāvaña ordered Hanumān to be captured. Rāvaña's men were defeated but at last Indrajit took him to Rāvaña, bound in Nāga-pāśa or Serpent-noose. He destroyed many fine buildings in Lanka and went back to Rāma to whom he delivered the pleasant news about Śitā. Bibhishaña, the brother of Rāvaña tried to dissuade him from his evil part whereupon Rāvaña was about to kill him. Bibhīshaña joined Rāma with his army. In the terrible fight that ensued between Rāma and Rāvaña, the latter hurled Śakti upon Lakshmaña which made him unconscious. At last, Rāvaña was killed and Rāma made Bibhishaña king of Lankā The brothers with Śītā came back to Ajudhya. Rāma became the king and ruled his kingdom well and peacefully for many years. There was, however, the ugly rumour about Śītā in the. kingdom on account of her stay in Ravañas city, whereupon Rāma thought it fit to banish Śitā to please his subjects. Sītā gave birth to two boys. The two princes were very powerful and defeated Rāma and Lakshmaña in a battle. It was represented to Rāma that Śītā was a chaste lady and should be taken back. But as fate would have it, Śītā could not be joined with Rāma. Lastly in both the versions, we find that Rāma routed Śītā to face the ordeal of fire. Śītā came out unscathed, her purity vindicated.

It is impossible to note here, all the points in which the Jaina version of the story of the Rāmāyaña differs from Valmiki's. Some of them only may be noticed here. First of all, the episode about Daśaratha and Janaka wandering from countries to countries *in cognite* may be referred to. It is said that king Rāvaña of Lankā was told by a wise astrologer that his downfall would be brought about by the son of Daśarātha and the daughter of Janaka. Rāvaña was naturally frightened whereupon his brother Bibhīshaña cheered him up by promising that he would kill the two kings before they would beget any children. The sage, Nārada, came to learn this and he gave timely warnings to Dasaratha and Janaka.

To be continued.

Reviews.

Studies in Dravidian Philology No. I—A Grammar of the Oldest Kanarese Inscriptions—by Dr A. N. Narsimhia, M.A., L.T., Ph. D. Published by the University of Mysore.
Price Rs. 2/12/-.

To quote the words of the learned author ' the thesis is an attempt to give a descriptive account of the grammar of the oldest ' Kanarese inscriptions from the linguistic material available in the inscriptions of the sixth and seventh centuries A.D.'

' It consists of three parts : ' The Grammar consists of short chapters on the history of certain consonants and consonant groups, substantives, adjectives, pronouns numerals, verbs, adverbs and conjunctions. An attempt is made to explain the forms, wherever possible, in the light of those of Tamil. Malayalam, Telugu and Tulu ; and developments of some of the old Kanarese forms into the modern Kanarese are noted. The last chapter is devoted to remarks on the word-order."

Part II consists of the text of the inscriptions studied.

Part III gives an alphabetical index of all the words in the inscriptions studied, with etymological notes

The learned author has brought his deep erudition to bear upon the difficult subject to the great advantage of those who might feel interested in it. The great value of this book, not only in throwing a flood of light on the precious Old Kanarese inscriptions but also dealing with them threadbare philologically, cannot be over-estimated. As already observed all the words have been grammatically discussed, their origin has been traced and the parallel words elsewhere have been indicated. How elaborately the vast subject the great author has dwelt upon may be gauged from the history of one single letter *L* from the 8th century to the 16th century. The words borrowed from Sanskrit and Prākrit have been shown.

In the second part of the book all the Inscriptions dealt with have been given in Roman in the alphabetical order. These are 66 in number.

The last part not only gives an alphabetical list of all the words occurring in the aforesaid inscriptions but also gives grammatical and other references alongside. In short, the very learned author has spared no pains in making the book exhaustive, useful and fully illustrative of the topic in hand.

A Report on the Working of the *State Museum, Padukkottai* for Fasli 1350, (1940-41.)

The report shows that the Museum, flourishing under the patronage of a great state, is a very useful institution and has to its credit manifold activities worthy of such a body. The facts and figures presented by the Cuator for the year under review make a delightful and inspiring reading. The museum could boast of visitors considerably over a lac and a quarter with an increase of nearly three hundred over the figure of the previous year.

A number of prehistoric exhibits, viz. a set of seventeen palaeoliths from the Kortalitor basin in the Chingleput district and five neoliths from the Bellary district were presented by the Superintendent Madras Museum in exchange for an assorted collection of this museum. Eleven small bronze idols, the most interesting being those of Naṭarāja, Śivakāmi a seated Devi and a dancing Ganeśa were discovered in a breach of a certain tank and were acquired. The most important and interesting addition to the bronze gallery is a copper idol of Nṛsimha of a very artistic workmanship

The collections of South Indian Musical instruments were rearranged and many of them were cleaned and repaired. A few additions were also made to these collections.

Four gold and six silver coins were added to the collection. These were presented by the Superintendent, Madras Museum.

Besides, two inscribed stone slabs were added to the Epigraphy section during the year under report.

Many of the exhibits in the mineral cabinet were identified and some more were added.

The botanical and the Zoological section have their own exhibits.

A number of books were added to the museum library in the year under report.

The Museum authorities have to their credit some useful excavations that have brought to light a number of valuable finds of great importance and the conservation of others. The following are chief of them :—

1. Excavation of the Aivarkovil at Kedambular.
2. Excavation of the Jain temple mound in Sambattur.
3. Repairs to the Śiva temple at Viralur.
4. Protection of the Paintings in Sittannavasal.
5. A prehistoric burial site near the Veller Ry. bridge.
6. Conservation of monuments and buildings

In short, the report presents an interesting and inspiring reading and gives a lively and lucid account of achievements that may do credit to any institution of the kind. The manifold activities of the museum are not only conducive to its own greatness and utility but also inspiring and exemplary for other such institutions.

For the year 1940. Published by the University Mysore.

ANNUAL REPORT OF THE MYSORE ARCHAEOLOGICAL DEPARTMENT.

The report under review is an exhaustive, clear and beautiful record of the activities and achievemens of the Archaeological Department of the great and ancient Hindu State of Mysore. The report is divided into seven parts that separately deal with Administration, Conservation, Study of ancient monuments, and cites, Excavation, Numistics, Manuscripts, Inscriptions respectively.

Part I—Dr. M. H. Krishna, M A., D. Lit (Lond.), Professor, Mysore University, continued to be the Director of Archaeology in addition to his own duties, says the report. The Director General of Archaeology in India paid a visit to the State and inspected several monuments ; and with his suggestion some spots were marked for trial exavations. Some excavations were accordingly made and a brief account of the same is given in Part IV of this report. The

activities of this department of the State in all the directions is very laudable indeed.

Part II—The report gives, district by district, the list of the important monuments and buildings that have received the earnest care of the State towards their conservation.

Part III—Here too, as above, has been given, district by district the list of monuments, temples etc. that have received special attention during the year under report for the study of ancient monuments and sites.

Part IV—Deals with important excavation e.g. of the Brahmagiri site in Chitaldrug District and the important finds are enumerated.

Part V—Dealing with numismatics, makes a mention of many sorts of valuable ancient coins, among them the Pallava and Chera coins, all details whereof are given and illustrations on art paper are attached.

Part VI—Speaks of the 22 valuable manuscripts that have been examined.

Part VII—Here are given a number of valuable ancient inscriptions in temples and elsewhere in original as well Roman transliteration. A plate on art paper is attached to show the original inscriptions. These are 75 in number. A translation of these into English makes them intelligible to those who cannot understand the original

So goes the report of the Archaeological department of the State of Mysore which great in all other respects has to its credit activities in this direction that add one more plume to its gorgeous crown of glory. The get up of the Report with its beautiful print, superfine paper, splendid and attractive binding, coupled with quite a large number of plates and illustrations, has an appeal of its own and is indeed a fitting and beautiful embodiment for the very precious contents.

RAJENDRA PRASAD,
Arrah.

RULES.

1. The 'Jaina Antiquary' is an Anglo half-yearly Journal which is issued in two parts, *i.e.*, in June and December.

2 The inland subscription is Rs. 3 (including 'Jain Sidhanta Bhaskara') and foreign subscription is 4*s*. 8*d*. per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-8-0.

3. Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to the Manager, 'Jaina Antiquary' The Jaina Sidhanta Bhavana, Arrah (India) to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office at Arrah should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archaeology. iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, etc., type-written, and addressed to K. P. Jain, Esq., M. R. A. S., Editor, 'Jaina Antiquary' Aliganj, Dist. Etah (India).

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
Prof. A. N. UPADHYE, M.A , D.Litt.
B. KAMATA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
Pt. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSANA.

जैन-सिद्धान्त-भवन के प्रकाशित ग्रन्थ

(१) मुनिसुव्रतकाव्य [चरित्र] संस्कृत और भाषा-टीका-सहित—
सं० पं० के० भुजबली शास्त्री एवं पं० हरनाथ द्विवेदी ... २)

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित—सं० प्रो० रामव्यास पाण्डेय, ज्योतिषाचार्य ... ... १)

(३) प्रतिमा-लेख-संग्रह—सं० बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस० ॥)

(४) प्रशस्ति-संग्रह (प्रथम भाग)—सं० पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण १॥)

(५) वैद्यसार—सं० पं० सत्यन्धर, आयुर्वेदाचार्य, काव्यतीर्थ ... ॥)

(६) तिलोयपण्णत्ती [प्रथम भाग]—सं० डा० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए० ... ॥)

(७) Jaina Literature In Tamil *by* Prof. A. Chakravarti, M. A., I. E. S., ... Price Rs. 2

(८) भवन के संस्कृत, प्राकृत, हिन्दी ग्रन्थों की सूची ... ... १)

(९) भवन की अंग्रेजी पुस्तकों की सूची ... ... ॥)

(१०) जैन-सिद्धान्त-भास्कर १म भाग ... ...[अप्राप्य]

(११) " २य भाग ... ... ४)

(१२) " ३य भाग ... ... ४)

(१३) " ४र्थ भाग ... ... ४)

(१४) " ५म भाग ... ... ४)

(१५) " ६म भाग ... ... ४)

(१६) " ७म भाग ... ... ३)

(१७) " ८म भाग ... ... ३)

प्राप्ति-स्थान—

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD.
ARRAH,

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग ६ किरण २

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. VIII. No. II
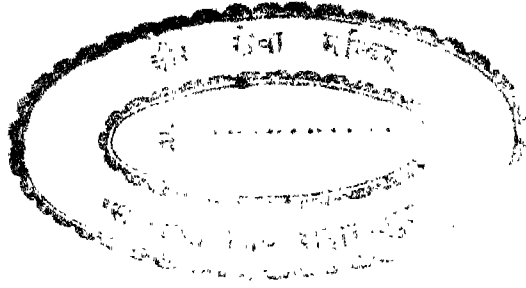
Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

PUBLISHED AT
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
(JAINA SIDDHANTA BHAVANA)
ARRAH, BIHAR, INDIA.

DECEMBER, 1942.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में जून और दिसम्बर में दो भागों में प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ३) और विदेश के लिये ३॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे; प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो, इसकी सूचना जल्द कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन, प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास बिना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिक रूप से केवल जैन-धर्म के उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग ९ अगहन किरण २

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥) एक प्रति का १॥)

ई० सन् १९५२

विषय-सूची

पृष्ठ सं०

श्रीजिनाय नमः

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग ९ | दिसम्बर, १९४२ । अगहन, वीर नि० सं० २४६९ | किरण २

मन्दिरों एवं मूर्त्तियों की उत्पत्ति

[ले० श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

डा० पी० के० आचार्य का मत है कि 'भारतवर्ष या अन्य किसी भी देश में मूर्त्ति-पूजा एवं मन्दिरों की उत्पत्ति एक साथ नहीं हुई थी। 'देवायतन' शब्द पूजा-स्थल में मूर्त्ति की आवश्यकता सूचित नहीं करता। पूर्व-वैदिक-काल के मूर्त्तिपूजकों को प्राकृतिक दृश्यों एवं वस्तुओं में ही परमेश्वर की सत्ता मिली थी। जनता बाद में परमेश्वर की कल्पना सर्वशक्तिशाली या सर्वव्यापी की तरह सहस्रलोचन या सहस्रपाद के रूप में करने लगी।' साथ ही साथ उनका यह भी कहना है कि 'यह भी सोच बैठना ठीक न होगा कि जब तक मूर्त्ति की प्रतिष्ठा नहीं हुई थी, लोग पूजा नहीं करते थे।'*

मन्दिरों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् पं० बेचरदासजी का मत है कि "संभवतः 'चैत्य' शब्द चिता से ही उत्पन्न हुआ है। महापुरुषों की चिताओं पर उनकी यादगार में जो वृक्ष लगाये जाते थे, जो पाषाणखण्ड रक्खे जाते थे, मृत शरीर के अवशेष रखकर उनपर जो चबूतरे बनाये जाते थे, मढियाँ बनाई जाती थीं, उन सबको 'चैत्य' कहते थे। धीरे-धीरे मृत महापुरुषों की मूर्त्तियाँ बनाई जाने लगीं और वे भी 'चैत्य' कहलाई और फिर उनकी रक्षा के लिये मन्दिर बनाये गये, जो 'चैत्यालय' कहलाने लगे।"†

परन्तु डा० पी० के० आचार्य का कहना है कि चैत्य या कब्र से मन्दिरों का कोई सम्बन्ध नहीं था। वे मन्दिरों की उत्पत्ति के विषय में कहते हैं कि "कल्पसूत्र के कुछ अंश को 'शुल्बसूत्र'

---

*—'प्राचीन भारत' वर्ष १, सं० ८।

†—'पर्युषण पर्वनां व्याख्यानो' पृष्ठ ३१।

कहते हैं, जिसमें वेदी बनाने की रीति और उनकी लम्बाई आदि दी हुई है। इनमें 'अग्नि' या ईंटों से बनी हुई बड़ी-बड़ी वेदियों के बनाने की रीति का वर्णन है। ये वेदी सोमयज्ञ की थीं जिनका निर्माण वैज्ञानिक तौर पर हुआ था। सम्भवतः यहीं से मन्दिर-निर्माण का सूत्रपात होता है।"* रायबहादुर, महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा कहते हैं कि "मूर्त्तिपूजा कब से प्रचलित हुई, यह नहीं कहा जा सकता। सबसे प्रथम ई० पू० २०० के नगरी के शिलालेख में संकर्षण और वासुदेव की मूर्त्तिपूजा के लिए मंदिर बनवाने का उल्लेख मिलता है। यह मूर्त्तिपूजा का सबसे प्राचीन लिखित उदाहरण है। इससे ज्ञात होता है कि यह प्रथा उससे बहुत पहले प्रचलित हो चुकी थी।" ['मध्यकालीन भारतीय संस्कृति'] बल्कि इतिहासमहोदधि स्व० काशीप्रसाद जायसवाल के कथनानुसार आज तक की उपलब्ध देवमूर्त्तियों में सबसे प्राचीन मूर्त्तियाँ जैनियों की हैं।†

किन्तु आश्चर्य इस बात का है कि जैन मूर्त्तियाँ मौर्यकाल अर्थात ई० पू० तीसरी शताब्दी तक की उपलब्ध होने पर भी प्रतिष्ठा-विषयक साहित्य ई० सन् ग्यारहवीं बारहवीं शताब्दी के पूर्व का नहीं मिलता। पता नहीं लगता कि इसके पहले मूर्त्तियों की प्रतिष्ठा किस विधि और किस ढंग से होती थी।

श्रीयुत स्व० पं० उदयलालजी काशलीवाल ने 'जैनहितैषी' भाग १२, अंक १ में प्रकाशित अपने एक लेख में इस सम्बन्ध में यों लिखा था—"हमारा विश्वास इस बात को इन्कार नहीं करता कि अप्रतिष्ठित प्रतिमाएँ भी शान्ति प्राप्त करने की साधिका हैं। हमें प्राप्त करना है वीतरागता—शान्ति और यह जैसी प्रतिष्ठित प्रतिमाओं के ध्यानादि से हो सकती है वैसी ही अप्रतिष्ठित प्रतिमाओं से भी। इस सम्बन्ध में उनके द्वारा उपस्थित किये गये हेतुओं में प्रधान हेतु ये हैं :

"साहित्य की दृष्टि से जब हम विचार करते हैं तो हमें यह निःस्संकोच कह देना पड़ेगा कि इस प्रतिष्ठा के सम्बन्ध का इस समय जितना साहित्य उपलब्ध है, वह सब इतना पुराना नहीं जिससे हम विश्वास कर सकें कि प्रतिष्ठाविधि बहुत पुरानी है। इस समय आशाधर, नेमिचन्द्र, अकलङ्क (दूसरे), इन्द्रनन्दि, एकसन्धि आदि जितने विद्वानों और मुनियों के प्रतिष्ठापाठ मिलते हैं वे सब विक्रम की ग्यारहवीं, बारहवीं शताब्दि के बाद के हैं। हमें यह देखकर बड़ा विनोद होता है कि अब भी हमारे यहाँ विक्रम की दूसरी, तीसरी शताब्दि के बने ग्रन्थ जब मिलते हैं तब प्रतिष्ठा सरीखे एक आवश्यक विषय के ग्रन्थ उस समय के बने क्यों प्राप्त नहीं ? इसका कोई कारण होना चाहिये।"

*—'प्राचीन भारत', वर्ष १, सं० ८।

†—'जैन एन्टीक्वेरी' भाग ३, अंक १।

"विक्रम की समकालीन या उसके सौ, दो-सौ वर्ष बाद की प्रतिष्ठित प्रतिमाएँ अब तक देखने में नहीं आई हैं।"

उदयलालजी के इस विचार पर 'जैनहितैषी' के सुयोग्य सम्पादक पं० नाथूरामजी प्रेमी ने अपना अभिप्राय इस प्रकार प्रकट किया था—"इस लेख पर विद्वानों को विचार करना चाहिए। इसके लिये बड़े परिश्रम की और छानबीन करने की ज़रूरत है। मथुरा की जैनप्रतिमायें सबसे अधिक पुरानी हैं। वे लगभग १८०० वर्ष पहले की हैं। उनपर जो लेख हैं, उनमें प्रायः यह लिखा हुआ है कि अमुक के उपदेश से अमुक ने प्रतिमा बनवाई या स्थापित कराई। यह किसी भी लेख से स्पष्ट नहीं होता कि उनकी प्रतिष्ठा करवाई गई। ... ... उपलब्ध प्रतिष्ठापाठ ग्यारहवीं शताब्दि के पहले के नहीं हैं। परन्तु इनका बारीकी से अध्ययन करने से मालूम हो सकता है कि ये किन ग्रन्थों के आधार से बने हैं और इनके पहले प्रतिष्ठायें किस विधि से होती थीं। इस विषय का निर्णय करनेवालों को श्वेताम्बर सम्प्रदाय के और वैदिक सम्प्रदाय के प्रतिष्ठापाठों का भी तुलनात्मक पद्धति से अध्ययन करना चाहिए। आश्चर्य नहीं जो बौद्ध-सम्प्रदाय के भी प्रतिष्ठापाठ रहे हों और शायद अब भी मिलते हों। प्रतिष्ठापाठ अधिक पुराने नहीं मिलते हैं, केवल इसी कारण यह समझ लेना कि ग्यारहवीं शताब्दि के पहले प्रतिष्ठाविधि नहीं थी या प्रतिष्ठायें नहीं होती थीं, निर्भ्रान्त नहीं हो सकता। हाँ, यह सम्भव है कि इन प्रतिष्ठापाठों के पहले जो प्रतिष्ठायें होती होंगी, वे इतने आडम्बर से न होती होंगी और विधि भी इतनी जटिल न होगी।"

अस्तु अब पाठकों का ध्यान प्रस्तुत विषय पर आकर्षित करता हूँ। पी० के० आचार्य का यह भी कहना है कि पूर्व में चिति या वेदी 'चतुरश्रश्येनचित', 'प्रौगचित', 'रथचक्रचित', 'द्रोणचित', परिचय्यचित', 'समुह्यचित' एवं 'कूर्मचित' आदि कई तरह की बनाई जाती थी और उनका सर्वप्रथम उल्लेख तैत्तरीय संहिता (खं० ४, ११) में मिलता है। एवं उसीके आधार पर बौधायन और आपस्तम्ब में विविध चिति (वेदियों) के आकार का वर्णन दिया हुआ है। चितियों का आकार हिन्दू, जैन एवं बौद्ध मन्दिरों की वेदी की तरह था जो मस्जिद और गिरजों में भी पाये जाते हैं। यही नहीं उनसे हिन्दू, जैन, एवं बौद्ध मन्दिरों के शिखर, गिरजों के ऊपरी भाग और मस्जिदों के गुम्बजों की कल्पना की जा सकती है। धीरे धीरे मन्दिर ऊँचाई और आकृति में बढ़ते गये। वेदियों के सामने क्रमशः 'भोगमण्डप', 'नृत्यमण्डप' आदि अन्यान्य मण्डपों की कल्पना भी की जाने लगी।[1] ऊपर की पंक्तियों का यही सार है कि विविध चिति-(वेदी)यों के ही क्रमशः भिन्न-भिन्न आकार और प्रकार वाले मन्दिरों की

1 'प्राचीन भारत', वर्ष १, सं० ८।

उत्पत्ति हुई[१] और वे धीरे-धीरे अनेक मञ्जिल एवं गोपुरवाले विशाल तथा गगनचुम्बी बनाये जाने लगे। पीछे मन्दिर सजाये भी जाने लगे। इनमें पांच आंगन होते थे। भीतरी आंगन 'अन्तरमण्डल' कहलाता था। उसके बाहर क्रमशः 'अन्तरनिहार', 'मध्यमहारा' 'प्राकार' और महामर्यादा होते थे, जिनमें क्रमशः 'द्वारशोभा', 'द्वारशाला', द्वारप्रासाद', 'द्वारहर्म्य' और 'महागोपुर'[२] रहता था। छठवें और सातवें आंगन में मन्दिर की रक्षा के लिये सैनिक रहते थे।

हिन्दू शिल्पशास्त्र 'मानसार' में शान्तिक, पौष्टिक, जयद आदि मन्दिरों के कई नाम मिलते हैं। प्रत्येक की लम्बाई-चौड़ाई आदि भिन्न-भिन्न बतलाई गई है। मन्दिरों की छत, चपटी, बन्द या गोलाकार तीन प्रकार की होती है। सर्वप्रथम चपटी (गुफाओं के आकार पर) बाद बन्द और अन्त में गोलाकार छतों की सृष्टि हुई। गोलाकार छत, शिखर, शिखा, शिखान्त और शिखामणि इस प्रकार चार भागों में विभक्त है। हिन्दू, जैन, एवं बौद्ध मन्दिरों के शिखर की बनावट में कोई भेद नहीं मिलता है। हाँ, ऊँचाई में भेद अवश्य मिलता है। इमारत नागर (उत्तरी), वेसर (पूर्वी) और द्राविड यों तीन प्रकार की होती है[३]। इन सबों का विशद विवरण डा० पी० के० आचार्य की 'Indian Architecture According to Manasara-Shilpashastra.' नामक पुस्तक में दिया गया है।

दक्षिण भारत के मन्दिर द्राविड एवं चालुक्य भेद से दो भागों में विभक्त हैं। कुछ विद्वान् चालुक्य शैली का होयिसल नाम रखना अधिक समुचित समझते हैं। द्राविड़ शैली के मन्दिरों में प्रायः पाँच भाग होते हैं—विमान, मुखमण्टप (मण्डप), गोपुर, हजार और द्वार-मण्टप। इसी प्रकार चालुक्य या होयिसल शैली के मन्दिरों में भी प्रायः पाँच भाग होते हैं—विमान, नवरङ्ग, मुखमण्टप, द्वारमण्टप एवं सभामण्टप। फिर भी इनकी रचनाओं में वैविध्य अवश्य है[४]।

---

१ कोई कोई चित्त से भी 'चैत्य' की उत्पत्ति मानते हैं। परन्तु शब्दशास्त्र की दृष्टि से उनका यह मत सदोष है।

२ 'मयशास्त्रम्' में गोपुर एवं प्राकार आदि के सम्बन्ध में 'गोपुरप्राकारादिनिर्णयम्' नामक एक स्वतन्त्र अध्याय ही है। देखें—पी० एन० बोस की 'Principles of Indian Shilpashastra'. इसी प्रकार 'काश्यपशिल्प' में भी इन सबों का विशद वर्णन मिलता है।

३—'नागरं द्राविडं चैव वेसरं च त्रिधा मतम्।
कण्ठादारभ्य वृत्तं यद्वेसरमिति स्मृतम्॥
ग्रीवमारभ्य चाष्टाश्रं विमानं द्राविडाख्यकम्।
सर्वं वै चतुरश्रं यत्प्रासादं नागरंत्विदम्॥'

(—मानसार)

४ विशेष विवरण के लिये 'मैसूरु देशद वास्तु शिल्प' प्रथम भाग का प्रथम अध्याय देखें।

श्रवणबेल्गोल का चावुण्डरायबस्ति द्राविडशैली एवं मूडुगेरे तालूक के अंगडि में वर्तमान मल्लिनाथबस्ति चालुक्य या होयिसल शैली की जैनकला के निदर्शन हैं।[1]

ठक्कुर के 'वास्तुसार-प्रकरण' में जैन प्रासाद[2] या मन्दिर के नाम और शिखर पचीस प्रकार के बताये गये हैं। इनका सविस्तर वर्णन 'प्रासादमण्डन', 'दीपार्णव' आदि शिल्प ग्रन्थों में सुन्दर ढंग से मिलता है। उक्त 'वास्तुसार-प्रकरण' में लिखा है कि शिखरों के मान से प्रासाद ९६७० प्रकार के बनते हैं। इसमें 'प्रासाद का स्वरूप', 'प्रासाद का अंग', 'प्रासाद का मान', प्रासाद के उदय का प्रमाण', शिखरों की ऊँचाई', 'शुकनाश का मान', 'कनक-पुरुष का मान' आदि कई प्रकरण दिये गये हैं[3]।

मन्दिरों के बारे में रायबहादुर, महामहोपाध्याय गौरीशङ्कर हीराचंद ओझा यों कहते हैं:—

'ईसवी सन् की सातवीं शताब्दी के आसपास से बारहवीं शताब्दी तक के सैकड़ों जैनों और वेदधर्मावलम्बियों अर्थात् ब्राह्मणों के मन्दिर अब तक किसी न किसी दशा में विद्यमान हैं। देश-भेद के अनुसार इन मन्दिरों की शैली में भी अन्तर है। कृष्णा नदी के उत्तर से लेकर सारे उत्तरीय भारत के मन्दिर आर्य-शैली के हैं और उक्त नदी के दक्षिण के द्राविड़ शैली के। जैनों और ब्राह्मणों के मन्दिरों की रचना में बहुत कुछ साम्य है। अन्तर इतना ही है कि जैन मन्दिरों के स्तम्भों छतों आदि में बहुधा जैनों से सम्बन्ध रखनेवाली मूर्त्तियाँ तथा कथाएँ खुदी हुई पाई जाती हैं और ब्राह्मणों के मन्दिरों में उनके धर्म-सम्बन्धी। बहुधा जैनों के मुख्य मन्दिर के चारों ओर छोटी-छोटी देव-कुलिकाएँ बनी रहती हैं जिनमें भिन्न-भिन्न तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ स्थापित की जाती हैं। ब्राह्मणों के मुख्य मन्दिरों के साथ कहीं कहीं कोनों में चार और छोटे छोटे मन्दिर होते हैं। ऐसे मन्दिरों को पंचायतन मन्दिर कहते हैं। ब्राह्मणों के मन्दिरों में विशेषकर गर्भगृह (निजमन्दिर) रहता है, जहाँ मूर्त्ति स्थापित होती है और उसके आगे मण्डप। जैन मन्दिरों में कहीं कहीं दो मण्डप और एक विस्तृत वेदी भी होती है। दोनों शैलियों के मन्दिरों में गर्भगृह के ऊपर शिखर और उसके

---

१ उपलब्ध जैन मन्दिर एवं मूर्त्तियों की विशेष जानकारी के लिये 'विश्ववाणी' के 'जैन संस्कृति अंक' में प्रकाशित 'जैन मन्दिर एवं मूर्तिकला' शीर्षक मेरा लेख पढ़ें।

२ भोजदेवप्रणीत 'समराङ्गणसूत्रधार' में भी प्रासाद, वेदी आदि का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है।

३ एक स्थान में चैत्यालय का उल्लेख इस प्रकार मिलता है —

'सिंहो येन जिनेश्वरस्य सदने निर्मापितो तन्मुखे।
कुर्यात्कीर्त्तिमुखं त्रिशूलसहितं घण्टादिभिर्भूषितम्॥
तत्पार्श्वे मदनस्य हस्तयमलं पञ्चाङ्गुलीसंयुतम्।
केतुस्वर्णघटोज्ज्वलश्च शिखरं कैत्वाय निर्मापितम्॥'

सर्वोच्च भाग पर आमलक नाम का बड़ा चक्र होता है। आमलक के ऊपर कलश रहता है, और वही ध्वजदण्ड भी होता है।[1]

यहाँ पर एक बात का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि 'मयशास्त्र' 'काश्यपशिल्प' आदि प्राचीन हिन्दू शिल्पशास्त्र के ग्रंथों में जैन एवं बौद्ध मन्दिरों तथा मूर्त्तियों का उल्लेख बहुत कम पाया जाता है। 'मानसार' आदि दो एक ग्रंथों में जो उल्लेख मिलता है, वह भी बहुत ही अनुदारपूर्ण है। मानसार लिखते हैं कि जैन एवं बौद्ध मन्दिर नगर तथा ग्राम से बाहर बनने चाहिये।[2] परन्तु इतिहास में कहीं भी इनकी इस बात की पुष्टि नहीं होती है। इसमें कोई शक नहीं है कि मानसार वैष्णव पक्षपाती थे। इसीलिये उन्हें स्पष्ट लिखना पड़ा कि जिस नगरी के बीच में विष्णु-मन्दिर होता है, वह राजधानी कहलाती है।[3]

जैन मूर्त्तियों के सम्बन्ध में दो-एक बात और कहनी है। सन् १९३७ में पटने में प्राप्त मौर्यकालीन जैन मूर्त्तियों का उल्लेख ऊपर कर ही चुका हूँ। इस समय सिंधु की उपत्यका का पुरातत्त्व सर्वप्राचीन समझा जाता है और उससे विद्वज्जन जिनप्रतिमा का भी सम्बन्ध स्थापित करते हैं।[4] इससे यह स्पष्ट है कि आज से लगभग छः हजार वर्ष पहले भी जिन-मूर्त्तियाँ मौजूद थीं। बाद मथुरा और खण्डगिरि-उदयगिरि का पुरातत्त्व भी जिनमूर्त्ति के प्राचीन अस्तित्व का द्योतक है। ई० पहली शताब्दी में मथुरा में वह प्राचीन स्तूप मौजूद था, जो उस समय 'देवनिर्मित' समझा जाता था और जिसे डा० बुलहर तथा सर विन्सेन्ट स्मिथ ने भगवान पार्श्वनाथ के समय अर्थात् ईस्वी पूर्व आठवीं शताब्दी का बताया था।[5] जैनस्तूप पर मूर्त्तियाँ बनी होती हैं, यह बात जैनशास्त्रों और मथुरा के स्तूपावशेषों से स्पष्ट है।

'सूत्रों में अर्हंतों के स्तूपों की चर्चा है, जो सम्भवतः जैन अर्हंतों के, बौद्ध धर्म के पहले से हुआ करते थे। बौद्ध स्तूपों में इनसे कोई अन्तर नहीं होता था।'

'जैसे मन्दिर का नमूना उसने ब्राह्मण सम्प्रदाय से लिया, वैसे ही बुद्ध की प्रतिमा के नमूने जैनों से ले लिए।'[6]

१—'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति'—पृष्ठ १७५-७६।

२—'दुर्गां गणपतिं चैव, बौद्धं जैनं गतालयम्।
अन्येषां पशुखादीनां स्थापयेन्नगराद्बहिः॥' (९, ४०५-६)

३—तत्रागते नगर्यन्तं यदि विष्णवालयं भवेत्।
राजधानीति तन्नाम विद्वद्भिर्वच्यते सदा॥ (१०, ४७)

४—Survival of the Prehistoric Civilisation of the Indus Valley, pp 25-83 and Modern Review, August, 1932.

५—Jaina Stupa and other antiquities of Mathur. P 13.

६—'भारतीय मूर्ति-कला' पृष्ठ ४२ और ६५।

'उपलब्ध जैनमूर्त्तियों' को 'हम तीन भागों में विभक्त करना उचित समझते हैं। (१) उत्तर भारतीय (२) दक्षिण भारतीय और (३) पूर्व भारतीय। जैन सम्राट् ऐल खारवेल के समय अथवा उनके भी पहले से जैनधर्म के केन्द्र इन्हीं तीन प्रदेशों में थे। मथुरा, पटना, उज्जैन और काँचीपुर जैन धर्म के प्राचीन केन्द्र हैं। इन्हीं केन्द्रस्थानों के अधीन उनके आसपास श्रावकों का होना स्वाभाविक है और उनपर वहाँ के देश और लोगों का प्रभाव पड़ना प्राकृत संगत है। उत्तर भारतीय प्रतिमाओं में हम संयुक्तप्रान्त से गुजरात तक और उधर पञ्जाब तक की प्रतिमाओं को लेते हैं। ये प्रतिमाएँ प्रायः एक समान देखने को मिलेंगी। एक समान से हमारा मतलब मुखाकृति, शरीरगठन आदि से है। वैसे स्वरूप में जिन-प्रतिमा एक-सी ही मिलेगी। पञ्जाब में तक्षशिला आदि से प्राप्त जिन-प्रतिमाओं पर गांधार-शिल्प का प्रभाव पड़ा कहा जा सकता है। किन्तु उत्तर भारत की प्राचीन मूर्त्तियाँ मथुरा की बनी हुई कही जा सकती हैं और वे वर्तमान प्रतिमाओं से शरीर-आकृति आदि में विलक्षण हैं। दक्षिण भारत की जिन-मूर्त्तियाँ भी उत्तर भारत की मूर्त्तियों से शिल्प नैपुण्य में भिन्नता रखती हैं। उनपर द्राविड़ लोगों की संस्कृति का प्रभाव पड़ा है और वे उन्हीं-की शरीर-आकृति को प्रकट करती हैं। इसी तरह पूर्व भारत अर्थात् बंगाल, बिहार और उड़ीसा की जिन-मूर्त्तियाँ वहाँ के क्षेत्र, मनुष्य और शिल्प का प्रभाव प्रकट करती हैं। इन देशों की जिन-मूर्त्तियों पर एक दृष्टि डालने से यह मूर्त्ति गढ़ने का भेद स्पष्ट हो जाता है।'*

वसुनन्दी, एकसन्धि, आशाधर आदि के प्रतिष्ठाग्रन्थ एवं विवेकविलासादि अन्यान्य रचनाओं में भी जैन-मन्दिर तथा मूर्त्ति सम्बन्धी कई ज्ञातव्य बातें उपलब्ध होती हैं। अस्तु, अन्त में मैं इतना और खुलासा कर देना चाहता हूँ कि पौर्वात्य एवं पाश्चात्य विद्वान मूर्त्तिपूजन का आविर्भाव किस काल में हुआ, इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से अभी तक कुछ भी नहीं कह सके हैं। हाँ, पटना की बस्ती अगम कुआँ से सन् १८१२ में उपलब्ध शैशुनाक की प्रतिमायें सर्वप्राचीन मानी गई हैं।† इस सम्बन्ध में अधिक छानबीन की जरूरत है। अन्वेषक विद्वानों का ध्यान इधर आकर्षित करने के लिये ही उपलब्ध सामग्रियों को मैंने विद्वानों के सामने रख दिया है। आशा है कि अधिकारी विद्वान् इस विषय पर विशेष प्रकाश डालने का कष्ट उठावेंगे।

---

*—'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' भाग २, किरण १, पृष्ठ १४—१५।

†—'भारतीय इतिहास की रूप-रेखा' जिल्द १, पृ० ५०१।

जैनधर्म का महत्त्व

[ले० श्रीयुत प्रो० देवराज, एम० ए०, डी फिल०]

जैनधर्म की महत्ता ठीक-ठीक आँकने के लिए हमें उस ऐतिहासिक पृष्ठ-भूमि से परिचित होना होगा जिसमें उसका उदय हुआ था। स्वयम् जैन लोग सम्भवतः हमारी इस चेष्टा को अनुचित समझेंगे, क्योंकि उनके विश्वासानुसार उनका मत या धर्म अत्यन्त प्राचीन है—उनके आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव मंत्रकर्त्ता वैदिक ऋषियों के समकालीन कहे जाते हैं। किन्तु जैन धर्म के दार्शनिक सिद्धान्तों के इतने प्राचीन होने का कोई विश्वस्त प्रमाण नहीं है।* वास्तव में किसी सिद्धान्त या सम्प्रदाय का मूल्य उसकी प्राचीनता पर निर्भर नहीं है। सिद्धान्त या मतविशेष का मूल्य निर्धारित करने के दो माप-दण्ड हैं, एक ऐतिहासिक और दूसरा तर्क-सम्बन्धी अथवा अनुभवात्मक; पहले मापदण्ड से हम यह देखते हैं कि कोई मत या सिद्धान्त अपने उत्पत्ति काल में प्रगतिशील शक्ति के रूप में अवतीर्ण हुआ था अथवा प्रगति विरोधी रूप में; दूसरे मापदण्ड से हम इस बात का निर्णय करते हैं कि मानवजाति के सार्वकालिक अनुभव और तर्क की कसौटी पर उसका मूल्य क्या है। प्रस्तुत लेख में हम जैन-धर्म के सिद्धान्तों का मूल्यांकन पहले दृष्टिकोण से करेंगे।

जलधारा की भाँति किसी जाति या देश की विचार-धारा की स्वच्छता इस बात पर निर्भर करती है कि उसके कलेवर में समय-समय पर नवीन तत्त्वों का समावेश होता रहे। जिस प्रकार बँधे हुए जलाशय का पानी दुर्गन्ध देने लगता है, उसी प्रकार बँधा हुआ विचार-प्रवाह जातीय मस्तिष्क के लिए अस्वास्थ्यकर हो उठता है। मनुष्य का अनुभव बढ़ता रहता है; इसलिए उसकी व्याख्या करनेवाले सिद्धान्तों में भी परिवर्तन अनिवार्य है। यही कारण है कि डार्विन के विकासवाद के पहले प्रतिपादित किए गए सृष्टि आदि से सम्बद्ध सिद्धान्त आधुनिक विद्वानों को सहसा ग्राह्य नहीं जान पड़ते। वैदिक काल के आर्यों का धर्म सरल भक्तिमय था। वे मुख्यतः बाह्यदर्शी थे; विभिन्न प्राकृतिक घटनाओं के पीछे उन्हें अधिष्ठाता देवताओं की शक्तियाँ दिखाई देती थीं, जिन्हें वे पूज्य और प्रशंसनीय समझते थे। ऋग्वेद की ऋचाओं में आर्यों की इस विश्वास-भावना की अकृत्रिम अभिव्यक्ति है। किन्तु धीरे-धीरे वैदिक धर्म की यह सरलता और भाव-प्रवणता नष्ट हो गई। पुरोहितों ने, जिनकी अब एक अलग जाति बन गई थी, अपने स्वार्थसाधन के लिए विविध यज्ञों और दक्षिणाओं की सृष्टि की। जटिल यज्ञ-विधान प्रतिपादित किए गए, जिनके अनुष्ठान के लिए ब्राह्मण

* इस विषय में प्रमाण अपेक्षणीय है। —सं०

पुरोहितों की सहायता लेना अनिवार्य था। आर्य लोग अब तक भक्ति-भावना से विह्वल होकर देवताओं की स्तुतियाँ गाते थे ; अब भक्ति का स्थान अनुष्ठानों ने ले लिया। पुरोहितों ने उन्हें यह विश्वास दिलाया कि वास्तविक फल देनेवाले यज्ञानुष्ठान हैं, न कि देवगण : विधिपूर्वक अनुष्ठानों को पूरा करने से यजमान अभीष्ट फल पा सकता है। इस प्रकार अनुष्ठानों को गौरव देने का एक परिणाम तो यह हुआ कि देवताओं की महत्ता कम हो गई, और दूसरा यह कि लोग अनुष्ठानों की जटिल विधियों को पूरा करने में ही मानव धर्म और मानव-कर्तव्यों की इतिश्री समझने लगे।

ऐसी अवस्था में वैदिक धर्म का विरोध होना अनिवार्य था। विरोध का मुख्य कारण ब्राह्मण-युग के कर्मकाण्ड की बहिरंगता थी। यह विरोध या प्रतिक्रिया दार्शनिक और नैतिक-दोनों दिशाओं में, प्रसारित हुई। ऐसा मालूम पड़ता है कि यज्ञों की प्रधानता ने वैदिक देवताओं की महत्ता को सदैव के लिए क्षत कर दिया। उपनिषदों में हम ब्राह्मण-युग के विरुद्ध दार्शनिक (Metaphysical) प्रतिक्रिया पाते हैं। उपनिषदों के विचारक हमारा ध्यान अनेक देवताओं से हटाकर एक आत्मा की ओर ले जाते हैं। नैतिक क्षेत्र में उपनिषद् के ऋषि हमें कर्मकाण्ड के विरुद्ध आवाज उठाते हुए दिखाई देते हैं।

किन्तु उपनिषदों द्वारा किया गया ब्राह्मण-युग का विरोध घरेलू सा था, वह सम्पूर्ण और सार्वभौम नहीं था। उपनिषदों में कर्मकाण्ड की निन्दा सिर्फ उनके दृष्टिकोण से की गई है, जो मोक्ष चाहते हैं। तत्त्व-दर्शन (Ontology) में भी उपनिषदों ने खुले शब्दों में बहुदेव-वाद का विरोध नहीं किया। आधुनिक राजनीति की भाषा में कहें, तो उपनिषदों का स्वर सुधारवादी था, क्रान्तिवादी नहीं। किन्तु इस समय जनता कर्मकाण्ड की यान्त्रिकता एवं कट्टरता तथा ऊँच-नीच के भेद भाव से इतनी खिन्न हो गई थी कि वह नैतिक वातावरण में आमूल परिवर्तन चाहती थी। परिणाम यह हुआ कि तत्कालीन भारत में ऐसे अनेक विचारक और प्रचारक उठ खड़े हुए, जो वैदिक दार्शनिक और नैतिक, विचार-परम्परा के प्रतिकूल थे।

इनमें से अधिकांश विचारकों का दृष्टिकोण ध्वंस-मूलक था, वे किसी-न-किसी तरह प्राचीन पक्षपातों को नष्ट करना चाहते थे। पुराण कश्यप, अजितकेश कम्बली, पकुद कात्यायन, मक्खली गोसाल आदि इसी कोटि के विचारक थे। किन्तु कुछ क्रान्तिकारी विचारकों का दृष्टिकोण भावात्मक अथवा सर्जनात्मक (Constructive) भी था। वे लोग ब्राह्मण-युग को हटाकर एक नवीन युग की स्थापना करना चाहते थे। उनका उद्देश्य समाज के नैतिक आधारों का नवनिर्माण करना था, उन्हें नष्ट करना नहीं। जैनधर्म के प्रचारक भगवान् महावीर और बौद्धधर्म के स्थापक भगवान् बुद्ध इसी प्रकार के विचारक थे।

जैनधर्म के उत्पत्तिकाल के विषय में भले ही मतभेद हो, पर यह निर्विवाद है कि उसका उदय बौद्धधर्म से पहले हुआ। भारत के दार्शनिक इतिहास के दृष्टिकोण से यह एक महत्त्वपूर्ण बात है। जैन सिद्धान्तों का महत्त्व-निर्णय करते समय इस कालक्रम को ध्यान में रखना आवश्यक है। जहाँ तक हमें मालूम है, जैनधर्म पहला सम्प्रदाय था, जिसने वैदिक कर्मकाण्ड का निश्चित स्वर में विरोध किया और उसके बदले मौलिक नैतिक सिद्धान्तों को रखने की चेष्टा की। जैनधर्म के कोमलहृदय प्रवर्त्तकों को वैदिक कर्मकाण्ड की हिंसापरता खली और उन्होंने विश्व के नैतिक इतिहास में पहली बार 'अहिंसा परमो धर्मः' का उपदेश दिया।

जैनधर्म की नैतिक शिक्षा का एक दूसरा पहलू भी था। उसने अगणित देवी-देवताओं का अवलम्बन छोड़कर आत्मनिर्भरता की शिक्षा दी। आत्मकल्याण के लिए सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन ही नहीं, सम्यक्चारित्र भी आवश्यक है। ज्ञान के समान ही शुद्ध चारित्र की प्राप्ति के लिए मनुष्य को देवी-देवताओं अथवा अन्य रहस्यमयी सत्ताओं की आवश्यकता नहीं है। गीता कहती है,—'उद्धरेदात्मनात्मानम्', अर्थात् मनुष्य स्वयम् अपना उद्धार करे; जैनधर्म की भी यही शिक्षा है। भेद यही है कि गीता की भाँति जैनधर्म, कम से कम अपने मूलरूप में, अनेक देवी-देवताओं और ईश्वर में विश्वास नहीं सिखाता, जिसके फल-स्वरूप उसकी आत्मावलम्बन की शिक्षा को दार्शनिक आधार मिल जाता है।

कर्मक्षेत्र से भी पहले यह शिक्षा ज्ञान-क्षेत्र में शुरू हुई थी। सम्यग्ज्ञान के लिए मनुष्य को श्रुति पर निर्भर नहीं रहना होगा, उसे स्वयं चिन्तन करना पड़ेगा। भारत के मस्तिष्क को ग्रन्थ-विशेष के बन्धन से छुड़ाने की यह चेष्टा जैनधर्म तथा अन्य 'प्रगतिगामी' विचारकों का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य था। इतने प्राचीनकाल से ही यदि भारत में इस प्रकार श्रुति का विरोध न होता, तो मध्यकालीन योरुप के समान यहाँ के दार्शनिक भी स्वतंत्र विचारक न बनते और श्रुति-सम्मत सिद्धान्तों के मण्डनमात्र में अपनी तर्कशक्ति को थका डालते। यह जैनधर्म तथा अन्य श्रुति-विरोधी सम्प्रदायों का ही प्रभाव है कि भारतवर्ष में एक नहीं अनेक 'आस्तिक' (श्रुति-सम्मत) दर्शनों का उदय हुआ।

तत्त्व-दर्शन (Ontology) के क्षेत्र में जैनधर्म का सबसे महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त अनीश्वर-वाद था। बाद में बौद्धधर्म ने भी अनीश्वरवाद का प्रचार किया, किन्तु उसका अनीश्वरवाद नैरात्म्यवाद का अंश था। यदि हम जैनधर्म की प्राचीनता को ध्यान में रक्खें, तो हमें इस सिद्धान्त के महत्त्व को समझने में कठिनाई नहीं होगी। प्रायः सभी प्राचीन धर्म सृष्टिकर्त्ता ईश्वर में विश्वास सिखाते हैं। प्राकृतिक घटनाओं के अप्राकृतिक कारण में विश्वास प्रारंभिक धार्मिक मस्तिष्क का प्रधान लक्षण है। यह आश्चर्य की बात है कि इतने प्राचीन-काल में जैनधर्म अपनेको इस पक्षपात से मुक्त कर सका। नवीन विज्ञान के अनुसार

प्रकृति-जगत् एक स्वतंत्र समष्टि (System) है, जिसकी प्रत्येक घटना अटूट नियमों के अनुसार होती है। इन नियमों में कोई बाहरी (जड़ेतर) शक्ति हस्तक्षेप नहीं कर सकती। ईश्वर को स्रष्टा मानने का अर्थ प्रकृति की अखण्डता और स्वतंत्रता (Autonomy) में अविश्वास करना है। प्रकृति-संबंधी इस रहस्य को जैन-धर्म ने मानव-चिन्तन की इतनी आरंभिक अवस्था में समझ लिया, यह श्लाघ्य है।

भारतवर्ष का यह दुर्भाग्य है कि जैनधर्म-द्वारा जड़ जगत् की इस प्रकार निरपेक्षता घोषित किये जाने पर भी यहाँ वैज्ञानिक अन्वेषण का उदय नहीं हुआ। इसका मुख्य कारण यही मालूम पड़ता है कि यहाँ के सर्वश्रेष्ठ मस्तिष्क मोक्ष की खोज में लगे रहे; उनमें प्राकृतिक रहस्यों का पता लगाकर जड़ शक्तियों पर शासन करने की आकाङ्क्षा न थी। हिन्दू-दर्शन की भाँति जैनधर्म ने भी मोक्ष में विश्वास प्रतिपादित किया, और चूंकि मोक्ष का अर्थ शरीर अथवा जड़ जगत् के सम्पर्क से छूटना था, इसलिए इन विचारकों का जड़-सम्बन्धी अन्वेषणों में जी लगना कठिन था। यही कारण है कि जहाँ जैनधर्म के श्रुति-विरोध ने भारत की तर्क-प्रगति को प्रभावित किया, वहाँ उसके अनीश्वरवाद ने भारतीय दर्शन पर विशेष प्रभाव नहीं डाला। इसके विपरीत जैनदर्शन के घोर द्वैतवाद ने आत्मा और अनात्मा के बीच की खाई को अधिक चौड़े और गहरे रूप में प्रदर्शित करके भारतीय मस्तिष्क को प्रकृति से तटस्थ रखने में सहायता दी।
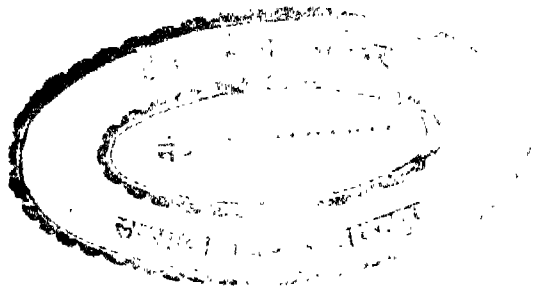
उत्तर कर्णाटक और कोल्हापुर राज्य के कुछ शिलालेख

[ले०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस०]

(शेषांश)

इस लेख से स्पष्ट है कि राष्ट्रकूट सम्राट् मूलतः रट्टवंशोद्भव थे; क्योंकि सम्राट् कृष्ण को रट्टवंशी और उन्हींके वंश में रट्टराज कार्तवीर्य को हुआ लिखा है। कार्तवीर्य स्वयं जैनधर्मानुयायी थे। उनकी रानी का नाम पद्मावती था। लक्ष्मीदेव उन्हींके पुत्र थे। उपरान्त वह राजा हुए थे। चन्द्रिकादेवी उनकी पट्टरानी बड़ी धर्मात्मा थीं। एक दफा उनको घटसर्प नामक असाध्य रोग हो गया। वैद्यों ने उनके अच्छा होने की आशा छोड़ दी। वह एकान्तवास में जा रमीं और जिनेन्द्र महावीर का मंदिर बनवाकर उसमें जिनपूजा एवं व्रतोपवास करने में निरत हुईं। उनकी भक्ति सफल हुई—वह अच्छी हो गईं। यह वर्णन अगले लेख नं० २३ में अंकित है। उपर्युक्त लेख में मुरियर महाप्रभु अम्मगौड के पार्श्वजिनालय बनवाने का उल्लेख है। 'मुरियर महाप्रभु' बिरुद संभवतः मोरिय क्षत्रियत्व का द्योतक है। तामिल साहित्य में 'मुरियर' शब्द 'मोरिय' (मौर्य ?) लोगोंके लिये प्रयुक्त हुआ है। 'प्रभु' या 'महाप्रभु' शब्द महाराष्ट्रीय कायस्थों के लिये प्रयुक्त होता है। जो हो, यह स्पष्ट है कि अम्मगौड एक सरदार था और जिनेन्द्र का भक्त था। उसकी पत्नी जिनभक्ति में किसीसे कम नहीं थी। नं० २३ (४४"×२५") शिलालेख का हिन्दी-भाव निम्न प्रकार है:—

१—३। रट्टों के प्रसिद्ध और प्रतापी वंशरूपी समुद्र से जन्मे अनेक राजा ऐसे शोभते थे, मानो पृथ्वी को अलंकृत करने के लिये मोती अथवा रत्न हैं। उनमें सर्वश्रेष्ठ नरेश सेन अतुल भुजविक्रम के धारी हुए।१।

४—५। उन पृथ्वीपति और लखुमादेवी के पुत्र भुवनविख्यात और अतुल पराक्रमी कार्तवीर्य हुए।२।

५—६। उन श्रेष्ठतम नरेश और कमलनयनी पद्मावती के पुत्र वीर-समुदार और प्रसिद्ध लक्ष्मीदेव हुए।३।

६—८। उनकी प्रिय रानी चन्द्रिकादेवी थी, जो निर्मल चारित्र की धारक और पृथ्वी पर प्रसिद्ध थीं। वह एक महान् दातार और लोक के हृदय को आनन्द देनेवाली थीं, क्योंकि घटसर्प (रोग) पर विजय पाने पर उनका जयघोष शब्द हुआ था।४।

८—९। उनके प्यारे पुत्र कार्तवीर्य और मल्लिकार्जुन थे। कार्तवीर्य की विभूति

इन्द्रतुल्य थी। वह संग्रामों में प्रसिद्धि पा चुके थे और उनके चरणों की सेवा राजाओं के मस्तकों ने की थी।५।

९—१६। स्वस्ति! जब कि प्रतापी महामंडलेश्वर कार्तवीर्य अपनी राजधानी वेणुग्राम मे शासन करते हुए सुखदवात्रा में कालक्षेप कर रहे थे: कार्तवीर्य महामंडलेश्वर, समधिगत-पंच-महाशब्द-गत, लट्टनूर-पुरवराधीश्वर, त्रिवलि-तूर्य-निर्घोषण, रट्टकुल-भूषण, सिंधूरलाञ्छन, सफलिकृतविद्वज्जन-आमिवाञ्चन, साहित्य-विद्या-विरञ्चि, वीरकथा-करणन-जात-रोमांच, स्वर्णगरुड़ध्वजी, सहजमकरध्वज, संग्राम-तूलि-कृत-गदा-दंड, कदन-प्रचंड, सिंधुरारिबंधुर-कबन्ध-नर्तन सूत्रधारि, रिपुसिरःखंडन-कराल-करवाल, मंडलिक-गंड-तल-प्रहारि विभव-संक्रदन साहस-ओत्तुङ्ग और बप्पनसिंग थे। उनके यह और अन्य बिरुद थे। उनके चरणकमलोपसेवी :

१६—१८। बाचरस कङ्कणनूरु के स्वतंत्र स्वामी थे। उनकी पत्नी परसियव्वे कमलवदनी और मोहककेशावलियुक्त थीं। उनके पुत्र थे :

१८—२०। श्रीपति हेम्मणय्य, लोकप्रिय चित्तणय्य, राजदरबारों में प्रसिद्ध प्रतापी कालिमय्य और दंडनायक चावुंडराय। कालिमय्य विद्यारसिक और रट्टराज्योद्धरण परिणत थे।६।

२१—२२। यह चारो राजनीति में निपुण, विजय के विश्रामस्थल, रट्टराज्य संरक्षण के लिए साक्षात् ब्रह्मा द्वारा स्थापित साफल्य के चार साधन थे।७।

२२—२३। उनमें ज्येष्ठ हम्मराज नृपवर कार्तवीर्य का कृपापात्र था।

२४—२५। उसने अपने वंशगत प्राप्त दानपत्र को फिर लिखाया। उसका सार इस लेख में निम्नप्रकार गर्भित किया जाता है:—

२५—२६। स्वस्ति! जगतीतल में प्रसिद्ध एरेगनृप रट्टकुल के स्तंभ, लोकप्रसिद्ध और महती राज्य के आदिकर्त्ता थे।१०।

२६—२८। जब वह कुंडी राजधानी से शासन कर रहे थे तब शक ५०० भव संवत्सर आषाढ़ कृष्ण १० सोमवार को।

२८-३२। प्रतापी महामंडलेश्वर एरेगदेवरस ने जलधारा द्वारा प्रचंड दंडनायक कङ्कणनूरु के स्वामी मादिराज को ४१०० कम्बभूमि ......दान की, जिसपर उनका पूरा स्वामित्व और आठ प्रकार का भोग अधिकार प्राप्त था।

३२-३३। नृप के सेनापति का जन्म कन्नडिगवंश में हुआ है। वह सांडिल्य ऋषि के ब्राह्मणवंश में हुए और अपने शौर्य से शत्रुओं को नष्ट किया।११।

३३-३५। दंडनायक-कमल-सूर्य मादिराज दंडाधीश्वर ....मानो यमपुत्र ही थे ! ।१२।

३६-३७। ५५० कम्ब भूमि मूलस्थान के कलिदेव के आचार्य को और एक घर ......४५० कम्ब भूमि यापनोय संघ की मूल बसदि (मंदिर) को और एक दानशाला भी।

३८। ५५० करमुक्त कम्ब भूमि मूलसंघ-बसदि को और एक दानशाला भी।

३८-३९। दंडाधिप हेम्म ने मूलस्थानद कलिदेव का मंदिर और दोनों मूल बसदिओं (जिनमंदिरों) का जीर्णोद्धार कराया। उन्होंने दोनों का धार्मिक क्रियाकाण्ड मिलाकर एक कर दिया ।१३।

३९-४१। मानवजीवन को सफल करनेवाले चारों पुरुषार्थों को पवित्रभूत अच्छे मंदिर उन्होंने बनवाये और ग्रामदेवता के शिरोभूषण भी तथा खूब जीर्णोद्धार कराया ।१४।

४१-४२। तालाब, कुएँ, जलागार, बाग-बगीचे आदि उन्होंने नगर के चहुंओर बनवाये। ऐसा उनका पुण्य है ।१५।

४२-४५। प्रभु हेम्मय्य उस अद्भुत स्थान पर रहते थे . ... प्रशंसनीय थे, कुलव्योम में प्रचंडसूर्य थे, महान् पुण्यशाली थे, अनिन्द्यचरित्र थे ज्येष्ठ पुत्र थे, लोक-प्रबंध करने के लिये योग्य थे और श्रेष्ठ वाचस्पति थे ।१६।

४५-४६। वह अपने कुलव्योम के चमकते चन्द्र और अनेक विद्यासम्पन्न थे .....१७।

४६-४७। ३०० कम्ब भूमि ....ब्रह्मेश्वर को .....।

४८। ४५० कम्ब भूमि शिल्पकार्य के लिए .....।

४८। ४५० कम्ब भूमि कलश के लिए...... ।

४९। २५० भूमि बलादि के लिए.........।

५०। २०० भूमि ब्रह्मदेव के लिए ....।

५०-५१। ४५० भूमि ग्राम कर्णिक (clerk) के लिए ....।

५१-५२। ३०० भूमि दरबान के लिए........।

५२-५३। ३०० कम्ब भूमि ....ब्रह्मपुरी ....१०० कम्ब भूमि विनायक के लिए .. . .।

५४-५५। १०० कम्ब भूमि ....।

५६। जो नृप इस दानपत्र का पालन करेंगे वह इह और परलोक में सुखी होंगे, पर जो इसको छीनेंगे वह अपने पूर्वजों सहित नरक में पड़ेंगे। ८।

५७। जो स्वदत्त या परदत्त दान छीनेगा वह साठ हजार वर्षों तक कृमि हो दुखी होगा ।१९।

इस लेख से रट्टवंश के नृप एरेग का पता चलता है। वह भी जिनेन्द्रभक्त थे। उनके दंडनायक, मादिराज, एक प्रचंड वीर थे। साथ ही वह धर्मरत्न और जिनधर्म-प्रभावक भं. थे। उनके पुत्र दंडाधिप हेम्म थे। उन्होंने कई मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया था। खास बात यह है कि यद्यपि यापनीयसंघ और मूलसंघ के मंदिर अलग-अलग थे, परन्तु उन्होंने दोनों की पूजा-व्यवस्थादि मिलाकर एक कर दी। इससे स्पष्ट है कि दोनों संघों की पूजाविधि आदि में विशेष अन्तर नहीं था।

प्राचीन इंग्लेश्वर के कुएँ पर लेख नं० ३९ अङ्कित है, जिसका हिन्दी-भाव यों है :—

१-६। इंग्लेश्वर के स्वामी शशिनाथ ने प्रसन्नता पूर्वक अद्वितीय तीर्थनाथ मल्लिनाथ जिननाथ का एक पाषाण मंदिर बनवाया, मानो वह देवेन्द्र का रत्नागार ही हो।

७-१०। (मंदिर बनने का समय है, परन्तु वह घिस गया है)

बड़गाँववस्ति (कोल्हापुर) के शिलालेख नं० ४० का हिन्दी-रूप निम्नप्रकार है :—

१-२। शान्तिनाथ को नमस्कार हो। अमोघ और महान् स्याद्वाद लाञ्छनयुक्त त्रिलोकीनाथ श्री जिननाथ का शासन जयवंता प्रवर्तो!

२-५। पंचकल्याण(क) युक्त, स्याद्वादलाञ्छन सहित जो विश्वज्ञान ज्ञापक है, ऐसे सोलहवें तीर्थङ्कर शान्तीश्वर और पंचम चक्रनाथपद प्राप्त गौतम(स्वामी) हमें इस धरातल पर शाश्वत अच्युतपद प्रदान करें।

५-६। शिवकोटि-नृप-प्राणि, जिनका नाम बाल-भट्टारक और जो सेनगण में प्रसिद्ध है, वह मध्याह्नकल्पभूरुह थे। (the mid-day desire yielding tree).

७-८। प्रसन्न शासनदेवी ज्वालिनी से उन्हें वरदान प्राप्त था। वह कवियों के लिये (bridle-bit) थे। वह वृषभसेनान्वय और पुष्करगच्छ के थे।

८-९। मैं लक्ष्मीसेन मुनियों की वंदना करता हूँ जो दिल्ली, करवीर, काञ्ची और पेनुगोंडे के पीठ (स्थानों) में विराजित हैं।

९-१०। कुन्तलदेश में अनेक बाग, कुएँ, तालाब, नदियाँ और ईख के खेत हैं। उसमें सार्थक नाम बड़गावि है।

११-१२। उस स्थान का स्वामी भारद्वाजगोत्री नेमि था, उनकी पत्नी पद्मावती थीं। दोनों से पंचमवंश वहाँ चमका था।

१२-१३। मये समस्त पंचव्रतों के, पंच ...... भक्ति के, और गति एवं कल्याण के योग्य होते 'पंचम' (वंश) अस्तित्व में आया।

१३-१४। उस वंश में बुक हुये, जो नाना प्रकार का आहार ऋषिसंघ को दान देते थे।

१५-१६। उनका पुत्र देवप था। उनकी पत्नी नेमा थीं। इनके पुत्र आदप महान् धर्मात्मा थे।

१६-१७। उनकी पत्नी अक्कमा थीं, जिनके दो पुत्र—ज्येष्ठ लघुम और छोटे बुक्क हुए।

१७-१८। लघुम की पत्नी आदव्व एक प्रसिद्ध महिला, सर्वगुणसम्पन्न और सीता सती समान थीं।

१८-१९। उनके चंद्र-सूर्य की तरह प्राची दिक् से ज्येष्ठ पुत्र बलवान् और प्रसिद्ध आदप्प और लघुपुत्र लोकप्रसिद्ध अकप्प हुए।

२०। बुक्कसेट्टि की प्रिय पत्नी सानव्व थीं। उनके पुत्र का प्रिय नाम सात था।

२१। तीनों अपनी पत्नियों सहित ऐसे चमकते थे, मानो एक हों। अपनी पत्नियों की सम्मति से उन्होंने एक चैत्यालय बनाया।

२२-२४। चैत्यालय में एक परकोट, कलशध्वजयुक्त गोपुर, और मानस्तंभ भी था। पंडितों ने उसकी बिम्ब प्रतिष्ठा और महासंघपूजा की, यह सोचकर कि इस लोक व परलोक में सुखकर होगी।

२४-२६। सं० १६९६ जय संवत्सर पुष्य कृष्ण १ को शान्ति जिनबिम्ब की स्थापना हुई।

२६-२७। जो मंदिर व मूर्ति का जीर्णोद्धार करेगा वह महती पुण्य संचय करेगा और जो इनकी रक्षा करेगा वह अक्षय फल पायगा।

२७-२९। जो धर्मकार्य को, मंदिर व मूर्ति को नाशेगा वह स्त्रियों, बालकों, गउवों सूअरों और कोड़ियों का नाशक होगा। वह अपने सौ जन्मों में कुत्ता होगा।

२९-३०। यह शान्तिजिन का शासन लेख यावद्चन्द्रदिवाकर इस पृथ्वी पर वर्द्धमान रहे। जिनशासन की वृद्धि हो!

३१-३२। धम-कर्म के पुण्यफल-द्वारा ही नर-देव गण और तीर्थङ्कर की पदवी मिलती है। अतः धर्म-कर्म करना चाहिए।

३३-३४। जो धर्म-कर्म करता है और जिनपूजा करता है, वह अभय है। उसकी सब विघ्न-बाधायें नश जाती है। उसे इच्छित फल प्राप्त होता है। लोग आकर्षित होते हैं। धर्मवृद्धि हो।

३५। शालिवाहन नृप शक १६९६ पौष्य कृष्ण १ वृहस्पति को।

इस लेख से दक्षिण भारत के पंचम जातीय जैनियों की उत्पत्ति पर प्रकाश पड़ता है। ऐसा मालूम होता है कि पंचम जाति के लोगों को जब धर्मकर्म के योग्य आचार्यों ने पाया, तो उन्हें पंच अणुव्रतादि देकर जैनधर्म में दीक्षित कर लिया। इस लेख में बिम्बप्रतिष्ठा का भी उल्लेख है।

इस प्रकार इन लेखों से तत्कालीन जैनस्थिति पर प्रकाश पड़ता है। यदि अन्य स्थानों के जैन लेखों का संग्रह किया जाय, तो इसी प्रकार इतिहास का उद्योत हो!

केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि

[ले०—श्रीयुत पं० नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ, ज्योतिष-शास्त्री]

केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि फलित ज्योतिष से सम्बन्ध रखता है। अभी हाल में श्रीमान् श्रद्धेय पं० के० भुजबली जी शास्त्री मूडबिद्री गये थे और वहाँ से इसकी नकल करवा कर लाये हैं। इसकी पृष्ठ संख्या २४ है, प्रत्येक पृष्ठ में ११ लाइनें हैं और प्रत्येक लाइन में प्रायः २३ अक्षर हैं। भाषा संस्कृत है, कहीं-कहीं बीच में प्राकृत गाथाएँ भी दी गई हैं। इसका विषय प्रश्नकर्त्ता के प्रश्नानुसार फल बतलाना है। इस ग्रन्थ के कर्त्ता समन्तभद्राचार्य बताये गये हैं, परन्तु ग्रन्थ के भीतर ऐसा कोई भी प्रमाण नहीं है, जिससे ग्रन्थकार का निर्णय किया जा सके। इसमें अक्षरों के पाँच वर्ग निश्चित किये हैं :—

अ ए क च ट त प य शाः, इति प्रथमः ॥१॥
आ ऐ ख छ ठ थ फ र षाः, इति द्वितीयः ॥२॥
इ ओ ग ज ड द ब ल साः, इति तृतीयः ॥३॥
ई औ घ झ ढ ध भ व हाः, इति चतुर्थः ॥४॥
उ ऊ ङ ञ ण न माः, अं अः, इति पञ्चमः ॥५॥

एतान्यक्षराणि कथकस्य वाक्यतः प्रश्नाद्वा गृहीत्वा स्थापयित्वा सुष्ठु विचारयेत्।

प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न के अनुसार अक्षरों को लेकर इसमें फल बताया गया है। अर्थात् उपर्युक्त पाँचों वर्ग के अक्षरों में से कोई भी अक्षर प्रश्नकर्त्ता से स्पर्श करवाके या इन्हीं अक्षरों में से कोई भी अक्षर की कल्पना करा के उसका फल बतलाया गया है। आगे इन्हीं अक्षरों के संयुक्त, असंयुक्त, अभिहत, अनभिहत, अभिघातित इन पाँच मिश्रित वर्गों को लेकर तथा आलिंगित, अभिधूमित, दग्ध—इन तीन क्रियाविशेषणों से प्रश्न का विचार किया गया है। स्ववर्ग संयोग में स्वकीय चिन्ता और परवर्ग संयोग में परकीय चिन्ता बताई गई है। अनभिहत का फल इस प्रकार बताया है :—

"स्ववर्गे व्याधिपीडां परवर्गे शोकसंतापदुःखभयपीडांश्च निर्दिशेत्।"

अर्थ—स्ववर्ग के अनभिहत प्रश्नकर्त्ता के प्रश्नाक्षर होने पर व्याधि, पीड़ा आदि फल और परवर्ग के अनभिहत प्रश्नाक्षर होने पर शोक, संताप, दुःख, पीड़ा आदि फल होता है। इस प्रकार उपर्युक्त आठ प्रकारों से प्रश्नकर्त्ता के प्रश्न का विचार बहुत अच्छी तरह से किया है। इसके पश्चात् इस ग्रन्थ में नष्ट-जातक-पत्र बनाने का विषय सब से महत्त्वपूर्ण एवं प्रशंसनीय है। प्रश्नकर्त्ता के प्रश्नाक्षर पर से योनि, गण, सम्वत्, मास, पक्ष, तिथि, लग्न, नक्षत्र आदि का ज्ञान किया है। हिन्दू-ज्योतिष के किसी भी ग्रंथ में प्रश्नाक्षर पर से नष्ट-जातक बनाने की विधि नहीं बताई गई है; बल्कि सब जगह प्रश्नलग्न पर से ही नष्ट-जातक

बनाने की विधि दृष्टिगोचर होती है। प्रश्नाक्षर पर से नष्ट-जातक बनाने में बहुत कम परिश्रम करना पड़ता है। अतः जिनकी कुंडली नहीं है उनकी भी जन्म-पत्रिका बहुत सरलता से बन सकती है। योनि जानने का निम्नप्रकार निश्चय किया है :—

तत्र त्रिविधो योनिः। जीवधातुमूलमिति। अ, आ, इ, ए, ओ, अः, इत्येते जीवस्वराः षट्। क ख ग घ च छ ज झ ट ठ ड ढ य श स हाः, इति पंचदश व्यञ्जनाक्षराणि च जीवाक्षराणि भवन्ति। उ, ऊ, अं इति त्रयः स्वराः, त थ द ध प फ ब भ व साः, इति त्रयोदशाक्षराणि धात्वक्षराणि भवन्ति। ई ऐ औ इति त्रयः स्वराः; ङ ञ ण न म ल र षाः, इत्येकादशाक्षराणि मूलानि भवन्ति। प्रश्ने जीवाक्षराणि धात्वक्षराणि मूलाक्षराणि च परस्परं शोधयित्वा तत्र योऽधिकः स एव योनिः। दग्धालिंगिताभिधूमितश्चेत्धातुः। आलिंगिताभिधूमितदग्धाश्चेत् जीवः। तत्र जीवः द्विपदः चतुष्पदः अपदः संकुलेति चतुर्विधः। अ ए क च ट त प य शाः द्विपदाः। आ ऐ ख छ ठ थ फ र षाः चतुष्पदाः। इ ओ ग ज द व ल साः अपदाः। ई औ घ झ ढ ध भ व हाः पादसंकुलाः भवन्ति।

अर्थात्—योनि के मूल में तीन भेद हैं। जीव, धातु और मूल। अ आ इ ए ओ अः क ख ग घ च छ ज झ ट ठ ड ढ य श ह ये २१ अक्षर जीवसंज्ञक; उ ऊ अं त थ द ध प फ ब भ व स ये १३ अक्षर धातुसंज्ञक और ई ऐ औ ङ ञ ण न म ल र ष ये ११ अक्षर मूल संज्ञक हैं। जीव योनि के पुनः द्विपद, चतुष्पद अपद, पादसंकुला ये ४ भेद किये हैं। इनकी पहचान उत्तरोत्तर, अधरोत्तर, अधराधर आदि वर्ण संज्ञा से की गई है। द्विपद आदि योनियों के भी कई अवान्तर भेद किये हैं, जिनसे जातक के गण का ज्ञान हो जाता है। धातु और मूल योनि के भी कई अवान्तर भेद गिनाये हैं। इनके पहचानने की विधि भी बताई गई है। नष्ट-जातक के जन्ममास का ज्ञान निम्न प्रकार से किया है :—

अ, ए, क फाल्गुणः; च, ट चैत्रः; त, प कार्त्तिकः; य, श मार्गशिरः; आ ऐ ख छ ठ थ फ र षाः माघः, इ ओ ग ज ड दाः वैशाखः; द ब ल साः ज्येष्ठः; ई औ घ झ ढाः आषाढः; ध भ व हाः श्रावणः; उ ऊ ङ ञ णाः भाद्रपदः; न, म, अं, अः आश्विनुजः।

अर्थात्—प्रश्नकर्त्ता के प्रश्नाक्षर में यदि अ ए क हों तो फाल्गुण; च ट हों तो चैत्र; य श हों तो मार्गशिर; त प हों तो कार्त्तिक; आ ऐ ख छ ठ थ फ र ष हों तो माघ; इ ओ ग ज द हों तो वैशाख; द ब ल स हों तो श्रावण; उ ऊ ङ ञ ण हों तो भाद्रपद और न म अं अः हों तो आश्विन जन्म मास जानना चाहिये।

पक्ष जानने के लिये निम्न प्रकार बताया है :

अ ए क च ट त प य शाः शुक्लपक्षः, आ ऐ ख छ ठ थ फ र षाः कृष्णपक्षः, इ ओ ग ज द ब ल साः शुक्ल पक्षः, चतुर्थवर्गोपि (ई औ घ झ ढ ध भ व हाः) कृष्णपक्षः, पञ्चवर्गोभयपक्षाभ्यां एकान्तरितभेदेन ज्ञातव्यः।

अर्थात्—प्रश्नकर्त्ता के प्रश्नाक्षर यदि अ ए क च ट त प य श हों तो शुक्ल पक्ष का जन्म; आ ऐ ख छ ठ थ फ र ष हों तो कृष्ण पक्ष का जन्म; इ ओ ग ज द ब स हों तो शुक्ल पक्ष का जन्म; घ झ ढ ध भ व ह हों तो कृष्णपक्ष का जन्म जानना चाहिये।

नष्ट-जातक-पत्र की तिथि जानने की विधि निम्न प्रकार है :—

अ, इ, ए शुक्लपक्ष प्रतिपत्। क २, च ३, ठ ४, त ५, प ६, य ७, श ८, ग ९, ज १०, ड ११, द १२, उ १३, ल १४, स १५ इति शुक्लपक्षः। अं, पञ्चम्यादि; अः, त्रयोदश्याम्।

अर्थात्—यदि प्रश्नकर्त्ता के अ इ ए अक्षर हों तो शुक्लपक्ष की प्रतिपदा, क हो तो शुक्लपक्ष की द्वितीया, च हो तो शुक्लपक्ष की तृतीया, ठ हो तो शुक्लपक्ष की चतुर्थी, त हो तो शुक्लपक्ष की पञ्चमी, प हो तो शुक्लपक्ष की षष्ठी, य हो तो शुक्लपक्ष की सप्तमी, श हो तो शुक्लपक्ष की अष्टमी, ग हो तो शुक्लपक्ष की नवमी, ज हो तो शुक्लपक्ष की दशमी, ड हो तो शुक्लपक्ष की एकादशी, द हो तो शुक्लपक्ष की द्वादशी, ब हो तो शुक्लपक्ष की त्रयोदशी, ल हो तो शुक्लपक्ष की चतुर्दशी, स हो तो पूर्णिमा, अं हो तो कृष्णपक्ष की पञ्चमी और अः हो तो कृष्णपक्ष की त्रयोदशी जन्म तिथि जाननी चाहिये।

"अष्टसु वर्गेसु राहुपर्यन्ता अष्टग्रहाः, ङ ञ ण न मेषु केतुश्च।"

अर्थात्—यदि प्रश्नाक्षर क ख ग घ हों तो सूर्य, च छ ज झ हों तो चन्द्रमा, ट ठ ड ढ हों तो मंगल, त थ द ध हों तो बुध, प फ ब भ हों तो गुरु, य र ल व हों तो शुक्र, श ष स हों तो शनि, ह हो तो राहु और ङ ञ ण न म हों तो केतु जानना चाहिये।

"अकरादि द्वादशमात्राः स्युर्द्वादशराशयः।

अर्थात्—यदि अ मात्रा प्रश्नाक्षर में हो तो मेष, आ हो तो वृष, इ हो तो मिथुन, ई हो तो कर्क, उ हो तो सिंह, ऊ हो तो कन्या, ए हो तो तुला, ऐ हो तो वृश्चिक, ओ हो तो धनु, औ हो तो मकर, अं हो तो कुम्भ, अः हो तो मीन लग्नराशि जाननी चाहिये। तत्पश्चात् गमनागमन, लाभालाभ आदि विषयों का विवेचन प्रश्नाक्षरों पर से किया है। यह विषय भी ज्योतिषशास्त्र में नवीन और उपयोगी है। शुभाशुभ का विचार निम्न प्रकार से बताया है—

अभिधूमितमात्रे संयुक्ताक्षरे दीर्घायुः। प्रश्ने अभिघातितासु शीघ्रमरणमादिशेत्। संकठ मात्रसंयुक्ताधराक्षरेषु रोगो भवति। दीर्घस्वर संयुक्तोत्तराक्षरेषु दीर्घरोगो भवति। अधरोत्तरेषु धात्वक्षरेषु अभिमतस्वरसंयुक्तेषु स्त्रीभ्यो मृत्युर्भवति।

अर्थ—प्रश्नाक्षर अभिधूमित† संयुक्ताक्षर होने पर दीर्घायु होती है। प्रश्नाक्षर अभिघातित होने पर शीघ्र मरण होता है। संकठ संयुक्ताधराक्षरों के होने पर बड़ा रोग होता है। अर्धसंयुक्ताक्षरों के होने पर स्त्रियों से मृत्यु होती है। अधरोत्तर धातु अक्षरों के होने पर स्त्रियों से मृत्यु होती है।

इस प्रकार इस ग्रन्थ में कई नवीन और महत्त्वपूर्ण विषय दिये गये हैं, जो अन्यत्र शायद ही मिलेंगे। ग्रन्थ उपयोगी है। इसके प्रकाशित होने की आवश्यकता है। आशा है, कोई दानी सज्जन इसको प्रकाशित करा कर जैन-साहित्य का उपकार करेंगे।

† यह संज्ञाविशेष है; ग्रन्थकर्ता ने इसको स्वयं विस्तार से स्पष्ट किया है।

पार्श्वदेवकृत 'संगीतसमयसार'

[ले०—श्रीयुत बा० अ० नारायण मोरेश्वर खरे]

अनु०—शान्तिलाल जैन, शास्त्री, बनारस

प्रस्तुत पुस्तक त्रावंकोर दरबार की ओर से निकलनेवाली 'त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सिरीज़' में गत वर्ष प्रकाशित हुई है। इस पुस्तक का संशोधन त्रावंकोर के प्रसिद्ध विद्वान् महामहोपाध्याय टी० गणपति शास्त्री ने किया है। प्रस्तुत पुस्तक के कर्ता 'संगीताकरनामधेय श्री पार्श्वदेव' हैं। इनके बारे में अभी तक कोई विशेष हकीकत मालूम नहीं है; परन्तु टी० गणपति शास्त्री स्वयं प्रस्तावना में लिखते हैं कि ग्रन्थकर्ता श्री पार्श्वदेव जैन-परम्परा के होने चाहिए क्योंकि उनका नाम एक जैन तीर्थंकर के नाम से मिलता है। अस्तु।

प्रस्तुत ग्रन्थ का, मेरे अभिप्राय में, अत्यन्त महत्त्व है क्योंकि उसमें तत्कालीन केवल देशी संगीत का ही वर्णन है। उस ग्रन्थ की भाषा, उसमें आया हुआ विषय और उसमें किए हुए वर्णन को देखते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि वे सब ग्रन्थकार अर्थात् श्री पार्श्वदेव संगीतरत्नाकर के समय के आसपास के होने चाहिए। ग्रन्थकार स्वयं द्वितीय अधिकरण के प्रथम श्लोक में ही भोजराज और सोमेश्वर का उल्लेख करते हैं। भोजराज का समय ई० सन् १०५३ और सोमेश्वर का ई० सन् ११८३ है। इस प्रमाण से ग्रन्थकार अथवा ग्रन्थ का समय ई० सन् ११८३ के बाद का सिद्ध होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ का नाम 'संगीतसमयसार' है। इसका उल्लेख दूसरे ग्रन्थकारों ने भी किया है। उसमें से रागविबोधकार श्री सोमनाथ ने अपने 'रागविबोध' के तृतीय विवेक में 'प्रबन्ध' के बारे में लिखते हुए 'तथा च पार्श्वदेवः' ऐसा कह कर लिखा है कि—"चतुर्भिर्धातुभिः षड्भिश्चांगैर्यस्मात्प्रबध्यते, तस्मात्प्रबन्धः कथितो गीतलक्षणकोविदैः।" इस प्रकार रागविबोधकार ने 'संगीतसमयसार' के प्रबन्ध की व्याख्या की है। उनका समय शक १५३१ अर्थात् ई० सन् १६०० है। इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ ई० सन् १२०० और १६०० के बीच का होना चाहिए। अब इस ग्रन्थ के अन्तरंग को देखें।

ई० सन् १२०० के बाद का संगीत-विषयक सबसे बड़ा ग्रन्थ संगीतरत्नाकर है। इसके बाद संगीतदर्पण, संगीतपारिजात, रागविबोध आदि ग्रन्थ आते हैं। संगीतरत्नाकर का समय ई० सन् १२१० से १२४७ तक निश्चित है। संगीतरत्नाकर और संगीतसमयसार के कर्त्ताओं ने एक दूसरे का उल्लेख नहीं किया है। शायद दोनों के ग्रन्थ एक दूसरे

के देखने में न भी आए हों। दोनों ग्रन्थों का विषय एक है, परन्तु भाषा भिन्न है। संगीतरत्नाकर में प्रत्येक विषय का वर्णन है जब कि संगीतसमयसार में ऐसा नहीं है। मार्ग और देशी इन दोनों पद्धतिओं का यथायोग्य वर्णन संगीतरत्नाकर में है, जबकि संगीत-समयसार में केवल देशी संगीत के बारे में ही लिखा है; और देशी संगीत के बारे में जितना वर्णन संगीतरत्नाकर में है उतना ही संगीतसमयसार में भी है। इतना ही नहीं, जितने देशी रागों के नाम और लक्षण संगीतरत्नाकर में दिए हैं, उतने ही रागों के नाम और लक्षण संगीतसमयसार में भी हैं। केवल विषय-नियोजना और भाषा भिन्न है। संगीत-रत्नाकर ग्रन्थ पूर्ण स्वरूप में है, ऐसा कहा जा सकता है; परन्तु संगीतसमयसार त्रुटित और कहीं-कहीं तो असम्बद्ध प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ तृतीय अधिकरण में देशी रागों के विभाग जैसे कि रागांग, भाषाङ्ग, छायांग, उपांग आदि बतलाने के बाद फौरन ही सप्त स्वरों के नाम तथा श्रुति-व्यवस्था दी है। फिर तुरंत ही सब विभागों में आए हुए रागों के नाम दिए हैं। अब हम प्रस्तुत पुस्तक में आए हुए नौ अधिकरणों (प्रकरणों) को देखें।

१. प्रथम अधिकरण में नादोत्पत्ति, नादभेद, ध्वनिस्वरूप, उसके भेद, मिश्रध्वनि, शारीरलक्षण, गीत-लक्षण और उसके भेद—आलप्ति, वर्ण, अलंकार आदि विषयों का समावेश है। नादोत्पत्ति के बाद स्वर, श्रुति, मूर्छना आदि की व्याख्याएँ देनी चाहिए थी, परन्तु वे इस ग्रन्थ में दिखाई नहीं देती। आलप्ति इत्यादि का वर्णन श्रुति, स्वर की व्याख्या के बाद आना चाहिए। स्थायी और दूसरे मिलाकर तेरह अलंकार और सात ही गमक दिए हैं। शायद ग्रन्थकार ने उस समय जितने अलंकारों और गमकों का प्रयोग होता होगा, उतने ही दिए हैं---ऐसा भी कहा जा सकता है।

२. द्वितीय अधिकरण में आलाप के भेद, स्थायी के नाम, करण और उनके स्वरूप दिए हैं। प्रस्तुत वर्णन संगीतरत्नाकर से जरा भी भिन्न नहीं है। स्थायी के नामों को देखते हुए ऐसा मालूम होता है कि ग्रन्थकार ने महाराष्ट्र तथा कर्णाटक में प्रचलित संगीत की तरफ विशेष ध्यान दिया है। कर्णाटकी नाम बहुत बार देखने में आते हैं। इससे ग्रन्थकार स्वयं कर्णाटक की तरफ के हों, ऐसी सम्भावना होती है। जैसे कि जोडणे (करुणा), गीताचे ठाय, जोडीचे ठाय, सादाचे ठाय, शारीरचे ठाय, मुयेय, हन्दुपायी, धरीमेल्ली, निबकरड, भजवणे, नीजवणे, उट्टटुंडुल, परिवडी, बुद्धाये इत्यादि स्थायी के नामों से ग्रन्थकर्ता का कर्णाटकीपना समझा जा सकता है।

वादी-स्वर अर्थात् जीव-स्वर। जिस राग में जो स्वर मुख्य हो अथवा जिसके बिना रागदर्शन ही न हो सके वह वादी-स्वर है। उसकी सुन्दर व्याख्या इस ग्रन्थ में दी है—

"सप्तस्वराणां मध्येऽपि स्वरे यस्मिन् सुरागता।
स जीवस्वर इत्युक्ते अंशो वादी च कथ्यते॥"

संवादी, विवादी और अनुवादी स्वरों की व्याख्या भी इतनी ही स्पष्ट दी हुई है।

आलप्ति करने की पद्धति संगीतरत्नाकर के साथ बिल्कुल मिलती-जुलती है, केवल भाषा ही भिन्न है। गानेवाला गाना प्रारम्भ करने से पूर्व जिस राग में गाना हो उस राग के आलाप गाने के बाद ही स्थायी गाता है। यह पद्धति पूर्व में भी थी। ऐसा ही वर्णन इस पुस्तक में है—

"ततो गायनः पूर्वोक्तप्रकारेण रागस्याकारं स्थापनां च दध्यात्।
रागालप्तिः क्षेत्रशुद्धियुता तालविवर्जिता।
रागस्य शुद्धता क्षेत्रशुद्धिरित्यभिधीयते॥२८॥
गीतस्योत्पत्तिहेतुत्वाद्रागः क्षेत्रमिहोच्यते।
ततो रूप (क) ? रागेण तत्तालं नातिविस्तरम्॥२९॥"

इसके पश्चात् स्थायी के लक्षण दिए हुए हैं और वे सब लोकप्रसिद्ध हैं—ऐसा ग्रन्थकार स्वयं ही कहते हैं।

आगे जाने पर रागों के अंश दिए हैं। उनमें यह श्लोक महत्त्व का है—

"अंशो जनकरागस्य कारणांश इतीरितः।
श्रीरागजनिते गौडे श्रीरागस्यांशको यथा॥
अंशोऽन्यरागस्य पुनः कार्यांश इति कथ्यते॥"१०७॥

यहाँ कारणांश की व्याख्या देते हुए श्रीराग में से उत्पन्न गौड़ राग का उदाहरण दिया है, यह बहुत महत्त्व का है। श्रीराग में से ही गौड़ राग की उत्पत्ति हुई है—ऐसा इसका स्पष्ट अर्थ होता है। संगीतरत्नाकर में लिखा है कि गौड़ राग टक्कग्राम राग में से उत्पन्न होता है और वहाँ उसका वर्णन टक्कराग के नीचे ही किया है—

"गौडस्तदंगवि (नी ?) न्यासग्रहांशः पंचमोज्झितः।"

अर्थात् पंचमस्वर हीन गौड़ राग की टक्कराग में से उत्पत्ति हुई है। संगीतरत्नाकर में श्रीराग की व्याख्या अलग दी हुई है। वह राग किस ग्राम राग से उत्पन्न हुआ है,

यह कहा नहीं है। संगीतसमयसार उसे स्पष्ट बतलाता है कि—

"श्रीरागष्टक्करागांग, म-तारो मन्द्र-गस्तथा।
रि-पंचम-विहीनोऽयं समशेषस्वराश्रयः।
षड्जन्यासग्रहांशश्च रसे वीरे प्रयुज्यते॥"

श्रीराग टक्कराग का एक अंग है। उसमें तार म से मन्द्र ग तक उसकी व्याप्ति है। ऋषभ एवं पंचम वर्जित हैं। बाकी के सा, ग, म, ध, नि, स्वर समस्वर हैं। षड्जस्वर अंश, न्यास और ग्रह है। इस राग की योजना वीररस में होती है।

अब संगीनरत्नाकर की व्याख्या देखें। उसमें 'अधुना-प्रसिद्ध-देशीरागलक्षण' के नीचे श्रीराग सर्व प्रथम दिया है। लक्षण इस प्रकार है—

षड्ज-षाड्जीसमुद्भूतं श्रीरागं स्वल्पपंचमम्।
सन्यासांशग्रहं मन्द्रगान्धारं तारमध्यमम्।
समशेषस्वरं वीरे शास्ति श्रीकरणाग्रणीः॥"

षड्ज-ग्राम में षाड्जी जाति से यह राग उत्पन्न होता है। इसमें अल्प पंचम है। षड्ज-स्वर अंश तथा ग्रह न्यास है। मन्द्र गान्धार से तार मध्यम तक व्याप्ति है। बाकी के स्वर सम हैं। वीर रस में योजना होती है। दोनों ग्रन्थों के लक्षण एक विषय के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों में सर्वांशतः मिलते हैं। संगीतसमयसार ऋषभ और पंचम दोनों स्वरों का निषेध करता है जब कि रत्नाकर में पंचम ही अल्प किया है। बाकी सभी लक्षण वैसे ही हैं—ग्रह, अंश, न्यास, व्याप्ति, रस सब कुछ एक ही। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि संगीतरत्नाकर के समय में एक तो 'श्रीराग' का संपूर्ण स्वरूप ही अधिक प्रचलित होगा, और यदि ऐसा हम मान लें तो संगीतसमयसार ग्रन्थ की कुछ रागों की वर्गीकरणपद्धति रत्नाकर की अपेक्षा कुछ भिन्न होनी चाहिए, ऐसा अनुमान होता है। परन्तु प्रत्यक्ष देखने पर रत्नाकर में ही आए हुए राग, रागांग, भाषाङ्ग, क्रियाङ्ग इत्यादि प्रकार के राग इसमें हमें मिलते हैं। इस अनुमान को तनिक अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है; अर्थात् प्रत्येक प्रमुख राग में जो वादी, संवादी, अनुवादी और विवादी स्वर होते हैं, उनमें से विवादी-स्वरों को हम रागों में इस तरह स्थान देते हैं जिससे राग के मूल स्वरूप में जरा भी फर्क न आए, प्रत्युत उसकी शोभा ही बढ़े। विवादी स्वर दो प्रकार के होते हैं। एक प्रकार तो ऐसा होता है कि यदि उसे राग में स्थान दिया जाय तो राग ही बिगड़

जाय। उसे तो हम छोड़ ही दें। दूसरा प्रकार ऐसा है कि थोड़े परिमाण में विवादी-स्वरों को लेना, जिससे राग के विस्तार में बहुत सहायता पहुँचे। अब इस तरह हम देखेंगे तो संगीतसमयसार के ओढव स्वरूप और संगीतरत्नाकर के स्वल्पपंचमवाले स्वरूप इन दोनों का निर्णय हो जायगा। संगीतरत्नाकर में आए हुए ग्रामराग और जातियों के वर्णन में भी बहुत से स्थानों पर हमें उन-उन रागों के संपूर्ण स्वरूपों के अतिरिक्त षाडव और ओढव स्वरूपों के लक्षण मिलेंगे। और इस बात से उपर्युक्त वर्णन का समर्थन ही होता है। इस समय भी हम किसी भी श्रेष्ठ राग में उसके विवादी-स्वरों को रखकर या निकाल कर गा सकते हैं और यही बात प्राचीन रागों के षाडव, ओढव और सम्पूर्ण स्वरूपों का समर्थन करती है। लगभग एक ही समय के ग्रंथों में एक राग का ओढव स्वरूप एक ग्रंथ में और उसी राग का सम्पूर्ण अथवा षाडव स्वरूप दूसरे ग्रंथ में जब देखने में आता है तब दूसरे तर्क की संभावना ही नहीं रहती। इसी प्रकार भैरव, हिंडोल, मालकंस इत्यादि प्राचीन रागों के वर्णन पर से उन-उन रागों को सुलझाना पड़ेगा। अब तृतीय अधिकरण को देखें।

३. इस अधिकरण में केवल उस समय के प्रचलित देशी रागों का ही वर्णन है। रागों के रागांग, भाषांग, उपांग, क्रियांग आदि भेद किए हैं और वे प्राचीन प्रणाली के अनुसार हैं। मध्यमादि, तोडी, वसन्त, भैरवी, श्री, शुद्धबंगाल, मालवश्री, वराही, गौड़, धनाश्री, गुंडकृति, गुर्जरी, देशी—ऐसे तेरह रागांग राग उनके लक्षण-सहित दिए हैं। वेलावली, अन्धाली, सायरी (असावरी ?), फल (?) मंजरी, ललिता, कैशिकी, नाटा, शुद्ध वराटी, श्रीकण्ठी ये नौ भाषांग राग दिए हैं। बाद में वराही आदि २१ उपांग राग दिए गए हैं। इन सबको मिलाकर कुल ३३ रागों के प्रत्यक्ष लक्षण लिखे हैं। उनमें से कुछ को छोड़कर बाकी सभी के लक्षण संगीतरत्नाकर से मिलते हैं। उनमें से कुछ रागों को क्रमशः मैं यहाँ देना चाहता हूँ।

रागाङ्गानि

१. मध्यमादिः

> मध्यमग्रामसम्भूता मध्यमांशग्रहान्विता ॥७१॥
> मध्यमादिरितिख्याता शृंगारे विनियुज्यते ।
> एतामेव प्रयुज्यादौ वैणिका वांशिकास्तथा ॥७२॥

इस श्लोक में आया हुआ लक्षण संगीतरत्नाकर में भी इसी प्रकार मिलता है और वह 'मध्यमग्राम' के लक्षण के नीचे ही दिया है। जैसे कि—

(मध्यमग्राम)........तदुद्भवा,

मध्यमादिर्मग्रहांशा

इति मध्यमादिः ।।सं० रत्नाकर रागाध्याय ।।६९।।

२. तोडी

अंगं षाडवरागस्य सम्पूर्णश्च समस्वरम् ।।

षड्जतारा गमन्द्रा च न्यासांशग्रहमध्यमा ।

तोड्डीनाम प्रसिद्धोऽयं रागो हर्षे नियुज्यते ।।१४।।

(शुद्धषाडव)———तोडिका स्यात्तदुद्भवा ।।७५।। रत्नाकरश्लोके

मध्यमांशग्रहन्यासा सतारा कम्पपंचमा ।

समेतरस्वरा मन्द्रगान्धारा हर्षकारिणी ।।७६।।

३. वसन्तः

मार्गहिन्दोलरागाङ्गं हिन्दोलो वेडि (देशि ?) संज्ञितः ।

(मार्गहिन्दोल) अंशन्यासे ग्रहे षड्जस्तस्य तारे तु मध्यमः ।।१५।।

षड्जस्वरो भवेन्मन्द्रे तोडितो (तोडितो ?) रिधवर्जितः ।

सपयोः कम्पितश्चैव श्रृंगारे विनियुज्यते ।।१६।।

अयमेव वसन्ताख्यः प्रोक्तो रागविचक्षणैः ।।

(हिंडोल में से).........वसन्तस्तत्समुद्भवः ।।

पूर्णस्तल्लक्षणो देशी हिन्दोलोऽप्येष कथ्यते ।।१६।। सं० रत्नाकर ।

वसन्त राग ही देशी हिन्दोल कहा जाता है ।

४. भैरवः

भिन्नषड्जसमुद्भूतो मन्यासो धांशभूषितः ।

समस्वरो रिपत्यक्तः प्रार्थने भैरवः स्मृतः ।। सं. समयसार

(भिन्नषड्ज)······भैरवस्तत्समुद्भवः ।

धांशो मान्तो रिपत्यक्तः प्रार्थनायां समस्वरः ।। सं. रत्नाकर अ० २-१८

इसमें दोनों के लक्षण एक ही हैं ।

५. श्रीरागः

श्रीरागष्टक्करागाङ्गं मतारो मन्द्रगास्तथा ।
रिपंचमविहीनोऽयं समशेषस्वराश्रयः ।
षड्जन्यासग्रहांशश्च रसे वीरे प्रयुज्यते ॥सं. समयसार

षड्जषाड्जीसमुद्भूतं श्रीरागं स्वल्पपंचमम् ।
सन्यासांशग्रहं मन्द्रगान्धारं तारमध्यमम् ।
समशेषस्वरं वीरे शास्ति श्रीकरणाग्रणीः॥

२--१६१ सं० रत्नाकरे

श्रीराग की व्याख्याओं में जो मतभेद है, उसके बारे में ऊपर ही कहा गया है। संगीतसमयसार में श्रीराग को टक्क राग का अंग माना है, यह ऊपर के श्लोक से स्पष्ट है। श्रीराग में ऋषभ और पंचम वर्जित हैं। ऐसा स्वरूप अन्य किसी भी ग्रन्थ में नहीं दिखाई देता।

६. शुद्धबंगाल

शुद्धषाडवरागांगं शुद्धबंगालसंज्ञकः ।
न्यासांशो मध्यमेनास्य प्रहर्षे विनियोजनम् ॥ सं. समयसार

षाडवादेव बंगालो ग्रहांशन्यासमध्यमः ।
प्रहर्षे विनियोक्तव्यः प्रोक्तः सोढलसूनुना ॥ सं० रत्नाकर २-७७

इसमें दोनों के लक्षण एक ही हैं।

७. मालवश्री

मालवादे (:)भवेदंगं कैशिकस्य समस्वरा ।
सम्पूर्णा तारमन्द्रस्थ-षड्जस्वरविराजिता ॥
षड्जांशन्यासससम्पन्ना मालवश्रीरियंमता ।
मूर्छना शुद्धमध्या चेत् सैव हर्षपुरी मता ।
शृङ्गारे विनियोगः स्यादनयोस्तु द्वयोरपि ॥ सं. समयसार

(सशेष)

श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में भौगोलिक नाम

[ले०—श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जैन, डी० एल०, एम० आर० ए० एस०]

(क्रमागत)

बेक ग्राम—९०, २०७ आदि। होयसल नरेश नरसिंह ने यह गाँव गोम्मटेश्वर को दान किया था, जब उन्होंने दिग्विजय से लौटकर उनके दर्शन किये थे। उपरान्त वीरबल्लाल नरेश ने भी यह ग्राम गोम्मटेश्वर को भेंट किया था। बेक ग्राम के गुरुवपसोवप (?) आदि प्रभुओं ने चामुण्डरायबस्ति के लिये भूमि प्रदान की थी। यह ग्राम श्रवणबेल्गोल के आस-पास होना चाहिये।

बेगूरु ग्राम—३७०। यहाँ के बैयणसेट्टि दानशील थे।

बेडुगनहल्लि—१३७—१३८; दंडाधिप हुल्ल ने इसको दान किया था।

बेळगोळ—२४, ४४, ५६, ५९ आदि श्रवणबेलगोल का अपर नाम।

बेलुकरे—४२; यहाँ के सामंत भ० शुभचंद्र के भक्त थे।

बेलुगुलनाडु प्रदेश—४८४; के नागगौड ने मंगायिबस्ति के लिये दान दिया था।

भण्डेवाड ग्राम ३६६; के बघेरवाल जैनियों ने श्रवणबेलगोल की यात्रा की थी। यह ग्राम संभवतः कहीं मध्यभारत में होगा।

भारगवे ग्राम—३७७; यहाँ के हागण्प सेठ प्रसिद्ध थे।

मक राज्य—८१, ४९५; होयसलनरेश सोमेश्वर ने इस राज्य को जीता था।

मल्लियकेरे ९६; शम्भुदेव ने महामण्डलाचार्य नयकीर्तिदेव के शिष्य चन्द्रप्रभदेव से यहाँ की भूमि खरीद कर गोम्मटदेव के दुग्धपूजन के लिए प्रदान की। इससे प्रकट है कि उस समय (शक ११९६) भट्टारक लोग अपने पास भूमि रखते थे।

मधुरापुरी—१५८; दक्षिणभाग की मदुरा नगरी से आकर अक्षयकीर्ति ने यहाँ समाधि-मरण किया था। यह प्राचीन नगर है। ई० पूर्व ३०० वर्ष से इसका अस्तित्व मिलता है। तब पांडु राजा राज्य करता था। मेगस्थनीज़ ने इसका उल्लेख किया है। यहीं के राजा उग्रपेरूवल के दरबार में ४८ कवियों के समक्ष प्रसिद्ध काव्य 'कुरल' प्रकाशित हुआ था। प्राचीन काल में यहाँ जैनधर्म खूब फैला हुआ था। मदुरा का दि० जैन संघ प्रसिद्ध था। 'कथाकोष' से स्पष्ट है कि यहाँ के संघ का आदान-प्रदान उत्तर मथुरा के संघ से होता था। यहीं पर श्री वज्रनन्दि ने 'द्राविड़ संघ' की स्थापना की थी (दर्शनसार)। तामिल काव्य 'मणिमेखलै' और 'शिलप्पदिकारम्' से भी प्रकट है कि मदुरा में जैनधर्म फैला हुआ था।

निर्ग्रन्थ मुनिगण नगर-ग्रामों के बाहर ठंडे मठों में रहते थे, जिनकी दीवालें बहुत ऊँची और लाल रंग से पुती होती थीं। उनमें पुष्पोद्यान भी होते थे। तिराहों और चौराहों पर जैन मंदिर बने हुए थे। मुनिगण चौराहों पर बने हुए चबूतरों पर से जनता को धर्मोपदेश दिया करते थे। दशवीं शताब्दि में शैवधर्म के प्रचार से जैनधर्म को धक्का पहुँचा था। मदुरा का कुण पांड्य नामक राजा शैव हो गया था।

मनचेनहल्लि—१०७; बेक्क ग्राम के निकट अवस्थित था।

मन्नार्कोविल—४३९; यहाँ की पद्मावतियम्म श्राविका ने पंचपरमेष्ठी की प्रतिमा प्रदान की थी।

मल्नूर ग्राम—८; यहाँ के उग्रसेन गुरु ने एक मास का संन्यासव्रत पाला था।

मलेयूर—४३४; इस पहाड़ी पर एक मंदिर था—यह वहीं पर कहीं थी।

मलेगोल—२९७; यहाँ के अरिष्टनेमि पंडित पर-समय-ध्वंसक प्रसिद्ध थे।

माडगढ़, माडवगढ़—३८२, ३८६, यहाँ के बघेरवाल जैनियों ने यात्रा की थी।

माडिगूर ग्राम, ११६; श्रुतसागर गणी के साथ यहाँ के नागप्प आदि व्यक्तियों ने तीर्थवंदना की थी।

मारगौण्डनहल्लि—८६; इस ग्राम के गुम्मज्ज बैरेय ने गोम्मटदेव की पूजा के लिए दान दिया था।

मालवदेश—५४, १३८ व ४९९। श्री समन्तभद्राचार्य जी ने मालवदेश में भी वादभेरी बजाई थी। होयसल नृप एरेयङ्ग ने मालव की राजधानी धारा को अधिकृत किया था। (मालवमण्डलेश्वरपुरीं धारामधात्तात् त्तणात्) सोमेश्वर ने भी मालवाधिपति पर विजय पाई थी। मालवदेश जैनधर्म का केन्द्र मौर्यकाल से चला आ रहा था।

मासवाडिनाडु प्रदेश—१२४; दक्षिण में कहीं पर था।

मुत्तगदहोन्नहल्लि—१३३ यहाँ के गौडों ने मंगायिवस्ति के लिये दान दिया था।

मुल्लूर—४४, ५४, दंडाधिप गंगराज की माता पोचिकव्वे के गुरु कनकनन्दि इस ग्राम के थे। वह 'मुल्लुरदुरितकायक्क' कहे गये हैं। इसी ग्राम के गुणसेन पंडित भी प्रसिद्ध थे। यह जैनियों का केन्द्र था और यहाँ की मुनि-परम्परा प्रख्यात थी, जिसके भक्त राजा-महाराजा थे। सन् १०५८ ई० में राजेन्द्र कोङ्गाल्व ने यहाँ के पार्श्वनाथबस्ति को भूमिदान दिया था, जिसे उसके पिता ने बनवाया था। सन् १३९० ई० में एक अन्य कोङ्गाल्व नरेश ने यहाँ की चन्द्रनाथबस्ति (मंदिर) का जीर्णोद्धार कराया था। इस राजा के गुरु विजयकीर्तिदेव आर्य शुभेन्दु के शिष्य थे। इस राजा की रानी सुगुणी देवी ने अपने अंगरक्षक विजयदेव द्वारा चन्द्रनाथ भगवान् की प्रतिष्ठा करा कर भूमिदान दिया था। यह ग्राम कुर्ग प्रदेशमें था।

मैसूर, मैयिसूर, महीसूर—८३, ८४, ९८, १४०, ४३४। वर्तमान मैसूर राज्य है। यहाँ के वर्तमान ओडेयर वंशी राजाओं में से कई श्री गोम्मटेश्वर के अनन्य भक्त थे। उन्होंने गोम्मटदेव के लिये ग्राम भेंट किये थे। इस समय भी जैनियों के परामर्श से राजकर्मचारी श्रवणबेल्गोल तीर्थ को उन्नत बनाने का प्रयत्न करते हैं। मौर्यसम्राट् चन्द्रगुप्त अपने गुरु श्रुतकेवली भद्रबाहु-सहित इस राज्य में पधारे थे। तभी से यहाँ जैनधर्म का प्राबल्य रहा है। अशोक के समय यह देश महिषमंडल के नाम से प्रसिद्ध था।

मोट्टेनविले ग्राम—५३, ५६। सवतिगंधवारण नामक मंदिर को यह ग्राम भेंट किया गया था।

मोनेगनकट्टे ग्राम—४९६। गङ्गवाडि में था, जहाँ रामदेवविभु ने एक विशाल जिनालय निर्माण कराया था।

मोरखूर ग्राम—४०८। दक्षिण का एक ग्राम।

मोरिङ्गेरे—५१। एक तीर्थ समझा जाता था। शक १०४१ में बकण ने यहाँ शरीर त्याग किया था।

मोसले ग्राम—८६, ८७ व ३६१; जैनधर्म का केन्द्र था।

यगलिय—८९; यहाँ के कब्बिसेट्टि ने दान दिया था।

रात्रनहल्लि—८३; मैसूर-नरेश कृष्णराज ओडेयर ने यह ग्राम गोम्मटदेव को भेंट किया था।

रायरायपुर—५३, १२४ व १३७; होय्सल काल का एक दुर्ग।

लंकापुरी—१०९; चामुंडराय के लेख में इसका उल्लेख है।

लाडदेश—१२४, १३० व ४९१; होयसल नरेशों ने इस देश को भी जीता था। यह गुजरात का एक भाग था।

वनवासि राज्य—३८ व १३८; होयसलनरेश ने इसपर भी अधिकार किया था। यह वर्तमान शिवमोग्ग जिला था। कादम्ब राजाओं का मुख्य स्थान था।

वल्लूरग्राम—१३८; दंडाधिप हुल्ल के दान का एक ग्राम।

वस्तियग्राम—८३; कृष्णराज ओडेयर ने गोम्मटेश्वर को यह ग्राम भेंट किया था।

वाराणसी—१३३, १४० व ४८६। वर्तमान बनारस है। लेखों में यह अपनी पवित्रता के लिये प्रसिद्ध रहा है। यहीं पर तीर्थंङ्कर सुपार्श्व और पार्श्व का जन्म हुआ था। चीनी यात्री ह्युन्त्सांग ने इस राज्य को ६६७ मील में विस्तृत लिखा है। इसकी राजधानी, बनारस, तीन मील लम्बी व १ मील चौड़ाई में बसी हुई थी। यह नगर बर्ना व असी नाला के बीच में अवस्थित होने के कारण बानारसी (बनारस) कहलाता है। यह संस्कृत विद्या का केन्द्र रहा है।

विन्ध्यगिरि ३८; श्रवणबेलगोल के बड़े पर्वत का नाम; जिसपर गोम्मटेश्वर की विशाल मूर्ति स्थित है।

विशाला—१, इस लेख में भ० महावीर के प्रसग में इस शब्द का प्रयोग हुआ है; इसलिये यह वैशाली (विशाला) होना चाहिये। कुण्डग्राम उसके निकट अवस्थित था। लेख में इस प्रकार उल्लेख है:—

'तदनु श्री-विशालयम् (लायाम्) जयत्वद्य जगद्धितम्।
तस्य शासनमव्याजं प्रवादि-मत-शासनम् ॥४॥'

वेगूर—१५३; यहाँ के सर्वज्ञ भट्टारक प्रसिद्ध थे।

वेल्गोल—१७-१८; श्रवणबेल्गोल का अपर नाम है।

वेल्माद ग्राम—७; कित्तूर में यह ग्राम था और यहाँ के धर्मसेन व बलदेव गुरु प्रसिद्ध थे।

वैदिश नगर—५४; श्री समन्तभद्राचार्य जी ने यहाँ भी वादभेरी बजाई थी।

शशपुर = अंगडि ग्राम—५६, ४९९; होय्सल राजवंश का मूलस्थान यही था। यहीं पर विनयादित्य राजा राज्याधिकारी थे। यहाँ वासन्तिकादेवी प्रसिद्ध थीं; जो होय्सल राजवंश की कुलदेवता थीं। यह सोसेवुर (शशकपुर) मैसूर स्टेट के कडूर नामक जिले के मूडुगेरे तालुक में अंगडि ग्राम बताया जाता है (Ep. Car., VI, Intro. p. 14)। दशवीं शताब्दि में यह स्थान जैनधर्म का गढ़ था। यहाँ पर वासन्तिका देवी के मंदिर से भी प्राचीन जैनमंदिर थे और जैनगुरुओं की परम्परा भी यहाँ थी। उनमें द्राविड संघी कोंडकुन्दान्वयी पुस्तकगच्छी मौनी भट्टारक के शिष्य और श्रीमान् इरिव बेडेग के गुरु विमलचंद्र पंडितदेव ने यहाँ समाधिमरण किया था। इरिव बेडेग पश्चिम चालुक्य नरेश सत्याश्रय (९९७—१०९ ई०) के सामन्त थे। दशवीं शताब्दि के अंतिम पाद में यहाँ सुदत्त नामक मुनिराज रहते थे। एक दिन होय्सल सरदार अपने कुलदेवता की पूजा करने गए और वहाँ इन्हीं जैनगुरु से धर्मोपदेश सुनने लगे। इतने में एक भयंकर सिंह वन में से आ धमका। जैनगुरु ने सरदार से कहा—'मारो, सल!' (पोय् सल!) इसपर सल ने सिंह को मार भगाया। जैनगुरु के 'पोय्सल' कहने से वह सरदार उसी नाम से प्रसिद्ध हो गया और उसकी सन्तान भी 'पोय्सल' कहलाई, जो उपरान्त 'होय्सल' भी कहलाने लगी थी।

श्रवणबेल्गुल ४३३—४३४; इसी नाम की पुस्तक में विस्तृत विवेचना पढ़ना चाहिये, जिसे मैसूर-सरकार ने प्रकाशित किया है।

शिवगंगे—५३ यहाँ शान्तला देवी ने शरीर-त्याग किया।

सत्यमंगल ग्राम—९८; यहाँ के देवराज की मृत्यु गोम्मटेश्वर के मस्तकाभिषेक के दिवस (१५४८ शाके में) हुई थी। वह मैसूर नरेश श्रीकृष्ण ओडेयर के अंगरक्षक थे।

सल्ल—५९, ४९३ व ४९५। श्रवणबेल्गोल के पास एक ग्राम, जिसे होय्सल नरेशों ने दान किया था।

सवणेरु—८०, ९०, १३७, १३८ व ३६१। महाप्रधान हुल्ल ने नरसिंह नृप से इस ग्राम को प्राप्त करके गोम्मटेश्वर की पूजा के लिए दान किया था।

सागर ग्राम—१२४ श्रवणबेल्गोल के आसपास था।

सिंधुदेश—५४; श्री समन्तभद्राचार्य ने यहाँ भी वादभेरी वजाई थी। यह वर्तमान का सिंध प्रांत हो सकता है; परंतु प्राचीनकाल में उज्जैन के पास का प्रदेश भी सिंधु कहलाता था। इन दोनों में से कहीं पर आचार्य श्री ने वादभेरी बजाई थी। भ० महावीर के समय में सिंधु-सौवीर के सम्राट् उदयन अपने सम्यक्त्व के लिये प्रसिद्ध थे।

सिंहल देश—५५; यहाँ के नरेश से श्री यशःकीर्ति मुनिराज ने सम्मान पाया था। वर्तमान का सीलोन (लंका) सिंहल देश माना जाता है। यहाँ अनुराधापुर में बहुत पहले से निर्ग्रन्थ मुनियों का आवास था—वे निर्ग्रन्थ राजमान्य थे।

सेवुण नगर—४९९; होयसल नरेश सोमेश्वर ने यहाँ के राजा को नष्ट किया था।

सोमनाथपुर—११७; कोननाडु (?) में था।

हलसूर—९५; यहाँ के केत्तिसेट्टि ने गोम्मटेश के नित्याभिषेक के लिए दान दिया था।

हाडुवरहल्लि—१३७; यहाँ के शंभुदेव ने दान दिया था।

हाडोनहल्लि—१०७; बेक्क ग्राम का सीमान्तक ग्राम।

हिरिसालि ग्रा०—१२१; विंध्यगिरि पर ब्रह्मदेव मंदिर यहाँ के गिरिगौड के कनिष्ठ भ्राता रङ्गय्य ने निर्माण कराया था।

हुलिगेरे—१३१; यहाँ के सोवण्ण नामक महानुभाव ने नगर जिनालय के आदिदेव के नित्याभिषेक के लिए दान दिया।

हुलुघट्ट ग्राम—१२४; बेक्क की सीमा का ग्राम।

हेज्जेरु ग्राम—५३; श्रवणबेल्गोल के आस-पास था।

होन्नेनहल्लि ग्रा०—१०७; बेक्क ग्राम की सीमा पर था।

होसपट्टण ग्राम—१३६; बुक्कराय ने जिन जैनियों को बुलाया था, उनमें यहाँ के जैनी भी थे।

होसहल्लि ग्राम—८३, ८४ व ४३४। कृष्णराज ओडेयर की सनद में इसका उल्लेख है।

वैदिक एवं जैनधर्म में समानरूप से या कुछ हेरफेर से पाये जानेवाले कतिपय पद्य—

अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम ।
तस्मात्कारुण्यभावेन रक्ष रक्ष जिनेश्वर ॥ (जैन)

अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरणं मम ।
तस्मात्कारुण्यभावेन रक्ष रक्ष जनार्दन ॥ (वैदिक)

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
यः स्मरेत्परमात्मानं स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः ॥ (जैन)

अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपि वा ।
यः स्मरेत्पुण्डरीकाक्षं स बाह्याभ्यन्तरे शुचिः ॥ (वैदिक)

आहूता ये पुरा देवा लब्धभागा यथाक्रमम् ।
ते मयाभ्यर्चिता भक्त्या सर्वे यान्तु यथास्थितिम् ॥ (जैन)

यान्तु देवगणाः सर्वे पूजामादाय मामकीम् ।
इष्टकामार्थसिद्ध्यर्थं पुनरागमनाय च ॥ (वैदिक)

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं द्रव्यहीनं तथैव च ।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव रक्ष रक्ष जिनेश्वर ॥ (जैन)

मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं जनार्दन ।
यत्पूजितं मया देव परिपूर्णं तदस्तु मे ॥ (वैदिक)

अज्ञानतिमिरांधस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ (जैन)

अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥ (वैदिक)

हस्ताभ्यामञ्जलिं कृत्वानामिकामूलपर्वणि ।
अङ्गुष्ठं निक्षिपेत्सेयं मुद्रा त्वावाहनी स्मृता ॥
अधोमुखीयमेवस्यात्स्थापनी मुद्रिका तथा ।
उच्छ्रिताङ्गुष्ठमुष्ट्योस्तु संयोगात्सन्निधापनी ॥ (जैन)

हस्ताभ्यामञ्जलीं कृत्वाऽनामिकामूलपर्व्वणोः ।
अङ्गुष्ठौ निःक्षिपेत् सेयं मुद्रा त्वावाहनी स्मृता ॥
अधोमुखी त्वियं चेत् स्यात् स्थापनी मुद्रिका स्मृता ॥
उच्छ्रिताङ्गुष्ठमुष्ट्योश्च संयोगात् सन्निधापनी । (वैदिक)

(क्रमशः)

—के० भुजबली शास्त्री

तत्त्वार्थभाष्य और अकलंक (लेखांक ५)

[ले०—श्रीयुत प्रो० जगदीशचन्द्र जैन, एम०ए०]

(क्रमागत)

२ आक्षेप—वृत्ति शब्द का वाच्य भाष्य भी हो सकता है, और वह स्वयं राजवार्त्तिक भाष्य है, जो अकलंक 'वृत्ति' शब्द से कहना चाहते हैं। राजवार्त्तिक (पृ० १९१) में 'आकाशग्रहणमादौ' आदि वार्त्तिक भाष्य में 'स्यान्मतं धर्मादीनां पंचानामपि द्रव्याणां' शब्दों द्वारा द्रव्यों की संख्या का पाँच से निर्देश किया है।

२ उत्तर—पूर्व लेख में बताया जा चुका है कि राजवार्त्तिक का उल्लेख कहीं भी 'वृत्ति' नाम से नहीं मिलता, अतएव वृत्ति का वाच्य यहाँ राजवार्त्तिक भाष्य नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त 'वृत्तौ पंचत्ववचनात्' वाली वार्तिक में 'वृत्तौ उक्तम्' कह कर "अवस्थितानि धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरन्ति" रूप से जो पाठ दिया है, वह 'आकाशग्रहणमादौ' आदि वार्त्तिकगत "स्यान्मतं धर्मादीनां पंचानामपि द्रव्याणां" आदि पाठ से शब्द और अर्थ दोनों की अपेक्षा सर्वथा भिन्न है। यह बात पूर्व लेख में बताई जा चुकी है। 'वृत्तौ पंचत्ववचनात्' आदि गत शब्दों से तो अकलंक ऐसी वृत्ति का निर्देश करना चाहते हैं जहाँ धर्मादि पाँच ही द्रव्यों के माने जाने का उल्लेख हो, तथा 'आकाशग्रहणमादौ' आदि वार्त्तिकगत पाठ द्वारा वे बतलाना चाहते हैं कि "अजीवकाया धर्माधर्माकाशपुद्गलाः" सूत्र में सर्वप्रथम 'आकाश' का ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि वह धर्मादि द्रव्यों का आधारभूत है। 'धर्मादीनां पंचनामपि द्रव्याणां' रूप से पाँच द्रव्यों का प्रसंगवश कथन किया है। अकलंकदेव को यहाँ केवल पाँच द्रव्य और आकाश का आधार-आधेय भाव विवक्षित है, इससे वे द्रव्य की इयत्ता आदि के विषय में कुछ नहीं कहना चाहते। अतएव उक्त वाक्यों की परस्पर संबद्धता किसी भी हालत में नहीं बैठायी जा सकती। अतः 'वृत्ति' का लक्ष्य भाष्य भी नहीं हो सकता।

३ आक्षेप—राजवार्त्तिकगत 'वृत्ति' शब्द का वाच्य उमास्वातीय स्वोपज्ञ भाष्य इसलिये नहीं हो सकता कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में उस भाष्य की वृत्ति शब्द से प्रख्याति नहीं। दूसरी बात राजवार्त्तिकगत "अवस्थितानि धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरन्ति" वाक्य, तत्त्वार्थभाष्यगत "अवस्थितानि च। न हि कदाचित्पंचत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति"—वाक्यों से भिन्न पड़ते हैं, क्योंकि राजवार्त्तिककार ने समस्त एक ही वाक्य दिया है, जब कि भाष्य में 'अवस्थितानि च' और 'न हि कदाचित्' आदि रूप से दो वाक्य हैं। तीसरी बात, हो सकता है कि प्रस्तुत श्वेताम्बर भाष्य की रचना राजवार्त्तिक के बाद हुई हो, और भाष्यकार ने वह

पंचत्वविषयक वाक्य राजवार्त्तिक से कुछ परिवर्तन के साथ ले लिया हो, अथवा दोनों ग्रन्थों में उक्त वाक्य की रचना एक दूसरे की अपेक्षा न रखकर बिल्कुल स्वतंत्र हुई हो।

३ उत्तर—लेखांक (३) में हरिभद्र और सिद्धसेन की टीकाओं से उद्धृत करके ऐसे वाक्य बताये जा चुके हैं, जहाँ तत्त्वार्थभाष्य को वृत्ति कहा गया है (देखो पृ० १६३)। सिद्धसेन और हरिभद्र ने अनेक स्थलों पर भाष्य को 'वृत्ति' नाम से लिखा है। अतएव यह कहना कि भाष्य की प्रसिद्धि वृत्ति से नहीं थी, भ्रममूलक है। दूसरी शंका में ऊपर जो एक वाक्य और दो वाक्य का भेद बताकर राजवार्तिकगत और तत्त्वार्थभाष्यगत पाठों का भिन्नत्व बताने का प्रयत्न है, वह भी निर्मूल है। वास्तव में देखा जाय तो दोनों ग्रन्थों में एक ही वाक्य है, क्योंकि दोनों जगह 'नित्यावस्थितानि' आदि सूत्रगत 'अवस्थितानि' शब्द की व्याख्या अभिप्रेत है। सम्पादन की दृष्टि से ग्रन्थ में स्पष्टबोध करने के लिये ये वाक्य निम्न प्रकार से होने चाहिये थे :

(अ) अवस्थितानि च—न हि कदाचित्पंचत्वं भूतार्थत्वं च व्यभिचरन्ति (तत्त्वार्थभाष्य) [यहाँ 'अवस्थितानि च' इस पद में 'च' इसलिये आता है कि ग्रन्थकार 'नित्यावस्थितानि' आदि सूत्रगत समास बता रहे हैं कि नित्यानि च अवस्थितानि च अरूपाणि च]।

(आ) अवस्थितानि—धर्मादीनि न हि कदाचित्पंचत्वं व्यभिचरन्ति (राजवार्तिक)—[यहाँ राजवार्त्तिककार भी अवस्थितानि पद का खुलासा कर रहे हैं]।

अतः उक्त कथन ठीक नहीं।

उक्त दोनों पाठ बिलकुल अक्षरशः क्यों नहीं मिलते, इसका कारण प्रति-लेखक या सम्पादक की स्खलना भी हो सकती है। अनेक संस्कृत-प्राकृत ग्रन्थों में 'उक्तं च' रूप में दिये हुए पाठ उन ग्रन्थों के मूल पाठों से कुछ भिन्न पड़ते हैं।* अर्हत्प्रवचनहृदय और अर्हत्प्रवचन की एकता बताने के लिये आपने भी यह युक्ति दी है। श्रीमद्राजचन्द्र गुजराती संस्करण में अन्य ग्रन्थों के ऐसे अनेक अशुद्ध पाठ दिये हैं, जो उन ग्रन्थों में अक्षरशः नहीं पाये जाते। अतएव एकाध शब्दमात्र के हेरफेर होने से राजवार्त्तिक और भाष्य के उद्धरणों

---

* वात्स्यायन आचार्य ने स्मृति का (स्मृतितः) एक श्लोक निम्न प्रकार से उद्धृत किया है—

वत्सः पुस्तवने मेध्यः श्वा मृगग्रहणे शुचिः। शकुनिः फलपाते तु स्त्रीमुखं रतिसंगमे ॥ (पृ० १४७)

यही श्लोक बोधायन में निम्नरूप से है—

वत्सः पुस्तवने मेध्यः शकुनिः फलशातने। स्त्रियश्च रतिसंसर्गे श्वा मृगग्रहणे शुचिः ॥

मनुसंहिता में यही श्लोक—

नित्यमास्यं शुचिः स्त्रीणां शकुनिः फलपातने। प्रस्रवे वा शुचिर्वत्सः श्वा मृगग्रहणे शुचिः ॥

वशिष्ठधर्मसूत्र और विष्णुस्मृति में भी यही श्लोक साधारण हेरफेर से दिया है।

को सर्वथा भिन्न बताकर वृत्ति का कुछ दूसरा अर्थ करना ठीक नहीं। तीसरी बात तत्त्वार्थ-भाष्य और राजवार्त्तिक की रचना के विषय में कही गई है। वास्तव में यदि 'तत्त्वार्थभाष्य की रचना राजवार्त्तिक पर से की गई है' एतद्विषयक और कोई प्रबल युक्ति दे सकते, तो इस चर्चा का यहीं अन्त हो जाता, और 'वृत्ति' आदि शब्दों की खींचातानी में जो आपको और अनेकांत-सम्पादक को अर्थहीन इतना घोर परिश्रम करना पड़ा है, वह न करना पड़ता। परन्तु ऐसी कोई युक्ति तो नहीं दी गई, केवल इस बात की संभावना व्यक्त की गई है। अकलंक के प्रायः समकालीन हरिभद्र और सिद्धसेन आदि श्वेताम्बर आचार्यों ने तत्त्वार्थभाष्य के ऊपर टीकायें लिखी हैं। यदि भाष्य, राजवर्त्तिक के ऊपर से लेकर बनाया गया होता, तो क्या उन्हें इस बात की खबर नहीं होती? तथा भाष्य के अन्त में भाष्यकार ने जो प्रशस्ति दी है, उसके विषय में सम्पादकजी क्या कहते हैं? यदि बिना किसी प्रमाण के उक्त प्रशस्ति को जाली बताया जाय तो इस तरह तो प्रत्येक ग्रन्थ की प्रशस्ति जाली कही जा सकती है। संस्कृत साहित्य के इतिहास में आजतक कोई ऐसी मिसाल नहीं कि किसी प्राचीन प्रतिष्ठित आचार्य के नाम पर किसी व्यक्ति ने किसी ग्रन्थ के ऊपर बनावटी भाष्य लिखा हो, और जिस ग्रन्थ के ऊपर भाष्य बनाया गया हो, उसके कर्त्ता के समकालीन विद्वानों ने उस भाष्य को प्रामाणिक मानकर उसपर टीका-टिप्पणियाँ लिखी हों! ऐसा करना तो एक बड़ी भारी साहित्य की डकैती मानी जायगी, और ऐसी डकैती लोगों पर प्रकट हुए बिना कभी नहीं रह सकती। इस डकैती का कम से कम दिगम्बर विद्वान् तो उल्लेख किये बिना कभी न रहते। तथा यदि भाष्यकार को राजवार्त्तिक से कुछ लेना ही था, तो उन्होंने 'वृत्तौ उक्तं' कहकर जो राजवार्त्तिकगत वाक्य हैं, उन्हींको क्यों लिया? इसमें तो उनकी बड़ी अबुद्धिमानी प्रकट होती है। तथा यदि उक्त दोनों वाक्यों को परस्परानपेक्ष स्वतंत्र रचना मानी जाय तो 'वृत्तौ उक्तं' वाले वाक्य ही दोनों विद्वानों ने एक-से कैसे लिखे? इसे तो एक आकस्मिक घटना ही समझनी चाहिये। अतः 'वृत्ति' शब्द का वाच्य तत्त्वार्थभाष्य नहीं हो सकता, यह बताने के लिये जो दलीलें दी गई हैं, उन सबका निरसन हो जाता है।

(४) भाष्य

आक्षेप—(क) राजवार्त्तिकगत 'भाष्य' शब्द का वाच्य सर्वार्थसिद्धि है, श्वेताम्बरभाष्य नहीं। भाष्य का अर्थ है स्वमत (सूत्रमत) स्थापन और परमत (शंकाकृतमत) का खण्डन। सर्वार्थसिद्धि में यह बात श्वेताम्बरीय भाष्य की अपेक्षा विस्तार से पाई जाती है। इस ग्रन्थ में सूत्रार्थ, न्याययुक्त समालोचना, और अपने मतानुसार तात्पर्य बताना आदि भाष्य में पाई

जानेवाली सर्व अर्थ की सिद्धि मौजूद है। अकलंक की कृति से (राजवार्त्तिक अध्याय ५, सूत्र १, ४) स्पष्ट है कि भाष्य और वृत्ति पर्यायवाची हैं। यदि वृत्ति और भाष्य का पर्यायवाची न माना जाय, तो श्वेताम्बरीय भाष्य के लिये भी वृत्ति शब्द का प्रयोग नहीं बन सकता। अतः अकलंक को 'भाष्य' शब्द से सर्वार्थसिद्धि अभिप्रेत है।

उत्तर—सर्वार्थसिद्धि वृत्ति को वृत्ति न कहकर अपने मन से उसे भाष्य बना देना यह बड़ी विचित्र बात है। अद्यावधि उपलब्ध किसी भी जैनग्रंथ में सर्वार्थसिद्धि का उल्लेख भाष्यरूप से नहीं मिलता; पूज्यपाद ने उसे 'तत्त्वार्थवृत्ति' नाम से ही कहा है। फिर न मालूम सर्वार्थसिद्धि को भाष्य सिद्ध करने के लिये इतना जबर्दस्त प्रयत्न क्यों किया जा रहा है। स्वयं अनेकांत के सम्पादक भी राजवार्त्तिकगत 'भाष्य' का वाच्य सर्वार्थसिद्धि स्वीकार नहीं करते। पूर्व लेख में कहा जा चुका है कि यदि स्वमत-स्थापन और परमत-खण्डन-विधायकत्व को ही भाष्य की परिभाषा मानी जाय, तो फिर न्याय और दर्शन के समस्त ग्रन्थों को भाष्य ही मानना पड़ेगा। फिर तो न्यायभाष्य, न्यायवार्त्तिक, न्यायवार्त्तिक-तात्पर्य-टीका, प्रमेयकमलमार्त्तण्ड, स्याद्वादरत्नावतारिका, प्रमाणमीमांसा आदि सब ग्रन्थों को भाष्य ही कहना चाहिये। इन सभी ग्रन्थों में 'सूत्रार्थ, न्याययुक्त समालोचना और अपने मतानुसार तात्पर्य बताना आदि भाष्य में पाई जानेवाली' बातें मौजूद हैं। तथा स्वमतस्थापन और परमतखंडनरूप भाष्य का लक्षण सर्वार्थसिद्धि में ही घटित होता है, विवादास्पद श्वेताम्बरीय भाष्य में नहीं, यह तो कुछ बताया नहीं गया जिससे श्वेताम्बरीय भाष्य के भाष्यत्व से व्यावृत्ति हो सके। वास्तव में वृत्ति और भाष्य को अभिन्न मानना बड़ा भारी भ्रम है। कोशकारों ने सूत्र, वृत्ति, वार्त्तिक, भाष्य आदि के भिन्न-भिन्न लक्षण किये हैं। स्वयं लेखक ने मेरे पूर्व लेख में उद्धृत हेमचन्द्र और बालगंगाधर तिलक की टीका और भाष्य की व्याख्याओं को स्वीकार करते हुए, "वस्तुतः टीकाओं में तो और-और विषय-संबंधी प्रपंच रहते हैं, परन्तु भाष्य में उन प्रपंचों के साथ यह स्वमत-स्थापन और परमतखण्डन-संबधी प्रपंच विशेष रहता है।" इन शब्दों द्वारा भाष्य और वृत्ति (टीका) के भेद को स्पष्ट माना है। अकलंक सर्वार्थसिद्धि वृत्ति आदि वृत्ति-ग्रन्थों के आधार से अपना तत्त्वार्थराजवार्त्तिक नामक वार्त्तिक लिखकर उसपर तत्त्वार्थराजवार्त्तिक भाष्य लिख रहे हैं, फिर सर्वार्थसिद्धि को भाष्य कैसे कहा जा सकता है? उसे तो वृत्ति मानकर उसपर अकलंक का वार्त्तिक बना है। श्वेताम्बरीय भाष्य का वृत्ति और भाष्य दोनों नाम से क्यों उल्लेख किया गया है, इसका उत्तर यह है कि हरिभद्र और सिद्धसेनगणि ने उक्त भाष्य को वृत्ति और भाष्य लिखा है; यह कुछ मेरी कल्पना नहीं। संभव है, तत्त्वार्थसूत्र पर प्रथम विवेचन होने के कारण विद्वान् उमास्वातीय भाष्य को स्वाती और वृत्ति दोनों नामों से कहने लगे हों। लेकिन इससे भाष्य और

वृत्ति का अभिन्नत्व तो कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। अकलंक ने राजवार्त्तिक (अध्याय, ५ सूत्र १, ४) में वृत्ति और भाष्य को पर्यायवाची माना है, यह कथन मनोनीत होने के कारण अत्यन्त अनर्थकारक है। राजवार्त्तिककार ने कहीं ऐसा प्रतिपादित नहीं किया। उक्त प्रकरण में वृत्ति का अर्थ 'समास' है, सूत्ररचना अथवा 'टीका' आदि नहीं, यह बात पहले सप्रमाण सिद्ध की जा चुकी है। अतः राजवार्त्तिकगत 'भाष्य' का वाच्य पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि किसी हालत में नहीं मानी जा सकती।

आक्षेप (ख) राजवार्त्तिकगत 'भाष्य' का वाच्य स्वयं अकलंक का राजवार्त्तिक भाष्य भी हो सकता है; इस भाष्य में षट्द्रव्य का विषय स्पष्टरूप से प्रतिपादित है। अकलंकदेव ने 'भाष्ये' के स्थान पर उक्त प्रसंग पर 'पूर्वत्र' क्यों नहीं लिखा ? तो इसका प्रत्युत्तर है कि अकलंकदेव ने 'श्वेताम्बरभाष्ये' या 'तत्त्वार्थभाष्ये' न लिखकर कोरा 'भाष्ये' ही क्यों लिखा ? यदि वहाँ अकलंक केवल 'पूर्वत्र' शब्द ही लिख देते तो कदाचित् उससे उनके भाष्य का तो बोध हो सकता था; परन्तु सर्वार्थसिद्धि भाष्य का बोध नहीं हो सकता था। तथा यदि उन्हें दोनों ही भाष्य अभिप्रेत हों, तो सर्वार्थसिद्धि और राजवार्त्तिक इन दोनों का निर्वाह 'पूर्वत्र' शब्द से कैसे किया जा सकता था ? अकलंक कर्नाटक के थे जो सौराष्ट्र-कच्छ से दूर पड़ता है, अतः उनके सामने तत्त्वार्थभाष्य का रहना संभावित नहीं।

उत्तर—पूर्व लेख में कहा गया था कि यदि लेखक जैन अथवा जैनेतर साहित्य में कहीं एक भी ऐसा उदाहरण बता दें जहाँ ग्रन्थकर्त्ता ने स्वकीय भाष्य, वृत्ति या टीकागत पूर्व अथवा उत्तर कथन को सूचित करने के लिये पूर्वत्र, अग्रे, प्राक् परम्, पुरस्तात आदि शब्दों का प्रयोग न कर, केवल 'भाष्ये', 'वृत्तौ' या 'टीकायां' जैसे पदों का उल्लेख किया हो, तो कदाचित् उनकी इष्टसिद्धि हो सकती है, परन्तु ऐसा करने में वे सर्वथा असमर्थ रहे हैं, फिर यह कैसे मान लिया जाय कि राजवार्त्तिकगत 'भाष्ये' पद स्वयं राजवार्त्तिक भाष्य का द्योतक है। नीचे हम विविध ग्रन्थों के ऐसे उदाहरण उपस्थित करते हैं, जहाँ किसी शंकाविषयक समाधान को सूचित करने के लिये ग्रन्थकार ने स्वकीय ग्रन्थ को 'भाष्ये', 'वृत्तौ' आदि रूप से उल्लिखित न कर पूर्वत्र, उत्तरत्र आदि शब्दों का ही प्रयोग किया है—

(क) उत्तरत्र च तस्यास्तित्वं वक्ष्यते—राजवार्त्तिक पृ० २०५ (यहाँ अणु-संबंधी शंका चल रही है, जिसका समाधान पृ० २३५ पर किया गया है।

(ख) प्रसाधितं च अवयविद्रव्यं आत्मद्रव्यं च प्राक्—न्यायकुमुदचन्द्र, ३०७।

(ग) प्रागेव अपास्तम् (वही, ३३६)

(घ) प्रपंचतस्तु पश्चादिशुद्धिपंचकस्वरूपम् परमत्रसंयम्—स्याद्वादरत्नाकर, ५६५।

(ङ) उपरिष्टान्निवेदयिष्यामः—न्यासभाष्य, पृ० ३।

(च) तत्पुरस्तद्दर्शितम्—शांकरभाष्य, ४२०।

कहने की आवश्यकता नहीं कि उक्त उदाहरणों में स्वग्रन्थ-संबंधी वक्तव्य को सूचित करने के लिये कहीं भी 'भाष्ये' 'वृत्तौ' आदि पद का प्रयोग नहीं। तथा यहाँ कहीं भी यह शंका नहीं होती कि अमुक बात सूत्र में, वार्त्तिक में अथवा टीका में है। प्रत्युत यदि ग्रन्थकार स्वकीय ग्रन्थ में 'भाष्ये' आदि नामों का व्यवहार करता है, तो समझना चाहिये कि वह ग्रन्थ उसके स्वकीय ग्रन्थ से भिन्न है। उदाहरण के लिये :

(क) अवदाम स्तुतौ—प्रमाणमीमांसा, पृ० २३।

(ख) प्रमेयकमलमार्त्तण्डे सप्रपंचं प्रपंचितम्—न्यायकुमुदचन्द्र, ३३६।

यहाँ स्तुति (अयोगव्यवच्छेदद्वात्रिंशिका) नामक ग्रन्थ हेमचन्द्र की प्रमाणमीमांसा से, तथा प्रमेयकमलमार्त्तण्ड नामक ग्रन्थ प्रभाचन्द्र के न्यायकुमुदचन्द्र से भिन्न है। अतएव लेखक ने जो राजवार्त्तिकगत "ननु पूर्वत्र व्याख्यातमिदं" आदि पंक्ति का स्वकीय भाष्य करते हुए 'व्याख्यातं' शब्द को भाष्य का बोधक बताकर अपनी इष्टसिद्धि करने का प्रयत्न किया है, वह निरर्थक है। तथा अस्माभिः प्रोक्तं', 'पूर्वत्र प्रोक्तं' आदि शंकराचार्य के वचनों को केवल उनकी अनुस्मृति-सूचक बताना, यह उनके ग्रन्थों के संबंध में अनभिज्ञता द्योतित करता है। ऊपर जो पूर्वत्र आदि शब्दों के उल्लेखपूर्वक उदाहरण उपस्थित किये गये हैं, क्या वे भी ग्रन्थकार की अनुस्मृति की ही सूचना देते हैं? इसके अतिरिक्त, पहले दो लेखों में बताया जा चुका है कि राजवार्त्तिक और सर्वार्थसिद्धि में षटद्रव्यों का अस्तित्व स्वतः सिद्ध है, अतः उक्त दोनों ग्रन्थ 'भाष्य' शब्द के वाच्य नहीं हो सकते। राजवार्त्तिक में कालविषयक चर्चा किसी ऐसे भाष्य को लक्ष्य में रखकर उठाई गई है, जहाँ काल की मान्यता के विषय में कुछ मतभेद हो। अतएव राजवार्त्तिक में षट्द्रव्यों का स्पष्ट प्रतिपादन होना प्रतिवादी के लिये ही अनिष्टापति हो सकती है। अकलंक ने उमास्वातीय भाष्य का 'श्वेताम्बरीय भाष्य' या 'तत्त्वार्थाधिगम भाष्य' रूप से क्यों उल्लेख नहीं किया? इसका उत्तर है कि इस ग्रंथ का श्वेताम्बरीय भाष्य कहीं नाम ही नहीं? यह नाम तो आपका दिया हुआ है। इसी तरह कहा जा सकता है कि श्वेताम्बर विद्वानों ने समन्तभद्र आदि दिगम्बर विद्वानों ने समन्तभद्र आदि दिगम्बर विद्वानों के ग्रन्थों का उल्लेख 'दिगम्बरीय आप्तमीमांसा' आदि रूप से न करके केवल 'आप्तमीमांसा' रूप से ही क्यों किया? लेखांक (३) में बताया जा चुका है कि तत्त्वार्थभाष्य केवल 'भाष्य' नाम से भी प्रसिद्ध था और उमास्वाति भाष्यकार नाम से कहे जाते थे। अतएव 'तत्त्वार्थाधिगमभाष्ये' न लिखकर अकलंक ने 'भाष्ये' ही लिखा।

यह बड़ी अद्भुत दलील है कि अकलंक कर्नाटक के थे और भाष्यकार सौराष्ट्र-कच्छ[1] के,

---

१ भाष्यकार ने सौराष्ट्र-कच्छ में रहकर तत्त्वार्थभाष्य की रचना की। यह उल्लेख न मालूम लेखक महोदय को कहाँ मिल गया! तत्त्वार्थभाष्य के अन्त में जो प्रशस्ति है उसमें स्पष्ट लिखा है कि कुसुमपुर

अतः अकलंक के सामने भाष्य नहीं हो सकता। इसका अर्थ तो यह हुआ कि यदि कोई ग्रन्थ कर्नाटक में लिखा गया है तो वह सदा कर्नाटक में ही रहेगा और जो सौराष्ट्र में लिखा गया है वह सौराष्ट्र में ही पड़ा रहेगा। लेखक महोदय को शायद मालूम नहीं कि प्राचीन काल में रेल, डाक आदि का सुभीता न होने पर भी कितनी शीघ्रता से साहित्य का आदान-प्रदान होता था। तथा यदि कर्नाटक देशीय अकलंक के समक्ष सौराष्ट्र कच्छदेशीय (?) भाष्यकार के प्रस्तुत भाष्य का रहना संभावित नहीं तो फिर भाष्यकार के समक्ष राजवार्त्तिक रहने की संभावना कैसे हो सकती है, जिससे यह कहा जाता है कि भाष्यकार ने राजवार्तिक के आधार से भाष्य बना डाला! वस्तुत बात यह है कि राजवार्त्तिक में जिस भाष्य का उल्लेख है, उसका वास्तविक लक्ष्य क्या है, इस विषय में स्वयं लेखक सशंक हैं, इसीलिये कभी वे उसका लक्ष्य सर्वार्थसिद्धि भाष्य बनाते हैं, कभी राजवार्त्तिक भाष्य का नाम लेते हैं, कभी सर्वार्थसिद्धि और राजवार्त्तिक दोनों को 'भाष्य' का वाच्य कहते हैं, और कभी उनका ध्यान किसी पुरातन अनुपलब्ध दिगम्बर भाष्य की ओर आकृष्ट होता है। लेकिन ये सभी कल्पनायें निमूंल हैं। समझ में नहीं आता कि 'भाष्ये' इस सप्तम्यंत एकवचन पद से एक साथ सर्वार्थसिद्धि और राजवार्त्तिक इन दो भाष्यों का बोध कैसे हो जायगा! उक्तार्थ सूचना के लिये 'भाष्ययोः' पद का होना जरूरी है। यदि अकलंक को 'भाष्य' पद से कोई पुराना भाष्य ही अभिप्रेत है, तो उसको सप्रमाण बताना चाहिये, तथा फिर उसकी संगति सर्वार्थसिद्धि और राजवार्त्तिकभाष्य के साथ बैठाकर क्यों समय नष्ट किया जाता है?

(ग) तत्त्वार्थ भाष्यकार के मत से पाँच ही द्रव्य हैं, छः नहीं। यही सूचन करने के लिये सिद्धसेन गणि ने 'वाचकमुख्यस्य तु पंचैव' यह वाक्य अपनी टीका में लिखा है। 'सर्वं षट्त्वं षड्द्रव्यावरोधात्' इस तत्त्वार्थ भाष्य वाक्य से भी षट् द्रव्यत्व की सिद्धि नहीं होती। उक्त वाक्य में जो 'षड्द्रव्यावरोधात्' हेतु दिया है वह जैनेतरवादी की नय संबंधी शंका का निराकरण करने के लिये दिया है। भाष्यकार एकीयमत से काल द्रव्य को मानते हैं और उस एकीयमत मानने का लाभ उन्होंने इस स्थल पर पहले ही ले लिया है। प्रशमरतिगत षट् द्रव्य के उल्लेख से भी तत्त्वार्थ भाष्यकार द्वारा षट् द्रव्य मान्यता-सूचक कथन सिद्ध नहीं होता। 'कायग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वार्थमद्धासमयप्रतिषेधार्थं च' इस तत्त्वार्थ भाष्य वाक्य में काल द्रव्य का स्पष्ट निषेध ही है।

उत्तर—लेखांक ३ (पृष्ठ १६६—१७०) में सिद्धसेन गणि के 'वाचकमुख्यस्य तु पंचैव' वाले उल्लेख की विस्तार चर्चा करते हुए यह सिद्ध कर दिया गया है कि भाष्यकार निर्विवाद

(पाटलिपुत्र) में विहार करते हुए तत्त्वार्थाधिगमशास्त्र की रचना की गई। सम्पादक—अनेकांत का भी इस पर कोई नोट नहीं। न मालूम फिर व्यर्थ ही 'पर-उद्धार' करने की चिंता इन लोगों को क्यों सताये रहती है?
—लेखक

रूप से छः द्रव्यों को स्वीकार करते हैं, फिर न मालूम प्रतिपक्षी की युक्तियों का निरसन किये विना ही अपनी एक ही बात की पुनः पुनः क्यों आवृत्ति की जाती है ! उक्त लेख में विस्तार से दी हुई युक्तियों का सारांश यहाँ फिर से दिया जाता है :—

(अ) 'वर्त्तना परिणामक्रिया' आदि तत्त्वार्थसूत्र-भाष्य की टीका में सिद्धसेन गणि लिखते हैं—"जब कालद्रव्य धर्मादि से भिन्न है तो उसे अवश्य उपकारी होना चाहिये। और काल का अस्तित्व माना गया है, तो फिर उसका क्या उपकार है ? उसका उपकार है वर्त्तना परिणाम आदि; वर्त्तना इत्यादि काल का अविनाभूत लिंग है। पहले जो सूत्रकार (भष्यकार) ने उसका कथन नहीं किया, वह केवल अस्तिकाय का प्रतिषेध करने के लिये नहीं किया।"

(आ) 'कालश्चेत्येके' सूत्र की टीका में सिद्धसेन गणि ने स्पष्ट लिखा है—"कालश्च द्रव्यं षष्ठं भवति"। यहाँ काल द्रव्य को पृथक सिद्ध करने के लिये सिद्धसेन ने आगम का प्रमाण देते हुए काल में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की सिद्धि की है। 'कालश्चेत्येके' सूत्र और उसके भष्य का अर्थ करते हुए सिद्धसेन ने स्पष्ट लिखा है "काल कदाचित किसी के मत धर्मादि पंचास्तिकायों में गर्भित होता है और कदाचित वह धर्मादि के समान स्वतंत्र द्रव्य है।" "एक नय की अपेक्षा काल अन्य द्रव्यों से भिन्न है (दूसरे नय की अपेक्षा नहीं)। जैन प्रवचन में किसी एक नय की अपेक्षा समस्त वस्तु-स्वरूप का कथन नहीं किया जा सकता।" 'इत्येके' पद का अर्थ करते हुए सिद्धसेन लिखते हैं—"इत्येके इत्थमाचक्षतेऽन्ये त्वन्यथेति" अर्थात् कोई लोग काल को अलग मानते हैं कोई नहीं। अतः 'कालश्चेत्येके' सूत्र का यह आशय कदापि नहीं कि उमास्वाति काल को अलग द्रव्य नहीं मानते। उक्त सूत्र की या उसके भाष्य की टीका में सिद्धसेन ने यह कहीं नहीं बताया कि उमास्वाति काल को भिन्न नहीं मानते, अथवा वे उसे जीवाजीव की पर्याय कहते हैं। उक्त सूत्र से उमास्वाति, काल द्रव्य-संबंधी पूर्वाचार्यों के मतभेद को ही व्यक्त करना चाहते हैं और इसी का समर्थन सिद्धसेन गणि ने किया है।

(इ) तीसरे अध्याय की भाष्य-टीका में प्रशमरति को उमास्वातिकृत ग्रन्थ मानकर सिद्धसेन गणि ने प्रशमरति के एक श्लोक को उद्धृत किया है, जिसमें 'जीवाजीवौ द्रव्यमिति षड्विधं' रूप से छह द्रव्यों का कथन है।"

यदि सिद्धसेन के अनुसार उमास्वाति पाँच द्रव्य ही मानते हैं तो फिर उनके पूर्वोक्त सब उल्लेख व्यर्थ पड़ते हैं। अतएव, जैसे लेखांक (३) में बताया गया है, सिद्धसेन के "वाचक-मुख्यस्य तु पंचैव" वाले उल्लेख को भ्रममूलक मानना चाहिये। यह उल्लेख सिद्धसेन का अंतिम उल्लेख भी नहीं। काल-द्रव्य-सम्बन्धी अन्तिम उल्लेखों में तो उन्होंने उमास्वाति के

मत से छः ही द्रव्य स्वीकार किये हैं। प्रशमरति के उद्धृत श्लोक द्वारा सिद्धसेन ने इसी कथन का समर्थन किया है। बिना किसी प्रमाण के प्रशमरति को उमास्वाति-कर्तृत्व निषेध करने का कोई अर्थ नहीं, जब कि सिद्धसेन, वादिदेव आदि आचार्यों ने उसे स्पष्ट उमास्वाति की कृति लिखा है। "एतानि द्रव्याणि न हि कदाचित् पंचत्वं व्यभिचरन्ति" इस भाष्य वाक्य में 'पंच द्रव्याणि' का अर्थ 'पंचास्तिकाय' है, यह बात पहले विस्तार से कही जा चुकी हैं, अतएव यहाँ पुनः नहीं लिखी जाती।

बड़ा आश्चर्य है कि "सर्वं षट्त्वं षड्द्रव्यावरोधात्" इस तरह का तत्त्वार्थ-भाष्य में स्पष्ट उल्लेख होने पर भी भाष्यकार के मत से षट्द्रव्यों की मान्यता का क्यों निषेध किया जाता है! यदि भाष्यकार छः द्रव्य नहीं मानते तो फिर 'षड् द्रव्यावरोधात्' यह स्वमान्यताविरुद्ध प्रतिवादी को हेतु-उपन्यस्त करने का क्या कारण? तथा जो हेतु प्रतिवादी को दिया जाय, वह वादी और प्रतिवादी दोनों को मान्य होना चाहिये? परन्तु प्रतिवादी तो छः द्रव्यों को स्वीकार करता नहीं, फिर उसे उक्त हेतु देने का क्या अर्थ? इसी प्रकरण में जैसे "सर्वं चतुष्ट्वं ? चतुर्दर्शनविषयावरोधात्" वाक्य में प्रतिवादी को जैन-परम्परामान्य चक्षुदर्शन-अचक्षुदर्शन आदि द्योतक 'चतुर्दर्शनविषयावरोधात्' हेतु मान्य नहीं, उसी तरह षड्द्रव्यावरोधात्' हेतु भी उसे मान्य नहीं हो सकता।

"कायग्रहणं प्रदेशावयव" आदि भाष्यपंक्ति का स्पष्टार्थ है कि "अजीवकायाः" आदि सूत्र में 'काय' शब्द का ग्रहण प्रदेशबहुत्व बताने के लिये, और काल का प्रतिषेध करने के लिये अर्थात् काल-द्रव्य एकप्रदेशी है अतएव वह काय नहीं, यह बताने के लिये किया गया है। यह एक बिलकुल स्थूल बात है कि यदि भाष्यकार काल-द्रव्य को मानते ही नहीं, तो उन्हें यह चिन्ता क्यों होनी चाहिये कि यदि 'अजीवकायाः" आदि सूत्र में 'काय' शब्द नहीं रक्खा जायगा तो फिर 'अजीव' कहने से काल का भी ग्रहण हो जायगा; तथा काल-द्रव्य अजीव तो है, पर काय अर्थात् बहुप्रदेशी नहीं, अतएव भाष्यकार को उसका यहाँ ग्रहण करना इष्ट नहीं; परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि आगे भी काल ग्रहण उन्हें अनिष्ट है। 'कायग्रहणं' आदि भाष्य-पंक्ति का अर्थ यहाँ वही करना चाहिये जो अकलंक ने अपने "तद्ग्रहणं प्रदेशावयवबहुत्वज्ञापनार्थं" (पृष्ठ १८८ वार्तिक ८) और "अद्धाप्रदेशप्रतिषेधार्थं च" (पृष्ठ १८९ वार्तिक १६ इन दो वार्तिकों में किया है। जैसे अकलंकदेव "अद्धाप्रदेशप्रतिषेधार्थं च" इस वार्तिक से काल का सर्वथा निषेध नहीं करते, उसी तरह तत्त्वार्थ-भाष्यकार ने उक्त पंक्ति में भी अपने भाष्य में काल का निषेध नहीं किया है। अतः जिस प्रकार 'षड्द्रव्याणि" इन शब्दों के उल्लेख के बिना भी सर्वार्थसिद्धि और राजवार्त्तिक में केवल 'षट' शब्द के अनेक बार उपलब्ध होने पर राजवार्त्तिकगत बहुत बार षड्द्रव्यों का

उल्लेख' (बहुकृत्वः षड्द्रव्याणि) माना जाता है, उसी तरह 'षडद्रव्याणि' इन शब्दों के उल्लेख के विना भी तत्वार्थभाष्य में 'बहुत बार छः द्रव्यों का उल्लेख' मानने में क्या आपत्ति! ऊपर बताया जा चुका है कि भाष्य में किस किस रूप में और किस स्थल पर षड्द्रव्यत्व की मान्यता सूचक स्पष्ट वाक्य आते हैं, जिनका समर्थन सिद्धसेनगणि ने किया है।

(५) तत्त्वार्थभाष्य और राजवार्त्तिक में शब्दादिगत साम्य

आक्षेप—अकलंकदेव से पूर्व श्वेताम्बर भाष्य के अस्तित्व का अभी तक कोई भी प्रमाण सामने नहीं आया। हरिभद्रसूरि आठवीं-नौवीं शताब्दि के विद्वान् हैं, तथा सिद्धसेन गणि दसवीं-ग्यारहवीं के। अतः अकलंक देव के बहुत पीछे के इन विद्वानों द्वारा तत्वार्थसूत्र और श्वेताम्बर भाष्य की एक कर्तृता आदि की मान्यतायें कुछ भी कीमत नहीं रखतीं।

उत्तर—तत्त्वार्थभाष्य की प्रमाणिकता का सब से प्रबल प्रमाण है भाष्यकार की प्रशस्ति, ग्रन्थ की भाषा तथा हरिभद्र सिद्धसेन, देवगुप्त आदि श्वेताम्बर विद्वानों की उक्त भाष्य पर टीका-टिप्पणियाँ। जब तक उक्त प्रशस्ति को अप्रामाणिक सिद्ध करने के लिये पुष्ट प्रमाण न दिये जायँ, तब तक कथनमात्र से भाष्य को अप्रमाण नहीं कहा जा सकता। इस तरह तो किसी भी ग्रन्थ को अप्रमाण बताया जा सकता है। हरिभद्र का समय आठवीं शताब्दि सुनिश्चित है, फिर भी उन्हें आठवीं-नौवीं सदी का विद्वान् बताना इतिहासानभिज्ञता है। सिद्धसेनगणि को हरिभद्र के दो सौ वर्ष बाद का विद्वान् बताने का अर्थ समझ में नहीं आता। अभी तक तो सिद्धसेन हरिभद्र के लगभग समकालीन माने जाते रहे हैं; अब यदि शास्त्रीजी ने कोई नई खोज की हो, तो मालूम नहीं! उक्त दोनों विद्वानों को अकलंक के बहुत पीछे का बताया गया है, लेकिन यह स्पष्ट नहीं किया गया कि वे दो सौ वर्ष पीछे के हैं या चार सौ वर्ष पीछे के। थोड़ी देर के लिये मान लिया जाय, हरिभद्र और सिद्धसेन अकलंक के बहुत पीछे के हैं, तो इससे क्या हुआ? ऐसी तो कोई व्याप्ति है नहीं कि अकलंक के उत्तरवर्ती जिन विद्वानों ने किसी भाष्य पर टीकायें लिखी हैं, वे सब भाष्य अप्रामाणिक हैं। फिर ऐसा कौन-सा प्रमाण है, जिसके बल पर श्वेताम्बर भाष्य की एक कर्तृता आदि का खंडन किया जा रहा है? शब्दादिगत सादृश्य के आधार से ही माणिक्यनन्दि के परीक्षामुख पर दिङ्नाग के न्यायप्रवेश और धर्मकीर्त्ति के न्यायविन्दु का प्रभाव माना जाता है। यह कोई बुद्धिमान नहीं कहता कि दिङ्नाग और धर्मकीर्त्ति ने परीक्षामुख के ऊपर से अपने सूत्र बना लिये हैं। फिर यही बात अकलंक और भाष्यकार उमास्वाति के विषय में क्यों न मानी जाय? जैसे यह नहीं माना जाता कि राजवार्त्तिक के आधार से पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि बनाई

हैं. इसी तरह यह नहीं कह सकते कि राजवार्त्तिक के आधार से भाष्य बनाया गया है। शब्द, चर्चा आदि के सादृश्य के अतिरिक्त भाष्य में जिस बात का संकोच है, राजवार्त्तिक में उसका विस्तार है; फिर कौन ग्रन्थ पूर्ववर्त्ती होना चाहिये और कौन उत्तरवर्त्ती, यह हर बुद्धिमान मनुष्य सरलता से समझ सकता है।

वस्तुतः शास्त्री महोदय हमारी किसी भी युक्ति का खंडन अब तक नहीं कर सके। जगह-जगह अपने लेख में उन्होंने केवल अपनी विजय की डंका बजायी है; कहीं शब्दों को तोड़-मरोड़ कर उनका मनोनीत अर्थ करने का प्रयत्न किया है; कहीं प्रतिपक्षी की युक्तियों का खण्डन किये विना ही अपनी दलीलों की आवृत्ति की है; कहीं बेसिर-पैर की इतिहास-विरुद्ध बातें लिखी हैं। इस पर भी यदि आप समझते हैं कि आपने तत्त्वार्थभाष्य के एककर्तृत्व की बात को छूमंतर की तरह उड़ा दिया है, तो आप समझते रहिये, हमें इसमें कोई आपत्ति नहीं। इसका निर्णय हम सम्पादक 'अनेकांत' के ऊपर छोड़ते हैं, जो इस चर्चा को जन्म देकर अब मौन हैं। क्या हम सम्पादकजी से आशा करें कि वे इस विषय पर खोजपूर्ण प्रकाश डाल कर 'स्थितिकरण' का पालन करेंगे!

नोट :—नियमानुसार इस लेख का अन्तिम प्रूफ मूल कॉपी के साथ लेखक के पास भेजा गया था। परन्तु इस आन्दोलन में उनके गिरफ्तार कर लिये जाने के कारण वह प्रूफ लौटकर नहीं आया। मूल कॉपी के न रहने से संभव है कि इसमें कुछ गलतियाँ रह गई हों; पर यह विवशता की बात है। इस लेख के सम्बन्ध में एक बात और कह देनी है; वह यह है कि भविष्य में इसके पक्ष में या विपक्ष में किसी का कोई भी लेख 'भास्कर' में नहीं छपेगा।

—संपादक

ॐ

विरुदावली

"स्वस्ति श्रीजिननाथाय, स्वस्ति श्रीसिद्धसूरिणे (?) ।
स्वस्ति पाठकसाधुभ्यां, स्वस्ति श्रीगुरवे तथा ॥१॥
मंगलं भगवानर्हन् मंगलं सिद्धसूरयः ।
उपाध्यायस्तथा साधुर्जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥२॥
सद्धर्मामृतवर्षहर्षितजगज्जन्तुर्यथाम्भोधरः ।
स्थैर्यान्मेरुरगाधताब्धिरवनिसारोह्यपारक्षमः ॥
दुर्वारस्मरवारिवाहपवनः शुम्भत्प्रभाभास्करः ।
चन्द्रः सौम्यतया सुरेन्द्रमहितो वीरः श्रियो वः क्रियात् ॥३॥
स्वस्ति श्रीमूलसंघे प्रवरबलगणे कुन्दकुन्दान्वये च ।
विद्यानन्दिप्रबन्धुं विमलगुणयुतं मल्लिभूषं मुनीन्द्रम् ॥
लक्ष्मीचन्द्रं यतीन्द्रं विबुधवरनुतं वीरचन्द्रं स्तुवेऽहम् ।
श्रीमज्ज्ञानादिभूषं सुमतिसुखकरं श्रीप्रभाचन्द्रदेवम् ॥४॥

श्री जिननाथ मंगलमय हों, श्री सिद्ध और सूरि मंगलमय हों, उपाध्याय और साधु मंगलमय हों और श्री गुरु मंगलमय हों ॥१॥ भगवान् अर्हन् मंगलमय हों; सिद्ध और आचार्य मंगलमय हों; उपाध्याय, साधु तथा जैनधर्म मंगलमय हों ॥२॥ सद्धर्म (जैनधर्म) रूपी अमृत की वृष्टि से जगत् के जीवों को हर्षित करनेवाले, अतएव मेघ के समान, स्थिरता में मेरु पर्वत के समान, अगाधता में समुद्र के समान, संसार के सार का ऊहापोह करके पार जाने में समर्थ, दुर्दमनीय कामदेवरूपी मेघमण्डल के लिए पवनस्वरूप, शुभ्रदीप्ति के कारण सूर्य के समान, सौम्यता के कारण चन्द्रमा के समान और देवताओं के अधिपति इन्द्र द्वारा पूजित (वे भगवान्) वीर आप लोगों का कल्याण करें ॥३॥ मंगलमय श्री मूलसंघ में, श्रेष्ठ बलात्कारगण में और कुंदकुंद की शिष्यपरम्परा में विद्यानन्दी के श्रेष्ठ बन्धु, शुभ गुणों से युक्त मल्लिभूषण मुनीन्द्र की, लक्ष्मीचन्द्र यतीन्द्र की, देवताओं से वन्दित वीरचन्द्र की और ज्ञान आदि गुणों से भूषित, सुमति तथा सुख देनेवाले श्री प्रभाचन्द्रदेव की मैं स्तुति करता हूँ ॥४॥

स्वस्ति श्रीवीरमहावीरातिवीरसन्मतिवर्द्धमानतीर्थंकरपरमदेववदनारविन्दविनिर्गत-दिव्यध्वनिप्रकाशनप्रवीणश्रीगौतमस्वामिगणधरान्वयश्रुतकेवलिश्रीमद्भद्रबाहुयोगीन्द्राणां श्रीमूलसंघसंजनितनन्दिसंघप्रकाशबलात्कारगणाग्रणीपूर्वापरांशवेदिश्रीमाघ-नन्दिभट्टारकाणां तत्पट्टकुमुदवनविकाशनचन्द्रायमानसकलसिद्धान्तादिश्रुतसागर-पारंगतश्रीजिनचन्द्रमुनीन्द्राणाम् ॥१॥

तत्पट्टोदयाद्रिदिवाकरश्रीएलाचार्यगृध्रपिच्छवक्रग्रीवपद्मनन्दिकुन्दकुन्दाचार्य-वर्य्याणाम् ॥२॥

दशाध्यायसमाक्षिप्तजैनागमतत्त्वार्थसूत्रसमूहश्रीमदुमास्वातिदेवानाम् ॥३॥

सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपश्चरणविचारचातुरीचमत्कारचमत्कृतचतुरवरनिकर-चतुरशीतिसहस्रप्रमितिबृहदाराधनासारकर्तृश्रीलोहाचार्याणाम् ॥४॥

अष्टादशवर्णविरचितप्रबोधसारादिग्रन्थश्रीयशःकीर्तिमुनीन्द्राणाम् ॥५॥

कुन्देन्दुहारतुषारकाशसंकाशयशोभरभूषितश्रीयशोनन्दीश्वराणाम् ॥६॥

मंगलमय श्री वीर, महावीर, अतिवीर, सन्मति, वर्द्धमान तीर्थंकर परमदेव के मुखारविन्द से निकली हुई दिव्यवाणी को प्रकाशित करने में निपुण श्री गौतम स्वामी गणधर के शिष्य श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु योगीन्द्र के, श्रीमूलसंघ से उत्पन्न नन्दिसंघ का प्रकाश-स्वरूप बलात्कारगण में अग्रेसर तथा पूर्व एवं अपर अंश को जाननेवाले श्रीमाघनन्दी भट्टारक के और उनके पट्ट-रूपी कुमुद वन को विकासित करनेवाले चन्द्रस्वरूप सम्पूर्ण सिद्धान्त आदि आगम रूपी समुद्र के पारंगत श्री जिनचन्द्र मुनीन्द्र के ॥१॥

उनके पट्ट-रूपी उदयाचल पर उदित सूर्य के समान श्री एलाचार्य, गृध्रपिच्छ, वक्रग्रीव, पद्मनन्दी और कुंदकुंदाचार्यवरों के ॥२॥

जैनागम के सार को दश अध्यायों में "तत्त्वार्थसूत्र" के रूप में प्रस्तुत करने वाले श्रीमान् उमास्वाति देव के ॥३॥

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र सम्यक् तपस्या और विचार-चातुर्य के चमत्कार से चतुर लोगों के समूह को चमत्कृत करनेवाले चौरासी हजार श्लोक परिमित 'बृहदाराधनासार' की रचना करनेवाले श्री लोहाचार्य के ॥४॥

अष्टादश वर्णों द्वारा 'प्रबोधसार' आदि ग्रन्थों के रचयिता श्री यशःकीर्त्ति मुनिवर के ॥५॥

इन्दु, कुमुद की माला, तुषार (हिम) और काश नामक तृण के समान स्वच्छ यशःपुञ्ज से भूषित श्रीयशोनन्दीश्वर के ॥६॥

जैनेन्द्रमहाव्याकरणश्लोकवार्तिकालङ्कारादि(?)महाग्रन्थकर्तृणां श्रीपूज्यपाददेवानाम् ॥७॥

सम्यग्दर्शनगुणगणमण्डितश्रीगुणनन्दिगणीन्द्राणाम् ॥८॥

परवादिपर्वतवज्रायमानश्रीवज्रनन्दियतीश्वराणाम् ॥९॥

सकलगुणगणाभरणभूषितश्रीकुमारनन्दिभट्टारकाणाम् ॥१०॥

निखिलविष्टपकमलवनमार्तण्डतपःश्रीसंजातप्रभादूरीकृतदिगन्धकारसिद्धान्तपयोधिशशधरमिथ्यात्वतमोविनाशनभास्करपरवादिमतेभकुम्भस्थलविदारणसिंहानां श्रीलोकचन्द्रप्रभाचन्द्रनेमिचन्द्रभानुनन्दिसिंहनन्दियोगीन्द्राणाम् ॥११॥

आचाराङ्गादिमहाशास्त्रप्रवीणताप्रतिबोधितभव्यजननिकरस्याद्वादसमुद्रसमुत्थसदुपन्यासकल्लोलाधःपातितसौगत-सांख्य-शैव-वैशेषिक-भाट्ट-चार्वाकादिगजेन्द्राणां श्रीमद्वसुनन्दिवीरनन्दिरत्ननन्दिमाणिक्यनन्दिमेघचन्द्रशान्तिकीर्त्तिमेरुकीर्त्तिमहाकीर्त्तिविष्णुनन्दिश्रीभूषणशीलचन्द्रश्रीनन्दिदेशभूषणानन्तकीर्त्तिधर्मनन्दिविद्यानन्दि-

जैनेन्द्रमहाव्याकरण और श्लोकवार्तिकालंकार (?) आदि महान् ग्रन्थों के रचयिता श्री पूज्यपाद देव के ॥७॥

सम्यग्दर्शन के गुणराशि से भूषित श्रीगुणनन्दी गणीन्द्र के ॥८॥

परवादी-रूप पर्वत के लिए वज्र के समान श्री वज्रनन्दी यतीन्द्र के ॥९॥

सकल गुणसमूह रूपी आभरणों से अलंकृत श्रीकुमारनन्दी भट्टारक के ॥१०॥

सम्पूर्ण संसार-रूप कमलवन को विकासित करने में सूर्य के समान, तपस्या की छवि से उत्पन्न प्रभा द्वारा सभी दिशाओं के अन्धकार को दूर करनेवाले, सिद्धान्त-समुद्र की पुष्टि करने में चन्द्रमास्वरूप, मिथ्यात्वरूपी अन्धकार को दूर करने के लिए सूर्यतुल्य, परवादियों के सिद्धान्त-रूपी हाथी के मस्तक को विदीर्ण करने में सिंह के समान श्री लोकचन्द्र, प्रभाचन्द्र, नेमिचन्द्र, भानुनन्दी और सिंहनन्दी योगीन्द्रों के ॥११॥

आचारांग आदि महाशास्त्रों की प्रवीणता द्वारा भव्यजनों को प्रतिबोधित करनेवाले, स्याद्वाद-रूपी समुद्र की उत्ताल तरंग रूपी सद्युक्ति द्वारा सौगत-सांख्य-शैव-वैशेषिक-भाट्ट (मीमांसक) और चार्वाक आदि गजेन्द्रों को नीचे गिरानेवाले श्री वसुनन्दी, वीरनन्दी, रत्ननन्दी, माणिक्यनन्दी, मेघचन्द्र, शान्तिकीर्त्ति, मेरुकीर्त्ति, महाकीर्त्ति, विष्णुनन्दी, श्रीभूषण, शीलचन्द्र, श्रीनन्दी, देशभूषण, अनन्तकीर्त्ति, धर्मनन्दी, विद्यानन्दी,

रामचन्द्ररामकीर्तिनिर्भयचन्द्रनागचन्द्रनयनन्दिहरिचन्द्रमहीचन्द्रमाधवचन्द्रलक्ष्मीचन्द्रगुणचन्द्रवासवचन्द्रगणीन्द्राणाम् ॥१२॥

सुरासुरखेचरनरनिकरचर्चितचरणाम्भोरुहाणां श्रुतकीर्तिभावचन्द्रमहाचन्द्रमेघचन्द्रब्रह्मनन्दिशिवनन्दिविश्वचन्द्रस्वामिभट्टारकाणाम् ॥१३॥

दुर्धरतपश्चरणवज्राग्निदग्धदुष्टकर्म्मकाष्ठानां श्रीहरिनन्दिभावनन्दिस्वरकीर्तिविद्याचन्द्ररामचन्द्रमाघनन्दिज्ञाननन्दिगङ्गकीर्तिसिंहकीर्तिहेमकीर्तिचारुकीर्तिनेमिनन्दिनाभिकीर्तिनरेन्द्रकीर्तिश्रीचन्द्रपद्मकीर्तिपूज्यभट्टारकाणाम् ॥१४॥

सकलतार्किकचूडामणिसमस्तशाब्दिकसरोजराजितरणिनिखिलागमनिपुणश्रीमदकलङ्कचन्द्रदेवानाम् ॥१५॥

ललितलावण्यलीलालक्षितगात्रत्रैविद्याविलासविनोदितत्रिभुवनोदरस्थविबुधकदम्बचन्द्रकरनिकरसन्निभयशोभरसुधारसधवलितदिग्मण्डलानां श्रीललितकीर्त्तिकेशवचन्द्रचारुकीर्त्यऽभयकीर्तिसूरिवर्याणाम् ॥१६॥

रामचंद्र, रामकीर्त्ति, निर्भयचंद्र, नागचंद्र, नयनंदी, हरिचंद्र, महीचंद्र, माधवचंद्र, लक्ष्मीचंद्र, गुणचंद्र, वासवचंद्र और लोकचंद्र गणीन्द्रों के ॥१२॥

देवता, राक्षस, खेचर और मनुष्यों द्वारा पूजित चरणकमल वाले श्रुतकीर्त्ति, भावचंद्र, महाचंद्र, मेघचंद्र, ब्रह्मनंदी, शिवनंदी और विश्वचंद्र स्वामी भट्टारकों के ॥१३॥

अत्यंत कठिन तपस्या रूपी वज्राग्नि द्वारा बुरे कर्मरूपी काष्ठ को जला चुकनेवाले हरिनंदी, भावनंदी, स्वरकीर्त्ति, विद्याचंद्र, रामचंद्र, माघनंदी, ज्ञाननंदी, गंगकीर्त्ति, सिंहकीर्त्ति, हेमकीर्त्ति, चारुकीर्त्ति, नेमिनंदी, नाभिकीर्त्ति, नरेन्द्रकीर्त्ति, श्रीचंद्र और पद्मकीर्त्ति पूज्य भट्टारकों के ॥१४॥

सभी तार्किकों के शिरोभूषण, समस्त वैयाकरण रूपी कमलों के लिए सूर्य और सम्पूर्ण आगम में निपुण श्रीअकलङ्कचन्द्रदेव के ॥१५॥

मञ्जुल लावण्यपूर्ण शरीरवाले, तीनों विद्याओं के विलास से त्रिभुवन के विद्वानों को आनंदित करनेवाले और चंद्रकिरणों के समान स्वच्छ यशःपुञ्ज रूपी सुधारस से दिशाओं को समुज्ज्वल करनेवाले श्री ललितकीर्त्ति, केशवचन्द्र, चारुकीर्त्ति और अभयकीर्त्ति आचार्यवरों के ॥१६॥

जाग्रज्जिनेन्द्रसिद्धान्तसमशत्रुमित्रप्रेयोरसाकुलितसिंहगजादिसेव्यानां श्रीवसन्तकीर्त्तिश्रीवादिचन्द्रविशालकीर्त्तिशुभकीर्तियतिराजानाम् ॥१७॥

राजाधिराजगुणगणविराजमानश्रीहम्मीरभूपालपूजितपादपद्मसैद्धान्तिकसंयमसमुद्रचन्द्रश्रीधर्मचन्द्रभट्टारकाणाम् ॥१८॥

तत्पदाम्बुजभानुस्याद्वादवादिवादीश्वरश्रीरत्नकीर्तिपुण्यमूर्तीनाम् ॥१९॥

महावादवादीश्वरवादिपितामहप्रमेयकमलमार्तण्डाद्यनेकग्रन्थविधायकश्रीमहापुराणस्वयम्भूसप्त(?)भक्तिपरमात्मप्रकाशसमयसारादिसूत्रव्याख्यानसज्जनसंजातकोविदसभाकीर्त्तिभट्टारकाणां श्रीमत्प्रभाचन्द्रभट्टारकाणाम् ॥२०॥

अनेकाध्यात्मशास्त्रसरोजषण्डविकासनमार्तण्डमण्डलयथाख्यातचारित्रसुविधानसन्तोषिताखण्डलानां श्रीपद्मनन्दिदेवभट्टारकाणाम् ॥२१॥

त्रैविद्यविद्वज्जनशिखण्डमण्डलीभवत्कायधर(?)कमलयुगलावंतीदेशप्रतिष्ठोपदेशकसप्तशत - कुटुम्ब - रत्नाकर - ज्ञातिसुश्रावकस्थापकश्रीदेवेन्द्रकीर्तिशुभकीर्तिभट्टारकाणाम् ॥२२॥

श्री जिनेन्द्र के सिद्धांतों को जाग्रत करनेवाले, शत्रु, मित्र और उदासीन सब को प्रीतिरस से वशीभूत करनेवाले एवं सिंह, हाथी आदि से सेव्य श्री वसंतकीर्त्ति, श्रीवादिचंद्र, विशालकीर्त्ति और शुभकीर्त्ति यतिवरों के ॥१७॥

राजाओं के राजा और सभी गुणों से अलंकृत श्री हम्मीर राजा द्वारा पूजित चरणकमलवाले और सिद्धांत-संबंधी संयमरूपी समुद्र को संवृद्ध करनेवाले चंद्रमा के समान श्रीधर्मचंद्र भट्टारक के ॥१८॥

उनके पदाब्जों को प्रफुल्लित करनेवाले सूर्यस्वरूप, स्याद्वाद के वादियों के लिए वादीश्वर पुण्यमूर्त्ति श्री रत्नकीर्त्ति के ॥१९॥

महावाद-वादीश्वर, वादि-पितामह, प्रमेयकमलमार्तण्ड आदि अनेक ग्रन्थोंके रचयिता, श्री-महापुराण, स्वयम्भू सप्त(?)भक्ति, परमात्मप्रकाश और समयसार आदि सिद्धान्त ग्रन्थों की व्याख्या करनेवाले परम शास्त्रज्ञ सभाकीर्त्ति भट्टारक (?) और श्री प्रभाचन्द्र भट्टारक के ॥२०॥

अनेक अध्यात्मशास्त्र रूपी कमलसमूह को विकासित करनेवाले सूर्य-स्वरूप, यथाख्यात चारित्र्य के विधान द्वारा देवेन्द्र को प्रसन्न करनेवाले श्री पद्मनंदिदेव भट्टारक के ॥२१॥

तीनों विद्याओं के ज्ञाताओं में शिरोभूषण-स्वरूप, मण्डलाकार परिवेष्टित संसारियों द्वारा सेवित युगल (चरण) कमलवाले (?) अवन्तीदेश की (मूर्त्ति) प्रतिष्ठा में उपदेश देने वाले सात सौ परिवार-रूपी समुद्र के अन्तर्गत ज्ञाति-सुश्रावकों के उद्धारक श्री देवेंद्रकीर्त्ति और शुभकीर्त्ति भट्टारकों के ॥२२॥

तत्पट्टोदयसूर्याचार्यवर्यनवविधब्रह्मचर्यपवित्रचर्यामन्दिरराजाधिराजमहामण्डलेश्वरवज्रांगगंगजयसिंहव्याघ्रनरेन्द्रादिपूजितपादपद्मानां अष्टशाखाप्राग्वाट्वंशावतंसानां षड्भाषाकविचक्रवर्त्तिभुवनतलव्याप्तविशदकीर्तिविश्वविद्याप्रासादसूत्रधारसद्ब्रह्मचारिशिष्यवरसूरिश्रीश्रुतसागरसेवितचरणसरोजानां श्रीजिनयात्राप्रतिष्ठाप्रासादोद्धरणोपदेशनैकदेशभव्यजोवप्रतिबोधकानां श्रीसम्मेदगिरिचम्पापुरीउज्जयन्तगिरिअक्षयवटआदीश्वरदोक्षासर्वसिद्धक्षेत्रकृतयात्राणां श्रीसहस्रकूटजिनबिम्बोपदेशकहरिराजकुलोद्योतकराणां श्रीरविनन्दिपरमाराध्यस्वामिभट्टारकाणाम् ॥२३॥

तत्पट्टोदयाचलबालभास्करप्रवरपरवादिगजयूथकेसरिमण्डपगिरिमन्त्रवादसमस्याप्तचन्द्रपुर्विकटवादिगोपदुर्गमेधाकर्षणभविकजनसस्यामृतवाणिवर्षणसुरेन्द्रनागेन्द्रादिसेवितचरणारविन्दानां मालवमुलतानमगधमहाराष्ट्रगौडगुर्ज्जरांगवंगतिलंगादिविविधदेशोत्थभव्यजनप्रतिबोधनपटुवसुन्धराचार्यग्यासदीनसभामध्यप्राप्तसम्मानश्रीपद्मावत्युपासकानां श्रीमल्लिभूषणभट्टारकवर्य्याणाम् ॥२४॥

उनके पट्ट पर उदित सूर्य के समान, आचार्य-प्रवर, नौ प्रकार के ब्रह्मचर्य द्वारा चारित्र-रूपी मंदिर को पवित्र करनेवाले, राजाधिराज महामण्डलेश्वर—वज्रांग, गंग और जयसिंह इन श्रेष्ठ राजाओं द्वारा पूजित चरण कमलवाले, अष्टशाखा प्राग्वाट् वंश में उत्पन्न, छः भाषाओं में कवि-सम्राट्, पृथ्वीतल पर विस्तृत स्वच्छ कीर्त्तिवाले, अखिल विद्याओं के प्रासाद के सूत्रधार, पूर्ण ब्रह्मचारी शिष्य-श्रेष्ठ सूरी श्री श्रुतसागर जी द्वारा सेवित चरण-कमल वाले, श्री जिनयात्रा, प्रतिष्ठा और मंदिरोद्धार के उपदेशों द्वारा मुख्य मुख्य देशों के भव्य जीवों को उद्बोधित करनेवाले, श्री सम्मेदगिरि, चम्पापुरी, उज्जयंतगिरि, आदीश्वरदीक्षास्थान अक्षयबट, और सभी सिद्धक्षेत्रों की यात्रा करनेवाले, श्री सहस्रकूट जिनबिंबोपदेशक एवं हरि वंश को उद्भासित करनेवाले श्री रविनंदी नामक परम आराध्य स्वामी भट्टारक के ॥२३॥

उनकी पट्ट (गद्दी) रूपी उदयाचल पर उगनेवाले प्रातःकालिक सूर्य के समान, अत्यंत श्रेष्ठ, अन्यमतवादी रूपी हाथियों के समूह के लिए सिंह-स्वरूप, मंडपगिरि (मांडलगढ़) के मंत्रवाद समस्या में चंद्रमा की पवित्रता प्राप्त करनेवाले, विकट परवादी रूप गोपों के (अजेय) दुर्ग को अपनी प्रखर बुद्धि से वश में करनेवाले, भव्यजनरूपी फसल पर अमृत समान वाणी की वर्षा करनेवाले, देवेन्द्र और नागेन्द्र से सेवित चरणकमल वाले, मालव-मुलतान-मगध-महाराष्ट्र-सौराष्ट्र-गौड-अंग-वंग-आन्ध्र आदि विविध देशों के भव्यजनों को उपदेश देने में निपुण, भूमंडल भर के आचार्य, गयासुद्दीन की सभा में सम्मान प्राप्त करनेवाले और श्री पद्मावती देवी के उपासक श्रीमल्लिभूषण महाभट्टारक के ॥२४॥

तत्पट्टकुमदवनविकासनशरत्सम्पूर्णचन्द्रानां जैनेन्द्रकौमारपाणिन्यमरशाकटायन-मुग्धबोधादिमहाव्याकरणपरिज्ञानजलप्रवाहप्रचालितानेकशिष्यप्रशिष्यशेमुखीसंस्थित-शब्दाज्ञानजम्बालानामनेकतपश्चरणकरणसमुत्थकीर्त्तिकलापकलितरूपलावण्यसौभा-ग्यभाग्यमण्डितसकलशास्त्रपठनपाठनपण्डितविविधजीर्णनूतनस्फुटितप्रासादविधाय-कश्रीमज्जिनेन्द्रचन्द्रबिम्बप्रतिष्ठादिमहामहोत्सवकारकाणां तिंगल(?)तौलवतिलंगकत्र-ड (?) कर्णाटलाटमोटादिदेशोत्पन्ननरेन्द्रराजाधिराजमहाराजराजराजेश्वरमहामण्ड-लेश्वरभैरवरायमल्लिरायदेवरायबंगरायप्रमुखाष्टादशनरपतिपूजितचरणकमलश्रुतसागर-पारंगतवादवादीश्वरराजगुरुवसुन्धराचार्यभट्टारकपदप्राप्तश्रीवीरसेनश्रीविशालकीर्ति-प्रमुखशिष्यवरसमाराधितपादपद्मानां श्रीमल्लक्ष्मीचन्द्रपरमभट्टारकगुरूणाम् ॥२५॥

तद्वंशमण्डनकन्दर्प्पसर्प्पदर्प्पदलनविश्वलोकहृदयरञ्जनमहाव्रतिपुरन्दराणां नव-सहस्रप्रमुखदेशाधिराजाधिराजमहाराजश्रीअर्जुनजीयराजसभामध्यप्राप्त सम्मानानां षोडशवर्षपर्यंतशाकपाकपक्वान्नशाल्योदनादिसर्प्पिःप्रभृतिसरसाहारपरिवर्जितानां

उनके पट्ट रूपी कुमुदवन को विकासित करने के लिए शरद् ऋतु के पूर्ण चंद्रमा के समान, जैनेन्द्र, कौमार, पाणिनि, अमर, शाकटायन, मुग्धबोध आदि महाव्याकरण के परिज्ञान रूपी जल-प्रवाह से अनेक शिष्य-प्रशिष्यों की बुद्धि में स्थित शब्द-संबंधी अज्ञान रूपी पंक को धो देनेवाले, विविध तपस्याओं के द्वारा प्रसारित यशःसमूह वाले और रूपलावण्य से भूषित तथा सौभाग्य से मंडित, सभी शास्त्रों के पठन-पाठन में पंडित, अनेक पुराने तथा नये फूटे-टूटे मन्दिरों के उद्धारक श्री जिनेन्द्र की प्रतिमा-प्रतिष्ठा आदि बड़े-बड़े उत्सवों के करनेवाले, तौलव-आन्ध्र-कर्णाट-लाट-भोट आदि देशों के नरेन्द्र-राजाधिराज-महाराज-राजराजेश्वर-महामण्डलेश्वर भैरवराय-मल्लिराय-देवराय बंगराय इत्यादि अट्ठारह राजाओं से पूजित चरणकमलवाले, शास्त्ररूपी सागर के पारंगत, वादियों के ईश्वर, राजाओं के गुरु, भूमंडल के आचार्य, भट्टारक पद को प्राप्त श्री वीरसेन, श्री विशालकीर्त्ति प्रभृति शिष्यों द्वारा आराधित चरणकमल वाले श्री लक्ष्मीचंद्र परम भट्टारक गुरु के ॥२५॥

उनके वंश के भूषण, कामदेव रूपी सर्प के गर्व को चूर करने वाले, अखिल लोक के हृदय को आनन्दित करने वाले, महाव्रतिश्रेष्ठ, नव सहस्र प्रधान देशों के अधिपतियों के अधिपति महाराज श्री अर्जुन राज की सभा में सम्मान पाने वाले, सोलह वर्ष तक शाक-पाक, पक्वान्न, शाली का भात और घी आदि रसयुक्त आहार को छोड़ने वाले,

दुश्चारादिसर्वगर्वपर्वतचूर्णीकरणवज्रायमानप्रथमवचनखण्डनपण्डितानां व्याकरण-प्रमेयकमलमार्तण्डछन्दोलंकृतिसारसाहित्यसंगीतसकलतर्कसिद्धान्तागमशास्त्रसमुद्र-पारंगतानां सकलमूलोत्तरगुणमणिमण्डितविबुधवरश्रीवीरचन्द्रभट्टारकाणाम् ॥२६॥

तत्पट्टोदयाद्रिदिनमणिनिखिलविपश्चिच्चक्रचूडामणिसकलभव्यजनहृदयकुमुद-वनविकासनरजनीजानिपरमजैनस्याद्वादनिष्णातशुद्धसम्यक्त्वजनजातगताभिमानि-मिथ्यावादिमिथ्यावचनमहीधरश्रृंगशातनप्रचण्डविद्युद्दण्डानां संस्कृताद्यष्टमहा-भाषाजलधरकरणछटामन्तर्पितभव्यलोकसारंगाणां चतुरशीतिवादविराजमानप्रमेय-कमलमार्तण्डन्यायकुमुदचन्द्रोदयराजवार्तिकालंकारश्लोकवार्तिकालंकाराप्तपरीक्षापरी-क्षामुखपत्रपरीक्षाष्टसाहस्रीप्रमेयरत्नमालादिस्वमतप्रमाणशशधरमणिकण्ठकिरणा-वलीवरदराजीचिन्तामणिप्रमुखपरमतप्रकरणैन्द्रचान्द्रमाहेन्द्रजैनेन्द्रकाशकृत्स्नकाला-पकमहाभाष्यादिशब्दागमगोम्मटसारत्रैलोक्यसारलब्धिसारक्षपणसारजम्बूद्वीपादिपंच-प्रज्ञप्तिप्रभृतिपरमागमप्रवीणानामनेकदेशनरनाथनरपतितुरंगपतिगजपतियवनाधीश-

दुश्चारादि(?) के सम्पूर्ण गर्वरूपी पर्वत को चूर्ण करने में वज्र के सदृश, प्रथम-वचन का खंडन करने में पंडित, व्याकरण-प्रमेयकमलमार्तण्ड-छंद-अलंकार-सार-साहित्य-संगीत-सम्पूर्ण-तर्क-सिद्धांत और आगमशास्त्र रूपी समुद्र के पारंगत सम्पूर्ण मूलोत्तर गुण रूपी मणियों से भूषित, विद्वनों में श्रेष्ठ श्री वीरचंद्र भट्टारक के ॥२६॥

उनके पट्ट (गद्दी) रूपी उदयाचल पर उदित सूर्य के समान, सम्पूर्ण विद्वन्मण्डली के चूड़ामणि, सभी भव्यजनों के हृदय रूपी कुमुद-वन को विकासित करने के लिए रजनीपति, परम जैन, स्याद्वाद में निष्णात, शुद्ध, सम्यक्त्व को प्राप्त जात और मृत(?) अभिमानी मिथ्यावादियों के मिथ्या-वचन रूपी महीधरों (पर्वत) के शृङ्ग को तोड़ने में प्रचंड विद्युत्-दण्ड के सदृश, संस्कृत आदि आठ महाभाषा रूपी जलधरहेतुक छटाद्वारा भव्य जन रूपी मयूरादि पक्षियों को तृप्त करनेवाले, चौरासी वादियों में विराजमान, प्रमेय-कमलमार्त्तण्ड-न्यायकुमुदचन्द्रोदय-राजवार्तिकालंकार-श्लोकवार्तिकालंकार-आप्तपरीक्षा-परीक्षामुख-पत्रपरीक्षा-अष्टसाहस्री-प्रमेयरत्नमाला आदि अपने मत के प्रमाण रूपी चन्द्रमणि को कण्ठ में धारण करनेवाले, किरणावली-वरदराजी-चिंतामणि प्रभृति परमत में, ऐन्द्र, चान्द्र, माहेन्द्र, जैनेन्द्र काशकृत्स्न, कालापक और महाभाष्यादि शब्द-शास्त्र में गोम्मटसार, त्रैलोक्यसार, लब्धिसार, क्षपणासार और जम्बूद्वीपादि पंचप्रज्ञप्ति-प्रभृति परम आगमशास्त्रों में प्रवीण, अनेक देशों के नरनाथ, नरपति, अश्वपति, गजपति और यवन अधिपतिओं की

सभासम्प्राप्तसम्मानश्रीनेमिनाथतीर्थंकरकल्याणपवित्रश्रीउज्जयन्तशत्रुंजयतुंगीगिरि-चूलगिर्य्यादिसिद्धक्षेत्रयात्रापवित्रीकृतचरणानामंगवादिभंगशीलकलिंगवादिकर्पूरका-लानलकाश्मीरवादिकदलीकृपाणनेपालवादिशापानुग्रहसमर्थगुर्जरवादिदत्तदण्डगौड-वादिगण्डभेरुण्डदत्तदण्डहम्मीरवादिब्रह्मराक्षसचोलवादिहल्लकल्लोलकोलाहलद्राविड-वादित्राटनशीलतिलंगवादिकलंककारिदुस्तरवादिमस्तकशूलकोंकणवादिवरोत्वात-मूलव्याकरणवादिमर्दितमरट्टतार्किकवादिगोधूमघरट्टसाहित्यवादिसमाजसिंहज्योतिष्क-वादिभूर्णी(?)तलिहमन्त्रवादियन्त्रगोत्रतन्त्रवादिकलप्रकुचकुम्भनिवोल(?)रत्नवादियत्न-कारसमस्तानवद्यविविधविद्याप्रासादसूत्रधाराणां सकलसिद्धान्तवेदिनिर्ग्रन्थाचार्य-वर्यशिष्यश्रीसुमतिकीर्तिस्वपरदेशविख्यातशुभमूर्तिश्रीरत्नभूषणप्रमुखसूरिपाठकसाधु-संसेवितचरणसरोजानां कलिकालगौतमगणधराणां श्रीमूलसंघसरस्वतीगच्छशृङ्गार-

सभाओं में सम्मान प्राप्त करने वाले श्री नेमिनाथ तीर्थंकर के कल्याण से पवित्र किये हुए, श्री ऊज्जयंत, शत्रुंजय, तुंगीगिरि, चूलगिरि आदि सिद्धक्षेत्र की यात्रा से अपने चरणों को पवित्र किये हुए, अंगदेश के वादियों को भग्न करनेवाले, कलिंग देश के वादी रूपी कपूर के लिए भयंकर अग्नि के समान, काश्मीर के वादी रूपी कदली के लिए तलवार के समान, नेपाल के वादियों को शाप और अनुग्रह करने की शक्ति रखने वाले, गुजरात के वादिओं को दण्ड देने वाले, गौड (बंगाल का हिस्सा) के वादी रूपी गंड भेरुण्ड पक्षी को दण्ड देनेवाले हम्मीर (राजा) के वादियों के लिए ब्रह्मराक्षस के सदृश, चोल के वादियों में महान् कोलाहल मचाने वाले, द्राविड वादियों को त्राटन देनेवाले, तिलङ्ग के वादिओं कोलांछित करने वाले, दुस्तर (कठिन) वादिओं के लिए मस्तकशूल रोग के समान, कोंकण देश के वादिओं के लिए उत्कट वातमूल रोग के समान, व्याकरण शास्त्र के वादिओं को चकनाचूर करने वाले, तर्कशास्त्र के वादिओं को गेहूँ का आटा बनाने वाले, साहित्य के वादि-समाज लिए सिंह सदृश, ज्योतिष के वादियों को भूमिसात् करने वाले, मंत्रवादियों को यंत्र (कोल्हू) में डालने वाले, तंत्र वादियों की छाती विदीर्ण करने वाले, रत्नवादिओं का यत्न करने वाले, सम्पूर्ण निर्दोष विविध विद्या रूपी प्रासाद (भवन) के सूत्रधार सभी सिद्धांतों को जानने वाले, जैनाचार्यप्रवर, शिष्य श्री सुमतिकीर्त्ति, अपने और दूसरे देशों में प्रसिद्ध शुभमूर्त्ति श्रीरत्नभूषण प्रभृति सूरि, पाठक और साधुओं से सेवित चरण कमल वाले तथा कलिकाल के लिए गौतम गणधर-स्वरूप, श्रीमूलसंघ-सरस्वतीगच्छ के शृङ्गारहार-सदृश,

हाराणां गच्छाधिराजभट्टारकवरेण्यपरमाराध्यपरमपूज्यभट्टारकश्रीज्ञानभूषणगुरूणाम् ॥२७॥

तत्पट्टकुमुदवनविकासनविशदसम्पूर्णपूर्णिमासारशरच्चन्द्रायमानानां कविगमकवादिवाग्मिकचतुर्विधविद्वज्जनसभासरोजिनीराजहंससन्निभानां सारसामुद्रिकशास्त्रोक्तसकललक्षणलक्षितगात्राणां सकलमूलोत्तरगुणगणमणिमण्डितानां चतुर्विधश्रीसंघहृदयाह्लादकराणां सौजन्यादिगुणरत्नरत्नाकराणां संघाष्टकभारधुरंधराणां श्रीमद्रायराजगुरुवसुन्धराचार्यमहावादिपितामहसकलविद्वज्जनचक्रवर्त्तिवंकुडीकुडीयाण (?)-परगृहविक्रमादित्यमध्याह्नकल्पवृक्षबलात्कारगणविरुदावलीविराजमानडिल्लीगुर्जरादि देशसिंहासनाधीश्वराणां श्रीसरस्वतीगच्छश्रीबलात्कारगणाग्रगण्यपाषाणघटितसरस्वतीवादनश्रीकुन्दकुन्दाचार्यान्वयभट्टारकश्रीविद्यानन्दिश्रीमल्लिभूषणश्रीमल्लक्ष्मीचन्द्रश्रीवीरचन्द्रसाम्प्रतिकविद्यमानविजयराज्ये श्रीज्ञानभूषणसरोजचञ्चरीकश्रीप्रभाचन्द्रगुरूणाम् ॥२८॥

तत्पट्टकमलबालभास्करपरवादिगजकुम्भस्थलविदारणसिंहस्वदेशपरदेशप्रसिद्ध-

गच्छाधिराज, भट्टारकों में श्रेष्ठ, परम आराध्य और परम पूज्य भट्टारक श्री ज्ञानभूषण गुरुवर के ॥२७॥

उनके पट्ट-रूपी कुमुदवन को विकासित करने के लिए स्वच्छ शरद् कालीन पूर्णिमा के चन्द्र के समान, कवि-गमक-वादी-वाग्मिक इन चारों प्रकार के विद्वानों की सभा रूपी सरोजिनी में राजहंस के सदृश, सामुद्रिक शास्त्र में कथित सभी शुभ लक्षणों से युक्त शरीर वाले, सम्पूर्ण मूलोत्तर गुण-मणियों से अलंकृत, चारों प्रकार के संघों के हृदयाह्लादक, सौजन्य आदि गुण रत्नों के सागर, संघाष्टक के भार की धुरी को धारण करने वाले, श्रीमान् राव (?) के राजगुरु, भूमंडल के आचार्य, महावादिओं के पितामह, अखिल विद्वज्जनों के चक्रवर्त्ती, (वकुंडी कुडीयाण ?)······शत्रुगृह के लिए विक्रमादित्य, मध्याह्न के लिए कल्पवृक्ष, बलात्कारगण की विरुदावली में विराजमान, दिल्ली गौर्जर (गुर्जर) आदि देशों के सिंहासनाधीश्वर, श्री मूलसंघ-श्रीसरस्वतीगच्छ-श्रीबलात्कारगण में अग्रगण्य, पत्थर की बनी सरस्वती को बुलवाने वाले, श्री कुंदकुंदाचार्य के वंश में भट्टारक श्री विद्यानंदी, श्री मल्लिभूषण, श्री लक्ष्मीचंद्र और श्री वीरचंद्र के संप्रति विद्यमान विजयराज्य में श्रीज्ञानभूषण रूपी सरोज के लिए चंचरीक भट्टारक श्री प्रभाचंद्र गुरु के ॥२८॥

उनके पट्ट रूपी कमल के लिए बालसूर्य, परमतवादी रूपी गज के मस्तक को विदीर्ण

नामपंचमिथ्यात्वगिरिशृङ्गशातनप्रचण्डविद्युद्दण्डानां जंगमकल्पद्रुमकलिकालगौत-मावताररूपलावण्यसौभाग्यभाग्यमण्डितनिजवचनकलाकौशल्यविस्मापिताखण्डल-महावादवादीश्वरराजगुरुवसुन्धराचार्यहुंबडकुलभृङ्गारहारभट्टारकश्रीमद्वादिचन्द्रभट्टार-काणाम् ॥२६॥

तत्पट्टैकसम्पूर्णचन्द्रस्वराद्धान्तविद्योत्कटपरवादिगजेन्द्रगर्वस्फोटनप्रबलेन्द्रमृगे-न्द्राणां कृत्स्नाद्वयशब्दश्रुतछन्दोलंकृतिकाव्यतर्कादिपठनपाठनसामर्थ्यप्रोत्थकीर्त्ति-वल्ल्याच्छादितवंगांगतिलंगगुर्जरनवसहस्रदक्षिणवागवरादिदेशमण्डपानां महा-वादीश्वरश्रीमन्मूलसंघशृंगारहारश्रीमद्वादिचन्द्रपट्टोदयाद्रिबालदिवाकराणां त्रिजग-ज्जनाह्लादनप्रकृष्टप्रज्ञाप्रागल्भ्याभिनववादीन्द्रसकलमहत्तममहतीमहीमहतामहस्क(?)-महन्महीपतिमहितश्रीमहीचन्द्रभट्टारकाणाम् ॥३०॥

तत्पट्टोदयाद्रिबालविभाकरविद्वज्जनसभामण्डनमिथ्यामतखण्डनपण्डितानाम् परवादिप्रचण्डपर्वतपाटनपवीश्वराणां भव्यजनकुमुदवनविकाशनशशधरधर्म्मामृत-

करने में सिंह के समान, स्वदेश और परदेश में ख्याति प्राप्त, पंच मिथ्यात्व-स्वरुप पर्वत के शिखर को नष्ट भ्रष्ट करने में प्रचंड बिजली के समान, चलते-फिरते कल्पवृक्ष-स्वरूप, कलिकाल में गौतमावतार रूप, लावण्य और सौभाग्य से युक्त, अपने वचन की चातुरी से इन्द्र को विस्मय में डालने वाले, महावाद-वादीश्वर, राजगुरु, भूमण्डल के आचार्य, हुंबड कुल के श्रृंङ्गारहार, भट्टारक श्री वादिचन्द्र के ॥२९॥

उनके पट्ट को (सुशोभित करने के लिए) एकमात्र पूर्णचन्द्र, अपने सिद्धान्त की विद्या में उत्कट, परमतवादी-रूपी गजेन्द्र के गर्व को फोड़नेवाले प्रबल मृगेन्द्र सदृश, अखिल अद्वय (अद्वैत) शब्द को सुने हुए, छंद-अलंकार-काव्य-तर्क आदि के पठन-पाठन की सामर्थ्य रखने के कारण फैली हुई कीर्त्तिलता से वंग-अंग-तैलंग-गुर्जर-नवसहस्र दक्षिण वागवर आदि देश-रूपी मंडप को आच्छादित करनेवाले,(?) महावादीश्वर, श्रीमूलसंघ के शृंगारहार, श्रीवादिचंद के पट्ट-रूपी उदयाचल पर बालसूर्य के समान, त्रिभुवन के जनों को आह्लादित करनेवाले, प्रखर बुद्धि और निपुणता के कारण एक नवीन वादिश्रेष्ठ, सम्पूर्ण पृथ्वी के बड़े से बड़े भूभाग के महान् महीपतियों से पूजित श्रीमहीचन्द्र भट्टारक के ॥३०॥

उनके पट्ट-स्वरूप उदयगिरि पर (उदित) बालभास्कर, विद्वानों की सभा के भूषण, मिथ्यामत के खण्डन में पण्डित, परमत के वादी-रूपी प्रचण्ड पर्वत को तोड़ने में श्रेष्ठ वज्र के समान, भव्य जन-रूपी कुमुद वन को विकसित करने के लिए चन्द्रमा, धर्मस्वरूप अमृत-

वर्षणमेघानां लघुशाखाहुवडकुलश्रृंगारहारडिल्लीगुर्ज्जरसिंहासनाधीशबलात्कारगण-विरुदावलीविराजमानभट्टारकश्रीमेरुचन्द्रगुरूणाम् ॥३१॥

सकलसिद्धान्तप्रतिबोधितभव्यजनहृदयकमलविकाशनैकबालभास्कराणां दश-विधधर्मोपदेशनवचनामृतवर्षणतर्प्पितानेकभव्यसमूहानां श्रीमन्मेरुचन्द्रपट्टोद्धरण-धीराणां श्रीमच्छीमूलसंघसरस्वतिगच्छबलात्कारगणविरुदावलीविराजमानभट्टारक-वरेण्यभट्टारकश्रीजिनचन्द्रगुरूणां तपोराज्याभ्युदयार्थं भव्यजनैः क्रियमाणे श्रीजिननाथाभिषेके सर्वे जनाः सावधाना भवन्तु ॥३२॥

को बरसाने में मेघतुल्य, लघु शाखा के हुवड़ कुल के श्रृंगारहार, दिल्ली और गुजरात के सिंहासनाधीश, बलात्कारगण की विरुदावली में विराजमान भट्टारक श्रीमेरुचन्द्र गुरु के ॥३१॥

सम्पूर्ण सिद्धांतों द्वारा ज्ञानवान् बनाये गये भव्यजनों के हृदय-कमल को विकासित करने में एकमात्र बालसूर्य, दशविध धर्मों के उपदेश-वचनामृत की वृष्टि से अनेक भव्यसमूह को तृप्त करनेवाले, श्रीमेरुचन्द्र के पट्ट का उद्धार करने में धीर, श्री मूलसंघ 'सरस्वतीगच्छ बलात्कारगण की विदरुावली में विराजमान, भट्टारकों में श्रेष्ठ, भट्टारक श्री जिनचन्द्र गुरु के तपोराज्य के अभ्युदय के लिए भव्यजनों द्वारा किये जानेवाले श्रीजिननाथ के अभिषेक में सभी लोग सावधान होवें ॥३२॥

यह गुर्वावली समाप्त हुई।*

* श्रीयुत बाबू कामता प्रसाद जी जैन द्वारा प्रेषित।

अनुवादक—पं० कमलाकान्त उपाध्याय, व्याकरण-वेदान्त-साहित्याचार्य, काव्यतीर्थ।

समीक्षा

षट्खण्डागम—'धवला' टीका और उसके हिन्दी-भाषानुवाद-सहित (प्रथम खण्ड 'जीवट्ठाण' का 'क्षेत्र-स्पर्शन-कालानुगम' नामक चतुर्थ अंश)। मूल रचयिता—भगवान् पुष्पदन्त, भूतबलि; धवलाटीकाकार—वीरसेनाचार्य; सम्पादक—प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम० ए०, एल्-एल्०बी, संस्कृताध्यापक किंग एडवर्ड कॉलेज, अमरावती; सहसम्पादक—पं० हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ; प्रकाशक—श्रीयुत सेठ शिताबराय लक्ष्मीचन्द्र जैन साहित्योद्धारक-फण्ड कार्यालय, अमरावती (बरार); वीरनिर्वाण-संवत् २४६८; पुस्तकाकार का मूल्य १०); शास्त्राकार का मूल्य १२)।

ग्रन्थ के प्रारम्भ में गणित का खुलासा ज्ञान कराने के लिये उपयोगी २० चित्र दिये गये हैं, जिनसे लोक आदि के गणित का ज्ञान आसानी से हो सकता है। इसकी महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना अंग्रेजी और हिन्दी दोनों में लिखी गई है। अंग्रेजी प्रस्तावना लखनऊ विश्वविद्यालय के गणिताध्यापक डा० अवधेशनारायण सिंह की है। आपने इसमें धवला में आये हुए गणितशास्त्र का विशद विवेचन किया है तथा यह भी सिद्ध किया है कि हिन्दू गणितज्ञ, आर्यभट्ट, से भी पूर्व जैनियों का गणितशास्त्र उच्च कोटि का था। जैनाचार्य रेखागणित, बीजगणित और अङ्कगणित से भली-भाँति परिचित थे। आपने संख्यात, असंख्यात और अनन्त के प्रतिपादक गणित का विवेचन वासना (उपपत्ति)-पूर्वक किया है। इसके अर्द्धच्छेद, त्रिकच्छेद, चतुर्थच्छेद आदि गणित की वासना का विवेचन गणितज्ञों के लिये विशेष मनोरञ्जक है। हिन्दी-भूमिका में 'सिद्धान्त और उनके अध्ययन का अधिकार' इस विषय को अनेक ग्रन्थों से प्रमाण देकर स्पष्ट किया है तथा अन्त में यह सिद्ध किया है कि षट्खण्डागम को अध्ययन करने का गृहस्थ को अधिकार है। आगे ग्रन्थ के विषय का ज्ञान कराने के लिये संक्षेप में क्षेत्रानुगम, स्पर्शानुगम और कालानुगम का वर्णन किया है। इस भाग में गणित-सम्बन्धी कई नवीन बातों का कथन किया है।

अनुवाद करने में ग्रन्थ के मूल गणित-सूत्रों के केवल अर्थ और उदाहरण ही दिये गये हैं। यदि इन्हीं सूत्रों की उपपत्ति (वासना) भी दी जाती, तो यह विषय सिर्फ सिद्धान्त जाननेवालों के लिये ही उपयोगी सिद्ध नहीं होता, बल्कि गणितज्ञों के लिये भी लाभदायक हो जाता तथा इससे जैन-गणित का और भी अधिक गौरव प्रकट होता।

पृष्ठ ४२ पर दिया गया परिधि ज्ञात करने का करणसूत्र अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है और यह आधुनिक प्राप्त सभी करणसूत्रों से भिन्न है। पृ० १५२ पर चन्द्रसंख्या, सूर्यसंख्या,

ग्रहसंख्या, नक्षत्रसंख्या और तारा-संख्या का विषय भी गणित जाननेवालों के लिये मनोरञ्जक है। धवलाकार ने गणित में काफी श्रम किया है। जिन गणित नियमों को आधुनिक वैज्ञानिक भी स्थूलता से सिद्ध कर पाये हैं, उन गणित नियमों को जैनाचार्यों ने अति प्राचीन काल में भी अपने सूक्ष्म ज्ञान के द्वारा सिद्ध कर लिया था। पृ० १९५ पर दिये गये लवणसमुद्र, कालोदधिसमुद्र और पुष्करवरसमुद्र आदि की बाह्य और अभ्यन्तर सूची लानेवाले गणित-सूत्र भी महत्त्वपूर्ण है। गणित की दृष्टि से इनकी उपपत्ति त्रिकोणमिति से सिद्ध हो सकती है। पृ० ३१८ पर दिन के १५ मुहूर्त्तों के नाम निम्न प्रकार बताये हैं:

(१) रौद्र (२) श्वेत (३) मैत्र (४) सारभट (५) दैत्य (६) वैरोचन (७) वैश्वदेव (८) अभिजित् (९) रोहण (१०) बल (११) विजय (१२) नैऋत्य (१३) वारुण (१४) अर्यमन् (१५) भाग्य। रात्रि मुहूर्त्तों का उल्लेख इस प्रकार से किया गया है—

(१) सावित्र (२) धुर्य (३) दात्रक (४) यम (५) वायु (६) हुताशन (७) भानु (८) वैजयन्त (९) सिद्धार्थ (१०) सिद्धसेन (११) विक्षोभ (१२) योग्य (१३) पुष्पदन्त (१४) सुगन्धर्व (१५) अरुण।

इस प्रकार से दिन और रात्रि के पन्द्रह-पन्द्रह मुहूर्त्त निश्चित किये हैं। अन्य ज्योतिष-ग्रंथों में भी दिन-रात्रि के पन्द्रह-पन्द्रह मुहूर्त्त पाये जाते हैं। परन्तु इन मुहूर्त्तों के नाम अन्यत्र आये हुए ज्योतिष-ग्रन्थों के नामों से सर्वथा भिन्न हैं। तिथियों के नाम तथा उनके स्वामियों का उल्लेख भी इस ग्रन्थ में निम्न प्रकार से किया है, नन्दा, भद्रा, जया, रिक्ता और पूर्णा इस प्रकार ये पाँच तिथियाँ बताई गई हैं। इनके देवता क्रम से चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, आकाश और धर्म होते हैं। इस उल्लेख में तिथियों के नाम तो अन्य जगह आये हुए ही हैं, परन्तु उनके देवताओं के नाम हिन्दू ज्योतिष ग्रन्थों में आये हुए देवताओं के नामों से सर्वथा भिन्न हैं। इस प्रकार से इस प्राचीन ग्रन्थ में अनेक ज्योतिष-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण बातों का समावेश है। अनुवाद अच्छा हुआ है। ग्रन्थ उपयोगी है, सब किसी को मन्दिर और शास्त्र-भाण्डारों के लिये मंगाकर जैनसाहित्य का उद्धार करने में सहायक होना चाहिये।

—नेमिचन्द्र जैन, न्याय-ज्योतिष-तीर्थ, ज्योतिष-शास्त्री।

[२]

कन्नड नाडिन कथेगलु—लेखक: श्रीनारायण शर्मा; प्रकाशक : कर्नाटक इतिहास-संशोधक-मण्डल, धारवाड़; मूल्य : सामान्य प्रति का ।।।), विशिष्ट प्रति का १); सन् १९४० ; मुद्रण आदि चित्ताकर्षक।

इस संग्रह में शर्माजी ने कर्णाटक के चरित्र से सम्बन्ध रखनेवाले ५५ शब्द-चित्रों को ऐतिहासिक आधार पर ललित भाव एवं सरल शैली में सुंदर ढंग से चित्रित करने का सफल

प्रयास किया है। इन कथाओं से विद्यार्थियों को कर्णाटक के राजकीय, सामाजिक, आध्यात्मिक तथा कला-कौशल-सम्बन्धी परिज्ञान आसानी से हो सकता है। साथ ही साथ इनके अध्ययन से बालकों के कोमल हृदय में कर्णाटक-संस्कृति का अभिमान भी जाग उठेगा। इस साहित्यिक सेवा के लिये शर्माजी वास्तव में धन्यवाद के पात्र हैं। ऐतिहासिक प्रस्तावना में कर्णाटक में शासन करनेवाले प्रायः सभी राजवंशों का संक्षिप्त परिचय देकर इन्होंने कदम्ब, राष्ट्रकूट, चालुक्य, होय्सल, यादव, विजयनगर, पालेयगार, बहमनी, कोड़गु, मैसूरु इन राजवंशों के प्रधान-प्रधान व्यक्तियों एवं कर्णाटक की लक्ष्मम्म, सोमलादेवी, चेन्नम्म, ओबव्व आदि वीराङ्गनाओं की साहस-पूर्ण कथाओं को चित्ताकर्षक शैली में चित्रित किया है। इसमें रामानुजाचार्य, बसवेश्वर, पुरन्दरदास, कनकदास, विद्यारण्य आदि कर्णाटक के सुप्रसिद्ध धार्मिक महापुरुषों की जीवनियाँ भी सम्मिलित की गई हैं। प्रस्तुत संग्रह में महाकवि पंप, वीर चामुण्डराय, सल, सोमलादेवी आदि कतिपय जैन वीर-वीराङ्गनाओं की जीवनियाँ भी गर्भित हैं। पुस्तक उपयोगी है; इस विषय में किसीका मतभेद नहीं हो सकता। हाँ, कतिपय काल-निर्णयों पर अवश्य मतभेद हो सकता है। साथ-ही-साथ इस कार्य के लिये अपनाये गये आधार ग्रंथों में सभी ग्रन्थ प्रामाणिक नहीं है। अतः इसे शुद्ध ऐतिहासिक कहना ठीक नहीं होगा। फिर भी ग्रन्थकर्त्ता का उद्देश्य आदरणीय है। एक परिशिष्ट के अतिरिक्त तीन ऐतिहासिक नक्शा और उन्नीस सुन्दर चित्र भी इसमें दिये गये हैं। इन चित्रों में श्रीबाहुबली, महाकवि पंप आदि का चित्र भी शामिल है। इस उपयोगी पुस्तक को प्रकाशित करनेवाला कर्णाटक इतिहास-संशोधक-मण्डल, धारवाड़ भी विशेष धन्यवाद का पात्र है।

—के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण

[३]

चित्रसेनपद्मावतीचरित्रम्—रचयिता—श्री बुद्धिविजय; संपादक और प्रकाशक—श्रीमूल-राज जैन, एम०ए०, एल्-एल्-बी०, [जैन विद्याभवन, कृष्णनगर, लाहौर; मूल्य १।); छपाई-सफाई बढ़िया।

इस ग्रन्थ की आलोचनात्मक भूमिका सम्पादक ने अंग्रेजी में स्वयं लिखी है। इन तीस पृष्ठों में सभी आलोच्य विषय बड़ी सुन्दरता से प्रतिपादित हुए हैं। प्रस्तावना के अन्तिम पृष्ठों में अनुसन्धानात्मक और व्याकरण-सम्बन्धी विवरण विद्वत्तापूर्ण है। सन्मान, सन्मानिता, सन्मुख आदि शब्दों को एक साधारण शुद्धि-पत्र में देकर काम चल सकता था, पर पूरे-पूरे अंग्रेजी के वाक्यों द्वारा ये शुद्ध किये गये हैं। फिर भी कुछ अशुद्धियों का संकलन नहीं हो पाया है और न कोई संकेत ही किया गया है। ४६वें श्लोक में 'शुश्राव' छप गया है।

८५ वें श्लोक में 'विमोहित' पद का उपसर्ग व्यर्थ ही छन्दोभंग दोष ला रहा है। ग्रंथकार ने कथा के सिलसिले में कई संस्कृत और प्राकृत पद्य ऐसे रक्खे हैं जो अन्यकर्तृक हैं। ग्रन्थकार ने तो प्रासंगिकता लाकर सुन्दरता से खपाया है, पर संपादक का कर्त्तव्य था कि कुछ संकेत करते। अस्तु, संपादन बड़ा ही सुन्दर हुआ है।

ग्रन्थकार के सम्बन्ध में मुझे कुछ कहना नहीं है। अन्य कथाओं की तरह इस कथा में भी कुछ ऐसी विलक्षण बातें जोड़ी गई हैं, जो कि प्राचीन कथाकारों का एक ढंग था। लोकरुचि की रक्षा के लिये पुत्र पर राजा का नाराज होना, चित्रसेन का गृहत्याग, मन्त्रि-पुत्र की निःस्वार्थ मैत्री आदि बातें इस ग्रन्थ में उच्च और बेजोड़ हैं। काव्य आशुबोध होने से प्रवाहपूर्ण है। पुस्तकालयों में ग्रन्थ अवश्य रखने के योग्य है।

सम्पादक के परिश्रम के ख़याल से तो नहीं, पर आकार-प्रकार के लिहाज से ग्रन्थ का मूल्य अधिक है।

—कमलाकान्त उपाध्याय
व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य, काव्यतीर्थ।

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा, का संक्षिप्त वार्षिक विवरण

(१३-५-४१—१८-६-४२)

वीर-संवत् २४६७ ज्येष्ठ शुक्ल पञ्चमी से वीर संवत् २४६८ ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी तक भवन के सामान्य दर्शक-रजिस्टर में ६००० व्यक्तियों के हस्ताक्षर हुए हैं। प्रमाद अथवा अज्ञानता-वश हस्ताक्षर नहीं करनेवाले सज्जनों की संख्या भी इससे कम नहीं है।

विशिष्ट दर्शकों में से निम्नलिखित महानुभावों के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं :

श्रीयुत पं० बनवारीलाल शास्त्री, देहली; श्रीयुत बाबू बैजनाथ जैन एडवोकेट, पटना; श्रीयुत डा० दासगुप्ताचार्य हिन्दू-विश्व-विद्यालय, बनारस; श्रीयुत बाबू पद्मराज जैन, मंत्री हिन्दू महासभा, कलकत्ता; श्रीयुत बाबू गोपालकृष्ण महाजन एम० ए०, संयुक्तमंत्री, मन्नूलाल पुस्तकालय, गया; श्रीयुत बाबू व्रजभूषण शरण एडवोकेट, मथुरा; श्रीयुत सेठ गोपीचन्द ठोलिया, जयपुर; श्रीयुत बाबू एम० बी० महाजन, एडवोकेट, अकोला; श्रीयुत पं० कैलाशचन्द्र शास्त्री, प्रधानाध्यापक स्याद्वाद दि० जैन महाविद्यालय, बनारस तथा संपादक 'जैन-सन्देश' मथुरा; श्रीयुत प्रोफेसर खुशालचन्द शास्त्री, एम० ए०, साहित्याचार्य, विद्यापीठ, काशी; श्रीयुत बाबू शान्तिमय वन्द्योपाध्याय, एम० ए०, एल० टी०, मिर्जापुर। इन विद्वानों ने अपना बहुमूल्य शुभ सम्मतियों के द्वारा भवन की सुव्यवस्था एवं संग्रहादि की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की हैं।

सर्वसाधारण को भवन से पुस्तकें घर ले जाने को नहीं मिलती हैं, अतः स्थानीय पाठकों को नियमानुसार भवन में ही आकर अध्ययन करना पड़ता है। इनके सिवा विशेष नियम से कुछ खास-खास व्यक्तियों को घर ले जाने को जो पुस्तकें दी गई हैं, उनकी संख्या २८२ है। इन पुस्तकों से स्थानीय पाठकों के अतिरिक्त मद्रास, मङ्गलूरु, सोलापुर, काशी, मथुरा, मोरेना, बड़ौदा आदि स्थानों के विद्वानों ने भी लाभ उठाया है।

इस साल मुद्रित प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, मराठी, गुजराती एवं कन्नड आदि भारतीय भिन्न-भिन्न भाषाओं की चुनी हुई ३२५ तथा अंग्रेजी की ३०, कुल ३५५, पुस्तकें भवन में संगृहीत हुई हैं।

पुस्तक भेंट देनेवालों में श्रीमती पं० सितारासुन्दरी देवी, काव्यतीर्था, आरा; गवर्नमेन्ट ओरियन्टल लायब्रेरी, मैसूरु; आर्किओलाजिकल मैसूरु; विश्वविद्यालय मैसूरु; श्रीयुत पं० नाथूराम प्रेमी, बम्बई; मंत्री कुंथुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर; श्रीयुत पं० बनवारी लाल

शास्त्री, देहली; श्रीयुत खुशालचन्द कोदरजी, फलटन; श्रीयुत पं० कमलाकान्त उपाध्याय, आरा; श्रीयुत उग्रसेन, एम० ए०, मथुरा; मंत्री जैनमित्र मण्डल, देहली; श्रीयुत पं० मुक्तिनाथ मिश्र, आरा; श्रीयुत प्रोफेसर हीरालाल जैन, अमरावती; विश्वविद्यालय मद्रास; श्रीयुत पं० मक्खन-लाल शास्त्री मोरेना के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

प्रकाशन-विभाग में 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर', प्रशस्ति-संग्रह आदि का प्रकाशन पूर्ववत् चालू रहा है। बल्कि 'भास्कर' उत्तरोत्तर लोकप्रिय होता जा रहा है। बड़े-बड़े जैनेतर विद्वान् भी इसे बड़े चाव से पढ़ते हैं। इसके लिये निम्नलिखित बहुमूल्य पत्र-पत्रिकाओं का परिवर्तन में आना ही एक ज्वलन्त उदाहरण है:

अंग्रेजी के: (1) The Indian Culture, (2) The Indian Historical Quarterly, (3) Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, (4) The Journal of the University of Bombay, (5) The Karnatak Historical Review, (6) The Adyar Library Bulletin. (7) The Journal of the Annamalai University, (8) The Poona Orientalist, (9) The Journal of the United Provinces Historical Society, (10) The Quarterly Journal of Mythic Society, (11) The Punjab Oriental Reasearch Quarterly Journal, (12) The Journal of the Royal Asiatic Society of Bengal, (13) The Journal of the Royal Asiatic Society of Bombay, (14) The Fergusson College Magazine, (15) The Journal of the Bihar and Orissa Research Society, (16) The Journal of the Benares Hindu University, (17) The Andhra University Colleges Magazine and Chronicle, (18) The Journal of the Sri Venkateswara Oriental Journal of the Sind Historical Society (19) The Journal of the Tanjore Institute, (20) The Sarasvathi Mahal Library, (21) The Jaina Gazette.

हिन्दी के: (१) नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका, (२) भारतीय विद्या, (३) प्राचीन भारत, (४) साहित्य-सन्देश, (५) अनेकान्त, (६) साहित्य-सम्मेलन-पत्रिका, (७) किशोर, (८) वैद्य, (९) धर्मदूत, (१०) जैन महिलादर्श, (११) दिगम्बर जैन, (१२) बालकेसरी, (१३) जैन प्रचारक (१४) जैन बोधक, (१५) खण्डेलवाल जैन हितेच्छु, (१६) वीर, (१७) भारतीय समाचार, (१८) जैन सन्देश, (१९) जैन मित्र, (२०) जैन गजट।

संस्कृत के : (१) मैसूरुमहाराजसंस्कृतमहापाठशालापत्रिका, (२) सूर्योदय।

कन्नड के : (१) कन्नड साहित्य-परिषत्पत्रिका, (२) प्रबुद्ध कर्नाटक (३) साहित्य समिति पत्रिके (४) जय कर्नाटक (५) अध्यात्मप्रकाश (६) शरण साहित्य (७) विवेकाभ्युदय (८) वीरवाणि (९) सुदर्शन।

तेलगु का : (१) आन्ध्र-साहित्य-परिषत्पत्रिका।

गुजराती का : (१) सुवास।

इनके अतिरिक्त भवन में (१) विशालभारत, (२) सरस्वती, (३) राष्ट्रवाणी भी मूल्य से मँगाई जाती हैं।

ज्येष्ठ शुक्ल पञ्चमी
वीर संवत् २४६८।

मंत्री :
जैन-सिद्धान्त-भवन

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग ९—वि० सं० १९९९, वीर० सं० २४६९

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३)   विदेश में ३॥)   एक प्रति का १॥)

ई० सन् १९४२

विषय-सूची

पृष्ठ

पृष्ठ

THE JAINA ANTIQUARY

VOL VIII. DECEMBER, 1942. No. II.

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
Babu Kamata Prasad Jain, M. R. A S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs. 3, Foreign 4s. 8*d*. Single Copy Rs. 1-8

CONTENTS.

Baladeva serving as an attendant in a Neminatha Image.
Guptā Period. J. 89 Lucknow Museum.

Om

THE JAINA ANTIQUARY

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "

Vol. VIII
No. II

ARRAH (INDIA)

December,
1942

A FRAGMENTARY SCULPTURE OF NEMINĀTHA IN THE LUCKNOW MUSEUM.

By

Dr. Vasudeva S. Agrawala, M.A., Ph. D., Curator, Lucknow Museum

The Provincial Museum, Lucknow has a large number of sculptures unearthed from the Kankali Tila Mathura in 1890-93. A majority of them is to be assigned to the Kushāṇa and Gupta periods There was at the site of Kankali Tila an ancient Jaina *Vihāra* and a *Stūpa* which in an inscription found from the place is described as the *Devanirmita Stūpa* (Ep. Ind. II., 20). A history of this Stūpa is contained in the ancient work entitled '*Vividha-Tīrthakalpa*" by Jina-Prabha Sūri. Recently Dr. Handiqui informed me that a legendry account of this Stūpa is also contained in the Yaśasatilaka Champū of Somadeva Sūri written in the tenth century. On page 315 of the Second Volume of this book (published in the Kavyamālā Series, Bombay, 1903) it is stated that the Stūpa at Mathura was designated as *Devanirmita* and was adorned by images of the Arhats :—

मथुरायां चक्रचरणां परिभ्रमय्य अर्हत्प्रतिबिम्बाङ्कितमेकं स्तूपं तत्रातिष्ठिपत् ।
अतएव अद्यापि तत्तीर्थं देवनिर्मिताख्यया प्रथते ।*

*I owe this reference to the kindness of Dr. R. K. Handiqui of Jorhat College, Assam.

This literary testimony is of great value as confirming an ancient tradition recorded on stone regarding the name of the great Jaina establishment at the site of Kankali Tila. The sculptures in themselves are the earliest specimens of Jaina iconic art and have special value as throwing light on the beginnings of Jaina iconography in North India. We have amongst them inscribed images of Tīrthamkaras and their attendant beings as well as of subsidiary gods and goddesses of the Jaina pantheon. For example, the images of Sarasvatī, Naigameśa and Āryavatī are of very great importance for a history of early Jaina religious worship. The last sculpture mentioning Āryavatī in the inscription on it appears to represent the royal lady Triśalā with her attendants holding *chhatra* and *chamara*, both being emblems of royalty Āryavatī appears to be but an honorific name and no independent goddess so styled seems to be intended.

The images of Tīrthamkaras reveal several points of interest. Firstly the distinctive marks by which the Jaina Tīrthamkaras are distinguished from one another in later times are conspicuous by their absence in the Kushāṇa and Gupta periods. Therefore, the cognizance marks (*lañchhanas*) seem to have emerged as regular iconographic features during the post-Gupta period. Secondly, the early sculptors in the absence of special marks distinguished one Tīrthamkara from another by engraving the saint's name on the pedestal. This device was inevitable in view of the cult of each Tīrthamkara claiming its own devotees who wished to immortalize their piety by dedicating images of that particular Tīrthamkara who was the object of their veneration. Thus a pious lay woman who calls herself wife of Suchila (an old contracted form for Sanskrit Śuchidatta or Śuchirakshita) dedicated an image of Śāntinātha. Similarly Jayā, devoted to the female desciple of Ārya Balatrāta, mother of a prosperous family, donated a colossal image of Vardhamāna. Mitraśrī established an image of the Tīrthamkara Arishṭanemi, and the female lay worshipper Dattā (an abbreviated name form of Devadatta) dedicated an image of the Arhat Nāndyāvarta (*i. e.* Aranātha, the eighteenth Tīrthamkara) in the Stūpa called *Devaniramita,* (Ep. Ind., II. 204). A full detailed study of all the Tīrthamkara images is needed to present as complete a picture as

possible of the religious affiliations of the Jaina church and the lay community settled at Mathura during the early centuries of the Christian era.

In the Tirthamkara images there is, however, some evidence pointing to the early conception of distinctive marks in respect of a few Jaina pontiffs. For example, we find that some images are characterized by a conopy of snakehoods, and on this account they were usually understood by the worshippers as representing Supārśva or the twenty-third Tirthamkara Pārśvanātha. Similarly on some images we find locks of hair falling on both shoulders, a mark to distinguish the saint as Arhat Ṛishabhanāth, the bull, his symbol in later Jaina iconography, being absent.

Of greater interest still is a class of images in which the Tirthamkara is sought to be distinguished by means of his attendants. These represent the Tirthaṁkara Neminātha whose attendants may at once be recogonized as Bāladeva and Vāsudeva who are in Brahmanical books more popularly known as Balarāma and Kṛishna. According to the *Kalpasūtra* Bāladeva and Vāsudeva were the brothers of the twenty-second Tirthamkara Neminātha. The Harivaṁśa dynasty to which they all belonged is said to have come into existence in the time of the tenth Tirthaṁkara Śitalanātha. A clear example of such images is that illustrated on plate 98 of the *Jaina Stūpa of Mathurā* by V. A. Smith, found from the Kankali Tila and now deposited in the Lucknow Museum. Besides the four armed images of Balarāma and Krishna, there is also carved on it the subsidiary figure of Yakshiṇī Ambikā on lion definitely marking the Tirthaṁkara as Neminātha. This sculpture should be ascribed to the early medieval period on the basis of its style. I have already described it in greater detail in a previous article published in this Journal*. Another image which is stylistically to be ascribed to the early Gupta period (No. 2502, Mathura Museum) shows Neminātha with his two divine attendants treated in a more unsophisticated manner and keeping nearer to the canons of early Brahmanical

*Some Brahmanical Deity in Jaina Religious Art, *Jaina Antiquary*, Vol. III, pages 83-92.

iconography. The Yakshiṇī Ambikā was originally absent from Neminātha images and seems to have been invoked for purposes of iconography as an afterthought in the early mediaeval period. The two attendant figures of Kṛishna and Balarāma were considered signs enough for the identity of the Tīrthaṁkara intended to be shown.

There is another fragmentary sculpture of red sandstone from the Kankali Tila (J. 89 in the Lucknow Museum) which is of special interest in respect of the iconographic features of one of the attendant figures viz. Balarāma. The existing fragment consists of the upper right portion of a Tīrthaṁkara image which represented Neminātha. The main figure is lost except for a portion of the halo which is of the full-blown lotus variety familiar to us in other Gupta sculptures. The attendant four-armed figure of Balarāma has a hooded canopy of serpent hoods on the head, a club or *muṣala* in upper right hand and the lower right hand is shown as usual raised above the head. The lower left hand is held akimbo and the other hand partly broken, is placed on the surviving symbol which it grasped and which imparts to the sculpture an unusual interest. The symbol consists of a lion surmounting a standard. In the usual course we should have expected a plough as the symbol in this hand of Balarāma. The lion is an exceptional feature substituted for the plough. A plough is called *lāngala* in Sanskrit literature and there is not yet sufficient evidence to say why a plough was substituted by a lion. We have in the Mahabharata a technical term *Siṁha-lāṅgūla dhvajāgra* to designate a banner with a lion. It is said in the Droṇaparvan where the banners of the leading warriors are described that Aśvatthāmā had a standard with a *siṁha lāṅgūla* as its ensign :—

तथैव सिंहलांगूलं द्रोणपुत्रस्य भारत ।

ध्वजाग्रं समपश्याम बालसूर्यसमप्रभम् ॥ द्रोण० १०५।१०

This is repeated in the Bhīshmaparvan 17· 21),

अश्वत्थामा ययौ यत्तः सिंहलांगूलकेतुना ।

The banner of Arjuna bore the figures of a monkey with a grotesque face and the hind part of a tailed lion (सिंहलांगूलमुग्रास्यं ध्वजं वानरलक्षणम् ।

Dronaparvan, 105. 8) In another Balarāma sculpture of the early Kushāṇa period, now preserved in the Bharat Kala Bhawan, Benares, the lion standard also occurs in place of the plough But in the image of Balarāma from village Junsuti near Govardhana in Mathura District now preserved in the Lucknow Museum, Balarāma holds in his two arms the *musala* and the *hala* respectively. This image is to be placed in the Śuṅga period about the second century B. C., and is on that account the earliest Brahmanical image of this deity known so far.* It appears, therefore, that the introduction of the lion capital standard in place of the original plough (*lāṅgala*) took place somewhere about the first century A D. In another image now preserved in the Mathura Museum (No. C. 19) and dateable in the Kushāṇa period the feature of the lion standard also occurs. In the descriptions of Balarāma I have not yet come across any literary reference describing this particular feature of a lion standard or सिंहलांगूलध्वजाग्र as we may call it. The artist who was fashioning the above image of Nemināth for a Jaina patron of his in the Gupta period seems to have incorporated the *siṁha dhwajagra* feature from a current and a well-understood formula of Balarāma iconography prevailing during the Kushāṇa and Gupta periods. A reference from Jaina literature regarding this particular feature will therefore be *very* welcome.

---

* For an illustration and account of this image see Journal of Indian Socy. of Oriental Art., Vol. V, p. 126.

NĀRĀYANAS, PRATINĀRĀYANAS AND BALABHADRAS.

BY

Dr. Harisatya Bhattacharya M.A., B.L., LL. D.

(Continued from Vol. VIII No. I, page 40.)

These two kings thereupon left their kingdom unnoticed by all; it was given out in their respective cities that they were too ill to appear before the public and to guard against all possibilities of the real state of affair being found out, two life-like images of the two kings were kept laid on royal beds in the palaces. Bibhīshaña sent assassins who cut off the heads of these images. These heads, presented before Rāvaña, removed all his fears.

Another episode in the Jaina version of the Rāma-story is the beautiful account of Bhāmandala. King Janaka is said to have had twin children, Sītā and a son by his queen, Bidēhā. Now, a superhuman being had a grudge against the infant son of king Janaka in his previous birth. To "feed fat this ancient grudge," this superhuman being took away the infant prince as soon as he was born; but on his way, he was suddenly apprised of the wickedness of his act and he left the infant with Chandragati, king of Ratha-nupura. Chandragati and his queen liked the beautiful child very much and began to rear him up as their own son. They called him Bhā-mandala.

Bhāmandala, when he came of age, heard of the be-witching looks of Sītā. He did not know that Sītā was his sister and so he wanted to marry her. His father asked Janaka to give his daughter in marriage to Bhāmandala, but Janaka had already settled to marry Sītā to Rāma. Matters cāme to such a pass that even when Chandragati withdrew his objections to the marriage of Sītā with Rāma, Bhāmandala came out to fight with Rāma. When, however, he reached Vidarbha, he suddenly remembered that Sītā was his sister. So, he gave up his intention to fight and gladly joined the marriage celebration of Rāma with Sītā.

In the Jaina account, we come across many stories about Lakshmaṇa. While in forest with Rāma and Sītā, he defeated the king Singhōdara and gave away to Bajrakaraṇa, a pious worshipper of the Jina, half of the kingdom of Singhōdara. He rescued Balyakhilya, king of Nalakubara, from the non-Aryan Bhīlas. His daughter Kalyanamālā became enamoured of Lakshmaṇa. He rescued also Banamālā daughter of the king Prīthvīdhara who was about to commit suicide as her father had arranged her marriage with a prince other than Lakshmaṇa whom she loved secretly. He is said to have gone to various cities and married many princesses.

In the Jaina Purāṇas, Hanumān is otherwise called Śrī-Śaila and he is looked upon as a Kāma-dēva, i.e., of a higher order of mortals and of exceptionally strong frame.

Bisides the above additions, we meet with various other alterations of the Rāma-story in the Jaina Purāṇas For example, regarding the promise of Daśaratha to give boons to Kaikēyī in future, the Jaina story is slightly different. King Daśaratha did not promise the boons because, as the Rāmāyaṇa of the Vēdic school says, Kaikēyī nursed him when he got wounded in a terrible fight against the demons The Jainas say, on the contrary, that while wandering from countries to countries incognito to delude Rāvaṇa and his men, Daśaratha reached the kingdom of Kaikēyī's father, where he heard that the beautiful princess was to choose her husband from among the renowned princes of the day assembled there for the purpose. Daśaratha attended the assembly and Kaikēyī's choice fell upon him. Thereupon, the disappointed princes attacked Daśaratha in rage. Daśaratha, however, was quite a match for them. Princess Kaikēyī too was a bold and skilful lady She acted as the charioteer and led the chariot of Daśarath dexterously in the battle-field,—just as Subhadrā (as described in the Vēdic Purāṇas) did on a similar occasion, when her suitor Arjuna was taking her away. To Kaikēyī's skill in chariot-driving Daśaratha owed his victory that day to a great extent and in fond gratitude, he offered to fulfil any boon that she might ask of him. Kaikēyī, however, said that she would let him know her wish on a suitable future occasion Daśaratha promised;

to fulfil her prayer whenever she would make it. She wanted Rāma's exile and Bharata's installation to throne of Ayōdhyā as the boon, when Daśaratha was about to make Rāma king and the poor king had to consent to it.

Then, as regards the marriage of Rāma with Sītā, the Jaina account is widely different from Vālmīki's. It is not the sage Visvāmitra who took Rāma to the hermitage for the purpose of killing Tārakā. We do not also find the story of Rāma's breaking the mighty bow of the Lord Śiva to win the hands of Sītā. The Jaina account says that Antarangala, the half-civilised Mlechchha (non-Aryan) king of Mayuramala attacked the kingdom of Janaka with a great army. Janaka was frightened and sought the aid of his friend, king Daśaratha, who sent his sons Rāma and Lakshmaña to drive away the non-Aryan hordes. The two brothers signally defeated Antarangala who fled away. King Janaka out of gratitude proposed to marry his daughter Sītā to Rāma and Daśaratha agreed to it. The sage, Nārada, however, heard of the far famed beauty of Sītā and wanted to see her. He entered the room where Sītā was looking at her face in a mirror. On the mirror, the ugly face of the sage, covered with long hairs and beards was suddenly reflected, which frightened the princess so much that she began to run away with a scream. Nārada was following her when he was stopped by a palaceguard. The sage felt insulted and resolved to create troubles for Sītā. He went to Bhāmandala who did not know that Sītā was really his sister and showed to him a portrait of the princess. Bhāmandala at once got enamoured of her and became eager for marrying her. King Chandragati, his father, came to know this and he had an interview with Janaka. Chandragati requested Janaka to give his daughter in marriage to Bhāmandala, but Janaka openly praised the powers of Rāma and expressed his decision already made, to marry Sīta to Rāma. Thereupon, Chandragati said that he had with him two mighty bows, known as Bajrāvarta and Sāgarāvarta and that they should be raised and used by Rāma and Lakshmaña before he would acknowledge the power of the two princes and allow Sītā to be married to Rāma. Janaka had two bows brought to Mithilā and invited Rāma and Lakshmaña along

with the other princes of the day. A '*Swayamvara*' was arranged and Janaka proclaimed that the prince who would be able to raise the bows would win the hands of Sītā. None of the princes dared to approach any of the bows; for, they were found to emit horrid flames. It was Rāma who lifted up Bajrāvarta quite easily; so did Lakshmaña Sāgarāvarta. Sītā threw the bridal garland around the neck of Rāma.

About the role of Jatāyu-bird as a protector of the exiled princes and Sītā, we came across a different story in the Jaina version. It is said that while in the Dandaka forest Rāma was one day waiting for getting a hungry sage who might oblige him by breaking his fast with the meals to be offered to him, as luck would have it, two such sages, Gupti and Sugupti, who had been fasting for a whole month, were passing that way and they, finding Rāma to be really a good and honest man, gladly ate the meals offered by him. A vulture was sitting on a tree near by ; suddenly, however, he came to realise that it was a rare opportunity to have such great sages and he fell down at their feet respectfully. At once the wings of the bird began to glitter as if they were made of gold. The sages, after finishing their meals, took pity on the bird and explained to him the rules of a morally disposed house-holder's life. From that day the bird began to lead a strictly abstemious life. The sage told him to live near Rāma and Lakshmaña. The bird agreed and was thereafter called Jatāyu by Rāma.

The incidents connected with the stealing of Sītā by Rāvaña are slightly different from those stated in Vālmīki's Rāmāyaña. According to the Jaina account, Lakshmaña one day perceived fragrant smell, coming from some unknown quarter. On enquiry, he discovered that it was coming from a beautiful sword, Sūryahāsya (Sun's laugh). To test the sharpness of the sword, Lakshmaña struck it on a cluster of bamboos near by. The bamboo-clump was cut and lo ! one Sambooka who was within it, practising penances for the purpose of getting the sword was killed outright. This Sambooka was the son of Khara-Dūshana who had married Chandra-nakhā sister of king Rāvaña of Lankā. Chandra-nakhā used to come every day to her penancing son and feed him.

At the gruesome sight, her grief was boundless and she began to search for her son's slayers. But when she saw Rāma and Lakshmaña, she became enamoured of them. She represented herself before them as a virgin and requested them to marry her. The brothers, of course, scoffed at her offer. In rage, she went to to her husband and told him all about her son's cruel murder. Khara-Dūshaña went out to fight and sent information to king Rāvaña to come and help him.

Thus in the Jaina account, Khara and Dūshaña are said to be one man and he is the husband of Rāvaña's sister. The story of Sambooka is curious In Vālmīki's Rāmāyaña, there is no such account. It is, of course, well known that there is a story about one Śūdra sage Sambooka's practising severest penances, who was killed by Rāma, after he became king of Ayōdhyā, on the ground that such penances were forbidden to a Sūdra. The present day writers look upon the slaughter of Śambooka as a great blot on Rāma's character. It need scarcely be said that the Jaina account of the killing of Śambooka exonerates Rāma fully from the guilt,—not only because it was not he but Lakshmaña who killed Śambooka, but also because the slaying was purely accidental.

As we have indicated above, according to the Jaina account, it was not Sūrpa-nakhā who induced her brother to take away Sītā. Rāvaña was coming to aid Khara-Dūshaña and it is said that he saw Sītā in the cottage from his air-chariot. He was struck at her beauty and decided to steal her. According to the Jainas, it was Lakshmaña who went to fight with Khara-Dūshaña. Rāma was at home. Rāvaña imitated the voice of Lakshmaña from the direction of the battle-field and Rāma, thinking that his brother was in danger, hastened to help him. Rāvaña took away Sītā in the meanwhile,—thus without the help of a Mārīcha, as according to Vālmīki!

Virādha was a monster, killed by the brothers, Rāma and Lakshmaña, according to Vālmīki. In the Jaina account, we come across one Virādhita, ruler of the kingdom of Pātāla-Lankā, who helped Lakshmaña in his fight with Khara-Dūshaña and who took the

broken-hearted brothers to his city after the abduction of Sītā. We pass by the story.

On coming to the next great point in the Rāma-story viz., the rescue of Sītā,—several remarkable differences between Vālmīki's and Jaina accounts arrest our attention. The first of these is that the Vānaras of Kishkindhyā were, according to the Jainas, of the same race with and fast friends of the people of Lankā. In fact, king Sugrīva is described as a relative of Rāvaña and the high souled Hanumān, as the son-in-law of Khara-Dūshña. Rāvaña and the Rākshasas are not man-eating monsters but are followers of the Jaina faith. Yet, it was with the help of these Vānaras that Rāma recovered Sītā

A somewhat different story is told in the Jaina Purāña about Sugrīva's plight Bāli was no doubt, his brother but he was a pious Jaina, practising penances, near by Kailāsa. It was not Bālı who drove away Sugrīva and appropriated his wife. The Jaina Purāña says that one Sāhasa-gati with the help of the black art assumed the likeness of Sugrīva and approached Sugrīva's wife when Sugrīva was away. Every one in the palace took Sāhasa-gati as the real king, —so that when the real Sugrīva came, he was instantly repudiated. Sugrīva was now helped by the brothers, Rāma and Lakshmaña, who killed Sāhasa-gati. Pōor Sugrīva thus got back his kingdom and his wife. This Jaina account acquits Bālī, on the one hand, of the shameful charge of living with his brother's wife and Rāma, on the other, of the charge of improperly killing Bālı, who had done no harm to him.

In the Jaina Purāñas, the Vānaras are represented as having at first been afraid of fighting with Rāvaña, who, they said, was a mighty enemy. To expel their fear, Lakshmaña to their amazement, lifted up the huge rock, Kōti-Śilā. This removed all their doubts,—especially because there had been an old prophecy that the lifter of the Kōti-Śilā would be the killer of Rāvaña. It is needless to point out that the Jaina account of the lifting of Kōti-Śilā by Lakshmaña is a parallel to Vālmīki's account of the piercing of the seven Palm-trees by Rāma and other such exploits.

In the Jaina Purāñas we are not told that a bridge had to be built for the passing of Rāma's army. Bibhīshaña, Rāvaña's brother, is admitted to have joined Rāma. His other brother, Kumbhakarña was taken captive. According to the Jaina account Indrajit and Meghanāda were two different persons,- brothers, not sons of Rāvaña. They also were taken captives The story of Lakshmaña's being hurt with the Śakti-Śēla of Rāvaña finds a place in the Jaina account, but the Jainas give a different account about Lakshmaña's cure. Medicine had not to be brought from the mountain Gandha mādana, as according to Vālmīki The Jāinas say that when Lakshmaña was lying wounded and Rāma was waiting, a man told them that there was a prince named Drōña-mīgha, who was subject to Bharata, the king of Ayōdhyā; the water from the body of Biśalyā, daughter of Drōña-mīgha, when she bathed, would cure the wounds of Lakshmaña. Upon this, Hanumān went at once to Bharata who called Drōña-mīgha. His daughter came to the battlefield with Hanumān in a chariot Her bathing water cured the wounds of Lakshmaña and of other ailing people. This princess was afterwards married to Lakshmaña.

According to the Jainas, it was Lakshmaña, not Rāma, who killed Rāvaña Rāvaña was the Prati-Nārāyaña and had the unfailing Chakra with him. He hurled it towards Lakshmaña, but as the latter was the Nārāyaña, the Chakra, instead of hurting Lakshmaña in any way came to Lakshmaña's hands to be used by him. Lakshmaña threw it towards Rāvaña and he was killed instantaneously. This Jaina account of the killing of Rāvaña with his own Chakra has a distant similarity to the story well-known to the followers of the Vēdic school, that Rāvaña was killed by a weapon, known as Mrityu-vāña (death-arrow), which had all along been with him and which, it had been so ordained, would kill him when thrown by an enemy against him.

To be continued.

MAGIC & MIRACLE IN JAINA LITERATURE

By

Kalipada Mitra, M. A., B. L.

(Continued from Vol. VIII No. I, page 24.)

The *Sūyagaḍaṅga* (2 2. 15) mentions some occult sciences, which people acquired for attaining success, but which are condemned as evil sciences, the practice of which would but result in evil consequences (*te anāriyā vippaḍivanrā kālamāse kālaṃ kiccā annayarāiṃ āsuriyāiṃ kibbisayāiṃ ṭhāṇāi uvavattāro bhavanti*). Some of these are subhagākaraṃ, dubhagākaraṃ, gabbhākaraṃ, mohanakaraṃ, āhavvaṇiṃ, pāgasāsani, dabbahomaṃ, veyāliṃ, addhaveyāliṃ osovaniṃ, tālugghāḍaniṃ, sovāgiṃ, sovāriṃ, dāmiliṃ, kāliṅgiṃ, goriṃ, gandhāriṃ, ovayaṇiṃ, uppayaniṃ, jambhaniṃ, thambhaniṃ, lesaṇiṃ, āmayakaraṇiṃ, visallakaraṇiṃ, pakkamaṇiṃ, antaddhāṇiṃ, āyamiṇiṃ; *i. e.* " the art to make one happy or miserable, to make a woman pregnant, to deprive one of his wits, incantations, conjuring, oblations of substances, the *vaitālī* and *ardhavaitālī* arts, the art of casting people to sleep, of opening doors, the art of Caṇḍālas, Śabaras, Draviḍas, Kalingas, Gouḍas, and Gandhāras; the spells for making somebody fall down, rise, yawn, for making him immoveable or cling to something; for making him sick or sound; making somebody go forth, disappear or come. They practise wrong science '.[86]

The commentary explains *dabbahomaṃ*[87] as "by flowers such as Kaṇavera, or by honey, ghee etc. working the *uccāṭana* charm" (destroying his enemy[88] or making him disgusted etc.) and "*vaitālī nāma vidyā niyatākṣarapratibaddhā, sā ca kila kutibhir japaih daṇḍaṃ utthāpayai, tathā ardhavaitālī tameva upaśamayati.*" Jacobi explains, "...the *vaitālī* art teaches to raise a stick (? perhaps to lay a punishment on somebody) by spells, and *ardhavaitālī* to remove it. In Pāli,

86. S. B. E., XIV. P. 366 *Āhavvaṇi* is *ātharvaṇ'*, commy., sadyo'narthakariṇī vidyā.

87. Cf. *Sumaṅgalavilāsini* pp. 67 ff. *dabbihomaṃ* along with *aggihomaṃ, mukhahomaṃ, lohitahomaṃ* (bloody sacrifice).

88. *Kathākośa* p. 33., *Pārśvanātha*, p 138.

vetālam means the magic art of bringing dead bodies to life by spells".[89] *Sovagī* is *Śvapākī* or belonging to Caṇḍālas, who play a very important part in magical and *tāntric* rites. *Caṇḍālī vijjā* is mentioned in *Paumacaria* (7, 142) and *Māyaṃgī* in *Āvaśyakacūrṇi.* (1) Jacobi takes *savāriṃ* (Vaidya's edition) or *sovariṃ* (Āgamodaya ed.) to mean 'the art of Śavaras'; the Commentary has *Śāṃbara,* meaning sorcery; it may perhaps be connected with Asura Śāṃbara, and is an example of *Asuravidyā* or *māyā,* magic,[90] in the same way as *pāgasāsaṇī* is connected with *Pāgasāsana* or Indra, and is called *indrajālavidyā. Māyā* may be associated with Asura Maya. In *Kathāsaritsāgara* Maya asked Candraprabha to enter the body of a hero. Penzer, in the *Ocean of Story,* Vol. IV says: The king had recourse to magic contemplation taught by Maya, and entered the body of that hero abandoning his own frame." *Dāmilī* means 'of the Draviḍa country', which was famous for magic; so *Kāliṃgī* 'of Kaliṅga Country'. Jacobi takes Gorī to mean 'the art of the Gauḍas,' which to me seems doubtful. In the *Santikarastotra* (6) Gorī is a *vidyādevī,* so also Gandhāri, Rohiṇī (*Santi 5*) and Paṇṇatti (Prajñapti, *Jambudvīpaprajñapti* 1, Āvaśyaka cūrṇi)' and all of them are mentioned together as *vijjā, mahāvijjā* in *Avaśyaka* (pt. I. p. 215). In *Kupra.* Kumāra Pajjuṇṇa (Pradyumna) receives from Kanayamālā, his foster-mother, sciences *Gorīpaṃnatti* etc, with which he does wonders—changes shape and routs his father Kaṇha (Kṛṣṇa).[91] In *Kathākośa* (p. 32) there is mention of the *Prajñapti* science..." A Vidyādhara youth named Maṇiprabha knows by *prajñapti* that the son of Madanarekhā was discovered by king Padmaratha of Mithilā....[92] She is mentioned both as *devī* and a *vidyā* in *Supā.* pp. 154, 158. In Pāli literature *gandhārī nāma vijjā* is mentioned at D. 1. 213 as a charm, also at *J.* IV. 498. where it renders one invisible. In the *Nāyā* (p. 213) Nārada possesses the

---

89. *D. A.* (*Sumaṅgalavilāsini,*) i. p. 84; vetālaṃ ti ghaṇatālaṃ, mantena matasarīrutthāpanaṃti, etc. *Milinda,* p. 331... indajālikā vetālikā

90. *S. B. E.,* Vol. XLIV, *Intro.* xxxi, and p. 368, footnote.

91. pp. 265-67, Gorīpannattivijjābaleṇa kayo kumāreṇa paraṃmaho.

92. *Pārśvanātha,* pp 132-33.

following magic power—"...saṃvaraṇāvaraṇaovayaṇauppāyaṇilesaṇisu ya saṃkāmaṇi abhiyogopaṇṇatti gamaṇithaṃbhaṇisu .."[93]

Māyā in the sense of *indrajāla* is mentioned in *Upadeśapada* (*gāthā*, 823). It was often shown as a didactic device. In *Supā* (p. 199) a Brahman versed in the eight-fold nimittas (signs) causes by *indrajāla* downpour of heavy rains which produced a flood reaching the top of a seven-storied house. In *Pārśvanātha* (Bloomfield ed., p. 46) an astrologer produces deluge by *māyā* in the court of king Naravāhana to prove that life and its attractions are illusory. In *Samarā* (p. 486) a *deva* by *māyā* causes a village to be set on fire; he then ran to extinguish it by loads of dry grass (*tayo vijjhavaṇanimittaṃ ghettūṇa taṇabhārayaṃ dhario devo*). This apparently suggested a similar story in *Upamiti* (p 967) The magic encampment produced by Jṛmbhaka gods in *Pari.* has already been related. In *Kupra.* a *Vyantarī* creates by magic a serpent with a view to indicate the medicine for curing a prince.[94] In *Kupra*, the following story is related: A *māyī*, accompanied by his wife, came through the air to King Padmottara and said, "I am a *Kheyara* (*Vidyādhara*); another *Vidyādhara* carried off my wife. I recovered her, but an enmity grew up between him and me. You are a hero, a brother to another's wife (*pariṭṭhi-soyaro*), a refuge to the distressed. Please keep my wife with you, while I go and conquer him in the sky." The king agreed, saying she would remain there as in her father's house. Then the *khecara* armed with sword flew up like a bird in the sky. Forthwith the king heard the noise of fighting, then fell a hand adorned with gems and gold, then a leg, then the second hand, the leg, head, heart, headless body—all of which she identified to be her husband's, and lamenting loudly prevailed upon the king to allow herself to be burnt on a funeral pyre containing those dismembered limbs, and be reduced to ashes. The *khecara* then appeared with a blood-stained body and said with a smile, "Oh king, I have conquered him; now let me have my wife." On hearing this the king was overcome with grief, and lamenting the mischief he had done he became half-senseless. The magician then explained that it was all *Indrajāla*. This

93. Including the maṇathaṃbhaṇī vijjā.
94. *Kupra.* pp. 44-45.

made the king think, "This Saṃsāra is like *indrajāla*.[95]" This reminds us of the celebrated rope-trick. The *vidyā* of a *parivrājikā* in *Supā.* (p. 112) creates an illusion on the king so that he sees Campakamālā in company with some other man.

In *Samarā* (pp. 362,369-73) we read that Vidyādhara Cakrasena acquired a great spell (*mahavijjā*) by practising austerities. He gave the spell named *Ajitabalā* to Sanatkumāra. But to acquire this the latter needed an assistant (*uttarasāhaya*). At this moment his friend Vasubhūti suddenly arrived. He was then engaged in preparatory operations for acquiring the spell (*puvvasevā*) which lasted for six months. One night he sat in the *padmāsana* (lotus seat) attitude, performed the *mudrās*, drew the *maṇḍala* and began reciting his *mantra* a lakh times. It seemed the sky gods laughed loudly, the unseasonal clouds thundered, the ocean roared and the earth quaked. Then he saw frightful apparitions (*vihīsiyā*) - a huge elephant in rut, then a wicked Piśācī, frightfully dark, with eyes flashing like lightning, wearing man's skin dripping blood and severed hands and feet hanging from her neck, drinking the wine of blood from a skull (*kavālacasaeṇa*), piercing and kindling the sky with her fiery laughter and holding Vilāsavatī in her hand, and so forth. But as he remained unmoved the apparitions melted away. When the goddess Ajitabalā appeared, he did not salute her till he had completed the recitation of the *mantras*. In this way he acquired the spell, *Ajitabalā* Vidyādhara Śaśivega gave king Ratnaśikha a science named *Invincible* with a thousand other sciences[96]. The goddess Ajiyabalā was the Śāsanadevī of Tīrthaṅkara Ajitanātha. In *Kupra* she is mentioned as standing at the door of the temple of Jinendra Ajitanātha[97]. She gives sons to those who have no sons, wealth to the poor and kingdom, knowledge, happiness, eyes and health to those who lacked them

Pleased with the valour of a thief who, while hanging from the branch of a tree underneath which was a basin of live coals by means

---

95. *Kupra.* pp. 133-136; 382.

96. *Kathākośa*, p. 144.

97. *Pravacanasāroddhāra*, 27. *Kupra*, p. 221.

of a rope, cut four strands of it, the science named *Adhiṣṭhāyinī*, 'Floating' appeared and gave him a car on which he ascended to heaven[98]. In *Supā* is mentioned a science known as *Saṅgrāmoḍḍāmarī vijjā*, which gives one victory in battles[99].

In the same book the following story is told. There comes to Prince Bhīma a Kāpālika wearing a garland of human skulls and says to him : "I possess the supreme science of shaking the earth (*bhuvanakkhohanī*), I have served her for twelve years (*pubbasevā*) and now want to do *uttarasevā* (subsequent service, rites); so kindly be my *uttarasāhaga* (assistant and come to the *masāṇa* on the dark *caturdaśī* night." Bhīma agreed, and came fully armed to the crematorium at the appointed time. The Kāpālika drew a circle, adored his mantradevatā and offered to bind the hair (*sihābandhaṃ*) of Bhīma who said, 'My prowess is my *sihābandha*, you carry on, sir, I am standing guard." The Kāpālika being foiled in his ruse resolved to cut off his head by force, assumed a hideous form reaching to the sky, held a huge knife in his hand and began to thunder like clouds He addressed him : "O you fool, I will cut off your head; but if you cut it off yourself then in another birth you will enjoy supreme bliss." The prince retorted, "O thou, false ascetic, thou Caṇḍāla, who wearest the skulls of those who trusted thee, I will take thy skull and be revenged for all of them." As the Kāpālika struck him with his knife, Bhīma leapt on his shoulder, but instead of killing him dealt a terrible blow on his head The Kāpālika threw him up into the sky, and as he was falling, he was held up by a yakṣiṇī named Kamalākṣā who brought him to her temple in the Vindhya hills. After sometime the prince saw a huge arm coming through the space He rode it, passed through the air and was brought to the temple of Kālī. She was of hideous face and eyes, riding a buffalo, wearing a garland of human intestines and having twenty arms carrying various weapons. He saw there the cruel deceiving Kāpālika holding in his left hand the hairlock of a beautiful man, the arm on which the prince rode being his right.

---

98. *Pārśvanāthā*, pp. 36, 37.

99. *Supā*, p. 144, sl. 116.

The Kāpālika was going to cut off the head of the man when Bhīma intervened and with the doorleaf beat off the sword from his hand He was going to cut off his head when the goddess appeared and bade him hold his hand She said, "Don't kill my beloved son, who is worshipping me with the lotuses of human heads, the head of this man would have completed the tale of 108 human heads. But I am pleased with your valour, ask for a boon" The prince asked her to desist from slaughter of living beings, to which she agreed and disappeared[100]. Exactly the same tale is told in the story of Prince Bhīma and his friend Matisāgara in Pārśvanātha[101]. In Pāli literature also there is mention of this earthquake charm[102].

Bloomfield has given an additional note, no. 12 in his edition of *Pārśvanātha* (p. 191) where he says: "Kāpālikas are worshippers of Śiva of the left hand, who carry skulls of men as ornaments, and eat and drink from them. They are always engaged in evil and cruel magic for their own aggrandisement, or their own lust, thus acting the role of the malignant wizard in Hindu fiction. The tales about them, or about wicked yogins and mendicants are legion. As a rule they come to grief in the end. See, e.g., *KSS* 24, 82 ff; 38. 47ff., 121.6ff, *Vetālapaṃcaviṃśati* 24; *Satruñjayamāhātyaṃ* 10. 99ff; *Pārśvanātha* 8.139; *Samarādityasaṃkṣepa* 4, 183 ff., 6.467; 7.201 ff. Lescalier, *Le Trone Enchanté*, pp. 177ff.,... ."

In *Supā* a *siddhaputra* named Jasohara (Yaśodhara) asks Prince Guṇaraja to be his *uttarasādhaka*, and he agrees. He goes to *śmaśana* on the dark *caturdaśi* night, draws a magic circle, lights a fire into which he throws *khadira* wood[103], while he was offering red Kaṇavīra flowers, sandal, bdelium etc. and reciting mantras, the prince was keeping vigil in front with sword in hand. Then a terrible apparition came, the *vidyā devī* herself, and tried in vain to

---

100. *Supā*, pp. 173 ff.

101. *Pārśvanātha*, pp. 47ff. Bhima remained undaunted when the Kāpālika shook the earth.

102. *D.* 1, 9 ; Dh. i. 259, *bhūmicāla vijjā*.

103. Catechu wood was especially used for magic purposes,

frighten the prince. Pleased with his valour she imparted to him the charm of assuming any form he liked.

In *Supā.* Prince Vijayacandra goes to a śmaśāna and finds a *yogī* slicing off by means of a bright knife pieces of flesh from the thigh of a woman endowed with auspicious signs and throwing them into a blazing fire-pit, while she was crying in distress. The *yogī* when sharply reproved said, "If pieces of flesh be cut off from the thigh of a man or a woman endowed with auspicious signs and given as *āhuti* in fire accompanied by *mantra* recited 108 times, then the *sādhaka* attains the *cetakavara* spell." The prince asks him to release the girl and offers to cut off flesh from his own thigh. He got the *mantra*[104]. In *Upamiti* a Vidyadhara named Ratikeli offers to give king Hariścandra a *Krūravidyā* by which he would be able to defeat his enemies, for the attainment of which a *pūrvasevā* of six months was undergone and for seven days the *paścātsevā* was gone through with *homa* performed with the flesh and blood of a man brought for the purpose. The victim Bala narrates his experience: "I was carried by a *vidyādhara* to a terror-striking *śmaśāna*, the very home of Yama. There I saw a man sitting by the side of a huge fire pit blazing with coals TheVidyādhara addressed him, 'O king, I have brought the person endowed with good signs fit for the attainment of your *vidyā*. At the end of each recital of mantra (*vidyājapa*), throw into the fire the oblation I will hand over to you.' The recital began. The Vidyadhara drew forth a bright knife, sharp like the tongue of Yama. With it he cut off a big slice of flesh from my back, and pressed out of that place blood with which he filled a cup, and handed it along with the flesh to the king as *āhuti* which he threw into the fire-pit. The process continued. Then began a loud laughter, the rumbling of the clouds betokening as it were the end of existence etc., the deformed Vetālas were showering blood. But the King remained unmoved by these frightful apparitions. Then the goddess Krūravidyā appeared and said, "You

104. *Supā*, pp. 213-17
Tassa siddha ceṭakarājo bhanati taṃ kumāraṃ I
Tava esa ceṭo'haṃ tu tava ceṭasya ceṭa II

have won me"[105] In *Kupra* (p. 141) a *vijjā-sāhaga* intent on securing the spell of attracting beautiful women (*itthīrayaṇākarisaṇssa mantassa*) had performed the *puvvasevā* for twelve months, and was doing the *pahāṇasevā* by preparing to sacrifice a princess. A *sādhaka* without the help of an assistant, *uttarasādhaka*, endowed with all auspicious signs, cannot attain a *mantra*; so a man requires the help of a prince for the attainment of *cetakamantra*[106]. In *Samarā* Vijayadharma's wife Candravarmā is carried off by a magician who wanted to make use of her for the attainment of a certain spell The magician consoled him saying that the queen would suffer no harm and would return after six months[107]. Thus we find that *uttarasādhakas* and *uttarasādhikās* were considered necessary for the attainment of *vidyā* or spell. In *Pari*, we read that "two Vidyādhara brothers, Megharatha and Vidyunmālin in order to gain some magical power (*vidyāsādhanahetave* each resolved to marry a girl of low extraction with whom however, they were to live in chastity for a whole year. The brothers went to a village of Caṇḍālas gained their confidence on conforming to their habits of life and were given each a deformed girl for wife[108]. In *Samarā* (p. 330) a *siddhaputra* (magician) goes to *śmaśāna* (*peyavaṇaṃ*), draws the *maṇḍala* (magic circle). lights the fire and recites the mantra, when after a while, a *yakṣakanyā*[109], exquisitely beautiful in appearance descends from the sky

N. M Penzer in *Ocean of Story*' (Vol. II p. 295) writes a long note on '*Magic Circle*' The magic circle could be used as a vantage ground from which to summon spirits and also as a barrier from

105. *Upamiti* pp 269-70. tatah siddhāhaṃ bhavatā iti vadantī prakaṭībhūtā vidyā praṇataḥ sādhakena praviṣṭā tacchar re...

106 *Kupra*, pp 466-67. A vivid description of *śmaśāna* and the incidents is given

107. *Samarā*, p. 642.

108. *Pari.* p 31 Canto II, Sl 647 .

109 Cf the *Śrī Guhyasamājatantra* (*G.O.S*, LIII), a Buddhistic Tantrik work of the 3rd-4th century A D., Ch XIV, *mantrākarṣeṇa* ..where *sarvamantrākarṣaṇam* is related including attraction of *daityakanyā* and *vidyādharamahākanyā*.

which there was no escape..." He gives a long list of references which I need not repeat here. In *Supā* (pp. 136, 137) there is mention of drawing a line round two serpents, a big and a small, the latter riding the former (*bhaṇai imānaṃ, bandhava, gamaṇaṃ khillemi kaḍḍhiuṃ rehaṃ*). In *Samarā* a physician draws a magic circle, and places inside it the patient Arahadatta applies charmed medicines, and remembers his *maitthāna* (*māyāsthāna*, i.e. magic) *vijjā*[110], and drives away diseases.

Goddess Kālī is known as the *Sāsanadevī* of the fourth Jaina Tīrthaṅkara (*Saṃti*, 9), also as a *Vidyādevī* (*Saṃti* 5). So also Mahākālī[111]. In *Supā* (p. 401) there is mention of a *vijjā* named *Morī*; this is probably the famous Māyurī or Mahāmāyurī Vidyā[112]. Mention is made of the *Moraparitta* in Buddhist literature, six canonical texts being used as paritta viz., Ratanasutta, Khaṇḍa-parittā, Moraparittā, Dhajaggaparittā, Āṭanaṭiyā and Aṅgulimālā parittā. Dr. Pertold says that the *Mora-paritta* in Morajātaka seems to be a pre-Buddhist *mantra*[113]. Jayaswal in his *Imperial History of India* says of Nāgārjuna that "he will possess *Māyurīvidyā*"...[114] *Mora* in *Deśī* means *caṇḍāla, śvapaca*; therefore morī vidyā is in effect the caṇḍālī or *māyaṅg vijjā* referred to above. The Mātaṅga connexion seems to be very strong from Dr. Levi's article, *On a Tantrik fragment from Kucha* (*Central Asia*)[115] from which I am quoting the following extract. (In Kuchean) Homage to the Mātaṅgins······Kālī ! Kālī ! Mahākālī (In Sanskrit.) Homage to the Mātaṅgas, to the Mātaṅgikas boys ..girls...clan family ancients... Vidyādharas Viśvāmitra gods .. Triśaṅku .. Having worshipped, I shall employ this *vidyā*. That this *vidyā* may succeed for my sake ! Thā ! hā ! hā ! hi ! hi ! hu ! hū ! hi ! hi ! hi ! mili ! mili ! dudumi !

---

110 *Samavāyaṃga*, 39; *Paṃcāsapakaraṇa*, 17, 48.

111. *Saṃti*, 5 and 9; *Samarā*, p. 375.

112. Cf. Sādhanamāla, p. 457.

113. *Jour. Anthro Soc. Bombay*, Vol. XII, p. 735.

114 *Imp Hist of India*. p. 18; also "māyūrī nāmato vidyā siddhā tassa mahātmano" (*Mañjuśrīmūlakalpa*, Sl. 492)

115. *I. H. Q.* Vol. XII pp. 198ff. esp. pp. 201, 202

Vegavāti ! yiyi ! Caṇḍī ! Mahākarī ! Māyurī ! ..Vetāli ! Citraketu ! Prabhāsvarā ! Ghorigandhurī ; Caṇḍāli Vegavāhinī ! To Viśvāmitra, svāhā ! .. Who these Mātangas are is evidenced by the mention of Triśaṅku Mātaṅgarāja along with Viśvāmitra Mātaṅgarāja. The Mātaṅgas are Caṇḍālas; therefore we are dealing here with those lowest forms of worship where untouchables are acting as priests. This is the same world where we are carried on the Buddhist side with the celebrated Mātaṅgīsūtra, a Chinese translation of which dates as early as the end of the second century and another dates in the twenties of the third century..."

We find in the extracts some of the *vidyās* mentioned above, viz. Kālī, Mahākālī, Vetālī, Māyūrī, Caṇḍālī. *Ghorigandhurī* may in all probability be Gorī and Gandhārī.

I may here refer to the Inscription on the back of the statue of Amoghapāsa at Padang Chandi in middle Sumatra, Śaka year 1269 described in Dr. B. R Chatterji's *India and Java*, pp. 79 The Bhairava consecration of Prince Ādityavarma, the Sumatran prince, who caused the statue to be established, is described therein, in conformity with Kālacakra Buddhism, "the only way which paves the way for syncretism with Śaivism in its Bhairava aspect " There is also the Mātaṅginīśa inscription (1269 Śaka Era). Chatterji says : "Mātaṅginī occurs in the *tantras* as one of the *daśamahāvidyās*. This word also means a girl of low caste who acts as *yoginī* in the *cakra*. Ādityavarman's queen was the daughter of a tribal headman M. Moens supposed her to be the Mātaṅginī of the inscription In the *Guhyasamāja* a girl of low extraction such as a Mātaṅginī (Caṇḍālī), a washer woman was used for the *tantric sādhanā* It seems that the *tantric* practices began from the second century and it began to be riotous in the 7th and 8th centuries, and attained climax in the 9th and 10th. From Rājaśekhara's works it appears that the Kaula system was popular. " In the whole of *Karpūramañjarī*, there is not a single word which might be constituted a dispraise of the *kaulas* or Bhairvānanda, the boozy exponent of the cult in the Drama··· It gives in brief the main details of this system. Exaggerated and repulsive as these might appear to modern readers they are faithfully

represented in the drama, for every word regarding these can be certified as correct by reference to works of recognised authority on the Tantrik cult In Bhairava Cakra, or the circle of Bhairavī, where the Kaulas gathered to worship Śakti, all castes were admitted, meat of every sort excepting perhaps beef was allowed, and every worshipper was required to contract a marriage which was to last to the end of the gathering··· Young widows, dancing women, wives of barbers, washerwomen, and women of some other castes were especially welcomed at such meetings and dishonoured with the title of Kulāṅganā."[116]

In the *Guhyasamāja*, a Buddhistic Tantrik work of the 3rd-4th century, 18th Chapter, "mention is made of *Prajñābhiṣeka* or initiation of the disciple with Prajñā or Śakti. There it is said that the preceptor should take by the hand the Śakti who is beautiful, agreeable to the disciple, and also an adept in the practice of *yoga* and place it on the hand of the disciple . therefore this Vidyā should be accepted." Girl of a caṇḍāla, of a washerman, of a Naṭa, of a Brahmakṣatriya, Vaiśya or Śūdra, should be used as helping the *sādhaka* .."[117] "In the *Guhyasamāja* every thing is permitted, not only flesh of the most harmless kind, but all kinds of flesh meat are permitted such as flesh of elephants, horses, dogs, cows, nay, even of human beings···"[118] The *Guhyasamāja* enjoined its followers to disregard all social laws..."You should freely immolate animals, utter any number of falsehoods without ceremony, take things which do not belong to you, even commit adultery—is the advice given to followers. Before a sādhaka who has grasped the real truth, the duality in the world disappears and all things are to him mere appearances." But this philosophy led to riotous rites in subsequent times. Magical practices, attainment of minor *siddhis*, such as

---

116. *J. I. H.* Vol. IX pp. 120-121. *Karpūramañjarī* 1. 23.

117. *Intro*, p. xii, also Ch. XV.

118. Ibid. Intro. xii,

hastimāmsaṃ hayamāmsaṃ tathottamaṃ
bhakṣedāhārakṛtyārtham na cānyattu vibhakṣayet ‖ p. 26
gomāṃsa hayamāṃseṇa śvānamāṃsena citriṇā ‖ p. 102

mārana, uccāṭana, vaśīkaraṇa, stambhana, ākarṣaṇa and śāntika (propitiatory rites) etc., are treated. Mantras for destroying enemies, compelling rain, reviving persons from the effect of snake bite are given in the work.

There is reference to the art of entering another's body in Parapurapraveśaniṣedhe Vikramādityakathānakam in *Kupra* (pp. 437-440). Bloomfield has thoroughly treated the subject in *Proc. Ameri. Philo. Soc.* Vol. LVI (1927), see also his *Pārśvanātha,* pp 74-83, N. M. Penzer's *Ocean of Story* (Vol. IV, p. 46) and the references quoted therein, which I need not repeat.

Saints know things by *manapajjava* (*manahparyāya* or *manahparyava*), or *avadhi* which cannot strictly be called magic. In *Samarā* (p. 270) a king set dogs on a sage, and thought to cut off his own head in expiation of his sin. But muni Sudatta who possessed the power of reading other's thoughts said to him, "Don't think in the way " There is the *maṇapasiṇa vijjā* which enabled one to answer questions which one puts in his own mind without disclosing it[119].

119. *Paṇhavākaraṇa* 2. 1., *Ova.*
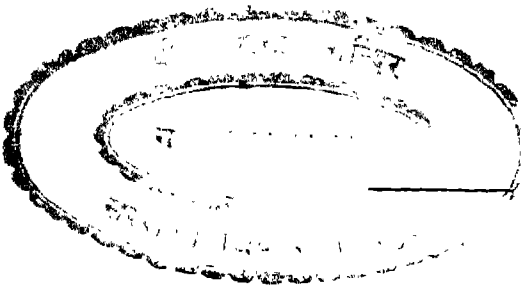
PRĀKRIT STUDIES:

THEIR LATEST PROGRESS & FUTURE[1]

By

Dr. A. N. Upadhye

Looking back at the march of Oriental scholarship, we find that the Indologist had to take up the study of Prākrits in the dramas and rhetorical works so far as literature was concerned, and in the Asokan inscriptions so far as epigraphic records were concerned. But the interest in Prākrits had no bright prospects at this stage: the contents of the Prākrit portions of the drama were studied from the Sanskrit Chāyā and the Inscriptions, which were often presumed to be in Sanskrit, occupied the attention of a few specialists. Some scholars came to study the Pāli texts, canonical and non-canonical; but the language, with occasional archaisms, showed such an uniform constitution which was so well defined by grammatical standards that the study of Pāli was almost segregated as it were in the study of the evolution of Indian languages. Gradually the field of Ardhamāgadhī works was opened and cultivated to a great extent by Weber, Leumann, Jacobi, Schubring etc.; and even in its early stages the study of Ardhamāgadhī, due to the affinity seen between Buddhism and Jainism, connected itself linguistically with Pāli and the Prākrits in the inscriptions. Soon Beames, Hoernle, Bhandarkar and others explained the growth of the Modern Indo-Aryan languages with the help of Prākrits. Almost simultaneously with this study, Bühler was working like an academic link between India and Europe; and scholars like Weber, Schmidt, Pischel, Pandit and others occupied themselves with Prākrit songs and poems, and dramatic and grammatic Prākrits. It was Pischel collaborating with Geldner that found that some obscure Vedic words could be better explained with the aid of linguistic tendencies well-known in the

---

1. This forms a portion of the Address delivered by Prof. A. N. Upadhye, as the President of the Prākrit, Pāli, Ardhamāgadhī (Jainism and Buddhism) Section of the Eleventh All-India Oriental conference, Hyderabad, December 1941.

Prākrits. Thus the field of Prākrits assumed well-defined outlines, though there was and still there is ample scope for adding details here and there ; and on the eve of the last century sound foundation was laid for the Prākrit studies by Pischel's Grammatik der Prakrit Sprachen which is a monument of Germanic thoroughness and a marvel of methodical analysis of a bewildering mass of refractory material. Minor details may be added or corrected here and there; but Pischel's work, with its close associate Pāli Literatur und Sprache by Geiger, is a beacon light, as a descriptive grammar, to all the workers in the field of Middle Indo-Aryan. The latest studies of Prof. Bloch (L'Indo-Aryen du Veda aux Temps Modernes, Paris 1934) have clearly demonstrated how the Prākrits occupy an indispensable position in the study of Indo-Aryan. In view of the richness of material, the multiplicity of problems, the need of mastering so many languages or dialects, and the difficulties inherent in the field, it is wellnigh impossible for any single scholar to envisage the entire range of Prākritic studies completely and thoroughly. Every one of us can honestly try to do what is possible for us.

It is a deplorable event that we cultivated the habit of studying Prākrits not from the original but through the Sanskrit Chāyā The reader satisfied himself with the contents and neglected the language; and thus, in a way, this method has been detrimental to the puritanic preservation and the natural study of Prākrits. This tendency has been so deep-rooted with us that it has expressed itself in various ways. We are told that Siddhasena wanted to rewrite the entire Ardhamāgadhī canon into Sankrit. Some of the later play-wrights, who dare not give up the convention of using Prākrits in defiance of the rules of rhetoricians, add the Chāyā themselves to their Prākrit composition. There was felt the necessity of a Sanskrit summary for that excellent Prākrit Campū, the Samarāiccakahā of Haribhadra; and even to-day many read it through its Chāyā, a portion of which is just published. The Apabhraṁśa Dohās and the post-Apabhrṁśa Rāsas are equipped with Sanskrit commentaries and Chāyā. Hāla's verses have been metrically rendered into Sanskrit in later years. The Jñāneśvarī, an old-Marāṭhī commentary on the Gītā, is rendered back into Sanskrit. Sanskrit rendering is supplied

even to the Asokan Inscriptions. As a culminating point for all this, the Prākrit portion of the so-called Sanskrit dramas is studied only from its Chāyā in the courses of our higher education; and it has been my experience that some of our graduates are not even aware of their neglect of the Prākrit original. The cheap annotator has gone one logical step further, and an edition of a drama is already issued cleanly purging the Prākrit passages from it. This method of study is as much unnatural as to render the Ṛgveda into classical Sanskrit and then study it. I am afraid that, but for the sanctity attached to the Vedic words and sounds, we would have even done this. The facts noted above clearly indicate that the study of Prākrits is neglected almost uniformly; and there are reasons to believe that a good many works, which are known to us only from quotations, have been lost beyond recovery.

A student is not adequately equipped for duly grasping the manifold currents of ancient Indian culture, if he does not study both Sanskrit and Prākrit literatures side by side. It is absolutely necessary that the study of these languages should go hand in hand. The epigraphic evidence clearly indicates the popularity enjoyed by the Prākrits as a medium of popular expression; and whether in the North or in the South the earliest royal edicts and private records are found written in Prākrit. The dramas extensively use Prākrits which are assigned to women etc., and this testifies to the fact that the Prākrits were once popular languages. Lately Prof. J. B. Chaudhari has drawn the attention of scholars to some Prākrit poetesses in his excellent work, Sanskrit Poetesses Vol. II; and we know that the Karpūramañjarī was first enacted at the instance of that cultured lady Avantīsundarī. But unluckily the Prākrit studies have not received the due encouragement which they deserve To take one example, only a few Indian Universities have included Prākrits in their courses. This, however, should not discourage the serious worker; the rich material in the fresh pasture of the Prākrit field is sufficient to encourage him to work on and fill up the gaps in the study of Indian literature by the results of his researches.

It is an accepted fact that the progress of the study of any language or literature depends entirely on the critical editions of texts and their accessories. So far as Pāli is concerned, we have the entire canon issued on an uniform plan by the famous PTS. Though nearly the whole of the Ardhamāgadhī canon of the Jainas is published in India in more than one edition partly or entirely, the number of texts edited critically is very small. Most of the Nijjuttis and some of the Cūrṇis are published, but no serious attempts are made to bring out their authentic editions or to study thoroughly their contents in a critical manner. It is high time now for the Jaina community and the orientalists to collaborate in order to bring forth a standard edition of the entire Ardhamāgadhī canon with the available Nijjuttis and Cūrṇis on an uniform plan. It would be a solid foundation for all further studies. Pischel did think of a Jaina Text Society at the beginning of this century; in 1914, on the eve of his departure from India, Jacobi announced that an edition of the Siddhānta, the text of which can lay a claim to finality, would only be possible by using the old palmleaf Mss. from the Patana Bhandaras; and only four years back Dr. Schubring also stressed this very point. These scholars have done solid work in this field, and naturally their words carry a significant weight with them. Now through the liberal donation of Sheth Hemachandra Mohanlalaji and others, the Hemacandrācārya Jaina Jñānamandira has been founded at Patana, and the local collections of Mss. are being housed there safely and arranged systematically. This can grow into a fine research library in that historic metropolis of Gujarat; and definite impetus would be given to Jaina learning, if a Board can be organised there to issue a standard edition of the canon with its Prākrit commentaries. The critical text of the Mahābhārata, so ably edited by Dr. V. S. Sukthankar is a methodological marvel, and can serve as a good model. When the entire canon is authentically edited, it would be easily possible to improve upon and supplement the material of the Ardhamāgadhī Dictionary and the Pāïasaddamahaṇṇava in order to complete a Dictionary of Ardhamāgadhī on the plan of the Pāli Dictionary of Stede or even that of Trenckner now edited by Andersen and Smith. Other accessories of research like the Dictionary of Pāli Proper Names which has been lately completed

in two volumes by Dr. Malalasekera can easily follow. As yet we have no authentic compilation of Jaina technical terms whose shades of meaning can be studied in the different strata of Jaina literature Suali and Jacobi had seriously thought of a Prākrit Dictionary (ZDMG, Vol. 66, pp. 544-48) some years back, but so far we have covered only a small bit of land though we aspire to reach the ideal destination.

The Samarāiccakahā of Haribhadra is a typical representative of the narrative literature in Prākrit or what we call to-day Jaina Mahārāṣṭrī; but many of its predecessors like Kuvalayamālākahā (Prof. Jinavijayaji has an edition of this on hand) and successors like the Vilāsavaīkahā are still in Mss. Some of us must devote ourselves to edit various texts critically and write monographs on them; and thus alone the task of a future historian of Prākrit literature can be facilitated. The editor of the Prākrit texts is faced with many a grammatical and textual difficulty presented by the vagaries of Mss. Thoroughness of editorial discipline has its charms, no doubt, and it has its advantages for the advancement of studies; but we should not carry it out against the Mss. tradition. We are to reconstruct or reconstitute the text and not to create one. The tradition of the text preserved by manuscripts should deserve our highest respect; and it should weigh against later grammatical standards and critical and linguistic expectations. It is this consciousness alone that would keep us on the right track. On slender grounds the Prākrit dialects are distinguished and conventional names are added to the list (S M. Katre: Names of Prākrit languages, NIA II, 5); and naturally the editor's task is arduous. Inspired by the spirit of the scientific era, Pischel and Konow have been too rigorous and thorough ; experience and fresh material are gradually teaching us that many of our authors did not distinguish the dialectal differences so thoroughly as the linguist of to-day expects from them ; and we see that the edition of Karpūramañjarī (Calcutta 1939) by Dr. M. Ghosh of the Calcutta University comes like a reaction against the editorial rigour of Konow to vindicate, to a certain extent, his own theory elaborated in the Introduction and his earlier paper, 'Mahārāṣṭrī, a later phase of Śauraseni' (Journal of the Dep. of Letters, vol. XXIII Calcutta

1933). Prākrits present insurmountable difficulties to a conscientious editor ; however our fidelity to the Ms. tradition should not be infringed without sufficient reasons ; and if we are too much tempted to offer emendations, we should state them clearly.

It is through Hāla's Collection, quotations in rhetorical works etc., that the orientalist is acquainted with a good deal of Prākrit poetry which is highly complimented by Rājaśekhara and others. As regards the prose style, we have grand models in Middle Indo-Aryan especially in works like the Milindapañha, Bhagavatī, Samarāiccakahā etc. The text of the Vasudevahiṇḍī, which has already occupied the attention of eminent scholars like Dr. Alsdorf (Harivaṁśapurāṇa pp. 94-109, Hamburg 1936; Eine neue Version der verlorenen Bṛhatkathā des Guṇāḍhya presented to the 19th International Oriental Conference at Rome; The Vasudevahiṇḍī a Specimen of Archaic Jaina Māhārāṣṭrī, Bulletin of the SOS, VIII, parts 2-3; A new version of the Agaḍadatta story NIA I. 5), when completely published, will give rise to a crop of problems connected with the Indo-Aryan language and literature. These texts afford rich material for the study of the MIA prose. Dr. A. M. Ghatage has already begun a systematic study of Prākrit Syntax (Repetition in Prākrit Syntax, NIA II, 1; Concord in Prākrit Syntax, Annals of the BORI, XXI, 1-2). Lately in his Doctorate thesis on the Causal in the Indo-Aryan, he has fully discussed the different aspects of causal formations in Prākrit.

The early stratum of the Prākrit literature, which is held sacred by the Digambara Jainas, is at present represented by the works of Śivārya, Kundakunda, Vaṭṭakera and others. It was believed, and rightly so as lately shown by Prof. Hiralalaji (Jaina A. Vol. VI. pp. 75-81), that still earlier texts are embedded in the huge commentaries, Dhavalā, Jayadhavalā and Mahādhavalā whose only Mss. exist at Moodbidri in South Kanara. For decades together they were not being given out. Times are changed, and the copies of the first two have come out. Under the patronage of Sheth Lakshmichandraji Shitabrai, Prof. Hiralalaji, Amraoti, has already brought forth three sumptuous volumes of Dhavalā giving the text and Hindi rendering.

His learned Introductions are bringing to light many new facts; and in various contexts we shall have to modify our knowledge of the history of Jaina literature. It is for the first time that these works dealing with highly technical Jaina dogmatics and in Prākrit prose of a logical style (with occasional Sanskrit passage here and there) have been brought to light; and thus an important branch of Indian literature is opened for study. It is a matter of satisfaction that the Jayadhavalā also has been taken up for publication, under the liberal patronage of Sahu Shantiprasadaji Jain, by the Jaina Saṅgha Mathura; and Pt. Mahendrakumaraji, Benares, and his colleagues have been entrusted with the editorial work. Prof. Hiralal's work has been appreciated everywhere; and it has been possible for him, through the goodness of Śrī Cārukirti Bhaṭṭāraka of Moodbidri, to compare the press-copy of the Dhavalā with the original palm-leaf Mss. at Moodbidri. It is necessary, and we earnestly appeal to Śrī Cārukirti Bhaṭṭārakajī and the local Pañcas of Moodbidri to make available to scholars the copy of Mahādhavalā also. We see no reason why Mahādhavalā should not be published from Moodbidri itself and thereby enhance the greatness of that holy place. The works of Śivārya and Vaṭṭakera are published with their Sanskrit commentaries, but as yet they are not subjected to a critical study. They contain much matter which antedates the division of the Jaina church into two great schisms, Digambara and Śvetāmbara; and if their contents are duly compared with Nijjuttīs, many interesting facts can be brought to light. The lines of study are partly indicated by Leumann (Ubersicht über die Āvaśyaka-Literature, Hamburg 1934), and we have to pursue them further.

So far the Jaina Commentarial literature, for which we have a great bulk in Prākrit and Sanskrit and on both the Śvetāmbara and Digambara texts, is studied only to understand the basic texts. Many commentaries are published, but few are critically studied. The Nijjuttīs, Cūrṇīs and even the Sanskrit commentaries are a rich mine of information giving Pūrvapakṣa views, quotations from Jaina and non-Jaina texts, traditional and didactic tales and bits of cultural information all of which are not so far properly sorted and critically assessed. We know the dates of many of these works, and hence

their contents assume a chronologinal value. Prof. Vidhushekhar Bhattacharya has lately shown (IHQ, XVI, p. 143) that Guṇaratna quotes from and was quite familiar with the Pramāṇavārtika of Dharmakīrti, the text of which has been lately edited by Śrī Rāhula Sankratyayana. In some cases the quotations have some textual value as shown by Mr. P. K. Gode in his interesting paper 'The Bhagavadgītā in the pre-Śaṁkarācārya Jaina sources (Annals of the BORI, XX, p. 188 ff.). I have lately proved how the Jīvatattvapradīpikā (Sk.) on the Gōmmaṭasāra was wrongly attributed to Keśavavarṇi when, in fact, it was written by one Nemicandra, contemporary of king Sāluva Mallirāya who flourished in South Kanara at the beginning of the 16th century A. D. (IC, VII, i). A scrutiny of their quotations often helps us to put good limits to the age of these commentaries as I have attempted in the case of Vasunandi's Vṛtti on the Mūlācāra (Woolner Comm. Vol., Lahore 1940, p. 257 ff.), and as Mr. Gode has shown with respect to Malayagiri's date (Jaina A; V, 4, p 133 ff.). It is desirable that the Editors themselves should analyse such material in their editions; and if they have not done, some of us can take up these topics and study them thoroughly.

The study of Apabhraṁsa language and literature is a new field in Indology. Many valuable texts have been edited by scholars like Jacobi, Dalal, Gune, Sahidullah, Gandhi, Vaidya, Híralal and Alsdorf. Important discussions on the nature of this language have been contributed by Jacobi, Gandhi, Hiralal, Alsdorf, Upadhye and others. It is a relief to many of our students that Jacobi's Introductions are translated into English by Dr. Manilal Patel. A number of linguistic and metrical problems connected with Apabhraṁśa are ably discussed by Dr. Alsdorf in his Apabhraṁśa-Studien (Leipzig 1937). Students of Apabhraṁśa have nothing but praise to offer for the arduous and patient labour with which Dr P. L. Vaidya has finished his sumptuous edition of Puṣpadanta's Mahāpurāṇa in three volumes. The joint efforts of Premiji, Hiralalaji, Alsdorf and Vaidya have not only rescued from oblivion one of the great poets of medieval India, but by their solid contributions have also given him a significant seat in the galaxy of Indian poets. The fading flower

of Puṣpadanta's genius bloomed once more at Mānyakheṭa, the modern Malkhed in this very territory of H. E. H. the Nizam ; and under the patronage of Bharata he composed his Mahāpurāṇa. The personal touches, which are nicely outlined by Dr. Vaidya in his Introduction, are simply thrilling, and throw a good deal of light on the personality of Puṣpadanta. It is for the future workers now to work out internal details with befitting devotion. What we possess and what we know about Apabhraṁśa literature and language are nothing in comparison with what is still buried in Mss. in the great Bhaṇḍāras scattered all over Rajaputana, Gujarat and the adjoining territory. The Apabhraṁśa language appears to have been intensively cultivated nearly for one thousand years, almost from the 6th to the 16th century A. D., all over this area. Here is a virgin soil that awaits intensive labour of a few generations of scholars. For a while we must set aside our imaginative faculty in putting forth startling theories from meagre facts, must curb to some extent the premature enthusiasm of the fresh discoverer, guard ourselves against sweeping generalisations and patiently labour on these Mss. to bring to light manifold linguistic and cultural facts, and asses their significace in a proper perspective. What we want to-day is the authentic editing of these works. The documentary value of the works of many of the Apabhraṁśa and Old-Gujarātī poets is far superior to that of the works of even later authors like Jñāneśvara and Tukārāma in Mahārāṣtra. Reliable texts that are systematically and definitely constituted after using specified and authentic Mss. material are a pre-requisite of all research and serious study. To begin with, our editions may not be and cannot be absolutely critical, but a careful editor can make them reliable within the limits of the specified material. That is a modest beginning for all further work, and no critical investigation can be carried on with uncertain texts. Necessary help for such work is available. Hemacandra has given to us a practical outline of Apabhraṁśa. Eminent scholars like Jacobi, Hiralal, Vaidya and Alsdorf have placed before us model editions ; and the significant part of their work is that they are guided more by the cumulative evidence of grammatical standard arrived at by the study of Mss. than by the rigid rules of some grammarian or the

other. Pāïasaddamahaṇṇavo is a good dictionary for all practical purposes. Apabhraṁśa marks a new era in Indian literature in the employment of metres quite fitted for the genius of that language. The valuable material and the learned discussions presented by Prof. H D. Velankar in connection with the metrical discipline of Prākrit and Apabhraṁśa form a mine of information and as such are indispensable to all students of Prākrit literature. His latest contribution pertains to Apabhraṁśa and Marāṭhī metres (NIA I, 4, pp. 215 ff); and we are soon expecting his edition of Hemacandra's Chandonuśāsana (the portion dealing with Prākrit metres) equipped with highly useful Indices. The mathematical portion of the Pratyāhāras from this work is studied by Dr. Alsdorf in his article in Zeitschrift für Indologie und Iranistik (Leipzig 1933). We owe a good deal to scholars like Haraprasada Shastri, Sahidullah, Bagchi, Chowdhari and others in connection with the study of what is called eastern Apabhraṁśa. Lately Dr. P. C Bagchi has edited the Dohākośa (Calcutta 1939), which presents the Apabhraṁśa texts of the Sahajayāna school with Chāyā and Sanskrit commentary on some portions. Day by day new Apabhraṁśa texts are being brought to light, Prof. Hiralal has lately written an article on the Aṇuvaya-rayaṇa-padīva of the 13th century A.D. (JSB, VI, p. 155ff.), and I am presenting to you a paper on Hariṣeṇa's Dharmaparīkṣā composed in 988 A. D. The Apabh. field is a rich pasture to feed our studies upon What is done is nothing in comparison with what needs to be done. I dare not advise you: let us all sincerely and systematically work in co-operation with each other in order to advance the studies which we have inherited from our worthy predecessors.

Apart from its linguistic importance, the Apabharaṁśa poetry is rich in its metrical and rhetorical devices, possesses a good deal of ethical wisdom and exhibits a close observation of the work-a-day world. What we see in Hāla's songs is found here on a magnified scale. The flow of words rushes like a mountain stream, as Uddyotanasūri has put it; and the war-descriptions give a thrill. Though the expressions are vigorous, softer sentiments like love, piety and kindness are sketched with a remarkable human touch.

The literature, as a whole, is anything but aristocratic; and reflects different aspects of Indian society. Not only a cold linguist gets rich material but also a sentimental literary artist finds a delicious dish in this tract of literature. Nowhere else in Indian literature sound and sense and outward music and internal melody have so much co-operated to create an indeliable poetic effect as in Apabhraṁśa.

A thorough study of Apabhraṁśa texts is necessary in yet another way. So far as Gujarātī and Rājasthānī are concerned, there is every prospect of tracing the history of the evolution of these languages; and much that has been written in the past will have to be rewritten after using the material from Apabhraṁśa literature. How closely connected is the origin of the Modern Indian languages with Apabhraṁśa is briefly but clearly shown by Dr. Alsdorf in his popular lecture on Die Entstehung der newindischen Sprachen (ZDMG for 1937). Lately Prof. Narottamadas Swami and other scholars have nicely edited some old Rājasthānī texts. The topic has been critically approached by Tessitori, Turner, Dave and others; but still, much more requires to be done. The linguistic data is so vast and varied that it brings us almost to the dawn of the period of New Indo-Aryan, especially in Gujarātī and Rājasthānī. Old Rāsas, many of which have been noted by Mr. M. D Desai and others, are indispensable in the study of the earlier stages of Gujarātī. Some words and forms can be studied through dated records at regular intervals. In Maithilī also the old poets like Vidyāpati remind us of a good deal of Apabhraṁśa as we know it from the grammars

With the national consciousness that we see prevailing everywhere in India, more and more attention is being devoted to the study of modern Indian languages which, in the long run, will serve as the medium of instruction in the higher education also. After all it is our graduates and under-graduates that are to mould our literary languages; and their perspective usually depends on what they have studied for their examination. It is not enough therefore, that students should study only modern literature in their courses of modern Indian languages; but they must be duly equipped with some knowledge of Prākrits, especially Apabhraṁśa. It is high

time that the Universities, which have modern Indian languages in their degree courses, should see that the curriculum prescribes a first-hand knowledge of Prākrits and Apabhraṁśa. A sudden leap from Sanskrit to Hindī, Gujarātī or Marāṭhī gives no clear grasp of the language to the student; and in the absence of any training in or acquaintance with Prākrits, some of the etymologies etc., attempted by even notable writers are simply inauthentic, if not ridiculous. In some provinces the language that is being evolved to-day is somewhat pedantic and the literary language is drifting away from the language spoken by masses. The Prākritist has to be immune from provincial predilections and prepossessed partialities. If the facts collected do not warrant a categorical conclusion, let us refrain from arriving at it. A law or a theory hurriedly laid down is fatal to all progressive scholarship. Theories may be fascinating; but if they are not well-founded, they blur our vision. Unfortunately the study of Prākrits has suffered to a certain extent due to some theories which thrived on scanty facts. Without any ceremonious hesitation we had to give up the theory that there were as many Apabhraṁśas as there are provincial languages to-day. Further the builders of science have always a set of terminology; but when we use them later on, we have to be fully aware of the meaning originally attached to these terms. For instance, the Eastern and Western Schools of Prākrit grammar have to be understood with some proviso (BV II, ii, p. 171). Terms like Mahārāṣṭrī, Śaurasenī may have had some regional colour in the beginning; but once they became literary languages, their connection with a particular locality cannot be insisted on to its logical extreme. Such statements as 'Wherever Māhārāṣṭrī works were written is Māhārāṣṭra' only show how loosely these terms are used by some people. Jaina Māhārāṣṭrī or Jaina Śaurasenī has nothing to do with Jainas in Mahārāṣṭra or Śūrasena territory. The Prākritist has to guard himself against such pitfalls.

Now it is wellnigh admitted by scholars that Apabhraṁśa, with minor local variations here and there, formed the basis and the prototype of the Modern Indo-Aryan vernaculars, and was current over an extensive portion of Northern and Central India. If, therefore, our present vernaculars are to be enriched in vocabulary and

grammatical formation, here is a common field on which we can draw; to some extent this would bring our language nearer the masses; and this approach would satisfactorily solve, in a large measure, the problem of the vocabulary of our National language which we are trying to evolve for interprovincial intercourse

Following the lead of Grierson, Tessitori, Turner etc, eminent Indian linguists like Drs. Chatterji, Banarasidas, Dhirendra Varma, Saksena, Dave, Katre, Kakati and others have given to us admirable monographs on various languages and dialects like Bengali, Panjabi, Braj, Awadhi, Gujarati, Konkaṇī, Assamese etc. From the nature of the material available to them, their studies are devoted more to the problems of phonology than to questions of morphology, while the aspect of syntax is cleanly left out. Thus there is still a good deal of scope in clearing up the origin and growth of forms and syntax of most of these languages, particularly with the aid of the welcome help supplied by Apabhraṁśa literature. Even in phonology the new material available in the ever increasing Apabhraṁśa works has to be further investigated as is apparent from some of the problems studied by Dr. Alsdorf in his Apabhraṁśa-Studien. Thus can be marked out the period of the beginning of the Modern Indo-Aryan languages some of which have developed interesting post-positions. A systematic study of any phase of the New Indo-Aryan cannot be divorced from the thorough study of the Middle Indo-Aryan. In other words and going one step further, our modern languages should be approached on the one hand from the Prākritic side and on the other from that phase of the present language which is current among the masses. This alone would give us a complete outline for our study.

The urgency of systematising and popularising the Prākrit studies is being gradually felt, and we are glad to welcome a few of the latest publications in this direction. Dr. A. M. Ghatage's Introduction to Ardhamāgadhī (Kolhapur 1941, Second revised ed.) is a systematic and serious attempt to lay the foundation of Ardhamāgadhī studies on a sound basis keeping in view the position of Ardhamāgadhī in the Middle I—A. and general linguistics. Though

meant for beginners, it does not ignore the needs of higher studies. In view of the methodical record of authentic forms, this Introduction would be very useful to all the students of the Middle I-A. The Jaina Siddhānta-kaumudī or the Ardhamāgadhī Vyākaraṇam by Śrī Ratnachandrajī Muni (Lahore 1938) is an attempt to present the facts of the Ardhamāgadhī grammar in Sanskrit on the model of the Siddhānta kaumudī : naturally it would be very useful to Sanskrit Paṇḍitas to acquaint themselves with Ardhamāgadhī. The Mahābodhī Sabhā, Sarnath, has been, with a view to popularise the contents of the Pāli canon, issuing Hindī translations of some important Pāli works; and as a supplementary step in this effort, a standard and exhaustive Pāli grammar in Hindī, was a desideratum. This need has been ably fulfilled by the Pāli Mahāvyākaraṇa (Sarnath, Benares 1940) of Bhikshu Jsgadiśa Kāśyapa, who has systematically presented the contents of the Pāli grammar of Moggallāna, whose Sūtras are constantly referred to in the foot-notes and are continuously reproduced (with the Dhātupāṭha) in an appendix. Together with Geiger's Pāli Literatur und Sprache, it is an extremely useful volume for the student of Pāli.

A time may soon come when standard Dictionaries of Modern Indian languages have to be compiled after studying the etymological history of every word in the light of Sanskrit, Prākrit and Dravidian sources. Turner's Nepālī Dictionary has already set an example. The Prākrits afford such a rich material that a Prākritist has to contribute a substantial share in tracing the etymological and semantic growth of various words in the Modern I-A. The so-called Deśī words open his vista still further, and he has to establish close connection with Dravidian languages as well. If we are able to publish all the major Apabhraṁśa and post-Apabhraṁśa texts, in many cases we might be able to detect the growth of words and forms at different intervals. No Dictionary of any New I-A. language can be worth the name, if it silently ignores the rich material from the Middle Indo-Aryan languages.

The lexicographical, etymological and grammatical study of Prākrits, if systematically carried out in relation to the usages in

Jaina and Buddhistic Sanskrit texts and commentaries, is sure to be fruitful and sure to advance our knowledge of the Middle Indo-Aryan to a great extent The Jaina Sanskrit texts are not sufficiently utilised in our Sanskrit Dictionaries: that is a handicap in our studies. The interpretation of Antaraghara (NIA, I, i) and Tāyin, Tāyi and Tādi (D. R. Bhandarkar, Vol. p. 249 ff.) given by Dr. P. V. Bapat; the explanation of 'utkalāpaya' by Dr. A M Ghatage NIA, I, 5); Prof. Edgerton's fresh light on the Pāli 'middha' (NIA, II, 9), on the Indic 'diśati = says' (Woolner Vol. p. 88) and on the endingless Noun-case forms in Prākrit (JAOS, 59, No. 3); discussion about the Prākrit 'uccidima' and 'uccuḍaï' by Dr. S. M. Katre (Kane Vol. p. 258) and about sāmihā etc., by Dr. Alsdorf (Bulletin of the SOS, Vol. X, part i, p. 22); and the collection of various passages mentioning 'gommaṭa' made by me (IHQ, XVI, p 819 ff.; BV. II, ii) do indicate that a good deal of fruitful work can be done in this direction. The Jaina texts, especially from Gujarāta, show interesting solecisms (some of whose counterparts are quite normal in Prākrits) which, if studied in the light of the various readings given in our national edition of the Mahābhārata issued by the Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, would give us some idea of the popular aspects of Sanskrit in the medieval ages.

The linguistic material afforded by Prākrits is rich and varied; it belongs to different localities in India; and the period of time covered so far as written records are concerned, is not less than two thousand years. We are at the beginning of our studies, and many riddles are still to be solved. Naturally if linguists find this a slippery field to sustain their grand theories, let them not hazard mere flights of speculation and shower on us sceptical curses. The Indian conditions being vastly different, some of the theories and modes of evaluation, developed with definite facts of European languages, may not be exactly applicable in the different fields of Indian languages; and even Bloch has warned us to be very careful in giving the evidence its proper value. Immense material is still to be brought to light before subtle and delicate critical tests can be applied. If facts are properly sorted and placed in the hands of an expert linguist, he can make good use of them; we see how Bloch

has used the facts from the Prākrits in his survey of the Indo-Aryan The field being very vast, departmentalisation for the convenience of study is necessary: only we should not lose sight of the wider generalities. It is already noted above how good work is done in Prākrit metrics and syntax. Some of the dialects can be studied individually and exhaustively. In continuation of what Pischel had sketched, I have lately taken a survey of Paiśāci language and literature (Annals of the BORI, XXI, pp. 1-37). A similar survey of Māgadhī was given to us by W. E. Clark many years back (JAOS, 44). What we want at present is a systematic and patient collection of facts which will enable further critical study. The Prākrit Inscriptions have not been viewed as a whole from the point of view of the language. I learn, however, that a post-graduate student is working on this subject under the guidance of Dr. S. M. Katre in the Deccan College Post-graduate Research Institute, Poona. The classified linguistic data would help us to assess the value of our Prākrit grammars and other traditions about Prākrits.

The Prākritist, as a linguist, has another duty to fulfil. With the spread of education and standardisation of Modern Indian languages, a lot of valuable material in the popular speech is bound to disappear after a time. Many words, forms and turns of expression, which have a historical justification, are looked down upon as vulgar, because they do not conform to the current standard of the so-called correct language of the educated classes. For a student of the Middle Indo-Aryan, such linguistic material among the masses, in many a case, represents significant stages in the evolution of the Prākrit languages into the Modern languages. This raw meterial is fast disappearing, and we cannot afford to wait any longer. It is not enough if we merely repeat the facts collected by Grierson and others. Parroting the theories of our Western masters may have its value, but some day we have to rise above that: we must assiduously collect the linguistic facts from the tribal areas and the uneducated village populace. If these facts are approached from the side of Prākrits, their value is likely to be appreciated better; and in the long run rich material would accumulate. Those who have some linguistic training can certainly reach positive results by noting and systematically classifying these facts.

India is a veritable museum of languages and dialects both written and spoken, dead and living. Taking into account the data supplied by Sanskrit amd Prākrit grammarians, keeping in view the scientific methods evolved by the advanced linguists of the West, duly cellecting the material from the Prâkrit and Apabhraṁśa texts and putting together the data available from the uneducated masses, who are sure to inherit genuine and old material that is lost in the case of educated classes on account of new influences and grammatical standardisation, we find that the growth of Indian languages has not only a strong foundation but also a consistent growth which will interest many a scholar. The educated people, on account of their limited standards, may shun the language of masses as incorrect; but for a linguist there is nothing like correct or incorrect: every authentic fact of the language has a legitimate place in his historical and comparative study of the growth of language.

There is a common belief that the study of Prākrits has little to do with those parts of South India, where Dravidian languages are spoken and consequently the study of Prākrits has no bearing on Dravidian philology. We know that some of the Āndhra dynasties have left their inscriptions in Prākrit, and there are traditions which associate literature written in Prākrit with the kings of that dynasty. Hāla or Śātavāhana is the most notable example. Coming to the Kannaḍa area and the adjoining territory, we have a series of writers like Koṇḍakunda, Vaṭṭakera, Kumāra, Vīrasena, Jinasena, Nemicandra and others whose Prākrit works have come down to us. Dharmapāla is associated with the South, and Kāñcī is an important place in Pāli tradition. The Tamil works like Kuṇḍalakeśi and Maṇimekhalai, though the first is lost now, we owe to Buddhist authors. The Prākrit grammarians like Trivikrama, Siṁharāja, Laksmīdhara and perhaps the author of Prākṛtamañjarī belonged to the South. My researches on the Kaṁsavaho of Rāma Pāṇivāda (Hindī Granthararatnākara Kāryālaya, Bombay 1940) made it clear to me that we had altogether neglected an important tract of Prākrit literature cultivated in the extreme South. Kṛṣṇalīlāśuka wrote his Siricimdhakavvaṁ in the 13th century A. D. to illustrate the rules of the Prākṛta-prakāśa (BV. III, i); and as late as 18th century A. D. Prākrit works were written in the Keraḷa country. Besides the

Śauricarita of Śrīkaṇṭha, lately there has come to light an incomplete Ms. of Gaurīcarita. We owe to Rāma Pāṇivāda a commentary on Vararuci's Sūtras and two Prākrit poems, Kaṁsavaho and Usāṇiruddhaṁ. The text of the second also is edited by me from a single Ms. (JUB. September 1941). Rudradāsa has written a Saṭṭaka, Candralekhā, to celebrate the marriage of Eralapatti Rāja, the Zamorin of Calicut. These are not stray efforts, nor are they confined to mere cultivation of some sacred literature. They show a continuity of Prākrit study.

It is not unlikely that Prākrits may have influenced Dravidian languages too. So far as Kannaḍa is concerned, we have undisputable circumstantial evidence and solid facts, which go to show that a novel mould in Kannaḍa style was cast under the inspiration of Prākrits. It is quite likely that some of the Jaina writers, who wrote in Kannaḍa were already acquainted with Prākrits, especially Jaina Śaurasenī as we call it to-day. We know, how Āṇḍayya openly rebelled against the excessive use of Sanskrit words in Kannaḍa poems, and he wrote his Kabbigara kāva in what he calls pure Kannaḍa. How the contemporary critics received it, we are not in a position to judge ; but the subsequent Kannaḍa works do show a moderation in the use of Sanskrit words. But to-day if we look dispassionately at the performance of Āṇḍayya (c. 1235 A. D.), we find that many of his words are converts from Sanskrit according to to the rules of Prākrit grammar, of course without violating the phonetic trend of the Kannaḍa language. His words like 'sakkada' for 'saṁskṛta', 'kabba' for 'kāvya' etc, are quite familiar to Prākritists. Again if we carefully study the Apabhraṁśa-prakaraṇa from the Śabda-maṇi-darpaṇa of Keśirāja, various rules clearly betray the influence of Prākrit grammar. I am not aware of any detailed study in this direction. Many of the so-called Deśī words, current in Prākrits, can be traced to Dravidian group of languages. If Prākrit influence is detected in the growth of Kannaḍa vocabulary, we should try to see whether any such influence is seen in Telugu and Tamil. I take the liberty of requesting my colleagues, working on Dravidian philology, to take into account the relation of Prākrits with Dravidian languages in course of their studies.

THE JĪVĀNUŚASANA VṚTTI OF DEVASŪRI AND ITS DATE A. D. 1105

By

K. Madhava Krishna Sarma, M. O. L., Curator, Anup Sanskrit Library and Director of Oriental Publications, Bikaner.

There is a Ms of this work in the Anup Sanskrit Library, Bikaner. It consists of a Prākrit text and a Sanskrit commentary by Devasūri. A chronogram at the end mentions the date Saṁvat 1162. The work was written in Aṇhilla Pāṭakanagara in Ghūrjaradeśa when Jayasiṁha, son of Karṇadeva, was ruling. The Ms. was copied in Saṁvat 1561 (A D. 1504) by Śivadāsa. The extent of the work is at the end stated to be 333 Gāthās. It consists of the following 39 sections :

(1) Bimba pratiṣṭhāvarṇanalakṣaṇa.
(2) Pārśvasthavandanādipratipādaka.
(3) Pākṣika vicāraṇalakṣaṇa.
(4) Vandanatrayavicāralakṣaṇa
(5) Āryikānandivaktavyatārtha.
(6) Dānaniśedhavicāravarṇana
(7) Māghamālāpratipādaka.
(8) Caturviṁśatipaṭṭakādivivaraṇa.
(9) Not marked.
(10) Siddhabalivicāralakṣaṇa
(11) Pārśvasthādisamīpaśravaṇādivicāravarṇana.
(12) Vidhicaityakaraṇavarṇana
(13) Not marked.
(14) Saṇghavicāravarṇana.
(15) Pārśvgthādyanuvarṇana.
(16) Jñānavadavajñāvicārārtha.
(17—18) Gacchaguruvacanatyāgavicāra
(19) Brahmaśāntyādipūjanavicāra.
(20) Śrāvakasiddhāntagāthāpāṭhanavicāra
(21) Skandhaca (?)ṭitavihāravarṇana.
(22) Māsakalpavicāra.
(23) Sūrimaladharaṇavicāra.
(24) Kevalastrīvyākhyānakathana.
(25) Śrāvakapārśvasthavandana.

(26) Śrāvakasevāvicāra.
(27) Āryikādharmakathanavivaraṇa.
(28) Jinadṛvyotpādavarṇana.
(29) Aśuddhagrahaṇakathana.
(30) Pārśvasthādisamīpakṛtataponindāvicāra.
(31) Pārśvasthādikṛtajinabhavanapūjāvicāra.
(32) Mithyādṛṣtivarṇana.
(33) Voṣāpramāṇa.
(34) Asaṁyataśabdavicāra.
(35) Prāṇivadhadānavarṇana.
(36) Cāritrasattāvicāraṇa.
(37) Ācaraṇavarṇana.
(38) Guṇastutivicāra.
(39) Prakaraṇasāra.

The MS. is in a fairly good condition. It consists of 50 folios.

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. VIII. 1942.

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
Babu Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs. 3. Foreign 4s. 8d. Single Copy Rs. 1-8

CONTENTS

RULES.

1. The 'Jaina Antiquary' is an Anglo half-yearly Journal which is issued in two parts, *i.e.*, in June and December.

2. The inland subscription is Rs. 3 (including 'Jain Sidhanta Bhaskara') and foreign subscription is 4*s*. 8*d*. per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-8-0.

3. Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to the Manager, 'Jaina Antiquary' The Jaina Sidhanta Bhavana, Arrah (India) to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office at Arrah should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archaeology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period.

7. Contributors are requested to send articles, notes, etc., type-written, and addressed to K. P. Jain, Esq., M. R. A. S., Editor, 'Jaina Antiquary' Aliganj, Dist. Etah (India).

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes, etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

जैन-सिद्धान्त-भवन के प्रकाशित ग्रन्थ

(१) मुनिसुव्रतकाव्य [चरित्र] संस्कृत और भाषा-टीका-सहित—
सं० पं० के० भुजबली शास्त्री एवं पं० हरनाथ द्विवेदी ... २)

(२) ज्ञानप्रदीपिका तथा सामुद्रिक-शास्त्र भाषा-टीका-सहित—सं० प्रो० रामव्यास पाण्डेय, ज्योतिषाचार्य ... ... १)

(३) प्रतिमा-लेख-संग्रह—सं० बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस० ॥)

(४) प्रशस्ति-संग्रह [प्रथम भाग]—सं० पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण १॥)

(५) वैद्यसार—सं० पं० सत्यन्धर, आयुर्वेदाचार्य, काव्यतीर्थ ... ।॥)

(६) तिलोयपण्णत्ती [प्रथम भाग]—सं० डा० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए० ... ।॥)

(७) Jaina Literature In Tamil *by* Prof. A. Chakravarti, M A., I. E. S., ... Price Rs. 2

(८) भवन के संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी ग्रन्थों की सूची ... ... १)

(९) भवन की अंग्रेजी पुस्तकों की सूची ... ... ।॥)

(१०) जैन-सिद्धान्त-भास्कर १म भाग ... ...[अप्राप्य]

(११) „ २य भाग ... ... ४)

(१२) „ ३य भाग ... ... ४)

(१३) „ ४र्थ भाग ... ... ४)

(१४) „ ५म भाग ... ... ४)

(१५) „ ६ष्ठ भाग ... ... ४)

(१६) „ ७म भाग ... ... ३)

(१७) „ ८म भाग ... ... ३)

(१८) „ ९म भाग ... ... ३)

प्राप्ति-स्थान

जैन-सिद्धान्त-भवन, आरा (बिहार)

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD.
ARRAH.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग १०　　　　　　　　　　　　　　　　किरण १

THE JAINA ANTIQUARY

Vol. IX.　　　　　　　　　　　　　　　　No. I.

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

PUBLISHED AT

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
[JAINA SIDDHANTA BHAVANA]
ARRAH, BIHAR, INDIA.

JUNE, 1943.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर के नियम

१ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' हिन्दी षाण्मासिक पत्र है, जो वर्ष में जून और दिसम्बर में दो भागों में प्रकाशित होता है।

२ 'जैन-एन्टीक्वेरी' के साथ इसका वार्षिक मूल्य देशके लिये ३) और विदेश के लिये ३॥) है, जो पेशगी लिया जाता है। १॥) पहले भेज कर ही नमूने की कापी मंगाने में सुविधा रहेगी।

३ इसमें केवल साहित्य-संबन्धी या अन्य भद्र विज्ञापन ही प्रकाशनार्थ स्वीकृत होंगे। प्रबन्धक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा को पत्र भेजकर दर का ठीक पता लगा सकते हैं; मनीआर्डर के रुपये भी उन्हीं के पास भेजने होंगे।

४ पते में परिवर्तन की सूचना भी तुरन्त आरा को देनी चाहिये।

५ प्रकाशित होने की तारीख से दो सप्ताह के भीतर यदि 'भास्कर' प्राप्त न हो, तो इसकी सूचना शीघ्र कार्यालय को देनी चाहिये।

६ इस पत्र में अत्यन्त प्राचीनकाल से लेकर अर्वाचीन काल तक के जैन इतिहास, भूगोल, शिल्प, पुरातत्त्व, मूर्त्ति-विज्ञान, शिला-लेख, मुद्रा-विज्ञान, धर्म्म, साहित्य, दर्शन प्रभृति से संबंध रखने वाले विषयों का ही समावेश रहेगा।

७ लेख, टिप्पणी, समालोचना आदि सभी सुन्दर और स्पष्ट लिपि में लिखकर सम्पादक 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' आरा के पते से आने चाहिये। परिवर्त्तन के पत्र भी इसी पते से आने चाहिये।

८ किसी लेख, टिप्पणी आदि को पूर्णतः अथवा अंशतः स्वीकृत अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार सम्पादकों को होगा।

९ अस्वीकृत लेख लेखकों के पास विना डाक-व्यय भेजे नहीं लौटाये जाते।

१० समालोचनार्थ प्रत्येक पुस्तक की दो प्रतियाँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' कार्यालय आरा के पते से ही भेजनी चाहिये।

११ इस पत्र के सम्पादक निम्न-लिखित सज्जन हैं जो अवैतनिकरूप से केवल जैनधर्म की उन्नति और उत्थान के अभिप्राय से कार्य्य करते हैं :—

प्रोफेसर हीरालाल, एम.ए., एल.एल.बी.

प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट.

बाबू कामता प्रसाद, एम.आर.ए.एस.

पण्डित के. भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १०] [किरण १

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥। एक प्रति का १॥)

वि० सं० २०००

विषय-सूची

पृष्ठ सं०

परिशिष्ट

श्रीजिनाय नमः

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १०   जून, १९४३ । ज्येष्ठ, वीर नि० सं० २४६९   किरण १

विजयनगर के जैन शिलालेख

[ले० श्रीयुत बा० कामता प्रसाद जैन, एम० आर० ए० एस]

मद्रास प्रान्त के वर्तमान बल्लारि ज़िले में तालुका होसपेटे में हम्पि नामक ग्राम है। एक समय यहीं अन्तिम हिन्दू साम्राज्य की राजधानी विजयनगर इठलाती नज़र आती थी। आज वह धराशायी है। विजयनगर को सम्राट् देवराय ने सन् १३३६ ई० में बसाया था। यह बड़ा ही विशाल नगर था। आज उसके ध्वंसावशेष नौ वर्गमील में फैले हुए हैं। अनेक विदेशी यात्रियों ने इस नगर के दर्शन करके मुक्तकंठ से प्रशंसा लिखी है। सन् १४४२ ई० में अब्दुल रज्ज़ाक़ नामक यात्री ने विजयनगर को देखकर लिखा है कि [1] वैसा नगर कभी दृष्टि में नहीं आया और बुद्धि को यह कभी सुनाई न पड़ा कि दुनियां में उसकी बराबरी का कोई नगर था। यह नगर सात कोटों में बसा हुआ था। सातवें कोट में राजमहल थे। प्रत्येक वर्ग के व्यापारी वहां थे। हीरा, लाल, मोती आदि खुले बाज़ार बिकते थे। अमीर और ग़रीब सभी जवाहरात के कंठे, कुंडल और अंगूठियां पहनते थे। पंद्रहवीं शताब्दि में दमश्क (सिरिया) से निकोलो कॉन्टि (Nicolo Conti) नामक यात्री भारत आया था और उसने विजयनगरको देखा था। उसे वह पर्वतों के निकट बसा हुआ विशाल नगर बताता है। वह नगर साठ मील के क्षेत्र में विस्तृत था और उसकी दीवालें पर्वतों से बातें करतीं थी—बहुत ही ऊँची थी।[2] इन उल्लेखों से पाठक विजयनगर की विशालता और महत्ता का अनुमान कर सकते हैं! किन्तु कुटिल काल महान् व्याल है—उसके वार से कोई नहीं बचता! विजयनगर

1. "The city of Bidjanagar is such that pupil of the eye has never seen a place like it, and the ear of intelligence has never been informed that there existed anything to equal it in the world. It is built in such a manner that seven citadels and the same number of walls enclose each other etc."—Major, "India in the fifteenth century" (London), pp. 23—26.

2. Ibid. pt II p 6.

भी नहीं बचा—उसके खंडहर आज लौकिक अनित्यता का दिग्दर्शन करा रहे हैं। इन खंडहरों में कम्पली को जाती हुई सड़क पर सबसे पहला ध्वंसावशेष एक जैन मंदिर का है, जो 'गाणिगित्ति-वसति' नाम से प्रसिद्ध था। 'गाणिगित्ति' कहते हैं तेलिन को। अतः हो सकता है कि इस मंदिर को किसी धर्मात्मा तेलिन ने किसी तरह से अपनाया होगा—संभव है कि उसने इसका जीर्णोद्धार कराया हो—इसीलिये वह उसके नाम से प्रख्यात हो गया। वरन् शिलालेख से प्रकट होता है कि इस मंदिर को सेनापति इरुगप्प ने बनवाया था। इस मंदिर के सम्मुख एक दीपस्तम्भ है—उस दीपस्तम्भ पर शिलालेख अङ्कित है। शिलालेख में संस्कृत भाषा के २८ श्लोक हैं और प्रारंभिक दो मंगलसूचक श्लोकों में श्री जिनराज और जिन-शासन को स्मरण किया गया है। उपरान्त सिंहनन्दी मुनिराज की परम्परा निम्नप्रकार लिखी है:—

मूलसंघ-नन्दिसंघ-बलात्कारगण-सारस्वतगच्छ
|
पद्मनन्दी
|
भट्टारक धर्म्मभूषण प्रथम
|
अमरकीर्ति
|
सिंहनन्दी गणभृत्
|
भट्टारक धर्म्मभूषण
|
वर्द्धमान
|
भट्टारकमुनि धर्म्मभूषण द्वितीय

इन गुरुओं का उल्लेख शिलालेख में 'आचार्य'—'आर्य'—'गुरु'—'देशिक'—'मुनि' और 'योगीन्द्र' विशेष नामों से हुआ है। उपरान्त विजयनगर राजवंश के दो राजाओं अर्थात् यादव राजवंशोद्भूत बुक्कराय और उनके पुत्र हरिहर द्वितीय का वर्णन है। हरिहर के परम्परीण प्रधान मंत्री दंडाधिनायक बैच अथवा बैचप्प थे। बैचप्प के पुत्र दंडेश अथवा क्षितीश या धारणीश (Prince) इरुग अथवा इरुगप्प थे; जिनके गुरु आचार्य सिंहनन्दी थे। शक १३०७, क्रोधन संवत् में इरुग ने विजयनगर में कुंथुजिननाथ का पाषाण मंदिर निर्माण कराया। विजयनगर कर्णाटक देश के कुन्तल प्रान्त में अवस्थित था। सबसे पहले यह शिलालेख सन् १८३६ में 'एशियाटिक रिसर्चेज' (भा० २० पृ० ३६) पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। उपरान्त सन १८५० में डॉ० हुल्श सा० ने इसका सम्पादन आर्कोलॉजिकल सर्वे ऑव इंडिया भा० ३ में किया था।

पाठकों के अवलोकनार्थ हम उस शिलालेख को यहांसे सधन्यवाद उपस्थित करते हैं :—

मूल शिलालेख :—

(१) यत्पादपंकजरजो रजो हरति मानसं । स जिन: श्रेयसे
(२) भूयाद्भूयसे करुणालय: ॥ (१) श्रीमत्परमगंभीर-
(३) स्याद्वादामोघलांछनं । जीयात्त्रैलोक्यनाथ-
(४) स्य शासनं जिनशासनं ॥ [२] श्रीमूलसंघेजनि नंदिसंघ-
(५) [स्त] स्मिन् बलात्कारगणोति रम्य: । तत्रापि सारस्वतनाम्नि गच्छे स्वच्छाशयोभूवि-
(६) ह पद्मनंदी ॥ [३] आचार्य: कुंद [कुंदा] ख्यो वक्रग्रीवो महामति: ।येलाचा-
(७) र्यो गृद्धपिंच्छ इति तन्नाम पंचधा ॥ [४] केचित्तदन्वये चारुमुनय: खन-
(८) यो (१) गिरां [।] जलधाविव रत्नानि बभूवुर्दिव्यतेजस: ॥ [५] तत्रासीच्चारुचारित्र-
(९) रत्नरत्नाकरो गुरु: । धर्म्मभूषणयोगींद्रो भट्टारकपदांचित: ॥[६]
(१०) भाति भट्टारको धर्म्मभूषणो गुणभूषण: । यद्यश: कुसुमामो-
(११) दे गगनं भ्रमरायते ॥ [७] शिष्यस्तस्य मुनेरासीदनर्गलतपोनिधि: । श्रीमान
(१२) मरकीर्त्त्यार्य्यो देशिकाग्रेसर: शमी ॥ [८] निजपक्षपुटकवाटं घटइत्वानिलनिरोध-
(१३) [तो] हृदये । अविचलितबोधदीपं तममरकीर्त्तिं भजे तमोहरं ॥ [९] केपि
(१४) स्वोदरपूरणे परिणता विद्याविहीनांतरा योगीशा भुवि संभवंतु बहु-
(१५) व: किं तैरनंतैरिह । धीर: स्फूर्ज्जति दुर्ज्जयातनुमदध्वंसी गुणैर्ज्जि-
(१६) तैराचार्य्योमरकीर्त्तिशिष्यगणभृच्छ्रीसिंहनंदी व्रती ॥ [१०] श्रीधर्मभूषोजनि त-
(१७) स्य पट्टे श्रीसिंहनंद्यार्य्यगुरोस्सधर्मा । भट्टारक: श्रीजिनधर्म्महर्म्यस्तंभा-
(१८) यमान: कुमुदेंदुकीर्त्ति: ॥ [११] पट्टे तस्य मुनेरासीद्वर्द्धमानमुनीश्वर: । श्रीसिं-
(१९) हनंदियोगींद्रचरणांभोजषट्पद: ॥ [१२] शिष्यस्तस्य गुरोरासीद्धर्म्मभूषण-
(२०) देशिक: । भट्टारकमुनि: श्रीमान् शल्यत्रयविवर्जित: ॥ [१३] भट्टारकमुने: पादावपू-
(२१) र्व्वंकमले स्तुम: । यदग्रे मुकुलीभावं यांति राजकरा: परं ॥ [१४] एवं गुरुप-
(२२) रंपरायामविच्छेदेन वर्त्तमानायां ॥ आसीद्सीममहिमावंशे यादव-
(२३) भूभृतां [।] अखंडितगुणोदार: श्रीमान्बुक्कमहीपति: ॥ [१५] उदभूद्भूभृतस्तस्मा-
(२४) द्राजा हरिहरेश्वर: । कलाकलापनिलयो विधु:क्षीरोदधेरिव ॥ [१६] यस्मिन् भर्त्तरिभू-
(२५) पाले विक्रमाक्रांतविष्टपे । चिराद्राजन्वती हंत भव (त्येषा) वसुंधरा ॥ [१७] तस्मिन् शा-
(२६) सति राजेंद्रे चतुरंबुधिमेखलां । धरामधरिताशेषपुरातनमहीपतौ । [१८] आसीत्त-
(२७) स्य महीजाने: शक्तित्रयसमन्वित: कुलक्रमागतो मंत्री बैचदंडाधिनायक: ॥ [१९] द्वि-
(२८) तीयमंत:करणं रहस्ये बाहुस्तृतीयस्समरांगणेषु । श्रीमान्महाबैच (प) ।

---

(१) 'खनयो गिरा' का अर्थ हुल्श सा० ने 'Mines of speeches' किया है ।

(२६) दंडनाथो जागर्त्ति कार्ये हरिभूमिभर्त्तुः ॥ [२०] तस्य श्रीबैचदंडाधिनायकस्यो-*
(३०) [र्जि] तश्रियः । आसीदिरुगदंडेशो नंदनो लोकनंदनः ॥ [२१]
न मूर्त्ता नामूर्त्ता निखिलभु-
(३१) वनाभोगिकतया शरद्राजद्राकाविटनिटिलनेत्रद्युतितया । प्रभूता कीर्त्तिस्सा चिर-
(३२) मिरुगदंडेशःकथयत्यनेकांतात्कांतात्परमिह न किंचिन्मतमिति ॥ [२२] सद्वंशजोपि गुण-
(३३) वानपि मार्गणानामाधारतामुपगतोपि च यस्य चापः । नम्रः परान्विनमयन्नि-
(३४) रुगक्षितीशस्येश्चैज्जनाय खलु शिक्षयतीव नीतिं [२३] हरिहरधरणीशभाज्यसाम्रा-
(३५) ज्यलक्ष्मीकुवलयहिमधामा शौर्यगांभीर्य्यसीमा । इरुगपधरणीशस्सिंह-
(३६) नंद्यार्य्यवर्य्यप्रपदन [लि] नभृङ्गस्स प्रतापैकभूमिः ॥ [२४] स्वस्ति शकवर्षे १३०७
(३७) प्रवर्त्तमाने क्रोधनवत्सरे फाल्गुनमासे कृष्णपक्षे द्वितीयायां तिथौ शुक्रवारे ॥अस्ति वि-
(३८) स्तीर्णकर्णाटधरामंडलमध्यगः । विषयः कुंतलो नाम्ना भूकांताकुंतलोप-
(३९) मः ॥ [२५] विचित्ररत्नरचिरं तत्रास्ति विजयाभिधं ।
नगरं सौधसंदोहदर्शिताकाशचंद्रिकं ॥ [२६]
(४०) मणिकुट्टिमवीथीषु मुक्तासैकतसेतुभिः । दा[नं] बूनि निरु[ं]धाना यत्र क्रीडंति बालिकाः ॥ [२७]
(४१) तस्मिन्निरुगदण्डेशः पुरे चारु शिलामयं । श्रीकुंथुजिननाथस्य चैत्यालयमचीकरत् ॥[२८]
(४२) भद्रमस्तु जिनशासनाय ॥

इस शिलालेख के ३रे-४थे पद्यों से आचार्य पद्मनन्दी के पांच अपरनाम (१) कुंडकुंद, (२) वक्रग्रीव, (३) महामति, (४) एलाचार्य और (५) गृद्धपिच्छ प्रकट होते हैं। भ० धर्मभूषणादि के ज्ञानादि गुणों का बखान है। दशवें श्लोक में उन साधुवेषियों पर आक्षेप किया है जो ज्ञान से रहित थे और केवल अपना पेट भरना जानते थे। भ० सिंहनन्दी को ११ वें श्लोक में जिनधर्मरूपी पवित्र प्रासाद का स्तम्भ कहा है। १३-१४ श्लोकों से भ० धर्मभूषण द्वि० की विद्वत्ता प्रकट है—उनका अपरनाम भट्टारकमुनि था—राजा लोग उनके समक्ष करबद्ध उपस्थित रहते थे। दंडाधिप बैच तीन शक्तियों (प्रभाव, उत्साह, मंत्र) से युक्त थे। रणक्षेत्र में वह राजा हरिहर के तीसरे हाथ थे। इन्हीं के पुत्र इरुग थे, जिन्होंने लोक का मनोरंजन किया था। उनकी कीर्ति लोक व्यापी थी और वह स्याद्वादमत की सर्वोत्कृष्टता का उच्च घोष करती थी। श्लोक २३ से प्रकट है कि दंडेश इरुग का धनुष लोगों को सम्यक्चारित्र की शिक्षा देता है। हरिहर की राज्य लक्ष्मी की श्रीवृद्धि उन्होंने की थी। सिंहनन्दी गुरु के चरणों के वह भक्त थे। २६-२७ वें श्लोकों में विजयनगर की विशालता का चित्रण है, जो रत्नों से जाज्वल्यमान थी। वहां की सड़कों पर बहुमूल्य रत्न जड़े थे। वहीं इरुग ने कुंथुजिनालय बनवाया था।

* डॉ० हल्श ने बैच को चैच पढ़ा है; यथार्थ नाम बैचप्प है।

विजयनगर के खंडहरों में एक जीर्ण शीर्ण मंदिर और है। उसके मुख्य प्रवेशद्वार पर निम्नलिखित शिलालेख अङ्कित है जो वहां सर्व प्राचीन है :—

(१) शुभमस्तु ॥ श्रीमत्परमगंभीरस्याद्वादामोघलांछनं (।) जीयात्त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिन-शासनं ॥ (१) श्रीमद्यादववान्वयार्णवपूर्णचंद्रस्य (!) श्रीबुक्कपृथ्वी भुज (:) पुंण्य (परिपा)-

(२) कपरिणतमूर्त्तेस्सत्कीर्त्तेर्हरिहरमहाराजस्य पत्यर्यावतारात्क्षीरा देवराजादिव विजयश्रीवीर विजयनृपतिस्संजातस्त-

(३) स्मात्प्रोहणाद्रेरिव महामाणिक्यकांडो नीतिप्रतापस्थिरीकृतसाम्राज्यसिंहासनः। राजाधिराज-राजपरमेश्वरादिविरुदविख्यातो गुणनिधिरभि-

(४) नवदेवराजमहाराजो निजाज्ञापरिपालितकर्न्नाटदेशमध्यवर्त्तिनः स्वावासभूतविजयनगरस्य कंचुकपर्न्नापणवीथ्यामाचंद्रतारमात्मकी-

(५) र्त्तिधर्म्मप्रवृत्तये। सकलज्ञानसाम्राज्यविराजमानस्य स्याद्वादविद्याप्रकटनपटीयसः पार्श्व-नाथस्यार्हतः शिलामयं चैत्यालयमचीकरत् (॥)

(६) देशः कर्नाटनामा भूदावासः सर्व्वसंपदां। विडंबयति यः स्वर्गं पुरोडा शाशनाश्रयं ॥ (२) विजयनगरीति तस्मिन्नगरी नगरीति-

(७) रस्यहर्म्यास्ते। नगरिपु नगरी यस्या न गरीयस्येव गुरुभिरैश्वर्यैः ॥ (३) कनकोज्वलसाल-रश्मिजालैः परिखांबुप्रतिबिंबितैरलं य (।)

(८) वसुधेव विभाति वाडवार्च्चिर्नृतरत्नाकरमेखलापरीता ॥ श्रीमानुद्दामधामा यदुकुलतिलक-स्सारसौंदर्य्यसीमाधीमानामा-

(९) भिरामाकृतिरवनितले भाति माग्गत्तभूमा (।) विक्रांत्याक्रांतदिक्को विमतधरणिभृत्पंकज-श्रेणिचिक्कः (।) स्वोर्व्या जागर्त्ति बुक्कक्षितिपति-

(१०) रभिभूभृत्सिरश्चित्पल्कः ॥ (४) तस्मादात्मावतारस्फुरति हरिहरक्ष्मापतिश्शक्तिसारो दारिद्र-स्फारवाराकरतरणविधौ विष्फुरत्कर्णधारः। भू-

(११) दानस्वर्णदानानुकृतपरशुधृत्पद्मिनीबंधुसूनुस्फाराकूपारतीरावनिनिहितजयस्तंभविभ्राजत्-कीर्त्तिः ॥ (५) तेनाजन्यरिराजतजशिर-

(१२) स्तोमस्फुरच्छेखरप्रत्युप्तोपलदीपिकापरिणमत्पादाब्जनीराजनः। विद्वत्कैरवमंडलीहिमकरो (वि) ख्यातवीर्य्याकर (:) श्रेयान्वीरप-

(१३) मास्वयंवृतवरः श्रीदेवराजेश्वरः ॥ (६) तज्जन्मास्मिन्वदान्यो ज (ग) ति विजयते पुण्य-चारित्रमान्यो दानध्वस्तार्थिदैन्यो विजयनरपतिः सं-

(१४) हितारा (ति) सैन्यः। प्रत्युद्यज्जैत्रयात्रासमसमयसमद्भूतकेतुप्रसूत(स्फा)य(द्रा) ग्योपहृत्याप्रतिहतविमतौघप्रताप्रदीपः ॥ (७)

(१५) तस्मादस्माज्जितात्माजनि जगति यथा जंभजेतुर्ज्जयंतो राजा श्रीदेवराजो विजयनृपति-वाराशिराकाशशांकः। कोपाटोपप्रवृत्तप्रबलरणमिलद्विप्रतीपक्ष-

(१६) मापप्राणश्रेणिनभस्त्रविहकवलनव्यग्रखड्गोरगेंद्रः ॥ (८) वीरश्रीदेवराजो विजयनृपप्रताप-स्फारसंजातमूर्त्तिर्भर्त्ता भूमेर्विभाति प्रणतरिपुततेरार्त्तिजातस्य हर्त्ता।

(१७) क्रूरक्रोधेद्धयुद्धोद्धुरकरटिघटाकर्णशूर्प्पप्रसर्प्पद्वातव्रातोपघातप्रतिहतविमतादभ्रशुभ्यप्रसंघः ॥ (९) यद्धाटीघोरघोटीखुरदलितधरारेणुभिर्व्वीर्य्यवन्हेर्द्धू-

(१८) म (स्तो) मायमानैः प्रतिनृपतिगणश्रीदृशः साश्रुधारा। प्रोद्यद्दर्प्पप्रभूतप्रतिभटसुभटा-स्फोटनाटोपजाग्रद्दोषोत्कर्षांधकारद्युमणिरुदयते देवराजेश्वरोयं ॥ (१०)

(१९) विश्वस्मिन्विजयक्षितीशजनुषः श्रीदेवराजेशितुर्ल्लक्ष्मीं कीर्त्तिसितांबुजं कलयते शौर्य्यार्क्य सूर्य्योदयात्। आशा यत्र पलाशतामुपगताः।

(२०) स्वर्णाचलः कर्णिकाभृङ्गा दिक्षु मतंगजा जलधयो मारंदबिंदूत्कराः ॥ (११) विख्याते विजयात्मजे वितरति श्रीदेवराजेश्वरे कर्णस्याजनि व-

(२१) र्णना विगलिता वार्त्ता दधीच्यादयः। मेघानामपि मोघता परिणता चिंता न चिंताम (णे): स्वल्पाः कल्पमहीरुहाः प्रथयते स्वर्गैंकिकी नीचतां ॥ (१२)

(२२) सोयं कीर्त्तिसरस्वती वसुमतीवाणीवधूभिस्समं भव्यो दीव्यति देवराजनृपतिर्भूदेवदिव्य द्रुमः। यशशौरिर्ब्बलियाचनाविरहितश्चंद्रः कलं-

(२३) कोज्झितः शक्रस्सत्यमगोत्रभिद्दिनकरश्चासत्पथोल्लंघनः ॥ (१३) मदनमनोहरमूर्त्तिः महिला-जनमानसारसंहरणः। राजाधिराजराजादिमपदपरमेश्वरादिनि-

(२४) जबिरुदः ॥ (१४) शक्तौ बुक्कमहीपालो दाने हरिहरेश्वरः। शौर्य्ये श्रीदेवराजेशो ज्ञाने विजयभूपतिः। (१५) सोयं श्रीदेवराजेशो विद्याविनयविश्रुतः। प्रा-

(२५) गुक्तपुरवीथ्यंतः पर्णपूगीफलापणे ॥ (१६) शाकेब्दे प्रमिते याते वसुसिंधुगुणेंदुभिः। पराभ-वाब्देकार्त्तिक्यां धर्मकीर्त्तिप्रवृत्तये ॥ (१७) स्या-

(२६) द्वादमतसमर्थ (न) खर्व्वितदुर्व्वादिगर्व्ववाग्वितते (:)। अष्टादशदोषमहामदगज निकुरंब-महितमृगराजः ॥ (१८) भव्यांभोरुहभानोरिन्द्रादिसु-

२७ रेंद्रवृंदवंद्यस्य। मुक्तिवधूप्रियभर्त्तुः श्रीपार्श्वजि (ने) श्वरस्य करुणाब्धेः ॥ (१९) भव्य-परितोषहेतुं शिलामयं सेतुमखिलधर्मस्य। चैत्यागारमचीकर-

(२८) दाधरणिद्युमणिहिमकरस्थैर्य्यं ॥ (२०)

इस लेख से प्रकट है कि शक सं० १३४८ पराभव वर्ष में विजयनगर की पानसुपारी नामक गली में महाराजाधिराज देवराज द्वितीय ने श्री अर्हत् पार्श्वनाथ का पाषाण का एक चैत्यालय बनवाया था। लेख में विजयनगर के यादववंशी राजाओं की वंशावली निम्न प्रकार दी है:—

१ यदुकुल के नृपति बुक्क;

२ उनके पुत्र हरिहर (द्वितीय) महाराज हुये;

३ उनके पुत्र देवराज (प्रथम) हुये;

४ उनके पुत्र विजय या वीरविजय हुये;

५ उनके पुत्र देवराज (द्वितीय) अथवा अभिनवदेवराज या वीरदेवराज महाराज, राजाधिराज, राजपरमेश्वर आदि हुये।

सम्राट देवराज द्वि० के राज्यकाल में ही अब्दुल रज्ज़ाक़ नामक यात्री आया था। उसे समरकन्द के शाहरुख ने एलची के रूप में भेजा था। इस यात्री ने देवराज द्वि० के निम्नलिखित सिक्के लिखे हैं:—

१ स्वर्ण:—(१) वराह, (२) परताब = $\frac{1}{2}$ वराह. (३) फनम् = $\frac{1}{10}$ परताब।

२ चांदी:—तार = $\frac{1}{6}$

तांबा:—जीतल = $\frac{1}{3}$ तार। इन सिक्कों पर हाथी या बैल का चिन्ह होता था और 'श्रीप्रतापदेवराय' लिखा रहता था। वराह pagoda के रूपमें होते थे। देवराज ने अपने साम्राज्य की नींव अपनी कुशल राजनीति और भुजविक्रम से सुदृढ़ बना दी थी। अपनी कीर्त्ति और पुण्यधर्म को यावद्चंद्रदिवाकर स्थायी करने के लिये उन्होंने उपर्युल्लिखित जिनमंदिर बनवाया था! भ० पार्श्वनाथ को ज्ञान साम्राज्य का अधिनायक और स्याद्वाद का प्रचारक लिखा है। सम्राट हरिहर द्वि० ने अपनी दिग्विजय के स्मारक रूप समुद्र तटके किनारे जयस्तंभों की कतार निर्मापी थी। देवराज की तलवार शत्रुओं के नाश करने के लिए हर समय तैयार रहती थी। शरणागत शत्रुओं को वह क्षमा कर देते थे। उनकी हाथियों की सेना के कान हिलाने से ही शत्रु दल उड़ जाता था। उनकी शरीराकृति कामदेव सदृश सुंदर थी। उनका गुत्ति नामक दुर्ग (Gooty in the Anantpur distt) प्रख्यात था। इस प्रकार विजयनगर में जैनधर्मका प्रभाव फैला हुआ था।*

---

* गत मार्च में मैं स्वयं हम्पि गया था। राजमहल, रानीवास, दरबार हाल आदि यहाँ के वर्तमान ध्वंसावशेषों को देखकर सहृदय दर्शकों के नेत्र तत्काल ही भर आते हैं। हम्पि के महत्त्वपूर्ण प्राचीन इतिहास से अपरिचित एक साधारण विचारशील दर्शक भी इन ध्वंसावशेषों को देखकर इसके गत वैभव को आसानी से परख लेगा। हम्पि के प्राचीन स्मारकों में यहाँ के जैन मन्दिर ही सर्व प्राचीन हैं। 'Hampi Ruins' 'विजयनगर साम्राज्य' आदि रचनाओं के विज्ञ रचयिताओं के कथनानुसार ये भव्य मन्दिर विजयनगर साम्राज्य के स्थापित होने के पूर्व ही विद्यमान थे। मन्दिरों की बनावट आदि से भी यह बात सत्य सिद्ध होती है। बल्कि जहाँ पर ये मन्दिर विराजमान हैं, वह स्थान इतना सुन्दर है कि

इसे नगर की नाक कहा जाय तो भी अत्युक्ति नहीं होगी। घंटों बैठने पर भी यहाँ से हटने की इच्छा ही नहीं होती। हम्पि के शिलामय ये भव्य मन्दिर उन्नत एवं विशाल एक चट्टान के ऊपर एक ही पंक्ति में सुन्दर ढंग से निर्मित हैं। इन मन्दिरों के नीचे थोड़ी ही दूर पर वह पुराना विशाल राजपथ मौजूद है, अब्दुल रज़ाक के शब्दों में जिसमें उस जमाने में मोती, लाल, हीरा आदि बहुमूल्य रत्न बिका करते थे। बल्कि इसी राजपथ में हम्पि का सुविख्यात, विशाल विरूपाक्ष मन्दिर वर्तमान है। उक्त जैन मन्दिर और इस विरूपाक्ष मन्दिर के बीच में भी दो-चार छोटे-छोटे अन्यान्य हिन्दू मन्दिर उपस्थित हैं। इस विशाल राजपथ में आज भी उस जमाने के बहुत-से शिलामय भवनों के भग्नावशेष नज़र आते हैं। राजवीथि से थोड़ी ही दूर पर पूर्व दिशा में तुंगभद्रा नदी सुशान्त हो बह रही है। नदी के उस पार सघन जंगल बीच-बीच के बड़े-बड़े चट्टानों से दर्शकों को बड़ा ही चित्ताकर्षक मालूम देता है। इसी हम्पि को प्राचीन पम्पा कहते हैं, जहाँ पर रामायण काल में हनुमान ने राम-लक्ष्मण से भेंट की थी। खैर, हम्पि के विषय में यथावकाश मैं एक स्वतन्त्र लेख ही लिखूँगा। बल्कि 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' भाग २, पृष्ठ १३२ में 'विजयनगर साम्राज्य और जैनधर्म' शीर्षक मेरा एक लेख पहले प्रकाशित हो भी चुका है।

—के० भुजबली शास्त्री

पार्श्वदेवकृत 'संगीतसमयसार'

[ले० श्रीयुत बा० अ० नारायण मोरेश्वर खरे]

अनु० शान्तिलाल जैन, शास्त्री, बनारस

[भाग १, किरण २, पृष्ठ ६० से आगे]

संगीतरत्नाकर में भी लिखा है कि मालवकैशिक ग्रामराग से ही मालवश्री की उत्पत्ति हुई है। उसका लक्षण इस प्रकार है।

······मालवश्रीस्तदुद्भवा ।

समस्वरा तारमन्द्रषड्जांशन्यासषड्जभाक् ॥ सं. रत्नाकर २-७२

८. वराटी

विभाषा रागराजस्य पंचमस्य वराटिका ।

धांशा षड्जग्रहन्यासा धतारा मन्द्रमध्यमा ।

समश्लेषस्वरा पूर्णा श्रृंगारे याष्टिकोदिता ॥ सं. समयसार

संगीतसमयसार के कर्त्ता "याष्टिक" की वराटी राग की व्याख्या देते हैं। संगीतरत्नाकर की व्याख्या के अनुसार वराटीराग "भिन्नपंचम" ग्राम राग में से उत्पन्न हुआ है—

······वराटी स्यात्तदुद्भवा ।

धांशा षड्जग्रहन्यासा समन्द्रा तारधैवता ।

समेत(समवेत)स्वरा गेया श्रृंगारे शार्ङ्गिसम्मता ॥ सं. रत्नाकर, २-८६

दोनों के लक्षण समान हैं, केवल मन्द्र व्याप्ति में अन्तर है।

९. गौडः

गौडः स्याट्टक्करागांगं निन्यासांशग्रहान्वितः ।

वर्जितः पंचमेनैव रसे वीरे नियुज्यते ।

रागे रंगनिषादिन्या वदन्ति न तु मे मतम् ॥ सं. समयसार

रत्नाकर में टक्क राग के नीचे गौड़ राग का लक्षण इस प्रकार दिया है—

गौडस्तदंगविन्यासग्रहांशः पंचमोज्झितः । सं. रत्नाकर, २-९२

गौड़ राग के लक्षण में दोनों ग्रन्थकार अपनी अपनी व्याख्या में पंचम को वर्जित मानते हैं, परन्तु रत्नाकर की व्याख्या में 'विन्यास' शब्द है। वहां 'नी-न्यास' ऐसा शब्द होना चाहिए। यदि संगीतसमयसार के लक्षण की परीक्षा करें तो उसमें यह स्पष्ट ही है कि केवल ग्रह, अंश, न्यास और स्वर बदलने से राग का स्वरूप ही भिन्न हो जाता है।

१०. धन्नासी

अंगं धन्नासिका प्रोक्ता शुद्धकैशिकमध्यमे।
षड्जांशग्रहमन्यासा षाडवा ऋषभोज्झिता।
गान्धारपंचमस्वल्पा रसे वीरे नियुज्यते॥ सं. समयसार

सं. रत्नाकर में "शुद्धकैशिक मध्यम म ग्रामराग" के नीचे धन्नासी की व्याख्या इस प्रकार दी है—

तज्जा धन्नासिका षड्जग्रहांशन्यासमध्यमा।
रिवर्जिता गपाल्पा च वीरे धीरैः प्रयुज्यते॥ सं. रत्नाकर, २-१००

दोनों के लक्षण एक ही हैं।

११. गुण्डक्कृतिः

देशहिन्दोलरागांगं षड्जांशन्याससंयुता।
रिधत्यक्ता गतारा च शेषैरान्दोलिता स्वरैः॥
पमन्द्रा हास्यश्रृंगारे गेया गुण्डक्कृतिर्भवेत्॥ सं. ससयसार

संगीतरत्नाकर में इसी का "गौडकृति" नाम है—

षड्जांशग्रहणन्यासां मतारां मपभूयसीम्।
रिधत्यक्तां पमन्द्रा च तज्जा गौडकृतिं जगुः॥ सं. रत्नाकर, २-१३०

दोनों के लक्षण प्रायः मिलते जुलते हैं। परन्तु समयसार में "गतारा" लिखा है अर्थात् तार सप्तक के गन्धार स्वर तक उसकी व्याप्ति है; जबकि रत्नाकर में "मतारा" है जिसका अर्थ होता है "तार-म" तक व्याप्ति। इस दोनों में केवल इतना ही भेद है।

१२. गुर्जरी

रिग्रहांशा च मन्यासा जाता पंचमषाडवात्।
ममन्द्रा च नितारा च रिधाभ्यामपि भूयसी।
गुर्जरी ताडिता पूर्णा श्रृङ्गारे विनियुज्यते॥ सं. समयसार

संगीतरत्नाकर में "पंचम षाडव राग" के नीचे गुर्जरी की व्याख्या इस प्रकार दी है—

तज्जा गुर्जरिका मान्ता रिग्रहांशा ममध्यभाक्।
रितारा-रिधभूयिष्ठा श्रृंगारे ताडिता मता॥ सं. रत्नाकर, २-८९

यहां दोनों के लक्षणों में थोड़ा भेद है। शायद छपाने में भूल हो अथवा मूल प्रति में ही कुछ गड़बड़ हो। क्योंकि चिह्नित शब्दों के सिवाय बाकी सभी लक्षण एक ही हैं; जैसे कि "रिग्रहांशा", "मन्यासा", "रिधाभ्यामपि भूयसी"। तथा "ताडिता" "श्रृंगारे" इत्यादि लक्षण भी एक ही हैं। "रितारारिधभूयिष्ठा" ऐसा रत्नाकर का पाठ है। उसके स्थान में "नितारारिधभूयिष्ठा" होना चाहिए क्योंकि तार री स्वर की व्याप्ति होने पर तो सामान्यतः राग की व्याप्ति दो सप्तक से कम ही होनी चाहिए। इसी प्रकार "ममध्यभाक्" के

स्थान पर ममन्द्रभाक् होना चाहिए। क्योंकि इस राग की व्याप्ति मन्द्र सप्तक में किस स्वर तक और तार सप्तक के किस स्वर तक होती है, इसका स्पष्टीकरण ऊपर के दो श्लोको में है।

भाषाङ्गराग

१. वेलाउली (वेलावली)

कुकुभप्रभवा भाषा या प्रोक्ता भोगवर्धिनी।
वेलाउली तदंगं स्यात् परिपूर्णसमस्वरा ॥३४॥
धैवतांशग्रहन्यासा धतारा मन्द्रमध्यमा।
षड्जेन कम्पिता सेयं विप्रलम्भे नियुज्यते ॥३५॥

संगीतरत्नाकर में भी बतलाया है कि "ककुभ राग" में से निकली हुई "भोगवर्धिनी भाषा" में से वेलावली उत्पन्न हुई है—

तज्जा वेलावली तारधा गमन्द्रा समस्वरा।
धाद्यन्तांशा कम्पषड्जा विप्रलम्भे हरिप्रिया॥ २-११५

इनमें लक्षण तो एक ही हैं, मात्र मन्द्रव्याप्ति के संबंध में मतभेद है।

१. सायरी (आसावरी)

ककुभोत्था रगं ह्यंगं धान्ता मध्यग्रहांशका (?) (मांशा च मंगल)
गतारा स्वल्पषड्जा च पंचमेन विवर्जिता।
मन्द्रा सा सायरी ज्ञेया कर्त्तव्या करुणे रसे ॥३८॥ सं. समयसार

रत्नाकरे—रगंति भाषा में से :—

तद्भवाऽसावरी धान्ता गतारा मन्द्रमध्यमा।
भग्रहांशा स्वल्पषड्जा करुणे पंचमोज्झिता॥

दोनों के लक्षण एक ही हैं। "मध्यग्रहांशका" में "मध्य" का अर्थ "मध्यमस्वर" समझना चाहिए। प्रयोग भी इसी अर्थ में है।

१३. देशाख्यः

गान्धारपंचमा जाता ऋषभेण विवर्जिता।
ग्रहांशन्याससम्बन्धगान्धारा च समस्वरा॥
निषादमन्द्रा गान्धारस्फुरितेन विराजिता।
षाडवा यदि रागांगं वंशे पूर्णे च दृश्यते॥
देशाख्य.........　　　　सं. समयसार

संगीतरत्नाकर में "गान्धारपंचम" ग्राम राग के नीचे देशाख्य का स्वरूप इस प्रकार दिया है—

तज्जा स्फुरति गान्धारा देशाख्या वर्जितर्षभा ।

ग्रहांशन्यासगान्धारा निमन्द्रा च समस्वरा ॥सं. रत्नाकर

संगीतरत्नाकर का उपर्युक्त श्लोक त्रुटित प्रतीत होता है। तो भी उसमें आया हुआ लक्षण संगीतरत्नाकर (?) के साथ मिलता है। "षाडवा यदि रागांगं वंशे पूर्णा च दृश्यते" इस पंक्ति का सम्बन्ध ठीक ठीक ज्ञात नहीं होता।

१४. देशी

स्याद (स्यादंगरं) रंगरेव (?) गुप्तस्य गमन्द्रा पंचमोज्झिता ।

ऋषभांकग्रहन्यासा तथा समनिभूयसी ।

देशी नाम प्रयोक्तव्या रागोऽयं करुणे रसे ॥सं. समयसार

संगीतरत्नाकर में भी ऐसा ही लक्षण है और वह "रेवगुप्तराग" के नीचे ही दिया है—

तज्जा देशी रिग्रहांशन्यासा पंचमवर्जिता ।

गान्धारमन्द्रा करुणे गेया मनिसभूयसी ।

देशी नाम प्रयोक्तव्या रागोऽयं करुणे रसे ॥सं. रत्नाकर, २-१०३

देशी राग के दोनों के लक्षण देखने पर समान ही प्रतीत होते हैं। इस प्रकार पार्श्वदेव के दिए हुए "रागांग राग" हम देख गए। अब कुछ "भाषांग राग" (?) और "उपांग राग" देखें।

उपांग राग

१. भैरवी

भिन्नषड्जसमुद्भूता धांशन्यासग्रहान्विता ।

समशेषस्वरा पूर्णागान्विता तारमन्द्रयोः ।

देवादिप्रार्थनायां तु भैरवी विनियुज्यते ॥सं. समयसार

धांशन्यासग्रहा तारमन्द्रगान्धारशोभिता ।

भैरवी भैरवोपांगं समशेषस्वरा भवेत् ॥सं. रत्नाकर, २-१४४

इन दोनों के लक्षण समान ही हैं। पहले में "भिन्नषड्जसमुद्भूता" कहा है और दूसरे (सं. रत्नाकर) में "भैरवी भैरवोपांगं" कहा है। इनका अर्थ एक ही होता है क्योंकि भैरव राग भी "भिन्नषड्ज" में से ही उत्पन्न हुआ है यह हम ऊपर देख गए हैं। छह राग और छत्तीस (तीस ?) रागिनिओं के प्रपंच करने वाले ग्रन्थ भी भैरवी रागिनी को भैरवराग की स्त्री मानते हैं और ऐसा कहा है कि वह महादेव की पूजा करके प्रार्थना करती है। कि—

स्फटिकरचितपीठे रम्यकैलासशृंगे;

विकचकमलपत्रैरर्चयन्ती महेशम् ।

करधृतघनवाद्या गीतवर्णायताक्षी;

सुकविभिरियमुक्ता भैरवी भैरवस्त्री ॥
मल्हार एवं मल्हारी—
लक्षणं विनियोगश्च भवेन्मल्हारिकासमम् ।
मल्हारस्य गतित्यागः पंचमं स्फुरणं भवेत् ॥सं. समयसार

इसमें मल्हार राग का लक्षण देखने पर मल्हारी जैसे ही उसके स्वर प्रतीत हैं, परन्तु मल्हार में ग और नी स्वरों का त्याग बतलाया है। अब मल्हारी का लक्षण देखें—

मल्हारी—
अन्धालिकांगमल्हारी मध्यमांशग्रहान्विता ।
रिमन्द्रा च गशून्या च श्रृंगारे ताडितस्वरा ॥

इसमें मल्हारी आंधालिका का अंग है, ऐसा कहा है। अब संगीतरत्नाकर में आए हुए दोनों रागों के लक्षण की भी जाँच करें।

मल्हारी—
मल्हारी तदुपांगं स्याद्गहीना मन्द्रमध्यमा ।
पंचमांशग्रहन्यासा श्रृंगारे ताडिता मता ॥सं. रत्नाकर, अ० २-१५६

"आंधाली भाषाराग" के नीचे ही मल्हारी राग दिया है। जिस प्रकार मल्हारी के लक्षण के विषय में दोनों ग्रन्थकारों का मतभेद है—एक में "मध्यमांश" है, दूसरे में "पंचमांश" है—उसी प्रकार एक में "रिमन्द्रा" अर्थात् ऋषभ स्वर तक मन्द्रव्याप्ति है तो दूसरे में "मन्द्रमध्यम स्वर" तक है।

अब मल्हारः —
आंधाल्युपांगमल्हारः षड्जपंचमवर्जितः ।
धन्यासांशग्रहो मन्द्रगान्धारतारसप्तमः ॥ सं. रत्नाकर, अ० २-१५७

मल्हार राग आन्धाली राग का उपांग राग है। इसमें षड्ज और पंचम स्वर वर्जित हैं। धैवत अंश, ग्रह और न्यास है। मन्द्रसप्तक में "गान्धार" स्वर तक और तारसप्तक में "सप्तम" अर्थात् "निषाद" स्वर तक उसकी व्याप्ति है।

मल्हार राग के विषय में दोनों ग्रंथों में पूरा मतभेद दिखाई देता है। एक में "ग नी" स्वरों का निषेध वर्जित है तो दूसरे में "सा प" का। दोनों केवल आंधाली का उपांग मात्र मानते हैं।

इसलिए थाट् (ठाट) तो एक ही होगा।

रागों के ऊपर इतना विवेचन पर्याप्त होगा। राग के लक्षण दो प्रकार के दिए हैं— सामान्य और विशेष उनमें प्रत्येक के चार प्रकार के लक्षण हैं। अंश स्वर की व्याख्या दस लक्षणों से युक्त दी है जो कि नाट्यशास्त्र में से ही ली गई है।

४ चतुर्थ अधिकरण के प्रारम्भ में प्रबंध की व्याख्या दी है। जो व्याख्या सोमनाथ ने अपने रागविबोध ग्रन्थ में उद्धृत की है, वह तो ऊपर ही बतला दी गई है। चार धातु और छह अङ्गों से जिसका नियमन होता है वह प्रबंध। जिस प्रकार आस्थायी, अंतरा आभोग और संचारी आजकल भी ध्रुपद आदि के प्रबंधक धातु कहे जाते हैं। उसी प्रकार पहले के प्रबंधगीतों में भी वह व्यवस्था थी और उसी को ग्रंथकार ने इस अधिकरण में बतलाया है। इसके पश्चात् पाद, बंध, स्वरपद, चित्र, तेन, मिश्र इत्यादि करणों की व्याख्या, एकादश ध्रुवों के अनन्तर उनका उपयोग करने का तरीका बतलाने के बाद अधिकरण समाप्त किया है। प्रत्यक्ष गायन किस प्रकार करना चाहिए इसके बारे में महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ भी दी हुई दिखाई पड़ती हैं।

५. पंचम अधिकरण में अनवद्यादि चार प्रकार के वाद्यों के भेद बतला कर के तत्सम्बन्धी परिभाषिक शब्द भी समझाए हैं। यह भाग सम्भवतः नाट्यशास्त्र में से ही लिया हुआ मालूम पड़ता है। पाठवाद्य के बारह प्रकार बतला कर के उन अक्षरों को किस प्रकार बजाना चाहिए—यह बतलाने का भी प्रयत्न किया है।

६. छठे अधिकरण में नृत्य और अभिनय के बारे में लिखा है। अंग विक्षेप के अनेक विभिन्न प्रकार दिए हैं। ये सब प्रकार नाट्यशास्त्र में वर्णित प्रकारों से भिन्न प्रतीत नहीं होते।

७. सातवें अधिकरण में ताल का उद्देश, उसका लक्षण और उसके नाम दिए हैं। यह सारा वर्णन रत्नाकर से मिलता जुलता है। अन्त में एक सुन्दर श्लोक दिया है जो इस प्रकार है—

तालमूलानि गेयानि ताले सर्वं प्रतिष्ठितम्।
तालहीनानि गेयानि मंत्रहीना यथाहुतिः॥

इस प्रकार संगीत में ताल का कितना महत्त्व है यह इस श्लोक में बतलाया है।

८. आठवें अधिकरण का नाम गीताधिकरण रखा है। गीत किस तरह गाना ?, गीत के गुण तथा दोष कैसे होते हैं ?, क्रियावान् पण्डित किसे कहना ?, सभा में किस तरह गाना ?, किस तरह बैठना ?, वाग्यवेकार(?), उत्तम नर्तक, तथा वादक किसे कहना ? इनके बारे में अत्यंत सूक्ष्म ज्ञातव्य बातें दी हुई हैं। उत्तम, मध्यम और कनिष्ट गायक किसे कहना, तथा नायक किसे कहना इसके बारे में भी जानने योग्य बातें दी हैं। इस प्रकार यह महत्त्वपूर्ण अधिकरण है।

९. नवें अधिकरण में प्रस्तार, नष्ट, उद्दिष्ट आदि देने के बाद अधिकरण समाप्त किया है।

इस प्रकार इस ग्रंथ का यथाशक्य संक्षिप्त अवलोकन किया। तत्कालीन देशी संगीत के बारे में कुछ जानने के लिए इतना विवेचन पर्याप्त होगा। ग्रंथकार स्वयं मार्ग-

संगीत के झगड़े में नहीं पड़ा है। उन्होंने तो केवल देशी सङ्गीत के विषय में ही लिखा है। इस ग्रंथ का प्रचार कर्णाटक और उसके आसपास के प्रांतों में विशेष होना चाहिए। क्योंकि ग्रंथ में वर्णित संगीत दक्षिण पद्धति का है और इसीलिए दक्षिण पद्धति के समर्थक सोमनाथ ने इस ग्रंथ का भी उल्लेख किया है, जो कि समुचित ही है। ऊपर कहा गया है कि प्रस्तुत ग्रंथ खण्डित है। पं० विष्णु शर्मा कृत "हिन्दुस्तानी संगीत पद्धति भाग २" में संगीत समयसार का उल्लेख श्रुति पर विवेचन करते हुए, किया है। उसमें ऐसा लिखा है कि प्रस्तुत ग्रंथकार ने सारंगदेव के "संगीतरत्नाकर" में से बहुत से विधान लिए हैं। परंतु पं० विष्णु शर्मा ने पार्श्वदेव के संगीतसमयसार ग्रंथ में से जो वाक्य उद्धृत किए हैं वे त्रिवेन्द्रम् की प्रकाशित पुस्तक में देख नहीं पड़ते। इसलिए ऐसा मालूम होता है कि उनके पास शायद दूसरी प्रति हो। प० विष्णु शर्मा द्वारा उद्धृत वाक्यों को देखते ही ऐसा प्रतीत होता है कि वे वाक्य संगीतसमयसार के कर्ता ने रत्नाकर से लिए होंगे। परंतु संगीतरत्नाकर से पूर्व के "संगीतमकरन्द" नामक ग्रन्थ में भी, जो कि अभी ही गायकवाड़ ओरिएण्टल सिरीज़ में प्रकाशित हुआ है, ये वाक्य मिलते हैं। इसलिए ये वाक्य किस ग्रन्थ में से किसने लिए हैं, यह निश्चित करना कठिन है। प्राचीन समय से प्रचलित अमुक मत विषयक विवेचन अनेक ग्रन्थों में समान हो सकता है।

प० विष्णु शर्मा द्वारा उद्धृत वाक्य इस प्रकार हैं—

अत्रोच्यते स्वरादीनामुत्पत्तिहेतुर्वात स्थानम्। त्रीणि स्थानानि हृत्कण्ठशिरांशि इति समासतः।

> द्वे वीणे तुलिते कार्येऽखिलावयवस्तथा।
> एकं वीणैव भासेते यथा द्वे अपि शृण्वताम्॥
> श्रुतिराद्या मन्द्रतमध्वानां(?) कार्या (विचक्षणैः)।
> द्वितीया तु ततस्तीव्रध्वनिस्तन्त्री विधीयते।
> यथा तथा तयोर्मध्ये न तृतीयो ध्वनिर्भवेत्॥

इस ग्रन्थ का दूसरा उपयोग पं० विष्णु शर्मा ने उसी हिन्दुस्तानी सङ्गीत पद्धति भाग २ में भैरव राग के ऊपर विवेचन करते समय किया है। वहाँ उन्होंने पार्श्वदेव के रागों का वर्गीकरण दिया है। उस वर्गीकरण में एक सौ दो राग दिए हैं जब कि प्रस्तुत प्रकाशित पुस्तक में एक सौ तीन हैं। पं० विष्णु शर्मा लिखते हैं कि 'रत्नाकर में से बातें लेकर के उन्होंने अपने ग्रन्थ में दी हैं परन्तु उसका कठिन भाग तो प्रस्तुत ग्रंथकारने भी ठीक ठीक समझा नहीं है।'

पं० विष्णु शर्मा की प्रति और प्रकाशित प्रति के मिलाने के बाद यदि शुद्ध प्रति तैयार की जायगी तो उस समय के देशी सङ्गीत पर कुछ अधिक प्रकाश पड़ेगा—ऐसा कहकर यह विवेचन पूर्ण करता हूँ।

सं. नोटः इस 'संगीत-समयसार' के रचयिता पार्श्वदेव निस्संदेह जैन धर्मावलम्बी हैं, यह बात आगे के फुट नोटों से स्वयं स्पष्टहो जायगी। अतः यहां पर इस बात की अधिक छानबीन करने की आवश्यकता नहीं दीखती। इनके समय के सम्बन्ध में मोरेश्वरजी का कहना है कि "ग्रन्थकार स्वयं द्वितीय अधिकरण के प्रथम श्लोक में ही भोजराज और सोमेश्वर का उल्लेख करते हैं। भोजराज का समय ई० सन् १०५३ और सोमेश्वर का ई० सन् ११८३ है। इस प्रमाण से ग्रन्थकार अथवा ग्रन्थ का समय ई० सन् ११८३ के बाद का सिद्ध होता है।" इसी विषय पर 'Classical Sanskrit Literaturc' के विद्वान् लेखक एम. कृष्णमाचारियर ने निम्न प्रकार अपना अभिप्राय व्यक्त किया है: "यह (पार्श्वदेव) भोजराज, सोमेश्वर एवं परमार्दिन् का उल्लेख करते हैं और स्वयं सिंग (सिंह) भूपाल के द्वारा स्मरण किये गये हैं। अतः आप १३ वीं शताब्दी में अवश्य जीवित थे।"* इस प्रकार प्राश्र्वदेव के समय के सम्बन्ध में दोनों विद्वान् एकमत हैं।

अब पार्श्वदेव के वंश तथा गुरु-परम्परा को लीजिये। इस संबंध में मोरेश्वरजी तो सर्वथा मौन हैं। हां, कृष्णमाचारियर इन्हें स्पष्ट श्रीकान्त जाति के आदिदेव एवं गौरी के पुत्र तथा महादेवार्य के शिष्य बतलाते हैं।+ ज्ञात होता है कि उक्त विद्वान् को संगीत-समयसार की किसी हस्तलिखित प्रति में यह बात उपलब्ध हुई होगी। क्योंकि त्रावंकोर से प्रकाशित संगीतसमयसार की मुद्रित प्रति में कहीं भी इनके माता-पिता के नाम नहीं मिलते हैं। पार्श्वदेव की 'श्रुतिज्ञानचक्रवर्त्ती,' 'संगीताकर' आदि उपाधियों से यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि आप संगीतशास्त्र के एक प्रकाण्ड विद्वान् थे। वास्तव में इनका संगीत-समयसार ग्रन्थ अपने विषय की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। जहाँ तक मेरा खयाल है कि संगीत-विषय-प्रतिपादक स्वतन्त्र जैन कृतियों में यह संगीतसमयसार ही सर्वप्रथम प्रकाशित हुआ है। कवि पार्श्वदेव के मत से संगीत ही मोक्षप्राप्ति का एक सुगम उपाय है, दर्शनशास्त्र नहीं। कहने का आशय यही है कि जैनधर्म में भी संगीत की पर्याप्त प्रतिष्ठा है। हमें स्थानाङ्गसूत्र पर की अभयदेव की टीका (ई० सन् १६०३), भद्रबाहुकृत कल्पसूत्र पर की विनयविजय (ई० सन् १७ वीं शताब्दी) की टीका, हरिभद्रकृत आवश्यकवृत्ति पर का हेमचन्द्र (ई० सन् ११ वीं शताब्दी) का टिप्पण, श्राद्धप्रतिक्रमण पर की रत्नशेखर की टीका (ई० सन् १४९६) और अनुयोगद्वारसूत्र पर का मलधारी हेमचन्द्र (ई० सद् १२ वीं

*—Classical Sanskrit Literature. पृष्ठ ८५५।

+—"श्रीमदभयचन्द्रमुनीन्द्रचरणकमलमधुकरायितमस्तकमहादेवार्यशिष्यस्वरविमलविद्यापुत्र-सम्यक्त्वचूडामणिभरतभाण्डीकभाषाप्रवीणश्रुतिज्ञानचक्रवर्तिसङ्गीताकरनामधेयपार्श्वदेवविरचिते सङ्गीतसमयसारे" परन्तु संगीतसमयसार की मुद्रित प्रति में यह अंश इस प्रकार मिलता है: "श्रीमदभिनवभरताचार्यस्वरविमलहेम्मंणार्यविद्यापुत्रश्रुतिज्ञानच(क्र)वार्तिसङ्गीताकरनामधेयपार्श्वदेवविरचिते सङ्गीतसमयसारे"।

शताब्दी) का टिप्पण आदि श्वेताम्बर सूत्रग्रन्थों की टीकाओं में भी संगीतशास्त्र की अनेक ज्ञातव्य बातों की विशद चर्चा उपलब्ध होती है।* मोरेश्वरजी ने पार्श्वदेव को दाक्षिणात्य अनुमान करते हुये यों लिखा है : "स्थायी के नामों को देखते हुये ऐसा मालूम होता है कि ग्रन्थकार ने महाराष्ट्र तथा कर्णाटक में प्रचलित संगीत की ओर विशेष ध्यान दिया है। कर्णाटक के नाम बहुत बार देखने में आते हैं। इससे ग्रन्थकार स्वयं कर्णाटक की ओर के हों ऐसी सम्भावना होती है।" मोरेश्वरजी के इस अनुमान से मैं भी सर्वथा सहमत हूं।

एक बात और उल्लेख कर देना है। वह यह है कि कृष्णमाचारियर के कथनानुसार पार्श्वदेव ने अपने ग्रन्थ में राजा प्रताप, दिगम्बरसूरि और शंकर का उल्लेख किया है।† परन्तु पता नहीं चलता है कि दिगम्बरसूरि से पार्श्वदेव ने किनका स्मरण किया है। यह नाम है भी कुछ विलक्षणसा। साथ ही साथ संगीतसमयसार की अंतिम पुष्पिका में कवि पार्श्वदेव के द्वारा सादर स्मरण किये गये मुनीन्द्र अभयचन्द्र एवं गुरु महादेवार्य का भी कुछ पता नहीं लगता। संभव है कि पार्श्वदेव के द्वारा स्मृत मुनीन्द्र अभयचन्द्र और गोम्मटसार की वृत्ति, शाकटायनप्रक्रियासंग्रह आदि के रचयिता आचार्य अभयचन्द्र ये दोनों अभिन्न व्यक्ति हों। इन दोनों के काल में भी विशेष अंतर नहीं है। यों तो एक दो अभयचन्द्र और भी हुए हैं। खैर, इन सब बातों का पता लगाने के लिये कुछ समय चाहिये। इसलिये इस समय यह विषय यहीं पर छोड़ दिया जाता है।

—के० भुजबली शास्त्री

---

*—'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' भाग ७, पृष्ठ १९ देखें।

†—पञ्चतालेश्वरो यद्वा हृद्यं गद्यमथापि वा। आलिक्रमोऽयमेवोक्तः प्रतापपृथिवीभुजा॥
केशवबन्धकरौ प्रोक्तौ तौ दिगम्बरसूरिणा। उत्तानावाञ्चितौ किञ्चित् पार्श्वगौ त्रिपताकरौ॥
सकलं निष्कलं चेति वाद्यमेतत् द्विधा भवेत्। कथितं शंकरेणेदं एके तन्त्रीसमाश्रयम्॥
(Classical Sanskrit Literature. pp. 855—56)

खगेन्द्रमणिदर्पण

[ले० श्रीयुत पं० के भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

यह विषशास्त्र-सम्बन्धी ग्रन्थ है। इसके रचयिता कवि मंगराज हैं। इनका जन्म-स्थान वर्तमान मैसूरु राज्यान्तर्गत मुगुलिपुर था। इन्हें उभयकवीश, कविपद्मभास्कर और साहित्यवैद्यविद्याम्बुनिधि ये उपाधियाँ प्राप्त थीं। इन उच्च उपाधियों से पता चलता है कि मंगराज कन्नड और संस्कृत दोनों भाषाओं के प्रौढ़ कवि थे। स्वर्गीय आर० नरसिंहाचार्य के मत से इनका समय लगभग ई० सन् १३६० है। मंगराज जैनधर्मावलम्बी हैं इसलिये इन्होंने आचार्य पूज्यपाद एवं जिनेन्द्र भगवान की उक्तियों को ही उपर्युक्त अपनी कृति का आदर्श माना है।

कवि ने इस ग्रन्थ का नाम खगेन्द्रमणिदर्पण रखा है। लोक में प्रसिद्धि है कि पक्षिराज गरुड सर्पों का वैरी है और वह सर्पविष दूर करता है। इसी प्रकार गरुडमणि भी लोक में विषनिवारक माना जाता है। अतएव खगेन्द्रमणि शब्द का लाक्षणिक अर्थ विषापहार के उपाय मानकर मंगराज ने विषापहार के उपाय के लिये दर्पणसदृश अर्थात् विषापहार के उपाय को स्पष्ट बतलाने वाला—यों इसका यह अन्वर्थ नाम रखा है। ग्रन्थकर्त्ता इसमें सर्पादि स्वाभाविक विषों के अतिरिक्त हमलोगों के रोज के आहार के काम में आने वाले चावल, गेहूं, मडवा आदि सभी चीजों में विष बतलाते हैं और साथ ही साथ उसका उपचार भी। इस खगेन्द्रमणि-दर्पण में १६ अधिकार हैं। कवि का कहना है कि ये १६ अधिकार तीर्थंकरपुण्यकर्म के निदान-स्वरूप षोडश भावनाओं के स्मृति-चिह्न हैं। यह है शास्त्रग्रन्थ। फिर भी इसमें काव्य के समान जहाँ-तहाँ अपूर्व अर्थ-पोषक अनेक उपमान भी उपलब्ध हैं। ग्रन्थ में यत्र-तत्र बहुतसे अपूर्व संस्कृत शब्द भी देखने को मिलते हैं।

यह ग्रन्थ कंद और वृत्तों में रचा गया है। फिर भी इसमें उत्पलमाला, शार्दूल, चम्पक, स्रग्धरा आदि सुप्रसिद्ध अक्षरगणवृत्त भी जहाँ-तहाँ उपलब्ध होते हैं। दो-चार अनुष्टुप पद्य भी इसमें मिलते हैं। कवि का कहना है कि यह ग्रन्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप चारों पुरुषार्थों के स्वरूप को बतलाता है। बल्कि कवि ने इसे 'मृतसंजीवनी' अथवा 'जीवितचिन्तामणि, भी कहा है। एक दृष्टि से यह है भी ठीक।

अस्तु, ग्रन्थ के प्रत्येक अधिकार के विषय निम्न प्रकार हैं :

प्रथम अधिकार—इसमें मंगलपूर्वक स्थावर, जंगम और कृत्रिम आदि विषों के भेद, सर्पों की जातियाँ, औषधों का संग्रहकाल, औषधों के प्रसवादि भेद एवं उनकी शक्तियाँ, सद्वैद्यलक्षण और दुर्वैद्यलक्षण आदि कहे गये हैं।

द्वितीय अधिकार—इसमें स्थावरविष के भेद, विषाक्रान्तलक्षण तथा उसका परिहार, नस्य, पान, लेप और अंजन आदि चार प्रकार के औषध एवं अनेक मन्त्र उक्त हैं।

तृतीय अधिकार—दष्ट के लिये किये जाने वाले संग्रहादि आठ प्रकार के कार्य, अष्टकुलसर्पलक्षण, दंशप्रकार तथा लक्षण, दंशनवार, दूतलक्षण और साध्यासाध्यादिनिश्चय आदि अनेक प्रकार के दष्टशोधन के भेद प्रतिपादित हैं।

चतुर्थ अधिकार—इसमें दष्ट के लिये किये जाने वाले संग्रहादि अष्टविध शोधन कार्य के विधान अनेक मन्त्रों के साथ बतलाये गये हैं।

पंचम अधिकार—इसमें विष को निर्मूल करने वाले अनेक प्रकार के वनौषध मन्त्रों के साथ कहे गये हैं।

षष्ठ अधिकार—इसमें विष को दूर करने वाले अनेक प्रकार के अंजन उक्त हैं।

सप्तम अधिकार—इसमें विषको नष्ट करने वाले बहुत-से नस्य कहे गये हैं।

अष्टम अधिकार—इसमें विषको नाश करने वाले अनेक प्रकार के लेपों का वर्णन है।

नवम अधिकार इसमें पानादि सभी क्रियाओं के लिये औषध बतलाये गये हैं।

दशम अधिकार—इसमें मंडलजाति के सर्पों के भेद, दंशलक्षण तथा उसके परिहार उक्त हैं।

एकादश अधिकार—इसमें बिच्छू के भेद और उनके काटने पर किये जाने वाले पान, अंजन, नस्य और लेप आदि का वर्णन है।

द्वादश अधिकार—इसमें चूहों के भेद और उनके विषको दूर करने के लिये नस्य, पान, लेप और अंजन वगैरह वर्णित हैं।

त्रयोदश अधिकार—इसमें भालु, बाघ, हाथी, सूअर और गीदड़ आदि पशु; शिशुमार, तिमि और मकर (मगर) आदि जलचर; कबूतर आदि पक्षी; चींटी, चींटा, मक्खी, हड्डा और बर्र आदि क्षुद्र जन्तु एवं मनुष्य के दन्त-नख-क्षत आदि सम्पूर्ण जंगमविष का स्वरूप तथा तन्निवारक औषध और मन्त्र कहे गये हैं।

चतुर्दश अधिकार—इसमें सम्पूर्ण कृत्रिमविष का स्वरूप और उनको निर्मूल करने वाले उपाय बतलाये गये हैं।

पंचदश अधिकार—इसमें वाष्प के भेद, स्वरूप तथा परिहार उक्त हैं।

षोडश अधिकार—इसमें नागाकृष्टि, नागसहागमन, विषभक्षण का क्रम, शब्दनिर्विष-मन्त्रविधान, भूतनिर्विषविधान, सर्पोच्चाटन, विष के लिये कवलप्रयोग, वमनौषध, उपनाह (व्रण बांधने का विधान), विषज व्रण के लिये औषध, मूषकवृषभाद्युच्चाटन, वृश्चिकाद्युच्चाटन तैलिक औषध, विषव्रणहारक मलहम, व्याघ्रमुखस्तम्भनादि मन्त्रविधान, निर्विष के लिये मुद्रिकानिर्माणविधान और सर्वविष हरौषध आदि सभी संकीर्ण (फुटकर) विषय कहे गये हैं।

महत्त्वपूर्ण यह विषशास्त्र मद्रास विश्व-विद्यालय के कन्नड सीरिज़ में हाल ही में प्रकाशित हुआ है। इस बहुमूल्य कृति को प्रकाश में लाने वाला उक्त विश्व-विद्यालय धन्यवाद का पात्र है ही। साथ ही साथ इसके विद्वान् सम्पादक भी धन्यवाद के पात्र हैं। इसके लिये खासकर मित्रवर श्रीयुत पं० एच० शेष अय्यंगार विशेष प्रशंसा के पात्र हैं, जिनकी प्रबल प्रेरणा एवं अटूट परिश्रम से उक्त सीरिज़ में अबतक अमूल्य नव रत्न प्रकाश में आ सके जो कि प्राय: सभी जैन हैं। इस स्तुत्य कार्य के लिये जैन समाज श्रीयुत अय्यंगारजी का ऋणी रहेगा। आशा है कि अय्यंगारजी भविष्य में भी इसी प्रकार उत्तमोत्तम ग्रन्थ-रत्नों को प्रकाश में लाकर लोकहित एवं साहित्य-संसार को प्रसन्न करेंगे। अगर कोई प्रकाशनसंस्था इस ग्रन्थरत्न का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित कर देती तो हिन्दी-भाषा-भाषी जनता को भी लाभ होता। देखूँ, इस पुनीत कार्य के लिये कौन संस्था अपना कदम बढ़ाने का साहस करती है। बल्कि इससे संस्था को आर्थिक लाभ भी हो सकता है। क्योंकि यह एक लोकोपयोगी ग्रन्थ है।

तुलु देश में जैनधर्म*

[ले० श्रीयुत डा० बी० ए० सालेतोर एम० ए०, पी-एच० डी०]

हमें तुलु देश में जैनधर्म के आगमन के बारे में जानकारी प्राप्त करने के लिए हिन्दू और जैन परम्परागत गाथाओं, शिलालेखों और जैन ग्रन्थों का जो मूडबिद्रे और कारकल के जैन केन्द्रों के पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं—अध्ययन करना होगा। लेकिन उपर्युक्त अंतिम आधार अप्राप्य है, अतः हमें सिर्फ जैन और हिन्दू परम्परागत गाथाओं पर अवलंबित रहना पड़ेगा, जिनकी पुष्टि तुलु देश में प्राप्त जैन शिलालेखों से भी होती है।

हिन्दू पम्परागत गाथा में जैन मुनियों का उल्लेख मिलता है, जिन्होंने तुलु देश के एक हिस्से में जैनधर्म का प्रचार किया था। विष्णुपुराण में ऐसा प्रमाण मिलता है कि नाभि और मेरु के पुत्र ऋषभ ने बहुत ही योग्यता और बुद्धिमानी से शासन किया, और अपने शासन-काल में अनेक यज्ञ किये। अंत में वे अपना राजपाट अपने बड़े पुत्र भरत को सौंप कर एक संन्यासी की हैसियत से स्वयं पुलस्त्य ऋषि के आश्रम में निवास करने के निमित्त चले गये। उन्हीं भरत के नाम पर इस भूमि का नाम भारतवर्ष पड़ा है। ऋषभ ने कठिन तपस्या की। उनका शरीर सूख कर काँटा हो गया।

भागवतपुराण में इस बड़े प्रचारक ऋषभजी के परिभ्रमण का पूर्ण उल्लेख मिलता है। जिस प्रकार कुम्हार का चाक स्वयं चलता है, उसी प्रकार ऋषभजी का शरीर कोंक वेंकट, कुटक और दक्षिण कर्णाटक में गया। कुटक पहाड़ से सटे एक जंगल में उन्होंने अपने मुँह में कुछ चमकते कंकड के टुकड़े को रख लिया, और उसके बाद नंगे हो, एक उन्मत्त की भांति, बिखरे बालों को धूल-धूसरित करते हुए घूमने लगे। दुर्भाग्यवश उस जंगल में बाँसों की रगड़ से भयानक आग लग गयी, जिससे सारे जंगल के साथ उनका शरीर भी जल कर खाक हो गया। कोंक, वेंकट, और कुटक के राजा को ऋषभजी के इस आचरण की जब खबर मिली, तो उन्होंने अपना धर्म छोड़कर, अपनी समझ और पसंद के मुताबिक, एक झूठे धर्म का सृजन किया।(!)†

ऊपर जो कुटक का नाम आया है, उसे तुलु देश का कुटकग्राम समझना चाहिए। उपर्युक्त उल्लेखों से पता चलता है कि तुलु देश में जैनों के आगमन की तिथि ऋषभ के प्रारम्भिक काल कही जा सकती है। ऋषभ ही प्रथम तीर्थङ्कर हैं। उस वक्त जैनों का प्रचार-स्थान कुटकग्राम और हट्टंगडि के बीच कहीं पर था। आज भी हट्टंगडि जैनों का पवित्र क्षेत्र माना जाता है। यदि हम ऋषभ के परिभ्रमण की कथा की वास्तविकता पर

---

* विद्वान् लेखक के द्वारा लिखे गये महत्त्वपूर्ण इस प्रकरण की कई बातों पर मेरा मतभेद है। अतः यथावकाश इस विषय पर मैं एक स्वतंत्र लेख लिखूंगा। —के० भुजबली शास्त्री

† यह कथन सांप्रदायिक है। सं०

विश्वास करेंगे, तो हमें मानना पड़ेगा कि जैनधर्म की स्थापना सबसे पहले कुंदापुर के क्षेत्र में हुई, और उसके बाद तुलु देश के अन्य क्षेत्र में।*

लेकिन मूडबिद्रे और कारकल, जो तुलु देश में जैनधर्म के प्रसिद्ध स्थान समझे जाते हैं की परम्परागत कथाएँ उपर्युक्त कथाओं के बिल्कुल विपरीत मालूम होती हैं। मूडबिद्रे और कारकल में जो परम्परागत गाथाएँ हैं, उनसे पता चलता है कि तुलु देश में जैनधर्म की स्थापना ९ वीं शताब्दि (ईस्वी सन्) में हुई। प्रथम तो तुलु देश के जैन परसुराम को नहीं जानते।(!) दूसरे में, ब्राह्मणों की भाँति, यमदग्नि के द्वारा सप्त कंकण के सृजन की बात वे नहीं मानते हैं। बुचानन ने लिखा है कि वे जैनधर्म का इतिहास जिनदत्तराय के वक्त से मानते हैं, जिनका जन्म, उनके कथनानुसार, यमुना के नजदीक उत्तर मथुरा में हुआ था। इससे मालूम होता है कि जैनों का आगमन इस जिले में बहुत पीछे हुआ।

दूसरी बात, तुलु देश के जैन स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि तुलु देश के ब्राह्मण उनसे पहले वहाँ निवास करते थे।† बुचानन ने जैनों के द्वारा इस बात का पता लगाया है कि तुलु देश के ब्राह्मणों का, जो वेद के अनुयायी थे, मयूर वर्मा नामक एक जैन राजकुमार ने उल्लेख किया है। वे एक हजार वर्ष पूर्व बारकूर में निवास करते थे। लेकिन तुलु देश के इस शासक के बारे में जैनों के पास कोई लिखित उल्लेख नहीं है। इसलिए ऐसा पता चलता है कि जैन तुलु देश में उस समय आये, जब मयूर वर्मा का नाम व निशाँ धूमिल पड़ गया था।

तीसरी बात, मूडबिद्रे की सबसे पुरानी बस्ति का नाम गुरुगल्ल बस्ति है। मूडबिद्रे के जैन इस बस्ति को एक हजार वर्ष पुराना मानते हैं। उनका मत है कि उनके प्राचीन नेताओं का आगमन ९ वीं शताब्दि में या कुछ दिन आगे-पीछे हुआ था।† इसके अलावा वे इस बात को भी मानते हैं कि उसी नगर में गौरी का मंदिर गुरुगल्ल बस्ति से पुराना है। एतदर्थ यह निर्विवाद है कि जैनों के आगमन के पूर्व उस नगर में हिन्दू-धर्म का अस्तित्व कायम था।

चौथी बात, उपर्युक्त नगर में एक महल्ला है, जिसका नाम हल्लवरवर्ग है। मूडबिद्रे के जैन इस बात को मानते हैं कि उक्त नगर में जैनों की यह सबसे पुरानी बस्ति थी। जैन उस बस्ति में एक व्यापारी की हैसियत से आये। उन्होंने वहाँ जैन-धर्म का प्रचार करना शुरू किया। उन्हें अपने कार्य में पूरी सफलता मिली। यहाँ तक कि उन्होंने मूडबिद्रे के राजा को, जो हिन्दू-धर्म का अनुयायी था, जैनधर्म का पक्का अनुयायी बनाया। यह

* यह तर्क जैन मान्यता से मेल नहीं खाता है। सं०

† इसके लिये लिखित उल्लेख अपेक्षणीय है। सं०

घटना उस समय घटी जब आलुपों ने मूडबिद्रे को अपनी प्रांतीय राजधानियों में एक राजधानी कायम की। उपर्युक्त बातों की पुष्टि शिलालेखों से भी हो जाती है।

पाँचवीं बात, मूडबिद्रे ब्राह्मणों का प्राचीन केंद्र था। जैनों की परम्परागत गाथाओं और शिलालेखों से इस बात की पूरी पुष्टि होती है।† मूडबिद्रे के चौटर पहले हिन्दू थे। पीछे वे जैन हो गये। उन्होंने अपना केन्द्र छोड़कर पुत्तिगे में निवास करना शुरू किया। उनके कुलदेवता उल्लाला के सोमनाथ देव थे। बुचानन का कथन है कि उनके समय में मूडबिद्रे में ६ गद्दी या मंदिर ब्राह्मणों के हाथ में थे। वे पुराणपंथी थे। वहाँ दो वर्ग के ब्राह्मणों के सात सौ घर थे।

छठीं बात, जब बुचानन ने मूडबिद्रे के जैनों से मुलाकात की, तो उन्हें पता चला कि उन्हें अपने सहधर्मियों के उत्तर भारतवर्ष या श्रवणबेलगोल से देशांतरवास का जरा भी ज्ञान नहीं था। बुचानन के कथनानुसार जैनों का कथन है कि उनका पहले सारे भारतखंड पर विस्तार हुआ। उनका कथन है कि जितने लोग क्षत्री वंशज होने का अभिमान रखते थे, वे सब उनकी जाति के थे। यह स्पष्ट है कि रामानुजाचार्य के समय तक दक्षिण भारत के बहुत से शक्तिशाली राजकुमार जैनों के अनुयायी हो गये थे। जैनों का कथन है कि पहले अरब में उनकी बहुत संख्या थी। लेकिन, २५०० वर्ष पहले मक्का में राजा पार्श्व भट्टारक की आज्ञा से उपद्रव शुरू हुआ। इस कारण वहाँ से बहुत जैनी भागकर इस देश में चले आये। वे पार्श्व भट्टारक को मुसलमानीधर्म का संस्थापक मानते हैं। जब वे यहाँ आये, उनमें अरबी होने के कोई चिन्ह नहीं थे; बल्कि उनमें हिन्दू के सभी लक्षण मौजूद थे। यदि जैन, कुछ लोगों के कथनानुसार, सचमुच तुलु देश में भद्रबाहु के समय में आये होते, तो उन्हें अपने आगमन की बात अवश्य याद रहती।*

इसके अतिरिक्त कारकल के धर्माध्यक्ष के अधिकार का इतिहास बतलाता है कि तुलु देश में जैनधर्म का आगमन पीछे हुआ। बुचानन को कारकल के पुजारियों के द्वारा मालूम हुआ है कि जिनदत्त का प्रथम पुत्र प्रथम बैरसु ओडेय था और उसके वंशज इसी नाम से मशहूर हुए। यद्यपि इसमें ऐतिहासिक सत्यता नहीं है, फिर भी जहाँ तक कारकल का संबंध है, तुलु देश में जैनों का आगमन जिनदत्त के समय में हुआ था। इससे साबित होता है कि तुलु देश में जैन-धर्म की स्थापना ८ वीं शताब्दि (ए.डी.) के बाद शीघ्र ही हुई।

मूडबिद्रे में चारुकीर्ति पंडितदेव की परम्परागत गाथा तथा शिलालेख से पता चलता है कि तुलु देश में जैनधर्म की कुछ उन्नति १२ वीं शताब्दि (ए. डी.) में हुई। बहुत पीछे जैनों ने वारंग और उसके पड़ोसी-स्थानों में अपना निवास स्थान बनाया। शाका

† इसके लिये लिखित उल्लेख अपेक्षणीय है। सं०

* मान्य लेखक का यह तर्क ठीक नहीं जंचता। सं०

१०८३ (ए. डी. ११६१-२) में राजकुमार कुमारराय ने एक मंदिर बनाने में सहायता दी थी। कुमारराय का पता नहीं चलता कि वे कौन थे। पर उनकी सहायता का पता शिलालेख से मिलता है। वह शिलालेख केरेवासे में मिला था। उससे पता चलता है कि केरेवासे १२ वीं शताब्दि (ए डी.) के मध्य में जैनधर्म का केन्द्र बन गया था। शिलालेखों से पता चलता है कि १३ वीं शताब्दि (ए.डी.) के प्रारम्भ में आलुप राजाओं ने जैनधर्म को सहायता पहुँचायी थी। लिखित प्रमाणों से पता चलता है कि मूडबिद्रे में कुलशेखर आलुपेन्द्रदेव प्रथम के द्वारा जैनधर्म को राजकीय सहायता प्राप्त थी। उन्होंने जैन गुरुओं का मलधारिदेव, माधवचंद्र और प्रभाचंद्र के नाम से नामकरण किया था।

नल्लूर में जो शिलालेख प्राप्त हुआ है, उससे पता चलता है कि आलुप राजा (दूसरा) ने भी जैनधर्म को सहायता दी थी। शाका १२१८ (ए.डी. १२९६) में नल्लूर की एक जैन बस्ति के लिए किसी ने भूमिदान किया था। मूडबिद्रे की अम्मनवरु नामक बस्ति में एक शिलालेख प्राप्त हुआ है। वह आलुप राजा कुलशेखर आलुपेन्द्रदेव, तीसरा, (ए.डी. १३८४) के समय का है। उससे पता चलता है कि उपर्युक्त आलुप राजा का झुकाव जैनधर्म की ओर पूर्ण रूप से था। वह रत्नसिंहासन पर बैठता था। पार्श्वनाथदेव का पूरा उल्लेख मिलता है।

उपर्युक्त घटना उस समय की है, जब जैनधर्म का नल्लूर, केरेवासे, वारंग और मूडबिद्रे में पूर्ण रूप से जम चुका था और बारकूर में उसका पदार्पण हो रहा था, × शाका १३३१ (ए.डी. १४०८) के लिखे कोडगु कागजात से पता चलता है कि सांतर राजा वीरभैरव और उसके पुत्र पाराड्यभूपाल ने पार्श्वनाथ की मूर्ति के लिए भूमिदान किया था, और बारकूर ग्राम में मुनियों को आहार कराया था। यहाँ एक बात और लिख देना उपयुक्त होगा कि बारकूर की जैन बस्ति में प्राप्त एक शिलालेख से पता चलता है कि चारुकीर्ति पंडितदेव ने बारकूर में आदि परमेश्वर की सेवा के लिये भूमिदान किया था। यह शाका १४२१ (ए.डी. १४९९—१५००) की बात है। *

* बी० ए० सालेतोर की 'Ancient Karnataka' ((Vol I, History of Tuluva) नामक अङ्गरेजी पुस्तक के 'Jainism' शीर्षक प्रकरण का स्वतन्त्रानुवाद।

—अनुवादक बनारसीप्रसाद भोजपुरी, साहित्यरत्न, रत्ननिधि

× श्रीयुत ए० गणपतिराव के कथनानुसार सन् ७८ में ही यहाँ पर जैनधर्म मौजूद था। सं०

जैन कविताओं में ऐतिहासिक प्रसंग

[ले० श्रीयुत कालीपद मित्र, एम. ए.]

इस लेख में मैं मेसर्स अगरचन्द नाहटा तथा भँवरलाल नाहटा (मुद्रित वि० सं० १९९४) द्वारा संग्रहीत 'ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह' में आये हुए व्यक्तियों के आकस्मिक प्रसंगों का वर्णन करूँगा। यह अपभ्रंश, राजस्थानी तथा हिन्दी में रचे गये हैं।

सम्पादकों का कथन है कि इनमें लगभग सभी खरतरगच्छ सम्प्रदाय से सम्बंधित हैं जो बीकानेर में फैला था और वे विजयसिंहसूरि, विजयप्रकाशरास तथा एक अन्य कविता के अतिरिक्त तपागच्छ सम्प्रदाय से सम्बंधित कविताओं का संग्रह करने में असफल रहे हैं।

कविताएँ यशगान हैं और उनका मुख्य ध्येय जैन शासन की प्रभावना है। ऐतिहासिक घटनाओं तथा व्यक्तियों का वर्णन आकस्मिक वर्णन है। इनमें जैन मुनियों का राजा महाराजा द्वारा सम्मानित होने का वर्णन है। कुछ के विषय में कहा गया है कि उन्होंने केवल अपनी पवित्रता तथा तप द्वारा ही नहीं वरन् चमत्कारों के प्रदर्शन द्वारा भी इन राजाओं पर अपना प्रभाव स्थापित किया है। इन कविताओं में ऐतिहासिक सत्य गर्भित है, यद्यपि ये प्रामाणिक नहीं कही जा सकतीं। वैज्ञानिक निरीक्षण तथा समकालीन प्रमाणों से तुलना के पश्चात् ही यह घटनाएँ विश्वास योग्य समझी जा सकती हैं।

जिनप्रभसूरि के गुणगानों में कथन है कि दिल्ली के सुल्तान मुहम्मद ने भी उनकी प्रशंसा की थी :—

> राउ महंमद साह जिण, निय गुण रंजियउ।
>
> मेद मंडल ढिल्लिय पुरि, जिण धरमु प्रकट किउ।
>
> तसु गछ धुरधरणु भयलि, जिणदेव सूरि राऊ। श्रीजिणप्रभसूरिगीतम्।

पौष मास के शुक्ल पक्ष की अष्टमी, शनिवार वि० सं० १३८५ (१३२८ ई०) को वह मुहम्मद शाह आसापति दिल्ली की सभा में पधारे। सुल्तान ने उनका सम्मान किया, अपने निकट स्थान दिया और धन, पृथ्वी, अश्व, गज आदि उनको भेंट किए। उन्होंने इसे स्वीकार न किया क्योंकि यह चारित्र-नियमों के विपरीत थे। परन्तु सुल्तान का सम्मान करने के लिए उन्होंने कुछ वस्त्र स्वीकार किए। सुल्तान ने उनके गुणगान के पश्चात् शाही मुहर से एक नवीन बस्ती (उपाश्रय—साधुओं का विश्रामगृह) के निर्माण कराने का आज्ञापत्र निकाला। उनके सम्मान में एक उत्सव हुआ और जुलूस नवयुवतियों के नृत्य तथा वाद्यगान सहित पोषधशाला को चला। वह सामंतों से घिरे हुए सुल्तान के हाथी पर आरूढ़ थे।

(गाथा २—९, जिनप्रभसूरिगीतम्)

तेर पंचासियइ पोस सुदि आठम सणिहवारे।
भेटिउ असपते 'महमंदो' सुगुरु ढोलिय नयरे ॥२॥
श्रीमुख सलहिउ पातसाह विविहपरि मुणिसीहो ॥५॥
देइ फुरमाणु अनुकारवाई, नव वसित राय सुजाणु ॥७॥

जिनप्रभसूरि के पट्टधर जिनदेवसूरि भी मुहम्मद शाह द्वारा सम्मानित हुए थे। मुहम्मद शाह ने उनकी वाणी से प्रभावित होकर कन्नानपुर की अथवा वहाँ से आई हुई वीर जिन की प्रतिमा की स्थापना दिल्ली में एक पावस-अवसर पर एक पवित्र दिवस को की थी।

वंदहु भविपदो सुगुरु जिणदेवसुरि ढिल्लिय वरनयरि देसणउ
जेह कन्नाणपुर मंडणु सामिउ वीर जिणु।
महमदराय समप्पिउ थापिउ सुभ लगनि सुभ दिवसि ॥२॥

—श्रीजिणदेवसूरिगीतम्।

एक अन्य गीत में जिनप्रभसूरि के असपति कुतुबुद्दीन द्वारा सम्मान का कथन है जिसने उनको कृष्ण पक्ष के चतुर्थ तथा अष्टम वार को आमंत्रित किया था।

आठहि आठमिहि चउथी, तेडावइ सुरताणु प।
पुह सितमुख जिणप्रभसूरि चलियउ जिमि ससि इंदु विमाणिए ॥
'असपति कुतुवदीनु' मनि रंजिउ दीठेल जिणप्रभसूरीए।

जिनचन्द्रसूरि (जिनप्रबोधसूरि के पट्टधर) ने सुल्तान कुतुबुद्दीन को भी प्रसन्न किया।

कुतुवदीन सुरतान राउ, रंजिउ समनोहरु।
जामि पयडउ जिणचन्द सूरि, सूरिहं सिर सेहरु ॥६॥

—श्रीजिनकुशलसूरिपट्टाभिषेकरास।

अब हमें देखना है कि यह सुल्तान कौन है? जिनप्रभसूरि सुल्तान से १३२८ ई० में मिले थे। मुहम्मद बिन तुगलक १३२५ ई० में सिंहासनारूढ़ हुए और १३५१ ई० को स्वर्ग सिधारे। अतः मुहम्मद शाह मुहम्मद तुगलक ही होंगे।

मुहम्मद शाह एक परिवर्त्तनशील गुणी पुरुष था और अनेक विज्ञानों का ज्ञाता था। ज़ियाउद्दीन बर्नी और इब्न बतूता ने उसका एक भयानक चरित्र चित्रण किया है। परन्तु दोनों ही उनकी महान् विद्वत्ता, तर्कशास्त्र पर आधिपत्य एवं अरस्तू सदृश महान् दर्शनशास्त्रज्ञ होना एक मत से स्वीकार करते हैं। उसका स्वतंत्र विचारक, तार्किक, सभ्य, तथा विद्वानों का एक परम मित्र होना तो निर्विवाद है। जियाउद्दीन शोक प्रकट करते हुए कहता है "दर्शनशास्त्र के नियमों का जो कि हृदय को निष्ठुर और निर्मोह बना देते हैं उस पर गहरा प्रभाव पड़ा था।...... ......मुसल्मानों को दण्ड देना और सत्य धर्मानुयायियों को सज़ा देना

उसकी प्रकृति तथा व्यसन बन गए थे"[1] इसके विरुद्ध ब्राउन का मत है कि "उसकी समस्त मुद्राओं से उसकी रूढ़िवादिता प्रकट होती है। कल्पना ही नहीं वरन् सुल्तान की ग़ाज़ी की उपाधि धारण करना भी यही सिद्धि करता है[2]"

ऐसा प्रकट होता है कि वह रूढ़िवादी नहीं था वरन् एक प्राचीन प्रथा का पालन कर रहा था क्योंकि वह शेख निज़ामुद्दीन औलिया का जो कि 'समा' (हृदय-ग्राही नृत्य तथा वाद्य-गान) में ही सदा तल्लीन रहता था और एक प्रशंसक था, यद्यपि यह रूढ़िवादी के सिद्धांत के प्रतिकूल है। उसने नागरी लिपि में एक उपदेश अपनी प्रिय मुद्राओं पर अंकित कराया था तथा वह उत्सवों के अवसर पर संस्कृत के उपयोग से सहमत था। वह धार्मिक तत्त्ववेत्ताओं के वादविवाद में बड़ा रस लेता था। इस कार्य्य में वह अकबर के समान था जो फतहपुर सीकरी के इबादत खाने में इस प्रकार के विवादों को सुनता था। अतः यह किसी प्रकार आश्चर्यजनक नहीं कि उसने विद्वान् तथा संत जिनप्रभसूरि तथा उनके पट्टधर जिनदेवसूरि का सम्मान किया हो। ऐसा कथन है कि उसने दक्षिण भारत के एक महान् जैन तार्किक का सम्मान किया था जिसने सुल्तान की राजसभा में बौद्ध विद्वानों तथा अन्य धर्मानुयायी पण्डितों को वादविवाद में परास्त कर प्रसिद्धि प्राप्त की थी। यह घटना १३२६ ई० से १३३७ ई० के मध्य हुई प्रतीत होती है।

[3]मुनीन्द्र वर्द्धमान के एक संस्कृत महाकाव्य 'दशभक्त्यादिमहाशास्त्र, में निम्नांकित पद्य मिलते हैं।

> विद्यानन्दस्वामिनः सूनुवर्यः संजातः स सिंहकीर्तिव्रतीन्द्रः।
> ख्यातः श्रीमान् पूर्णचारित्रगात्रो दानस्वर्भूधेनुमन्दारदेशः॥
> वाभात्यश्वपतेर्दिनेशतनयो गङ्गाख्यदेशावृतः
> श्रीमद्दिल्लिपुरे महम्मदसुरित्राणस्य माराकृतेः।
> निर्जित्याशु सभावनौ जिनगुरुर्बौद्धादि × × × व्रजम्
> श्रीभट्टारकसिंहकीर्त्तिमुनिराड् नाम्ना कविद्यागुरुः॥

नगरतालुक (मैसूर) के पद्मावती बस्ति के हुंबुच के शिलालेख में एक इसी के समान लेख मिलता है। "वाभाति अश्वपतेर्दिनेततनयो बङ्गाख्यदेशावृत श्रीमत्दिल्लिपुरे······मुदसुरित्राणस्य माराकृतेः निर्जित्याशु सभावनं जिनगुरुबौद्धादिवादिव्रजं श्रीभट्टारकसिंहकीर्त्तिमुनिरा···द्यै कविदामगुरुः॥"

१ सर एच एलियट, 'हिस्ट्री ऑव इण्डिया तृतीय खंड पृ० २३६

२ सी० जे ब्राउन, 'दी क्वाइन्स ऑव इण्डिया, पृष्ठ ७३, ७४

३ Ms. No 253/kha, जैन-सिद्धान्त-भवन [जैन-सिद्धान्त-भास्कर]

स्पष्टतया 'मुद' मुहम्मद शब्द का एक भाग है (अथवा महम्मद जो कि मूल से प्रायः महमूद पढ़ा जाता है) जो कि मिट गया है अथवा स्पष्ट नहीं है। राइस इसका मधुर (मुदा < मुदु < मृदु) अर्थ लगाते हैं और महमूद जोड़ देते हैं। डाक्टर सालेतोर इसे 'तत् न भूषनाख्यदेववृत' पढ़ते हैं और इस पर आश्चर्य प्रकट करते हैं कि राइस साहब ने 'बङ्गाल्य-देशावृत' पढ़ा।[1]

दशभक्त्यादि-महाशास्त्र[2] ने मोहम्मद (मुद नहीं) सुरित्राण और गंगाढ्य-देश का वर्णन करके यह शंकाएँ निर्मूल कर दी हैं। और राइस साहब के मत को बड़ी सहायता दी है।

[3]डाक्टर सालेतोर ने 'दश०' के रचियता वर्द्धमान की तिथि १३७८ अनुमान की है।[4] (गुरुपरम्परा में अंत से विशालकीर्त्ति से गणना की गई है जिनकी तिथि १४६८ ई० है। मेरुनन्दि-वर्द्धमान-प्रभाचन्द्र-अमरकीर्त्ति-विशालकीर्त्ति इत्यादि प्रत्येक का समय ३० वर्ष निर्धारित किया है) जिसका समर्थन श्रवणबेल्गोल के १३७२ ई० के एक रेकार्ड (record) से होता दीख पड़ता है। परन्तु 'दश०' में एक श्लोक मिलता है कि वर्द्धमानने इसकी रचना ('शके वेदखराब्धिचन्द्रकलिते सम्वत्सरे श्रीप्लवे सिंहश्रावणिके प्रभाकरशिवे कृष्णाष्टमीवासरे रोहिण्याम्' इत्यादि) शक सं० १४६३ (अथवा १४६४ यदि वेद ४ हों,[5] ३ न हों) = १५४१ ई० में की। वास्तविक तिथि, तिथि सम्बन्धी अन्य बातों से निर्धारित की जा सकती है। वास्तविक तिथि कोई भी हो, रचियता ने 'दश०' में नगर तालुक के शिलालेख के अनेक अंश उद्धृत किए हैं। चूंकि वह हमारी अपेक्षा शिलालेख की निर्माण-तिथि के अधिक निकट था, इसलिए यह अनुमान करना उचित ही होगा कि लेखक ने इस शिलालेख को उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में बीसवीं शताब्दि की अपेक्षा अति उत्तम दशा में पाया होगा। अतः मेरे विचार से शिलालेख के प्रति उनका मत ही मान्य होना चाहिए।

जिनप्रभसूरि अद्वितीय ज्ञानी, कवि, विद्वान् व एक गण्य मान्य जैनाचार्य थे। मुनि जिनविजयजी स्वसम्पादित जिनप्रभसूरि के 'विविधतीर्थकल्प' में कहते हैं कि आचार्य का सुल्तान मुहम्मद शाह के दरबार में बहुत मान था इतना अधिक कि जितना हीरविजयसूरि का अकबर की राजसभा में था। और सम्भवतः वही सर्व प्रथम जैनाचार्य थे जिन्होंने मुसल्मान बादशाह के दरबार में जैनधर्म की कीर्त्ति पताका फहराई थी।[6]

१ Karnatak Historical Review, IV. pp. 77-86.

२ इसके विशेष परिचय के लिये मेरे द्वारा संपादित 'प्रशस्तिसंग्रह' देखें।—के० भुजबली शास्त्री

३ Mediaeval Jainism pp. 370-71.

४ ,, p. 300.

५ 'वेद' का ४ ही लेना समुचित है।—के० भुजबली शास्त्री।

६ सिंघीजैनग्रन्थमाला—विश्वभारती, शान्तिनिकेतन।

आंतरिक प्रमाणों द्वारा उनकी तिथि निर्धारित की जा सकती है। इस पुस्तक में संकलित कविताओं में सर्वप्रथम रचित कविता की तिथि "वैभवगिरिकल्प' के अन्तिम चरण में दी है। इसकी प्रथम पंक्ति इस प्रकार है 'वर्षे सिद्धा सरस्वद्रससिखिकुमिते विक्रमे'। इसमें हमें वि० सं० १३६४ (१३०७ ई०) की तिथि मिलती है। इस कविता का अंत इस पंक्ति से स्पष्ट है 'नन्दानेकपशाक्तिसीतागुमते श्रोविक्रमोर्वीपते'। इससे हमें वि० सं० १३८९ (१३३२) मिलती है। इस रचना के अन्य अंशों से आभास मिलता है कि यह वि० सं० १३६४ से पूर्व और १३८९ के पश्चात् रचे गए हैं।

इस रचना में हमारे वर्त्तमान विषय से सम्बंधित श्रीजिनप्रभसूरि के कार्य्यों का वर्णन है। प्राकृत रचना 'कन्यानयनीयमहावीरप्रतिमाकल्प' में श्री महावीर की मूर्त्ति की स्थापना की घटना का वर्णन इस प्रकार है :—

वि० सं० १२२३ (११७६ ई०) में कोल देश के कन्नानगर में यह मूर्त्ति विराजमान थी। वि० सं० १२४८ (११९१ ई०) में जब चौहान वंश का नेता पृथ्वीराज शहाबुद्दीन* द्वारा मारा गया, तब श्रेष्ठी रामदेव ने श्रावकों को एक पत्र लिखा कि तुर्कों का शासन आरम्भ हो गया है। महावीरजी की प्रतिमा को छुपाए रखिए। यह वि० सं० १३११ तक रेत में छुपाए रक्खी गई। इस वर्ष एक बड़ा भयानक दुर्भिक्ष फैला। अतः एक योजक नाम का बढ़ई कन्नानगर को छोड़कर अधिक उपजाऊ प्रांत की खोज में कयम्बसत्थल (?) में आया। उसे एक स्वप्न में प्रतिमा के सम्बन्ध में चेतावनी मिली। फलतः उसने प्रतिमा खोज निकाली और उसे चैत्यालय में स्थापित कराया और पूजन करवाई। तुर्कों द्वारा अनेक उत्पात हुए। एक दिन प्रतिमा से प्रक्षाल के समय पसेव निकला और पोंछने पर भी फिर पसेव निकला। यह एक अशुभ चिन्ह था। दूसरे ही दिन जाट राजपूतों का आक्रमण हुआ। वि० सं० १३८५ को आसीनगर का सिकंदर आया और उसने साधुओं व श्रावकों को पकड़वा लिया, श्रीपार्श्वनाथजी की पाषाण-मूर्त्ति को तोड़ डाला। परन्तु श्रीमहावीर की प्रतिमा को सुरक्षित और अखंडित अवस्था में ही एक गाड़ी में रखकर दिल्ली पहुँचाई और सुल्तान की आज्ञा तक तुगलकाबाद के सुल्तान के कोषागार में रक्खी गई। इसी बीच में श्री महम्मद सुरत्तान देवगिरि से जोगनीपुर आगया। एक समय खरतरगच्छ समुदाय के गौरवश्री जिनप्रभसूरि विहार करते हुये देहली आए। ज्योतिषी धाराधर के द्वारा उनके महान् पाण्डित्य का हाल सुन कर सुल्तानने उसको श्रीमुनि के निकट भेजा जो मुनि को पौष शुक्ला द्वितीया को बुला लाया। श्रीसूरि महाराजाधिराज से मिले। उन्होंने इन्हें अपने निकट आसन दिया। उनसे कुशलक्षेम पूछी और अर्द्ध

*मुहम्मद गोरी।

रात्रि तक वार्तालाप चलता रहा। उन्होंने वहाँ रात्रि व्यतीत की। प्रातः फिर निमंत्रण आया। सुल्तान उनके कवित्वचातुर्य्य से अति प्रसन्न हुआ और एक सहस्र गौ, धन, मुख्य वाटिका, सौ कम्बल, वस्त्र और इत्र जैसे अगर, चन्दन, कपूर इत्यादि भेंट कीं। श्रीगुरु ने सादर अस्वीकृति प्रकट की और कहा कि यह वस्तुएँ साधुओं के ग्रहण योग्य नहीं हैं (साधूनमेयम-न कप्पए सम्बोधिऊन महारायम पतिसिद्धम सव्व वत्थू) परन्तु सुल्तान के अधिक आग्रह पर उनका आदर व सम्मान करने के लिए श्रीगुरु ने कुछ कम्बल तथा वस्त्र स्वीकार किए। सुल्तान ने दूरदेशों से पधारे हुए विद्वानों के साथ इनका वादविवाद कराया (नानादेशान्तराय पण्डियेहिं सह वायगोट्ठिमकारविहा) और इतना प्रसन्न हुआ कि इन्हें और आचार्य जिनदेव को हाथी पर बैठाकर नृत्य-वाद्य-गान सहित पोषधशाला पहुँचाया। तब बादशाह ने एक फ़रमान (आज्ञापत्र) दिया जिसमें समस्त श्वेताम्बर सम्प्रदाय की रक्षा की आज्ञा थी। इसके पश्चात् सुल्तान ने शत्रुञ्जय, गिरनार, फलवड़ी इत्यादि तीर्थों की रक्षा का आज्ञापत्र निकाला। एक अन्य अवसर पर श्रीसूरि वर्षा में ही राजभवन में पहुँचे। उनके पैर सन रहे थे। सुल्तान ने मलिक काफूर से एक मूल्यवान वस्त्र लेकर उनके पैर पोंछे। श्रीसूरिने कविताओं से उन्हें प्रसन्न कर दिया। कविताएँ इतनी उत्तम थीं कि बादशाह चकित हो गया। इस अवसर पर उन्होंने श्रीमहावीरजी की प्रतिमा माँगी जो तुग़लक़ाबाद के कोषागार से मँगाकर मलिकों की उपस्थित में एक सार्वजनिक सभा में उन्हें भेंट की गई। तब यह संघ द्वारा मलिक ताजदीन की सराय में विराजमान की गईं। तब जिनदेवसूरि को अपने स्थान पर छोड़कर स्वयं महाराष्ट्र गए और वहाँ से देवगिरि पहुंचे। इसके पश्चात् श्रीजिनदेवसूरि दिल्ली में सुल्तान से मिले। सुल्तान बड़े आदर से मिले और एक सराय भेंट की जिसका स्वयं ही सुरत्तान सराय नाम रक्खा। वहाँ श्रीसूरिने (कलिकालचक्रवत्ति) एक पोषधशाला और एक चैत्यालय निर्माण कराया जहाँ श्रीमहावीर की प्रतिमा विराजमान कीं।

'कन्यानमहावीर-कल्पपरिशेष' में श्रीसूरि के बारे में अधिक वर्णन मिलता है। श्रीसूरि ने मुहम्मद तुग़लक़ से एक फ़रमान (आज्ञापत्र) प्राप्त किया। इसमें तुर्कों से पेथड़, सहज और अचल के चैत्यालयों की रक्षा की आज्ञा थी। कहा जाता है कि वादविवाद में उन्होंने अपने समस्त प्रतिद्वन्दियों का मान मर्दन किया था। एक अवसर पर शास्त्रार्थ के समय पंडितों की सभा में मुहम्मद तुग़लक़ ने कुछ शंकाएँ कीं और सूरि की विद्वत्ता को स्मरण करके कहा कि यदि वह यहाँ पर होते तो मेरी शंकाओं को बड़ी सरलता से निर्मूल कर दिये होते। निश्चय ही बृहस्पति उनकी बुद्धिमत्ता के आगे हार मान कर पृथ्वी छोड़कर आकाश में चला गया है। उसी समय तजब मलिक दौलताबाद से आया था उसने कारनिश (मुसलमान प्रथा के अनुसार राजाओं की सलाम) कर के कहा कि महात्मा

जी वहाँ हैं परन्तु चूँकि वहाँ का जल उनके अनुकूल सिद्ध नहीं हुआ, वह अत्यन्त क्षीण हो रहे हैं। बादशाहने मीर को आज्ञा दी 'ऐ मलिक! दुबीर खाँ के पास जाओ और एक आज्ञापत्र लिखाकर दौलताबाद भेज दो।" यह आज्ञापत्र दीवान दौलताबाद के पास पहुंचा। कुतल खाँ, नगर के नायकने यह समाचार सम्मान पूर्वक श्रीसूरि को सुनाया कि महाराज आप के दर्शन करना चाहते हैं। सूरि चलकर अल्लवपुर—दुर्ग पहुंचे फिर सिरोह और अन्त में सुल्तान से मिले। सुल्तान ने उनकी कुशल-क्षेम अत्यन्त नम्र शब्दों में पूछी और सस्नेह करचुम्बन किया (चुम्बियों सरिनिश्रम गुरुनम करो) और आदर पूर्वक हृदय से लगाया। श्रीसूरिने उन्हें आशीर्वाद दिया और सुरत्तान सराय पोषधशाला पहुँचे। सुल्तान ने मुख्य हिन्दू राजाओं व बड़े-बड़े मलिकों को उनके साथ जाने की आज्ञा दी।

दूसरी बार फाल्गुन में बादशाह अपनी माता मखदूम-ए-जहाँ की जा दौलताबाद से आ रही थीं अगवानी के लिए गया और बदाथून में मिला। श्रीसूरि उनके साथ थे। बादशाह ने अपने महल के निकट ही एक भवन दिया जिसका नाम स्वयं ही भट्टराय-सराय रक्खा। तब वि० सं० १३८९ (तेरसयन नवासिय वरिसे) अथवा १३३२ ई० में आषाढ़ कृष्ण सप्तमी को श्रीसूरि बड़ी धूमधाम और गाजे-बाजे के सहित पोषधशाला में पधारे। एक अन्य सुअवसर पर सुल्तान ने पूर्वीय देशों की विजययात्रा के लिए प्रस्थान किया (पुव्वदिश-जयजहापत्थिएण) और श्रीसूरि उनके साथ थे। श्रीसूरि ने मथुरा तीर्थ का उद्धार किया। इस विचार से कि डेरों का जीवन श्रीसूरि को अति कष्टप्रद होगा, सुल्तानने इन्हें खोजे जहाँ मलिक के साथ आगरे से दिल्ली भेज दिया। बादशाह से हस्थिनापुर जाने का आज्ञापत्र लेकर श्रीसूरि अपने स्थान को लौटे। फरमान के कारण दिगम्बर एवं श्वेताम्बर विना रोक-टोक चारों ओर जाने लगे।

इन घटनाओं का सुन्दर तथा सविस्तार वर्णन प्रत्येक को यह विचारने के लिए बाध्य करता है कि यह घटनाएँ सर्वथा काल्पनिक नहीं हैं। सुल्तान को कारनिश तथा श्रीसूरिका हस्त-चुम्बन की रीतियाँ मुसल्मान राजसभा के नियमों को स्पष्ट प्रकट करती हैं।

आइए, अब हम 'विविधतीर्थकल्प' में वर्णित व्यक्तियों की प्रमाणिकता की परीक्षा कर लें। कहा गया है कि सुल्तान समस्त सैनिक साज बाज सहित दौलताबाद से आती हुई अपनी माता मखदूमए जहाँ की अगवानी को बदाथून (बदायून) गया था।

'तारीखेमुबारिकशाह' के लेखक के अनुसार पहिली देवगिरयात्रा हिजरी सन् ७२७ (१३२६-१३२७ ई०) में हुई जब सुल्तान अपनी माता 'मखदूमए जहाँ,' अमीर, मलिक व अन्य प्रतिष्ठित सज्जन, हाथी, घोड़े व राज-कोष[१] सहित गया था। यह प्रकट होता है कि

१ History of Qararunahs Turks in India, Dr T. Prasad p. 84.

वि० सं० १३८५ (१३२८ ई०) में देवगिरि से सुल्तान दिल्ली लौटे। (जो कि समकालीन इतिहास के अनुकूल ही है।) जब कि उनकी माता पीछे ही रह गई। श्रीसूरि की देवगिरि-यात्रा के लिए उनका वहाँ का निवास तथा दिल्ली को वापिसी के लिए समय देने के पश्चात् उनकी माता की वापिसी की घटना सन् १३३१ ई० में हुई प्रकट होती है जिसके पश्चात् ही वि० सं० १३८९ (१३३२ ई०) में श्रीसूरि ने पोषधशाला में जो उन्हें सुल्तानने अर्पण किया था, पदार्पण किया। जब सुल्तान विद्रोही शाह अफ़ग़ान को वश में करने के लिए जा रहे थे और अभी कुछ दूर ही पहुंचे थे कि उन्हें यह सूचना मिली कि अब उनकी पूज्य माता मखदूम-ए-जहाँ' की दिल्ली में मृत्यु हो गई है। वह एक अत्यन्त चतुर और बुद्धिमती महिला थीं सुल्तान को घोर दुःख हुआ। उन्होंने अपनी माता (जो कि अपनी समस्त आयु राज-माता का सम्मान भोगती रही थीं) के प्रति उचित तथा हार्दिक सम्मान प्रकट किया।

ऐसा कथन है कि सुल्तान पूर्व-विजय को गया। बग़ावतें उठीं। १३३५ ई० में जब मारवाड़ के जलालुद्दीन आसफ़शाह ने विद्रोह किया सुल्तान स्वयं ही उसको दंड देने गया। १३३७ में बङ्गाल में विद्रोह हुए। सम्भवतः इन्हीं में से किसी का उक्त रचनामें उल्लेख है। कुतल खाँ क़ुतलग़ खाँ (सुल्तान के शिक्षक कियाम अल्दीन की उपाधि) था। उसे एक अन्य उपाधि 'वकील-ए-दार' भी सुल्तान से मिली थी। वह एक सर्वप्रिय पुरुष था और देवगिरि का शासक नियत था।[१] देवगिरि से उसकी वापिसी पर प्रजा बहुत दुःखित हुई। 'खोजे जहाँ मलिक' 'ख्वाजा जहाँ' का उपनाम है। जो कि अहमद अयाज़ को अफ़ग़ानपुर के प्रसिद्ध मंडप के निर्माण के लिए जिसमें ग़ियासुद्दीन तुग़लक की मृत्यु हुई थी, मिला था। वह वजीरुल्मुल्क भी था।[२]

उबैद कवि ने एक असत्य चर्चा फैलाई कि सुल्तान ग़ियासुद्दीन बहुत बीमार है और मलिक तिमर, मलिक तिगिन.........मलिक काफ़ूर (राजमुद्रा रखने वाला) के निकट गया और अमीरों को बताया कि उलुग़ खां उन्हें सशंक दृष्टि से देखता है। ग़ियासुद्दीनने सिरि के मैदान में एक सार्वजनिक राजसभा की और उबैद कवि, काफ़ूर तथा अन्य विद्रोहियों की जीवित ही खाल खिंचवाई। इसलिए यह (मलिक काफ़ूर) वह व्यक्ति नहीं हो सकता जिसके हाथ से मुहम्मद तुग़लक ने श्रीसूरि के पैर पोंछने को वस्त्र लिया था।[३]

१ Ibid pp. 63, 146, 171; Elliot of cit pp. 251, 253. App. 571 Kasaid of Badr Chach

२ Ibid p. 83. वह मालिक ज़ादा अहमद भी था।

३ Elliott op. cit., pp. 203, 608. App. D. from 'Travels of Ibn Batuta, जिसमें कथन है कि शहजादा मुहम्मद तुगलक मुख्य उमराओं के सहित तैलिंगाना गया था (तिमर, तिगिन और काफूर राजमुद्रा लगानेवाला मलिक इत्यादि) उसने विद्रोह फैलाने का प्रयत्न किया और उबैद कवि द्वारा गियासुद्दीन तुगलक के बारे में असत्य चर्चा फैलाई जिसने उबैद और काफूर को मृत्यु दंड दिया।

कुतुबुद्दीन के बारे में इन कविताओं में कोई तिथि नहीं मिलती। हमें जिनप्रबोधसूरि के पट्टधर, जिनचन्द्रसूरि की तिथि ज्ञात है। वह वि० सं० १३२४ सन् १२६७ ई० में उत्पन्न हुए और वि० स० १२७६ में उनकी मृत्यु हुई। कुतुबुद्दीन मुबारिक शाह, खिलजी शँहशाह १३१६ ई० में सिंहासनारूढ़ हुआ; १३२० ई० में मार दिया गया। कविताओं का कुतुबुद्दीन सम्भवतः वही है। ऐलफिन्स्टन का मत है कि मुबारिक शाह के शासन काल में राजसभा का वातावरण हिन्दुओं के अनुसार था। यह भेंट सम्भवतः १३१८ ई० में खुसरो के अपने प्रभाव डालने से पूर्व (जिससे सर्वप्रथम उसकी मानसिक तत्पश्चात् शारीरिक मृत्यु हुई) हुई होगी।

हमें अन्य साधनों से ज्ञात होता है कि सुल्तान मुबारिक शाहने समरसिंह नामधारी पाटन के एक प्रतिष्ठित जैनी को दिल्ली में एक महत्त्वपूर्ण पद (व्यवहारी) पर नियत किया था। गियासुद्दीन समर सिंह को पुत्रवत् मानता था और उसे उसने तेलिंगाना भेजा जहाँ उसने अनेक जैन मंदिर निर्मापित कराए। मुहम्मद उसे भ्रातृवत् मानता था और उसे तेलिंगाना का शासक नियत किया था। जिनप्रभ-सूरि तथा महेन्द्रसूरि सुल्तान के प्रियजन थे।

[1]महेन्द्र सूरि के प्रति नयचन्द्र कहते हैं :—

> एकः सोऽयं महात्मा न पर इति नृपश्रीमहम्मदशाहे।
> स्तोत्रं प्रापत् स पापं तपयतु भगवान् श्रीमहेन्द्रप्रभुनः ॥

अनुवादक: श्रीयुत नेमिचन्द्र जैन,

नोट :— श्री इत्यादि शब्द अनुवादक ने स्वय नामों के आगे जोड़ दिए हैं, क्योंकि हिन्दी भाषा में महापुरुषों के पहिले सम्मान सूचक शब्दों की अनुपस्थिति अशिष्टता सूचक है, यद्यपि अंग्रेजी में यह क्षम्य है।

१ Proceedings of the 7th Oriental Conference P. 630.

पूर्व और पश्चिम में दर्शन की धारणा

[ले० श्रीयुत डा० देवराज एम० ए०, डी० फिल०]

दर्शन की समस्या क्या है ? और उसका प्रयोजन क्या है ? इस सम्बन्ध में विभिन्न विचारकों ने विभिन्न मत स्थिर किये हैं। यह बात किसी एक ही देश के दार्शनिकों के ग्रन्थों से दर्शित की जा सकती है। ऐसी परिस्थिति में विभिन्न देशों, विशेषतः पूर्व और पश्चिम, के दार्शनिकों में एतद्विषयक मतभेद होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। वस्तुतः दर्शन की समस्या और प्रयोजन के बारे में पूर्वी और पश्चिमी विचारकों ने नितान्त भिन्न सम्मतियाँ प्रकट की हैं।

यदि हम योरुप के दार्शनिक इतिहास पर दृष्टिपात करें, तो यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि योरुपीय दर्शन का उद्देश्य, उसकी प्रमुख और एकमात्र समस्या, विश्व की व्याख्या करना है। इस विस्तृत और विभिन्न विश्व को किसी प्रकार बुद्धिगम्य बनाना ही योरुपीय दर्शन का उद्देश्य है। यह बात योरुप की अत्यन्त प्राचीन और अति आधुनिक सब दर्शन-पद्धतियों को लागू होती है। हाँ, इस सामान्य तथ्य का एक महत्त्वपूर्ण अपवाद भी है, यह अपवाद योरुप का मध्य-युगीय दर्शन है।

यूनान के प्रारंभिक विचारक, थेलीज़, एनेक्ज़ीमेण्डर, एनेक्ज़ीमिनीज़, हेराक्लाइटस आदि की खोज का विषय एक ऐसा मूल तत्त्व था, जिससे दृश्यमान जगत की विभिन्न व्यक्तियां (Entities) का उद्गम संभव हो सके। डिमोक्राइटस के समय तक दार्शनिकों को जीव-जगत और सामाजिक जगत की व्याख्या के महत्त्व का भान नहीं हुआ था, इसलिये वे उसकी ओर से उदासीन से रहे। किन्तु सोफिस्ट शिक्षकों के घोर संशयवाद ने यह आवश्यक बना दिया कि दर्शनशास्त्र मनुष्य और उसके सामाजिक जीवन की भी व्याख्या करे और मनुष्य के नैतिक विश्वासों का बौद्धिक मण्डन प्रस्तुत करे। इस प्रकार सोफिस्ट सन्देहवाद ने नीतिशास्त्र को जन्म दिया। संशयवाद का उत्तर देने की आवश्यकता ने ही ज्ञान-मीमांसा अथवा सम्वित्-शास्त्र को भी जन्म दिया। इस प्रकार आधुनिक दर्शन-सम्मत प्रमुख शाखाओं की नींव पड़ी। दर्शन की ये विभिन्न शाखाएँ विभिन्न अनुभव-क्षेत्रों की व्याख्या का प्रयत्न करती हैं। जबकि तत्त्व-मीमांसा का क्षेत्र समस्त विश्व है, वहाँ नीति-शास्त्र मुख्यतः मानव जीवन को अपना विषय बनाता है, और ज्ञान-मीमांसा ज्ञानमात्र की संभावना पर विचार करती है।

देखने की बात यह है कि योरुपीय दर्शन में आत्मा और परमात्मा की जिज्ञासा का कोई महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है। यद्यपि वर्तमान योरुपीय दर्शन के पिता डेकार्ट ने अपने चिन्तन का प्रारंभ आत्मा से किया है—वह आत्मा की स्वयंसिद्धता को लेकर चला है, फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसके दर्शन में आत्म जिज्ञासा का कोई विशिष्ट स्थान है। यह बात उसके बाद के दार्शनिक विकास से भी सिद्ध है। वास्तव में डेकार्ट के लिये आत्मा की सिद्धि ईश्वर को सिद्ध करने का द्वार या उपकरणमात्र है। अर्डमान द्वारा उद्धृत डेकार्ट के एक पत्र के अवतरण में यह बतलाया गया है कि जहाँ वह गणित के अध्ययन में प्रतिदिन कई घंटे व्यय करता था, वहाँ दार्शनिक चिन्तन में केवल कुछ घंटे प्रतिवर्ष लगाता था।* यह इस बात का निदर्शन है कि योरुपीय विचारक बाह्य जगत में काफी दिलचस्पी लेते रहे हैं। इसी प्रकार प्रसिद्ध चैतन्यवादी बर्कले के दर्शन में भी आत्म-जिज्ञासा का भाव प्रबल नहीं है। डेकार्ट और बर्कले दोनों आत्मचिन्तन में अभिरुचि जगाने में असमर्थ रहे। यूनानी दार्शनिकों, प्लेटो और अरस्तू, में भी आत्मजिज्ञासा प्रधान नहीं है। इन दार्शनिकों की पद्धतियों में ईश्वर की धारणा का भी गौण स्थान है। प्लेटो अपने जातिप्रत्ययवाद के लिये प्रसिद्ध है और अरस्तू अपने चतुष्कारणवाद तथा विकासवाद के लिये। संशयवादी ह्यूम के बाद काण्ट ने घोषित किया कि आत्मा और ईश्वर दर्शन के विषय ही नहीं हैं। साथ ही काण्ट को इस बात की बड़ी चिन्ता थी कि विज्ञान की संभावना और दृश्य-जगत की व्याख्येयता का मण्डन किया जाय। हीगल ने तो स्पष्ट ही विश्व के विभिन्न अंशों की व्याख्या करने का भगीरथ प्रयत्न किया है। अध्यात्मवादी होते हुए भी हीगल के दर्शन में उपास्य ईश्वर और आत्मा का गौण स्थान है। वस्तुतः हीगल के अनुसार विश्व-ब्रह्माण्ड की सारभूत अमूर्त्त धारणा-समष्टि (System of Categories) है जो भारतीय आत्मतत्त्व से नितान्त भिन्न है।

अति आधुनिक काल में ब्रेडले आत्म-तत्त्व को विवर्त्त या अतात्त्विक घोषित करता है। यद्यपि ब्रेडले के अनुसार दर्शन का काम तत्त्व पदार्थ को जानना है, फिर भी वह मानता है कि एक पूर्ण दर्शन समष्टि को विश्व-विवर्त्तों का विवरण दे सकना चाहिये। हमारे युग की अनेक विकासवादी पद्धतियाँ भी विश्व की व्याख्या का प्रयत्न करती हैं।

दूसरी बात यह है कि योरुप में दार्शनिक चिन्तन, चिन्तन के लिये रहा है, वह स्वयं ही अपना ध्येय माना गया है; उसका अपने से बाहर कोई लक्ष्य या उद्देश्य नहीं है।

इसके विपरीत भारतीय दर्शन एक उद्देश्य को लेकर प्रवृत्त हुआ था, वह मोक्ष का अन्यतम साधन माना गया। यही नहीं, अनेक दर्शनों के अनुसार दर्शन का प्रधान विषय आत्मा और परमात्मा की जिज्ञासा है। हमारे इस मन्तव्य का स्पष्टीकरण अपेक्षित है।

*—दे० हिस्ट्री आफ फिलॉसफी भाग २, पृ० २४

उपनिषद् में स्पष्ट कहा गया है कि परा विद्या वह है जिसमे चरमतत्त्व (ब्रह्म या आत्मा) का ज्ञान हो। बाद को मुख्यत: वेदान्त दर्शन ने उपनिषदों के इसी सिद्धान्त को प्रचारित किया। अन्य दर्शनों में, जिन पर उपनिषदों का प्रभाव कम पड़ा, अवश्य ही विश्व ब्रह्माण्ड की व्याख्या करने का प्रयत्न पाया जाता है। उदाहरण के लिये जैन दर्शन, वैशेषिक दर्शन और सांख्य दर्शन में विश्व के पदार्थों को वर्गीकृत करके उनकी स्वरूप-व्याख्या की कोशिश की गई है। किन्तु दूसरे दर्शनों में इस प्रकार की व्याख्या महत्त्वपूर्ण नहीं रह गई है। विशेषत: उत्तरकालीन भक्तिमार्गी दर्शन विश्व की व्याख्या के प्रति नितान्त उदासीन रहे और उनका एकमात्र उद्देश्य आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध को स्पष्ट करके ईश्वर-प्राप्ति के उपाय बतलाना रह गया। ध्यान देने योग्य बात यह है कि न्याय-वैशेषिक आदि दर्शनों में भी आत्मज्ञान को विशेष ऊँचा स्थान दिया गया है। यह बात वात्स्यायनभाष्य के निम्न अवतरण से स्पष्ट समर्थित होती है। वे लिखते हैं:—"क्योंकि ज्ञेय वस्तुओं की संख्या अनन्त है, इसलिये उन सबका यथार्थ ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता। अतएव उस पदार्थ का सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा करनी चाहिये जिसका अज्ञान पुनर्जन्म का सक्रिय हेतु बन जाता है।" वात्स्यायन की सम्मति में सबसे महत्त्वपूर्ण ज्ञान "आत्मा को अमर तथा शरीर, इन्द्रियों आदि नश्वर पदार्थों से भिन्न जानना" है।† शंकराचार्य ने स्पष्ट लिखा है—

न हि सृष्ट्याख्यायिकादिपरिज्ञानात् किंचित्फलमिष्यते। ऐकात्म्यस्वरूपपरिज्ञानात्तु अमृतत्त्वं फलं सर्वोपनिषत्प्रसिद्धम् ॥* [ऐतरेयभाष्य अध्याय २, उपोद्घात]

उत्तरकालीन भारतीय दर्शन में विश्व की व्याख्या की उपेक्षा किये जाने का प्रधान कारण अद्वैत वेदान्त के प्रचार और प्रसिद्धि को ही समझना चाहिये। वेदान्त ब्रह्म और आत्मा में अभेद मानता है, इसलिये उसमें आत्मज्ञान पर बहुत जोर दिया गया। किन्तु भक्तिमार्गी दर्शनों में ज्ञान का प्रमुख विषय सगुण ईश्वर बन गया। इस प्रकार भारतीय दर्शन धीरे-धीरे विश्व की व्याख्या के प्रति अधिकाधिक उदासीन होता गया। मुक्ति का ध्येय लेकर चलने के कारण भारतीय दर्शन मोक्षधर्म (Religion) के उसी प्रकार समीप रहा, जिस प्रकार कि योरुपीय दर्शन, विशुद्ध ज्ञान या बौद्धिक तृप्ति को ध्येय बनाने के कारण, विज्ञान के।

†—दे० न्याय भाष्य (गंगानाथ झा कृत अंग्रेजी अनुवाद), पृ० ४६७—६८

*अर्थात् सृष्टि का क्रम आदि जानने से कोई लाभ नहीं है; ब्रह्मात्मैक्य का ज्ञान ही वास्तविक और उपयोगी ज्ञान है।

जैनियों की दृष्टि में विक्रमादित्य

[ले० श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण; प्रोफेसर श्रीयुत देवसहाय त्रिवेद एम.ए.]

कालकाचार्य कौन था ?

जैनियों की दृष्टि में विक्रम संवत् प्रवर्तक शकारि विक्रमादित्य का एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। कालकाचार्य कथानक[1] इस विषय पर पूर्ण प्रकाश डालता है। इस कथानक का रचनाकाल निर्विवाद स्थिर नहीं किया जा सकता। यह कथानक प्रायेण भद्रबाहु रचित कल्पसूत्र के परिशिष्ट में पाया जाता है। यद्यपि विक्रम संवत् ५१० के पूर्व केवल यति ही इसे पढ़ते थे; किन्तु उसके बाद यति और गृहस्थ दोनों सामान्यरूप से पढ़ते हैं। कालकाचार्य सूरि के ही समय पर्युषण का समय भाद्र कृष्ण पंचमी के बदले में भाद्र कृष्ण चतुर्थी स्थिर किया गया। हेमचंद्राचार्य ने (११४६-१२२९ वि० सं०) अपने योगशास्त्रवृत्ति में, जिसे उन्होंने अपने आश्रयदाता कुमारपाल (११९९-१२२९ वि० सं०) के समय में बनाया था, कालक का उल्लेख किया है। इसलिये संभव है कि कालकसंबंधी[2] विभिन्न कथानकों को मालवा में धारा नगरी के राजा भोज (१०७५-११७७ वि० सं०) के समय में विशद साहित्यिक रूप दिया गया हो।

खरतरगच्छ की पट्टावली (वीर संवत् ९८०) से तीन कालकाचार्य के अस्तित्व और उनके काल का पता चलता है। कालक प्रथम की मृत्यु वीर संवत ३७६ या ९४ वर्ष विक्रमपूर्व, ९१ वर्ष की अवस्था में हुई। सर्व सम्मति से कालक द्वितीय का काल ४५३ वीर संवत् या १७ वर्ष वि० पू० धर्मप्रभसूरि के हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर है। इसी समय सरस्वती का पुनः संघ में लेना माना जाता है। तृतीय कालकाचार्य ने पर्युषणकाल पंचमी से चतुर्थी में परिवर्तन वीर संवत् ९९३ या ५२३ वि० संवत् में किया। कालक प्रथम प्रज्ञापनासूत्र का रचयिता माना जाता है।

गर्दभिल्ल कौन था ?

अभिधान राजेंद्र (भाग ५ पृ० १२८९) के अनुसार राजा गर्दभिल्ल का समय वीर सं० ४५३—४६६ (वि० पू० १७ से वि० पू० ४) तक माना जाता है, यद्यपि जिनसेन[3]

---

१ कालकाचार्य कथानक, विलियम नार्मन ब्राउन संपादित, वाशिंगटन, १९३३ खृष्टाब्द।

२ इस महासूरि के विषय में विशेष प्रकाश के लिये कृपया द्विवेदी-अभिनंदन ग्रंथ, काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा द्वारा प्रकाशित, श्री मुनि कल्याणविजयजी का लेख अभिकालक पृ० ९४-१२० देखें।

३ बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी जर्नल, भाग १६, पृ० २३७।

(८५० वि० सं०) ने रासभ (गर्दभिल्ल) का काल वीर संवत् ३४५ से ४४५ तक दिया है। प्रचलित कथानक में तीनों कालक के गुणों और कार्यों का सम्मिश्रण पाया जाता है। कालक की छोटी बहन सरस्वती सर्व-लावण्य-संपन्न थी। एक बार विहार[1] भूमि में उज्जयिनी नगरी के राजा गर्दभिल्ल उसे देखकर अवाक् हो गया और उसे पकड़वाकर बलात् अपने महल में भेज दिया। कालक ने उस दुष्ट राजा को बहुत समझाया कि जो दूसरे की स्त्री का हरण करता है उसका गोत्र नष्ट हो जाता है, चरित्र कलुषित हो जाता है, महान् योद्धा का पराक्रम क्षीण हो जाता है, उसकी बदनामी का ढोल सारे संसार में पिट जाता है, उसके कुल में सर्वदा के लिये कलंक का टीका लग जाता है। अतः, हे राजन्! इस मेरी बहन को छोड़ दीजिये, संघ की रक्षा कीजिये जिससे लोग स्वच्छन्दतापूर्वक धर्म का पालन कर सकें। किन्तु, जब उस कामांध राजाने जरा-सा भी उनकी बातों पर कान न दिया तब हताश होकर उस सूरि ने कठिन प्रण किया कि यदि मैं इस गर्दभिल्ल राजा का सहसा उन्मूलन न कर दूँ तो मुझे संघपातकी महान् दोष होवे। तथा इस धर्मसूरि ने चाणक्य के समान अपने प्रयत्न से इस दुष्ट राजा को नीचा दिखाकर ही छोड़ा। किन्तु, इस प्रकार प्रतिज्ञा करने के बाद सूरि ने सोचा कि यह महाबली पराक्रमी राजा गर्दभिल्ल गदभी महाविद्या का पूर्ण अधिकारी है; इसलिये इसकी जड़ खोदने के लिये उपाय करना चाहिये। वह एक पागल का वेष बनाकर चौक, चबूतरे, राजमार्ग इत्यादि स्थानों पर पागल के समान बकने लगा —"यदि गर्दभिल्ल राजा है तो इससे बढ़कर क्या हो सकता है, यदि अन्तःपुर रमणीय है, तो इससे बढ़कर क्या चाहिये, यदि लोग सुन्दर कपड़े पहने हैं तो फिर क्या चाहिये, यदि भिक्षाटन से ही पेट भर जाता है तो फिर क्या आवश्यकता है, यदि शून्य घर में सोता हूं तो फिर चाहिये ही क्या ?" उसका यह प्रलाप सुनकर मंत्रियों ने भी उसे बहुत समझाया; किन्तु फल उलटा ही हुआ।

कालक और शकराज

इस प्रकार विचरण करता हुआ वह सूरि शककूल (सगकूलं) पहुँचा। वहाँ के सामन्त शाही कहलाते थे तथा सकल नरेंद्र चंद्रचूड़ामणि को साहानसाही (शहनशाह) कहते थे। वह सूरि एक शाही के यहाँ ठहर गया। एक दिन शहनशाह के यहाँ से एक दूत आया। उस दूत को देखते ही शाह का चेहरा फीका पड़ गया। सूरि के पूछने पर शाह ने कारण बतलाया कि जिससे शहनशाह नाराज हो जाते हैं, उसके पास अपनी छाप मुहर देकर तलवार भेजते हैं और उसी तलवार के घाट उसे उतरना पड़ता है; अन्यथा सारे कुल को तलवार का शिकार

---

१ कालयसूरिलहुयभगिणी सरस्सई नाम साहुणी। वियारभूमीए निग्गया समाणी दिट्ठा उज्जेणीनयरिसामिणा गद्दभिल्लराइणा अज्झोववन्नेण य। कालकाचार्यकथानक पृ० ३८

बनना पड़ता है। ऐसे ९५ और शाहों से शहनशाह क्रुद्ध हैं। इसपर सूरि ने शाह को समझाया कि आप ९५ अन्य शाहों को भी दूत भेजें कि वे अपना प्राण व्यर्थ न खोवें और सब हिंदुक देश में चलें। सभी ने अपना शस्त्रास्त्र इकट्ठा कर लिया और सूरि से पूछा कि अब क्या करना चाहिये ? उनके आदेश से सभी सेना और सामान के साथ सिंधु नदी पार कर हिंदुक देश चले। यहाँ से वे सवार होकर सुराष्ट्र विषय (सूरत या सौराष्ट्र) के पास पहुँचे। किंतु, वर्षा आरंभ होने के कारण वे आगे न बढ़ सके और सौराष्ट्र को ९६ हिस्सों में बाँटकर वहीं ठहर गये।

शकों का आक्रमण

शरद्-ऋतु के पहुँचने पर कालक ने अपनी कार्यसिद्धि का शुभ लक्षण देखा और शाहियों को उज्जयिनी लेने के लिये उत्तेजित किया; क्योंकि यह मालवा की कुंजी थी। शाहियों के पास धन की कमी थी। सूरि ने प्रचुर धन से उनकी सहायता की। लाट (कच्छ) के राजा ने भी शाहियों का साथ दिया। उज्जयिनी चारों ओर से घेर ली गयी, जिससे गर्दभिल्ल की सेना की एक न चली।

गर्दभिल्ल की हार और शकराजवंश

अब गर्दभिल्ल ने अपने जादू का बल चलाना चाहा। उसने घोषित कर दिया कि उसके जादू से नवें दिन गदहिया प्रकट होगी। उसकी रेंक से सभी चौपाये और मनुष्य बेहोश होकर गिर पड़ेंगे और उनके मुँह से खून निकलने लगेगा। सूरि ने लोगों को चेता दिया और २०० चुने हुए वीरों को धनुष बाण से सुसज्जित कर किले के द्वार पर खड़ा करने का आदेश दिया और कहा कि जैसे ही गदही बोलना चाहे, उसका मुँह बाणों की बौछार से भर दो। ठीक ऐसा ही किया गया। इससे गदही व्याकुल होकर अपने लीद और मूत्र से अपने जादूगर को ही परेशान करने लगी। गर्दभिल्ल कैद कर लिया गया। उसे सूरि के चरणों पर गिरना पड़ा। सूरि के आदेशानुसार शाहियों ने उसे देश से निकाल दिया और वह दरिद्र के समान अपना जीवन बिताने लगा।

अन्य शाहियों ने उस शाही को शहनशाह माना, जिसने सूरि को आश्रय दिया था, और वह राज्य भोगने लगा। शककूल (शागकूल) से आने के कारण वे शकवंशी कहलाये। इस प्रकार यहाँ शक राजवंश की स्थापना हुई।

अब यह प्रश्न उठता है कि गर्दभिल्लवंश कौन है ? पुराणों[1] में लिखा है कि सात

---

१ पार्जिटर डायनेस्टीज ऑफ दी कलियुग पृ० ४५-४६।

गर्दभिल्ल राजाओं ने ७२ वर्ष राज्य किया, उसके बाद शकों का राज्य हुआ। वास्तव में इस गर्दभिल्लवंशी राजा का नाम दरपण (दर्पण) था। जैन परंपरा के अनुसार इस दर्पण राजा का समय ४५३-४६६ वीर संवत् है और कालक द्वितीय का समय वीर संवत् ४५३ है। अतः दोनों का काल ठीक बैठता है।

शकों का पूर्वस्थान

प्रोफेसर, डाक्टर स्टेनकोनो ने अपने ग्रंथ[1] में इस विषय पर पूर्ण प्रकाश डाला है। उनके अनुसार शकों का प्राचीन स्थान पामीर देश में हिंदुकुश से उत्तर, बलख और सागडियाना से पूर्व, कास्पियन सागर तक फैला हुआ था तथा बाद में वे सिस्तान (शकस्थान) में भी पाये गये हैं। पारसी ग्रंथों से भी इसकी पुष्टि होती है तथा चीनी आधार भी हमें इसी निर्णय पर पहुँचाते हैं। ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में वे सिंध देश में बस गये। ई० पू० ८८ में मिथ्रडेट्स द्वितीय की मृत्यु के बाद सिस्तान के शक पार्थिया से स्वतंत्र हो गये और अपने विजय-मार्ग पर सिंध पहुँचे। टालेमी (१६० ई० सन्) भी काठियावार में शक राज्य का उल्लेख करता है। ई० पू० ६० में शकों का राज्य हिंदुकदेश में सिंध, काठियावार और मालवा तक फैल गया।

विक्रमादित्य—

कुछ समय के बाद विक्रमादित्य नामक वीर पैदा हुआ। यह गंधर्वसेन का पुत्र था, जो शाप के कारण गदहे का स्वरूप बनाता था। गुजरात के राजा ताम्रलिप्तर्षि की कन्या मदनरेखा से इसका विवाह हुआ। मदनरेखा की मा ने गर्दभावरण को जला दिया, जिससे गंधर्वसेन की मृत्यु हो गयी। गर्भिणी मदनरेखा ने विक्रम को पैदा किया तथा एक दासी से भर्तृहरि पैदा हुए। संभवतः इस गर्दभिल्लवंश का राजचिह्न गदहा था, इसी कारण इस वंश के राजाओं का गदहे से संबंध जोड़ा जाता है। अन्य स्थान पर विक्रम को गर्दभिल्ल का ही पुत्र बतलाया गया है। कुछ काल के बाद उस प्रसिद्ध वीर ने सारे शकवंश[2] का नाश किया और सारे मालवा पर अपना अधिकार कर लिया। इसने बहुतों को युद्ध में हराया और अपने सुकार्य से अक्षय पुण्य प्राप्त किया। राज्य में धन के प्राचुर्य से इसने प्रजा को ऋणमुक्त कर दिया और अपने नाम का संवत्[3] भी चलाया। भविष्यपुराण के अनुसार भी इस महान् वीर विक्रम ने अपने नाम का संवत् चलाया।

---

१ कारपस इंसक्रिप्सनं इनडिकेरम्, खरोष्ठी लेख, भाग २, १९२९, आक्सफोर्ड प्रेस।

२ कालांतरेण केणाइ उप्पाडिदा सगाण तं वंसम्।
जावो मालवराया नामेणं विक्कमाइच्चो ॥६१॥ पृष्ठ ४३।

३ नियवो संवच्छरो जेण (६८)। पृष्ठ ४३।

उपर्युक्त विचार से प्रकट होता है कि गर्दभिल्ल (दर्पण) की मृत्यु के बाद ही विक्रम का जन्म हुआ। अतः, हम इस तथ्य पर पहुंचते हैं कि ई० पू० ५७ में विक्रम का जन्म शकराज्य स्थापित होने के ३ या ४ वर्ष बाद हुआ। छोटी उम्र में इसे देश से शत्रुओं के निकालने का भार उठाना पड़ा। १८ वर्ष की अवस्था (ई० पू० ३९) में इसने शकों को मार भगाया और गद्दी पर बैठा जैसा कि काश्मीर की संशोधित राजवंशावली[1] से प्रकट होता है। अतः, यह मानना पड़ेगा कि यह विक्रम संवत् विक्रमादित्य के राज्याभिषेक काल से नहीं; बल्कि उसके जन्मकाल से है। काश्मीर में हिरण्य के अपुत्र स्वर्गासीन होने पर बड़ी अशान्ति फैल गयी। विक्रमादित्य ने वहां शांन्ति स्थापित किया और वहां का भी राजा बन बैठा। इसने पुनः कालिदास (मातृगुप्त) को वहां का राजा बनाकर भेजा। किन्तु ४ वर्ष ९ मास ही राज्य करने के बाद अपने संरक्षक की मृत्यु का समाचार सुनकर मातृगुप्त ने शोक से सन्यास धारण कर लिया। इसकी मृत्यु १११ वर्ष की अवस्था में ९३ वर्ष राज्य करने के बाद ५४ ई० सन् में शकों के षड्‌यंत्र से पैठनक के समुद्रपाल योगी के हाथ से हुई। बाद में यह समुद्रपाल योगी शालिवाहन का दरबारी हुआ। उसकी मृत्यु से प्रजा बहुत दुःखी हुई।[2]

संवत् किसने चलाया ?

श्री राखालदास बनर्जी के अनुसार इस संवत् का प्रवर्तक नहपान तथा फ्लीट के अनुसार इसका श्रेय कनिष्क को है। सर जान मार्शल और रैप्सन के अनुसार[3] विक्रम संवत् का प्रवर्तक अजेस (Azes) है। किन्तु, स्टेनकोनो के विचार में इसका श्रेय उज्जयिनी के विक्रमादित्य को और हरितकृष्ण दे तथा काशीप्रसाद जायसवाल[4] के मत में गौतमीपुत्र शातकर्णि को है।[5]

शकारि—

संभवतः विक्रमादित्य उसका नाम था तथा शकारि उसकी उपाधि थी। शकारि शब्द की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की जा सकती है। शकानां अरिः और शका अरयो यस्य। इसके

१ (क) विज्ञान, प्रयाग १९६४, अप्रैल।

(ख) The Revised Chronology of Kashmir Kings, Journal of Indian History, Vol. XVIII, P. 58.

२ स्वर्गे गते विक्रमार्के भद्रबाहौ च योगिनि।
प्रजाः स्वच्छन्दचारिण्यो बभूवुः पापमोहिताः ॥३॥
श्री भट्टारक इन्द्रनन्दि [लगभग १३ वी शताब्दी] प्रणीत 'नीतिसार'।

३ जर्नल रायल एसायिटिक सोसाइटी १९१४, पृ० ९७३।

४ जर्नल बिहार उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, भाग १६, पृ० ९१।

५ इस सम्बन्ध में विशेष प्रकाश के लिये 'किशोर' विक्रमांक, भाग ६ किरण १ देखें।

संबंध में दोनों व्युत्पत्ति ठीक जँचती है; क्योंकि इसने शकों का सत्यानाश किया तथा उन्हें मार भगाया और अन्त में शकों के साथ लड़ते-लड़ते उन्हीं के षड्यंत्र से वीरगति को प्राप्त हुआ। अतः, लोगों ने उसके प्रति अपना आदर भाव दिखाने के लिये उसके नाम का संवत् चलाया जिसे पहले लोग कृत संवत्, बाद में मालवगणना तथा कालांतर में विक्रम संवत् कहने लगे।[1] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन साहित्य में विक्रमादित्य का एक ठोस स्थान है और इस साहित्य के आधार पर हमें विक्रमादित्य को ई० पूर्व प्रथम शताब्दी में रखने में विशेष सहायता मिलती है।

---

१ यातेषु चतुर्षु कृतेषु सौम्येष्वसितचोत्तरपदेषु इह वत्सरेषु
=३४३ खृष्टाब्द [गुप्तशिलालेख पृ० ७५]

कृतेषु चतुर्षु वर्षशतेषु अष्टाविंशेषु। =३७१ खृष्टाब्द [वहीं २५३]

श्रीमालवगणाम्नाते प्रशस्ते कृतसंज्ञिते।
एकषष्ट्यधिके प्राप्ते समाशतचतुष्टये॥ =४०४ खृष्टाब्द [वहीं ८७, १५८]

मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानां ऋतौ सेव्यघनस्वने॥ =४३६ खृष्टाब्द [वहीं ६५--६६]

विक्रमाख्यकाल धौलपुर के एक शिलालेख में संवत् ८९८=८४१ खृ० सन् [इण्डियन ऐंटिक्वेरी भाग २० पृ० ४०६]

तथा श्रीएकलिंगजी के शिलालेख में श्रीविक्रमनृप काल १०२८ का उल्लेख है। =९७१ खृ० सन्
(जर्नल बाम्बे रायल एशियाटिक सोसाइटी, भाग २२, पृ० १९६)

समीक्षा

भारतीय दर्शन—लेखक: प्रो० बलदेव उपाध्याय, एम० ए०, साहित्याचार्य; प्रकाशक: बाबू कृष्णदास गुप्त, ठठेरी बाजार, काशी; पृष्ठ संख्या : ६०३; मूल्य: ३।।) ।

जैसा कि श्री पं० गोपीनाथ कविराज ने प्राक्कथन में लिखा है, इस ग्रन्थ में लेखक ने 'भारतीय तत्त्व-ज्ञान का एक साङ्गोपांग विवरण ······ प्रस्तुत किया है।' प्रारम्भ में लगभग पचास पृष्ठ का एक उपोद्‌घात है जिसमें 'दर्शन' तथा 'भारतीय दर्शन' पर कुछ विचार हैं। यही पुस्तक का पहला परिच्छेद है। इसके बाद तेरह परिच्छेदों में श्रौत-दर्शन, गीता-दर्शन, चार्वाक-दर्शन आदि से लेकर अद्वैत-वेदान्त, वैष्णव-तन्त्र, रामानुज, मध्व, निम्बार्क, वल्लभ आदि के मतों का विवरण है। पन्द्रहवाँ परिच्छेद शैव-शाक्त-तन्त्र का प्रतिपादन करता है। अन्तिम परिच्छेद में भारतीय दर्शन का उपसंहार है जिसमें दर्शनों के समन्वय तथा भारतीय दर्शन के भविष्य पर विचार व्यक्त किए गए हैं।

प्रत्येक दार्शनिक सम्प्रदाय का विवरण तीन शीर्षकों के अन्तर्गत दिया गया है, अर्थात् साहित्य, सिद्धान्त और समीक्षा। साहित्य के अन्तर्गत लेखक ने विभिन्न आचार्यों के जीवन पर सरस टिप्पणियां दे दी हैं। इससे पुस्तक की रोचकता अवश्य बढ़ जाती है, पर अनावश्यक विस्तार भी हो जाता है। विशेषतः हिन्दू दार्शनिकों के सम्बन्ध में लेखक ने प्रशंसात्मक वाक्यों का स्वच्छन्द प्रयोग किया है, जैसे 'सुबन्धु ने अपनी वासवदत्ता में 'न्यायसंगतिमिव उद्योतकरस्वरूपाम्' लिखकर न्याय-जगत में उद्योतकर की विमलकीर्त्ति की सूचना दी है; तथा 'दिङ्नागीय आक्रमणों से क्षीणप्रभ न्याय विद्या की (के ?) विमल प्रकाश को सर्वत्र विस्तार कर उद्योतकरने अपना नाम सार्थक कर दिखाया' पृ० (२३८—३९)। न्याय-दर्शन के प्रसिद्ध आचार्यों का वर्णन लगभग ८ पृष्ठ में है; इसी प्रकार अद्वैत-वेदान्त के आचार्यों पर सात पृष्ठ लिखे गये हैं। यदि इन वर्णनों के बदले विभिन्न आचार्यों के मौलिक मन्तव्यों एवं पारस्परिक मतभेदों का उल्लेख रहता, तो पाठकों का अधिक लाभ होता।

सिद्धान्तों का निरूपण प्राय: मूलग्रन्थों के आधार पर किया गया है। लेखक का मूल संस्कृत-साहित्य से अच्छा परिचय मालूम पड़ता है। उपनिषदों की अपेक्षा वेदों का, और बौद्ध-दर्शन की अपेक्षा जैन-दर्शन का विवरण अधिक विस्तृत और सुन्दर है। विशेषत: बौद्ध दार्शनिक संप्रदायों के साथ लेखक ने न्याय नहीं किया है। भारतीय दार्शनिकों में नागार्जुन का स्थान बहुत ऊँचा है, किन्तु प्रस्तुत ग्रन्थ में उसकी तर्क-पद्धति का परिचय कराने का बहुत ही अपर्याप्त प्रयत्न किया गया है। लेखक ने न्याय, वैशेषिक आदि हिन्दू दर्शनों पर अलग अध्याय दिये हैं जिससे उन दर्शनों की बहुतसी विशेषताओं का समावेश हो गया

है। अद्वैत-वेदान्त के अध्याय में गौडपाद कारिका का परिचय कुछ अधिक संक्षिप्त है। लेखक ने अद्वैत-वेदान्त का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया है, किन्तु यदि शंकर-परवर्ती-आचार्यों के मत पर कुछ अधिक लिखा जाता, तो अच्छा होता। लेखक महोदय रामानुज-दर्शन के महत्त्व को हृदयंगम करने में नितान्त असफल हुये हैं और उसके यौक्तिक आधार को स्पष्ट नहीं कर सके हैं। निम्बार्क, मध्व, वल्लभ आदि का दर्शन भी बहुत संक्षेप में दिया गया है। विशेषतः मध्व और उनके अनुयायियों द्वारा की गई अद्वैत की समालोचना को अधिक स्थान दिया जा सकता था। पंचरात्र, शैव, शाक्त आदि मतों के साधनात्मक पहलू को विस्तार से दिखाया गया है, किन्तु उनका दार्शनिक विवरण पर्याप्त नहीं है।

पुस्तक का सब से कमजोर हिस्सा उसका समीक्षात्मक अंश है। लेखक ने तर्क-पूर्ण आलोचना के बदले प्रशंसात्मक या विपरीत वाक्य ही अधिक दिये हैं। उदाहरण के लिये न्याय की आलोचना करते हुए लेखक का कथन है कि 'सच्चा दर्शन वही हो सकता है जिसमें एक नित्य पदार्थ की सत्ता मानकर समस्त पदार्थों का सम्बन्ध उसी से प्रदर्शित किया जाय तथा सद्वस्तु के एकत्व पर जोर दिया जाय' (पृ० २७४)। ऐसी आलोचना की उपयोगिता संदिग्ध है। इसी प्रकार अद्वैत-वेदान्त की समीक्षा में कहा गया है कि 'इसके अनुशीलन से आचार्य शंकर की अध्यात्म-विषयक अलौकिक विद्वत्ता तथा तर्क-विषयक असाधारण निपुणता का पर्याप्त परिचय मिलता है।' तथापि हमें यह कह देना चाहिये कि कुल मिलाकर लेखक विभिन्न दर्शनों के प्रति सहानुभूति रख सका है।

हिन्दी में दर्शन-ग्रन्थों की बड़ी कमी है। अभी तक विभिन्न भारतीय दर्शनों के प्रामाणिक और विस्तृत विवरण हिन्दी में उपलब्ध नहीं हैं। हमारे आलोच्य ग्रन्थ का क्षेत्र बहुत विस्तृत है। अतएव कतिपय कमियों के रहते हुए भी वह हिन्दी-प्रेमियों द्वारा संग्रहणीय है।

—देवराज, [एम० ए०, डी० फिल०]

अर्द्धकथा—लेखकः पण्डित बनारसीदास जैन; सम्पादकः डाक्टर माताप्रसाद गुप्त, प्रयाग विश्वविद्यालय, १९४३; पृ० १५ + ५० + ६=७१; मूल्य : १)।

यह अर्द्धकथा हिन्दी साहित्य की सर्व प्रथम आत्मकथा है जो संवत् १६९८ अगहन मास शुक्ल ५ सोमवार को पण्डित बनारसीदास काशीवासी द्वारा लिखी गयी थी। इसमें उल्लिखित घटना-तिथियाँ गणना से ठीक बैठती हैं जैसा कि परिशिष्ट में दिखाया गया है। यह पुस्तक मध्यकालीन उत्तर भारत की सामाजिक अवस्था तथा धनी और निर्धन प्रजा के सुख-दुःख का परिचय दिलाती है। विशेषकर हमें हिन्दू प्रजा की सच्ची दशा जानने के लिए ऐसी ही पुस्तकों का आश्रय लेना पड़ेगा तथा संभव है कि हमें मुगलकालीन भारतीय

इतिहास में अनेक संशोधन भी करना पड़े। इसमें आँखों देखी बातों का उल्लेख है। इससे इसकी महत्ता और भी बढ़ जाती है।

कविता की दृष्टि से भी इसका स्थान बहुत उच्च है। इसमें साहित्यिक परम्परा से मुक्त, प्रयास रहित घटनाओं का सजीव वर्णन मनोहर है। इसकी भाषा चलती फिरती है। आशा है, इतिहास प्रेमी विद्वान् तथा हिन्दी के साहित्य धुरन्धर इसे अपनावेंगे। हम सम्पादक महोदय का इस दुर्लभ महान् ग्रन्थ को जनता की दृष्टि में लाने का कष्ट स्वीकार करने के लिये धन्यवाद द्वारा अभिनन्दन करते हैं। आशा है, आप अन्य भी अर्द्धकथाओं की खोज जारी रक्खेंगे। —देवसहाय त्रिवेद [एम० ए०]

धर्म का आदि प्रवर्त्तक (इतिहास की एक नवीन खोज)—लेखक: स्वामी कर्मानन्द; प्रकाशक: मंत्री, श्री चम्पावती जैन पुस्तकमाला, अम्बाला छावनी; जनवरी १९४० में प्रकाशित; मूल्य आठ आने; छपाई-सफाई साधारण; पृष्ठ संख्या २०२।

यह धार्मिक अनुसंधान की नवीन पुस्तक है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि स्वामीजी ने अनेक प्राचीन ग्रन्थों का अवलोकन किया है। भगवान् ऋषभदेव की चर्चा प्रायः आप सभी वेदों में पाते हैं। इसे सिद्ध करने के लिये आपने स्वतन्त्र प्रतिभा से काम लिया है। शिव, अग्नि, ब्रह्मा, यम, ऋषभ आदि सभी शब्द आपके सिद्धान्त से पर्यायवाची हैं (पृष्ठ ४२, ४४, ४७)। वेदों में सर्वत्र इनकी स्तुतियां हैं, आपके विचार से वे सब ऋषभदेवजी की स्तुतियां हुईं। तात्पर्य यह कि अनेक खींचातानी की सृष्टि करके आपने आरम्भ के दो-तीन प्रकरण लिखे हैं। लेख-परम्परा में विषय-प्रतिपादन का प्रवाह नहीं है, बीच-बीच में 'धर्मान्धों' को फटकार बताने के लिये भी कुछ पंक्तियाँ आ गई हैं। 'यमयमी सूक्त' द्वारा लेखक को यही सिद्ध करना था कि यम और श्री ऋषभदेवजी अभिन्न व्यक्ति थे। जैन-मान्यता के अनुसार प्राचीन काल में मनुष्य यमज ही उत्पन्न होते थे और वे स्वभावतः पतिपत्नी होते थे। विवाह-व्यवस्था पहले-पहल ऋषभदेवजी ने ही चलाई। साम्य इस प्रकार दिखलाया गया है कि यमयमी भी भाई-बहन थे, फिर पति-पत्नी हुए इत्यादि। इसी साम्य पर यम और ऋषभदेव अभिन्न बताये गये और इसीलिये यम के सभी पर्यायवाची शब्द ऋषभ के पर्यायवाची हो गये। हां, तो इसी बात को सिद्ध करने के लिये 'यमयमी सूक्त' की कथा मात्र न देकर पं० चमूपति के यमयमी सूक्त सम्बन्धी लेख की बेतरह धज्जी उड़ायी गई है, जो प्रकृत में अनुपयुक्त है। हां, इस प्रकरण का शीर्षक "यमयमी सूक्त-सम्बन्धी मेरी जानकारी" फब सकता था।

५३ पृष्ठ से आगे अनेक जैनेतर पुराणों के उद्धरण देकर ऋषभदेवजी को अत्यन्त प्राचीन सिद्ध किया गया है। ऋषभदेवजी अत्यन्त प्राचीन से भी प्राचीन हों, इससे हमारा (भारतीय आर्यों का) गौरव है। किन्तु, स्वामीजी का एक आलोचक की तरह पुराणों के निर्माणकाल

पर भी ध्यान जाना चाहिये था। ५६ पृष्ठ के बाद ऋषभदेवजी की प्राचीनता सिद्ध करने के लिये शिलालेख आदि प्रमाण एकत्र किये गये हैं। उनका संकलन सुन्दरता से हुआ है। ८९ पृष्ठ से १०७ पृष्ठ तक योग की प्राचीनता, योग के तत्त्व और योग का आचार धर्म आदि बड़े सुन्दर ढंग से लिखे हैं।

१०९ पृष्ठ से १३४ तक एक कहानीकार की तरह ऋषभदेवजी का आकर्षक जीवन चरित्र स्वामीजी ने अच्छा लिखा है। इसके बाद कई पृष्ठों में वेदान्त और सांख्य का मत-प्रतिपादन करके जैन-सिद्धान्तों को स्पष्ट किया है। इसके बाद भी अनेक गम्भीर विषयों पर आपने विचार किया है। लेख से आपकी बहुज्ञता सिद्ध होती है पर जैन-जनता को प्रसन्न करने का उत्कट भाव छिपा नहीं रह पाता।

ग्रन्थ बुरा नहीं है, बड़े परिश्रम से लिखा गया है। अस्तु, दूसरे ढंग से भी वैदिक या जैन-धर्म का समन्वय स्थापित किया जाता तो अच्छा होता। इत्यलम्।

पावन-प्रवाह—लेखक: श्री० पं० चैनसुखदासजी, न्यायतीर्थ; अनुवादक : श्री० पं० मिलापचन्द जी, न्यायतीर्थ; प्रकाशक : श्रीप्रकाश शास्त्री, मन्त्री—सद्बोध ग्रन्थमाला, जयपुर; छपाई-सफाई सुन्दर; मूल्य: ।≈)।

यह संस्कृत-पद्यमय आध्यात्मिक ग्रन्थ है। साथ ही हिन्दी अनुवाद भी है। इसमें निम्न-लिखित चौदह प्रकरण हैं—अनासक्तिः, विवेकज्योतिः, उपासनातत्त्वम्, स्वानुभवः, दोषान्वेषणम्, लोकैषणा, मृत्युचिन्ता, कर्मविवेकः, ज्ञानलिप्सा, निन्दा-प्रशंसा, भिक्षा, सत्यदेवता, कर्त्तव्येक्षणम् और आलस्यशत्रुः। सम्पूर्ण ग्रन्थ में २४० श्लोक, अधिकतर अनुष्टुप और उपजाति छन्दों में लिखे गये हैं। शान्तरस के उपयुक्त ही प्रसाद गुण का गुम्फन है। उपर्युक्त शीर्षकों से ही ग्रन्थ के विषय अवगत हो जाते हैं। ग्रन्थ देखने से ग्रन्थकार की प्रतिभा और अध्यात्मतत्त्वज्ञता का परिचय मिलता है। यों तो शास्त्रों में प्रतिपादित विषयों का ही संकलन पण्डितजी ने किया है, पर 'स्वानुभवः' प्रकरण में तथा और एकआध स्थलों में नवीन विषय भी लिखे हैं। हाँ, 'गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः' इस न्याय के अनुसार प्रूफ आदि की कुछ अशुद्धियाँ रह गयीं हैं। 'तत्त्व' और 'महत्त्व' शब्दों में सर्वत्र एक ही 'तकार' मुझे मिला। तत् और महत् शब्दों से 'त्व' प्रत्यय जोड़कर दोनों शब्द बनते हैं। उपासनातत्त्व के दूसरे श्लोक के द्वितीय चरण में छन्दोभङ्ग दोष है, और भी कई स्थलों में अनुस्वार तथा विसर्ग छूट गये हैं, एवं कई व्यर्थ भी दिये गये हैं। तथापि ग्रन्थ बढ़िया और संग्रहणीय है। पूजा-काल में अथवा एकान्त में मनन करने से आत्मोन्नति में यह अवश्य ही सहायक हो सकता है। हिन्दी अनुवाद की भी भाषा सुन्दर और आशुगम्य है। संस्कृत न जानने वाले भी इससे पूरा लाभ उठा सकते हैं। हाँ दुनिया, मुह, महत्ता आदि के स्थान पर दुनियां, मुंह, महानता आदि व्याकरण-विरुद्ध शब्द भी व्यवहृत हुए हैं।

शान्तशृंगारविलास :—प्रणेता पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण; प्रकाशक: श्री निर्मलकुमार जैन, आरा; मूल्य: सदुपयोग।

शास्त्रीजी की यह सुन्दर कृति पठनीय है। सच पूछिये तो इन २५ श्लोकों को यह मुक्ताहार है। किसी भी कान्तानुरक्त पुरुष को श्रीजिनेन्द्र के चरणों में ये कविताएँ बरबस पहुंचाने की क्षमता रखती हैं। इसी उद्देश्य से कवि ने रम्भाशुक सम्वाद आदि के अनुकरण पर एक शृंगारी दूसरे शान्तपुरुष के परस्पर संवाद के रूप में इस ग्रन्थरत्न का प्रणयन किया है। अन्त में शृंगारी पराजित होकर शान्त के मत का समर्थन करता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि छपाई, सफाई, विषय, आकार आदि सभी प्रकार से पुस्तक उपादेय है। हाँ, चतुर्थ श्लोक के तृतीय चरण में एक अशुद्धि रह गयी है।

—कमलाकान्त उपाध्याय, [व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य, काव्यतीर्थ]

श्रीवर्द्धमानपुराण :—रचयिता: कविरत्न श्री नवलशाह; संशोधक और सम्पादक: पं० पन्नालाल जैन, 'वसंत' साहित्याचार्य; पृष्ठ संख्या: ४२६; साइज: डबल क्राउन १६; छपाई और सफाई सुन्दर; प्रकाशक: मूलचन्द किसनदास कापड़िया, मालिक, दिगंबर जैन पुस्तकालय सूरत; वीर सं० २४६८; मूल्य २), पक्की जिल्द २॥)।

उपर्युक्त पुस्तक श्रीनवलशाहजी की पद्यात्मक रचना है। रचना विभिन्न छन्दों में की गयी है। इनमें गाथा और शार्दूलविक्रीडित छन्द कदाचित् रचयिता की निज की रचनाएँ नहीं हैं। इस पुस्तक को एक धार्मिक पुराण कहना उपयुक्त होगा। इसमें जैन धर्म के अंतिम तीर्थंकर भगवान वर्धमान (महावीर) का संक्षिप्त जीवन-परिचय तो है ही; साथ ही प्राचीन जैन-गाथाओं तथा शास्त्रीय बातों का पूर्ण उल्लेख है। इसे काव्य के साथ धर्मशास्त्र भी कहना अनुचित न होगा। कवि ने 'भगवान का जन्माभिषेक' तथा वैराग्य वर्णन में अपने काव्य-कौशल का अच्छा परिचय दिया है। हाँ, कहीं-कहीं भाषा में उलझन और शिथिलता भी आ गयी है, इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पद्यों में मात्रा की गड़बड़ी बेहद खटकती है। संशोधक महोदय को या तो पुस्तक का समुचित संशोधन करना चाहता था, या मूल रूप में ही रखना चाहता था। पता नहीं चलता कि कौन-सा रूप संशोधित है और कौन-सा रूप असली है। संशोधक को इसके लिए कोई सांकेतिक चिन्ह देना चाहता था। ऐसा न होने से पाठकों के सम्मुख एक बड़ी उलझन उपस्थित हो गयी है। आशा है, दूसरे संस्करण में संशोधक महोदय इस ओर अवश्य ध्यान देंगे। फिर भी पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। पाठकों को इसे अवश्य पढ़ना चाहिए।

—बनारसी प्रसाद भोजपुरी, [साहित्यरत्न]

जैन-सिद्धान्त-भवन का वार्षिक विवरण

[१९-६-४२—७-६-४३]

वीर संवत् २४६८ ज्येष्ठ शुक्ल पञ्चमी से वीर संवत् २४६९ ज्येष्ठ शुक्ल चतुर्थी तक भवन के सामान्य दर्शक-रजिस्टर में ६००० व्यक्तियों ने हस्ताक्षर किये हैं। परन्तु हस्ताक्षर करने की कृपा न करने वाले व्यक्तियों की संख्या भी इससे कम नहीं होगी।

विशिष्ट दर्शकों में से निम्नलिखित महानुभावों के शुभ नाम विशेष उल्लेखनीय हैं: श्रीमान् पं० महेन्द्रकुमार जैन, शास्त्री, न्यायाचार्य, काशी; श्रीमान् सी० एस० मल्लिनाथ, भूतपूर्व सम्पादक 'जैन-गजट', मद्रास; सर मिर्जा एम० इस्माइल, वर्तमान दीवान जयपुर; श्रीमान् पं० परमानन्द जैन, शास्त्री, सरसावा; श्रीमान् पं० बलदेव उपाध्याय, एम. ए., साहित्याचार्य, प्रो० हिन्दू विश्व-विद्यालय काशी; श्रीमान् एस. पी. प्रसाद, प्रो० साइन्स कॉलेज, पटना; श्रीमान् के. पी. सिनहा, प्रो० जी. बी. बी. कालेज, मुजफ्फरपुर। इन विद्वानों ने अपनी बहुमूल्य शुभ-सम्मतियों के द्वारा पूर्ववत् भवन की सुव्यवस्था एवं संग्रह आदि की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

पाठक : भवन के सामान्य पाठक वे हैं, जो भवन में ही बैठकर अभीष्ट ग्रन्थों का अवलोकन करते हैं। क्योंकि सर्वसाधारण जनता को ग्रन्थ घर ले जाने के लिये नहीं मिलते। इसलिये प्रायः स्थानीय पाठकों को नियमानुसार भवन में ही आकर अध्ययन करना पड़ता है। इनके लिये हर प्रकार की सुविधाएँ भी दी जाती हैं। इनके अतिरिक्त अपवादरूप में विशेष नियम से जिन-जिन खास-खास व्यक्तियों को घर ले जाने के लिये ग्रन्थ दिये गये हैं उन ग्रन्थों की संख्या ३२६ है। इन ग्रन्थों से स्थानीय पाठकों के अतिरिक्त श्रीमान् पं० महेन्द्रकुमार जैन, शास्त्री, न्यायाचार्य, स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी; श्रीमान् उमाकान्त प्रेमचन्द शाह, बडोदा; श्रीमान् प्रो० ए. आर. कृष्ण शास्त्री, महाराज कॉलेज, मैसूरु; श्रीमान् पं० परमानन्द जैन, शास्त्री, वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा; श्रीमान् पं० कैलाशचन्द्र जैन, शास्त्री, स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी; श्रीमान् गोविन्द पै, मंजेश्वर; आदि बाहर के विद्वानों ने भी लाभ उठाया है। हां, स्थानीय जैन कॉलेज ने तो भवन के संग्रह से सबसे अधिक लाभ उठाया है।

संग्रहः पूर्ववत् इस वर्ष भी मुद्रित प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी, मराठी, गुजराती, कन्नड एवं तमिल आदि भारतीय अन्यान्य भाषाओं के चुने हुये ६० और अंग्रेजी के १० कुल ७० ग्रन्थ भवन में संग्रहीत हुये हैं। अन्यान्य भाषाओं की पत्र-पत्रिकाओं की फाईलों की संख्या भी लगभग इतनी ही है।

भवन को इस वर्ष ग्रन्थ प्रदान करने वालों में स्त्रीसमाज, आरा; आर्किओलाजिकल

मैसूरु; श्रीमान् प्रो० हीरालाल जैन, अमरावती; श्रीमान् पं० के० भुजबली शास्त्री, आरा; श्रीमान् बा० नानकचन्द जैन, रोहतक; श्रीमान् बा० नेमिचन्द महावीर प्रसाद जैन, पाण्ड्या, कलकत्ता; श्रीमान् बा० केशर प्रसाद जैन, आरा; श्रीमान् पं० शिवमूर्त्ति शास्त्री बेंगलूरु; श्रीमान वीरचन्द कोदरजी गांधी, फल्टन; आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

इस वर्ष शास्त्रप्रतिलिपि का कार्य एक प्रकार से स्थगित-सा रहा। इसके दो कारण हैं: पहला कारण तो कागज का अभाव और दूसरा संस्कृतज्ञ लेखकों की अप्राप्ति। असंस्कृतज्ञ लेखकों से शास्त्रों की प्रतिलिपि कराने से विशेष लाभ नहीं होता है। बल्कि ग्रन्थों में अशुद्धियों की मात्रा और बढ़ जाती है। फिर भी 'केवलज्ञानप्रश्नचूडामणि' एवं 'वेदी-प्रतिष्ठा' ये दो ग्रन्थ बाहर से लिखवाकर मंगवाये गये अवश्य। हां, इस प्रकरण में सुदूर-वर्त्ती जैनेतर कवि हनुमान् वेंकटराय, बेल्लावे (मैसूरु) का नाम नहीं भुलाया जा सकता; जिन्होंने अपने ही से अपनी बहुमूल्य कृतियों की प्रतिलिपियाँ भवन को सादर, सहर्ष समर्पित करने की महती कृपा की है। कृतियाँ निम्न प्रकार हैं: (१) चन्द्रहासाभ्युदय, (२) निरुलगन्नडद गुरुल्, (३) भावनात्रय, [स्वतन्त्र], (४) पूर्वरामचरित, (५) उत्तररामचरित, (६) मुकुन्दानन्द, (७) कुरुकुलकलह, (८) वासवदत्तावृत्त, (९) चारुदत्त, (१०) मध्यमव्यायोग, (११) श्रीकृष्ण दौत्य [परिवर्त्तित] ये कुल ग्रन्थ कन्नड भाषा में हैं और इनकी प्रतिलिपि स्वयं कवि के अपने हाथ की है।

प्रकाशनः भवन के इस विभाग में 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' तथा 'जैन एण्टीक्वेरी' का प्रकाशन पूर्ववत् चालू रहा। इसके अतिरिक्त 'प्रशस्ति-संग्रह' [प्रथम भाग] एवं 'वैद्यसार' की प्रतियां पुस्तकाकार में विक्रयार्थ अलग तैयार कराई गई। हर्ष की बात है कि पूर्ववत् 'भास्कर' उत्तरोत्तर लोकप्रिय होता जा रहा है और बड़े-बड़े जैनेतर विद्वान् भी इसे बड़े ही आदर की दृष्टि से देख रहे हैं।

परिवर्तनः इस वर्ष निम्नलिखित बहुमूल्य पत्र-पत्रिकाएँ 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' के परिवर्त्तन में प्राप्त हुई हैं:

(1) The Indian Culture, (2) Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute, (3) The Journal of the University of Bombay, (4) The Karnatak Historical Review, (5) The Adyar Library Bulletin, (6) The Journal of the Annamalai University, (7) The Poona Orientalist, (8) The Journal of the United Provinces Historical Society, (9) The Quarterly Journal of Mythic Society, (10) The Punjab Oriental Research, a Quarterly Journal, (11) The Journal of the Royal Asiatic Society of Bengal. (12) The Journal of the Royal Asiatic Society of Bombay, (13) The Fergusson College Magazine, (14) The Journal of the Bihar and Orissa Research Society, (15) The Journal

the Benares Hindu University, (16) The Andhra University College Magazine and Chronicle, (17) The Journal of the Sri Venkatesvara Oriental institute, (18) The Journal of the Sind Historical Society, (19) The Journal of the Tanjore Sarasvati Mahal Library, (20) The Jaina Gazette. (21) The Bombay Theosophical Bulletin.

हिन्दी : (२२) नागरी प्रचारिणी पत्रिका, (२३) भारतीय विद्या, (२४) साहित्य-सन्देश, (२५) अनेकान्त, (२६) सम्मेलन-पत्रिका. (२७) किशोर, (२८) वैद्य, (२९) धर्मदूत, (३०) जैन महिलादर्श, (३१) दिगम्बर जैन, (३२) बालकेसरी, (३३) जैन प्रचारक, (३४) परवार बन्धु (३५) जैन बोधक, (३६) खण्डेलवाल जैन हितेच्छु (३७) वीर (३८) भारतीय समाचार, (३९) जैन संदेश, (४०) जैन मित्र, (४१) जैन गजट । गुजराती : (४२) सुघाष । संस्कृत : (४३) मैसूरुमहाराजसंस्कृतमहापाठशालापत्रिका, (४४) सूर्योदय । कन्नड : (४५) साहित्य परिषत्पत्रिका, (४६) प्रबुद्ध कर्णाटक, (४७) साहित्य समिति पत्रिके, (४८) जयकर्नाटक, (४९) अध्यात्म प्रकाश, (५०) शरण साहित्य, (५१) विवेकाभ्युदय, (५२) सुदर्शन । तेलगु : (५३) आन्ध्र-साहित्य-परिषत्पत्रिका ।

इनके अतिरिक्त भवन में The Indian Historical Quarterly, विशाल भारत, सरस्वती, राष्ट्रवाणी, विश्वमित्र ये भी मूल्य देकर मंगाये गये हैं ।

समालोचनार्थ प्राप्त ग्रंथ : इस वर्ष 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' में समालोचनार्थ अन्यान्य भाषा के निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध हुये हैं :

(१) षट्खण्डागम [पुस्तक ५], (२) पंचम-कर्मग्रन्थ, (३) कन्नड नाडिन कथेगलु, (४) चित्रसेनपद्मावतीचरित्र, (५) महावीरवाणी, (६) वर्धमानपुराण, (७) धर्म का आदि प्रवर्त्तक, (८) सत्यार्थ-निर्णय, (९) पावन-प्रवाह, (१०) बनारसी-नाममाला, (११) जैन झण्डागायन, (१२) पुराण और जैनधर्म (१३) जैन धर्म में दैव और पुरुषार्थ, (१४) तत्त्वार्थ-सूत्र जैनागम समन्वय आदि ।

पत्रव्यवहार : भवन एवं भास्कर से सम्बन्ध रखने वाले सैकड़ों पत्रों के अतिरिक्त इतिहास, साहित्य आदि गम्भीर विषयों से सम्बन्ध रखने वाले अनेक पत्रों का भी समुचित उत्तर भवन से दिया गया है; जिनसे बाहर के पत्र प्रेषक मान्य विद्वानों को पर्याप्त सन्तोष हुआ है ।

साहित्यिक तथा धार्मिक सभाएँ : इस वर्ष भवन में साहित्यमण्डल, साहित्य-परिषत् आदि साहित्यिक संस्थाओं के साधारण अधिवेशनों के अतिरिक्त महावीरजयन्ती आदि धार्मिक सभाएँ भी अधिक समारोह के साथ मनाई गई हैं। बल्कि हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग के सभापति तथा विश्व विद्यालय, प्रयाग के वायस चाँसलर श्रीमान् डा० अमरनाथ झा को साहित्य-परिषत्, आरा की ओर से भवन में ही मानपत्र दिया गया था ।

प्रकाशन कार्य में सहायता : भारतवर्षीय दि० जैन संघ मथुरा; विश्वविद्यालय, मैसूरु; विश्वविद्यालय, मद्रास एवं कर्णाटक-साहित्य-परिषत्, बेंगलूरु आदि संस्थाओं के प्रकाशन कार्य में भी भवन ने यथेष्ट सहायता पहुँचाई है।

सम्मतियाँ : भवन एवं इसके प्रकाशन के सम्बन्ध में कतिपय मान्य विद्वानों की शुभ सम्मतियाँ निम्न प्रकार हैं :

"I paid a hurried visit last night to the Jaina Oriental Library.

It is well stocked with valuable manuscripts relating to Jaina religion and literature.

The building is an excellent one and conviniently is situated. The library must be a source of mental enjoyment for those who visit it."

(Sir) Mirza. M. Ismail, Diwan, Jaipur.

"We were delighted to pay a visit to the centre of learnings research."

[Professor] S. P. Prasad. Science college, Patna.
[Professor] K. P. Sinha. G. B. B. College, Muzaffarpur.

"I was delighted to see the collection of rare and valuable books and manuscripts on almost all important subjects. A look at the collections will convince the visitor that important books by prominent authors find place here. The books and manscripts are not only well preserved but also well utilised. I am glad to learn that scholars living in distant places get loans of books especially manscripts from this library for their study My esteemed friend Pandit Sri Bhujbali Sastri has put his heart and Soul for the development of this library to what it is as present from what it was about 20 years ago when I first visited the place. I pray that this library may grow from more to more and be of help to many a scholar and student."

C. S. Mallinath, Ex-editor Jaina Gazette, Madras.

"आज श्रुतदेवता के इस परम पुनीत पूजास्थान को देखकर अन्तरात्मा सन्तोष से उद्वेल हो उठी। इसका संग्रह अपने ढंग का अनोखा है। फिर उसकी व्यवस्था तो श्री पं० भुजवलीजी शास्त्री की सुरुचि तथा साहित्य-प्रेम के कारण अतुलकोटि में जा पहुँची है। स्व० बाबू देवकुमारजी की जिनवाणी भक्ति के इस मूर्त्त-रूप का सम्पोषण, संरक्षण, संवृहण उनके सुयोग्य पुत्र बाबू निर्मलकुमारजी और भी उत्साह से करते रहें, यही भावना है। जैनसंस्कृति के इतिहास निर्माण में इस भवन का विशेष भाग रहा है। अनेकों अलभ्य ग्रन्थों का इसमें संग्रह है। साथ ही साथ कुछ और भी पुरातत्त्व विषयक

सामग्री के संग्रह का लघु प्रयत्न प्रारम्भ किया गया है। आशा है, कि जैन-संस्कृति-संरक्षण का यह केन्द्र उत्तरोत्तर विकास करता रहेगा।"

महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य, स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी।

"सौभाग्यवश मुझे 'सररस्वतीभवन' देखने का सुअवसर मिला। यह जैन समाज के समस्त भवनों से अपनी खास विशेषता रखता है। भवन की सुव्यवस्था देख हृदय पुलकित हो उठता है। श्रुतदेवता के मन्दिर का मूर्त्तमानरूप देखकर हृदय गद्गद् हो जाता है। भवन के अध्यक्ष श्रीयुत पं० के० भुजबलीजी शास्त्री भवन की व्यवस्था बड़ी भारी लगन एवं उत्साह के साथ सम्पन्न कर रहे हैं। स्व० बा० देवकुमारजी की जिनवाणी भक्ति का यह जीता जागता रूप देखकर बड़ी ही प्रसन्नता होती है। बाबू निर्मलकुमारजी का साहित्यप्रेम इसे और भी बढ़ाने का प्रयत्न करेगा, ऐसी आशा है। भवन में जो ऐतिहासिक सामग्री का संग्रह है और किया जा रहा है उससे जनता को यथेष्ट लाभ उठाना चाहिये।............आशा है, यह भवन उत्तरोत्तर वृद्धि करता हुआ जैन साहित्य के संरक्षण का एक ही केन्द्र रहेगा।"

परमानन्द जैन, शास्त्री, वीर-सेवा-मन्दिर, सरसावा।

"...............पुस्तकों का रमणीय संग्रह, चित्रों की सजावट, प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों का रुचिर संग्रह—इन सब वस्तुओं को देखकर चित्त पुलकित हो उठा। आरा के इस पुस्तकालय में जैन दर्शन तथा साहित्य के अध्ययन के लिये जितना सुयोग है, उतना अन्यत्र मिलना नितान्त कठिन है। इस कार्य के लिये इसके संचालक देवकुमार जैन तथा व्यवस्थापक शास्त्रीजी हमारी विपुल प्रशंसा के पात्र हैं। मेरा पूरा विश्वास है कि भगवान् महावीर के अमृत उपदेशों के प्रचार से संसार का विशेष मंगल होगा। इस महान् उद्देश्य की पूर्त्ति में इस संस्था का नाम भी चिरस्थायी रहेगा।"

बलदेव उपाध्याय एम. ए., साहित्याचार्य,
प्रो० हिन्दू-विश्वविद्यालय, काशी।

The Jaina Antiquary in English and the Jaina Sidhanta Bhaskar in Hindi are issued once in six months by the Jain Sidhanta Bhavana, Arrah, Bihar. The journals contain valuable articles regarding Jainism in its Literary, Historical and Philosophical aspects, and extremely useful to scholars. We wish the Journals a long life of research in the unexplored regions of Jaina thought, literature and History."

Journal of the Telugu Academy, Cocanada.

"The Jaina Sidhanta Bhaskara in Hindi and Sanskrit with which is in corporated the Jaina Antiquary in English is the only research Journal which the Jains should be proud to possess.'

Editor. Jain Gazette, Lucknow,

Bhaskara is a half yearly journal, devoted to the study of and research in topics pertaining to the Jain religion, history and philosophy.

Editor, The Fergusson College Magazine, Poona.

"Pray accept my cordial thanks for a copy of "The Jain Antiquray which I have found to be a source of information on Jainism. I have noticed the article on "Prabhāchandra", as particularly interesting

[Prof.] Sidheswar Verma.
Prince of Wales college, Jammu (Kashmir).

"आपके द्वारा प्रेषित 'जैन-सिद्धान्त-भास्कर' नाम की उच्च कोटि की पत्रिका कार्यालय में पहुँची। हमारी दृष्टि में सचमुच यह पत्रिका जैन सिद्धान्तों का भास्कर ही है।"

चिलुकुरि पापय्य शास्त्री,
आन्ध्र-साहित्य-परिषत्, काकिनाड।

"इस [जैन-सिद्धान्त-भास्कर] में जैनधर्म, कला, साहित्य, दर्शन, पुरातत्त्व आदि विषयों पर सुन्दर लेख रहते हैं। पुरातत्त्व के विद्यार्थियों के लिये पत्रिका उपादेय है।"

सं० धर्मदूत, सारनाथ।

"इस [जैन-सिद्धान्त भास्कर] में बराबर ठोस और स्थायी सामग्री रहती है। जैन इतिहास की अच्छी-अच्छी और खोजपूर्ण बातों को प्रकाश में लाया जाता है। प्रस्तुत अंक में सभी लेख पढ़ने योग्य हैं।

सं० जैन-संदेश, आगरा।

"It [Praśasti Sangraha] is indeed a very valuable reference book, pull of information and presented in a neat form; and it deserves to be heartily welcomed by all serious students of Indian literature in general and of Jain literature in particular. I earnestly request you to continue this work further.

Dr. A. N Upadhye M. A.; D. Litt.
Rajaram College, Kolhapur.

"It [Praśasti Sangraha] is useful compilation, very carefully prepared. I hope you will continue the work and the other parts will be published ere long. For my part I feel that the work will be of immense use."

Prof. D. L. Narsinhachar.
Maharaja College, Mysore.

"......'यह 'प्रशस्ति-संग्रह' बहुत ही खोजपूर्ण और उपयोगी प्रकट हुआ है। जो विद्वानों के लिए एवं इतिहास-प्रेमियों के लिए बड़े काम की चीज हो गई है। मन्दिरों और पुस्तकालयों के लिये तो यह संग्रहणीय है ही।......... इस पुस्तक के लिये पं० भुजबलीजी शास्त्री ने जो परिश्रम किया है, प्रशंसनीय है। इसके लिये आप अत्यन्त धन्यवाद के पात्र हैं। जैन समाज चिरकाल तक आपका ऋणी रहेगा।

सं० 'जैनमित्र' सूरत।

"..........प्रस्तुत ग्रन्थ देवकुमार-जैन-ग्रन्थमाला का पञ्चम पुष्प है। जैन ग्रन्थों की प्रशस्तियों में इतिहास की अपूर्व सामग्री भरी पड़ी है। किन्तु उसके संग्रह की ओर अभी तक किसी ने क्रियात्मक ध्यान नहीं दिया था। पं० भुजबलीजी शास्त्री के सदुद्योग से भवन में संग्रहीत हस्तलिखित ग्रंथों में से ५४ संस्कृत, प्राकृत ग्रन्थों के मंगलाचरण, प्रशस्ति आदि का प्रथम संग्रह प्रकाश में आया है। प्रत्येक ग्रन्थ के प्रशस्ति-संग्रह के अन्त में शास्त्री-जी ने हिन्दी भाषा में उसका विवेचन भी किया है। और इस तरह साधारण पाठकों के लिये भी वह लाभदायक और रोचक बन गया है। इस एक पुस्तक को ही पास में रखने से पाठक ऐसे ५४ शास्त्रों के बारे में बहुत-सी बातें जान सकेंगे, जिनका प्रकाशित होना अभी कठिन है। अतः प्रत्येक शास्त्रप्रेमी को इस पुस्तक की एक प्रति अवश्य मंगानी चाहिये। बड़े-बड़े अजैन विद्वानों ने इसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। हम शास्त्रीजी तथा बाबू निर्मलकुमारजी को उनके इस अत्यावश्यक सफल प्रयास के लिये हार्दिक धन्यवाद देते हैं। आशा है, इसी प्रकार भवन में संग्रहीत कुल ग्रन्थों की प्रशस्तियों के संग्रह प्रकाश में आ जायँगे। और उनसे जैन साहित्य और इतिहास का महान् कल्याण होगा।"

पं० कैलाशचन्द्र जैन, शास्त्री
सं० जैन सन्देश'।

"..........'जैन-सिद्धान्त भास्कर' में बहुत समय से हस्तलिखित प्राचीन ग्रंथों की प्रशस्तियां छप रही थीं। उनका संग्रह करके यह ग्रन्थ अभी प्रकाशित हुआ है। इसमें न्यायमणिदीपिका, प्रमेयकण्ठिका, जिनयज्ञफलोदय आदि ५४ शास्त्रों की प्रशस्तियां छपी हैं। जिनमें आदि मंगलाचरण के श्लोक व अन्तिम प्रशस्ति दी गई है। शास्त्र का विषय भी वर्णित है। अतएव यह संग्रह अत्यन्त उपयोगी प्रकाशित हुआ है। ग्रन्थों के रचयिता ३९ विद्वानों की सूची भी दी गई है। तथा आचार्य श्रीमुनि, आर्यिका आदि के नामों की अनुक्रमणिका (कोश) लगभग ११०० शब्दों का दिया गया है। यह संग्रह इतिहास प्रेमियों के लिये बड़े काम का सिद्ध होगा। प्रत्येक जैन-मन्दिर के भण्डारों में व पुस्त-कालयों में मंगाकर रखना चाहिये। वस्तु संग्रहणीय है। शास्त्रीजी का खोजपूर्ण सफल परिश्रम प्रशंसनीय है।"

ब्र० पं० चन्दाबाई जैन,
सं० 'जैन महिलादर्श'।

भुजबलिचरितम्

श्रीमोहलक्ष्मीमुखपद्मसूर्यं नाभेयपुत्रं वरदोर्बलीशम् ।
नत्वादिकामं भरतानुजातं तस्य प्रशस्तां सुकथां प्रवक्ष्ये ॥१॥
आनन्त्याकाशमध्ये त्रिजगदनिलतः सन्ति (?) तन्मध्यलोके
सन्ति द्वीपाब्धिवृन्दाः सहवलयिता हारदाद्या (?) वृतोऽसौ ।
जम्बूद्वीपोऽस्ति तस्मिन् कनकगिरिवरो भाति तद्दक्षिणस्या-
माशायामस्ति भास्वद्भरतवर्षतो मध्यगोत्तारशैलः ॥२॥
तच्छैलामलपुष्पलिट्पद इव प्रोद्भासमानं सदा
गंगासिंधुनदीविभागविलसत्षट्खण्डभूमण्डलम् ।
आर्या (?) खण्ड इति त्रिषष्ठिसुशलाकापूरुषोत्पत्तिनि-
मित्तो भात्युपलावणाब्ध्युपनदीभिः पञ्चखण्डात्मकः ॥३॥
तत्खण्डपद्म...............उदग्रदेशाः
......द्राविडनामदेशो मातीव सौभाग्यरथाधिवासः ॥४॥
तद्देशलक्ष्मीमुखमण्डलेव भाति प्रशस्ता मधुरा पुरी सा ।
तां रक्षतीहात्र (?) ललामतोऽसौ श्रीराजमल्लक्षितिपाग्रगण्यः ॥५॥
श्रीदेशीयगणाब्धिपूर्णमृगभृच्छ्री......नन्दिव्रति-
श्रीपादाम्बुजयुग्ममत्तमधुपः सम्यक्त्वरत्नाकरः ।
श्रीमज्जैनमताब्धिवर्धनसुधासूतिर्महीमण्डले
पौलोमीश्वरवैभवो विजयते श्रीराजमल्लो विभुः ॥६॥
आहारादिचतुर्विधोत्तममहादानानुरक्तः सदा
सर्वज्ञोदितदिव्यशास्त्रसुकलावाराशिपारंगतः ।
भास्वज्जैननिवासजैनवरबिम्बोद्धारधौरेयतो
रेजे सद्गुणभूषणो बुधनुतः श्रीराजमल्लो नृपः ॥७॥
अद्रौ रत्नगणायते सुरसरिन्मध्येऽरुणाब्जायते
दिङ्नागव्रजमस्तके सुचिरसिन्दूरायते सम्प्रति ।
दिक्कान्ताकुचमण्डले घसृणसत्पुञ्जायते शौर्यव-
त्तेजो वरराजमल्लनृपतेरन्यानशोकायते ॥८॥

स्नात्वा देवापगायां सुरुचिरविलसच्चन्द्रिकाशुभ्रवस्त्रम्
धृत्वा मुक्ताभरणममलिनं भूषयित्वा त्रिशुद्ध्या ।
स्वर्धेनुक्षीरधारादरकुजकुसुमैः पुष्पवृष्टिं करोति
तत्कीर्त्तिप्रेयसी.... ....श्रीराजमल्लक्षितीन्द्रः ॥६॥
त्वन्मूर्त्तिः सुरपादपस्तव भुजस्तज्जातस्पर्शात्मकः
तव करांगुल्यः स्वर्धेनुस्तनाः (?)............
त्वत्पदावलिनखांकुरसुरमस्तविद्वज्जिसिद्धोरसः (?)
त्वद्वाक्यं तु सुदेवदानसमयो हे राजमल्लप्रभो ॥१०॥
तस्यामात्यशिखामणिस्सकलवित् सम्यक्त्वचूडामणिः
भव्याम्भोजवियन्मणिस्सुजनवन्दिव्रातचिन्तामणिः ।
ब्रह्मक्षत्रियवंशशुक्तिसुमणिः कीर्त्यौघमुक्तामणिः
पादन्यासमहीशमस्तकमणिश्चामुण्डभूपाग्रणीः ॥११॥
प्रभातकाले नृपराजमल्लः स्नात्वा च मौनादिकसत्क्रियाश्च ।
कृत्वा जिनेन्द्रं परया च भक्त्या स्तुत्वा महालंकृतिमान् बभूव ॥१२॥
मणिप्रभामण्डितसिंहपीठेऽप्यास्थानमध्यप्रविभासमाने ।
अतिष्ठदुद्यद्दिवसाधिपोसाविनप्रपूर्वाचलशेखरस्थः ॥१३॥
अमात्यचूडामणिना नृपोऽसौ चामुण्डनाम्ना सह सत्सभायाम् ।
वाचस्पतिव्यक्तसुरेन्द्रशोभां चकार सर्वावमराख्यकायाम् ॥१४॥
कश्चिद्वणिग्वंशललामभूतः प्रविश्य राज्ञश्च सभान्तरालम् ।
महीतलालिंगितविग्रहस्सन प्रणम्य चोवाच कथां सुवार्ताम् ॥१५॥
स्यादुत्तरस्यां दिशि पौदनाख्या पुरी विभाति त्रिदशाधिपस्य ।
पुरप्रभास्वत्प्रतिबिम्बितादर्शमेव जैनक्षितिमण्डलेऽस्मिन् ॥१६॥
तत्पत्तने श्रीभरतेश्वरेणादिब्रह्मपुत्रेण कुलंकरेण ।
राजर्षिणा चादिमचक्रिणा सुनिर्मापितं बाहुबलीन्द्रबिम्बम् ॥१७॥
पञ्चसप्ततिविहीनषट्शतोद्धचापसमविग्रहोच्छ्रितः ।
चारुबाहुबलिविग्रहश्च कर्केतनोपलविराजितो भुवि ॥१८॥
पश्यतीव हसतीव सुवाक्यं जल्पतीव सदकृत्रिमबिम्बम् ।
तिष्ठतीव वरपौदनपुर्यां भाति बाहुबलिसुप्रतिमासौ ॥१९॥

श्रीगुम्मटाभिनवनामविराजितोऽसौ
श्रीबाहुबल्युरुतरप्रविभासमानः ।
श्रीचारुसत्प्रतिकृतिर्नमक (?) द्वयस्य
मूर्त्तीयमार्कइरिताद्रिरिवोरु (?) भाति ॥२०॥

अकृत्रिमार्हत्प्रतिमापि कायोत्सर्गेण भातीव सुकामधेनुः ।
चिन्तामणिः कल्पकुजः पुमानाकृतिं विधत्ते जिनबिम्बमेतत् ॥२१॥

श्रीपादचारुनखजानुसदूरुयुग्म-
नेत्रं विबिम्बावलिनापि सुहस्तव्रहम् (?) ।
कण्ठास्यकर्णलसदोष्ठसुनासिका हि
भ्रूभालकुन्तलमहो जिनपुंगवस्य ॥२२॥

पदादिदोरन्तिमवेष्टिता सद्वल्ली महाबाहुबलेर्जिनस्य ।
आकर्षणार्थं वरमोक्षलक्ष्म्या त्यक्ताब्जवल्लीव सदा विभाति ॥२३॥

इत्थं जिनेन्द्रप्रतिमाप्रभावं श्रुत्वातिहृष्टो नृपराजमल्लः ।
चामुण्डराजोऽपि तथातिहृष्टः सम्यक्त्ववरत्नाकरपूर्णचन्द्रः ॥२४॥

तदा नमस्कृत्य तमेव भूपं सभान्तरालात्स्वगृहं प्रविश्य ।
तद्वृत्तकं मातुरवोचदेतच्छ्रुत्वा तदानन्दपरा बभूव ॥२५॥

सुतेन सार्धं वरकालिकाम्बा गत्वा जिनाधीशगृहं त्रिशुद्ध्या ।
स्तुत्वा जिनेन्द्रं स्वगुरोर्गुरुश्च श्रीसिंहनन्द्यार्यमुनिं प्रणम्य ॥२६॥

श्रीभूभृद्राजमल्लव्रतगुरुरमलः सत्तपश्शीलजालः
श्रीमद्देशीगणाम्भोरुहविकसनसामर्थ्यमार्तण्डबिम्बः ।
प्रोद्यद्वादीभसिंहः सकलगुणनिधिः सर्वशास्त्रस्य कर्ता
रेजे सिद्धान्तवेदी सुरनुतचरणः सिंहनन्द्यार्यवर्यः ॥२७॥

पश्चात्साजितसेनपण्डितमुनिं देशीगणाग्रेसरम्
स्वस्यापत्यसुबुद्धिवार्धिशशिनं श्रीनन्दिसंघाधिपम् ।
श्रीमद्भासुरसिंहनन्दिमुनिसांघ्र्यं भोजरोलंबकम् ।
चानम्याप्रवदत् (?) सुपौदनपुरिश्रीदोर्बलेर्वृत्तकम् ॥२८॥

तच्छ्रीबाहुबलीशचारुतरसद्बिम्बस्य सन्दर्शनम्
नो कृत्वा न पिबाम्यहं पय इति क्षीरव्रतं धारये ।

तद्योगीन्द्रपदाम्बुजातनिकटे चामुण्डभूपाग्रणीः
तत्त्वीरव्रतमप्यसौ गुणमणिः सोऽधारयद्भक्तितः ॥२६॥
पुनर्नमस्कृत्य मुनीन्द्रपादं श्रीराजमल्लं प्रतिगम्य भूपम् ।
मनोगतार्थं स बभाण तस्य प्रयाणयत्नञ्च चकार रागात् ॥३०॥
श्रीसैद्धान्तिकचक्रिणा मुनिवरश्रीनेमिचन्द्रेण त-
च्छिष्याग्रेसरयोगिभिर्बुधजनैः सार्धं जनन्या सह ।
हस्तिव्रातरथाश्वपत्तिनिकरैः साकं प्रतस्थे शुचि-
लग्ने वाद्यरवावृते दिशि पुरा चाखण्डपृथ्वीश्वरः ॥३१॥
मार्गे मार्गे यत्र यत्र प्रवासं चक्रे राजा तत्र तत्रार्हदीयम् ।
कृत्वा कृत्वा श्रीगृहं पूजयित्वा सेनाव्यूहं धन्यवन्तं चकार ॥३२॥
उत्तराभिगमनं विरचय्यागत्य कंचिदपि योजनमात्रम् ।
विंध्यशैलमपि सोऽपि ददर्श क्ष्मारमासुकरकन्दुकसाम्यम् ॥३३॥
तच्छैलसानुनि तटे ललिताख्यचारुपद्माकरस्तदचलप्रभुदर्पणाभः ।
आभात्यसौ तदधरे [खलु] पार्श्वदेशे सेनाग्रजश्च निवसेत्(?)क्षितिपाग्रगण्यः॥३४॥
ह्रस्वाद्रिस्तदवनीभृत्कुबेरकाष्ठायां तद्भूधरशिखरेऽस्ति जैनवासः ।
इत्येवं नृपतिशिखामणेरवोचत्कश्चित्किङ्कर उदधेर्गभीरकस्य ॥३५॥
श्रुत्वा तदा जिनगृहं प्रतिगम्य भक्त्या स्तुत्वा जिनेन्द्रवरबिम्बमघातवज्रम् ।
श्रीनेमिचन्द्रमुनिना सह भूमिपालो निद्रां चकार निशि तद्गृहमण्डपेऽसौ ॥३६॥
कूष्माण्डी तन्मुनीशस्य च तदवनीपालकस्याम्बिकायाः
स्वप्ने चातुर्थयामेऽभणदतिकठिनो मार्ग इत्यग्रे (?) गन्तुम् ।
शैलेऽस्मिन्नावणेशेन विकृतभुजबल्युद्धबिम्बं प्रसन्नैः
त्वद्भक्तिप्रेरितैः काञ्चनमयविशिखैर्जायते ह्यद्य भूप ॥३७॥
दृष्ट्वा शुभस्वप्नमपि क्षितीशः सुप्रातरुत्थाय जिनं प्रणम्य ।
गुरुञ्च नत्वा जननीं प्रवंद्य स्वप्नं ददर्शेति बभाण दिव्यम् ॥३८॥
तद्वत्सुस्वप्नमावाभ्यां दृष्टं तत्फलकारणम् ।
यत्नं कुरु नृपालेति बभाण मुनिपुंगवः ॥३९॥
स्नात्वालंकारयित्वा मुनिपतिनिकटे चोपवासञ्च कृत्वा
दाक्षिण्याशाननः सन् समपदयुगलः कार्मुकात् स्वर्णबाणान् ।

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. IX. JUNE, 1943 No. I

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
Babu Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

Published at
THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs. 3. Foreign 4s. 8d. Single Copy Rs. 1-8

CONTENTS.

JAINA LITERATURE IN TAMIL

By

Prof. A. Chakravarti M. A., I. E. S. Published by The Jaina Siddhānta Bhavan, Arrah (Bihar) Rs. 2.

The remarkable contributions of Jaina authors to the different languages of India are discernible in the history of Indian Literature through the ages and Tamil is no exception The Sangham Literature abounds with Jaina authorship. In a cursory survey of Tamil Literature, (in which the author gives a summary of each of the main Tamil Kavyas), Prof. Chakravarti brings out the prevalence of Jainism in ancient Tamil Nadu, and traces the manners and customs of the Tamils from these books. The author traces the vegetarianism of the Tamil Brahmin and the Tamil Vellalas to the over-riding influence of the doctrine of Ahiṁsā of Jainism as preached 2,000 years ago in the Tamil classics. Since practically the whole of the ancient Sangham Literature is covered in this survey of Jaina authors, it will serve as a useful introduction for non-Tamilians to the history of ancient Tamil literature. There is an useful index of the authors and the works referred to in the book. The author's arguments for fixing some of the authors as Tiruvalluvar are interesting. The historian, the student of comparative religion and the student of Tamil literature will all alike benefit by a study of this book.

Indian Express

Om

The JAINA ANTIQUARY

" श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥ "
[अकलंकदेव]

Vol. IX No. I | ARRAH (INDIA) | June, 1943.

The Jaina Theory of Anekanta-Vada.

By
K. C. Bhattacharya.

The *Jaina* theory of *anekānta-vāda* or the manifoldness of truth is a form of realism which not only asserts a plurality of determinate truths but also takes each truth to be an indetermination of alternative truths. It is interesting as suggesting a criticism of present-day realism and indicating a direction in which its logic might be developed. It is proposed in the present paper to discuss the conception of a plurality of determinate truths to which ordinary realism appears to be committed and to show the necessity of an indeterministic extension such as is presented by the *Jaina* theory.

The truth that we actually know is a plurality of truths and philosophy rightly or wrongly, sets itself the problem of finding the *one* truth which either denies or in some sense comprises the plurality. Whatever differences there have been as to the actual conception of the truth, the rejection of the faith that there *is* one truth has generally been taken to argue a scepticism about the many truths that we claim to know. Sometimes however an ultimate plurality of truths has itself been taken as the one truth and the apparent contradiction has been sought to be avoided by taking it to mean only that there is *one cognition* of the plurality. Elsewhere the cognition of a

fact is a further fact but here the addition of cognition as a fact to plurality as a fact yields us nothing but the plurality. The realistic or objectivistic equivalent of the unity of a cognitive act is the bare togetherness of the facts known; and the togetherness of cognition as a fact with the fact cognised is the exemplar of this relation.

The difficulty is about the objectivity of this bare togetherness. When two objects other than knowing are known together, they are ordinarily taken to be in some kind of whole, specific relation or unity. This cannot be said of object and its cognition as together. Objects also may however be barely together; the relation of a whole to its elements, of a relation to its terms or of a unity to its factors is nothing more specific than togetherness. This then is the fundamental category of realism and whole, relation or unity would be understood as particular cases of it. We propose to show on the lines of the *Jaina* theory that this category is itself manifold, being only a name for fundamentally different aspects of truth which cannot be subsumed under a universal and do not make a unity in any sense. Togetherness, as ordinarily understood by the realist, means distinction of determinate positive truths. The *Jaina* category might be formulated as distinction from distinction which as will be shown has a definite range of alternative values. only one of which answers to the distinction or togetherness of the modern realist.

Prima facie there is a difference between the relation of a composite fact with its components and the relation of the components themselves. We may overlook for the present the different forms of the composite—whole, relation or unity – which imply varying relations to the components and provisionally admit composite truth as a single entity. Now there is no difference between the togetherness of any one component with the rest and that of any other with the rest: the components in their various combinations are together in exactly the same sense. Taking however the composite on the one hand with the components on the other, we find that the two sides can be only thought alternately: while one side is thought by itself, the other can be thought only in reference to it. If the components are taken to be given, the composite can be understoad as only *their*

plurality, and if the composite is given as one, the components are known as only *its* analysis. Each side can be given by itself as objective and so it is not a case of mere correlative *thoughts.* Neither side need be thought in reference to the other; but while one is thought as distinct by itself, the other has to be thought as only together with or distinct from it. We have in fact a correlation here between 'distinct in itself' and 'distinct from the other,' between given position and what is sometimes called the negation of negation.

Is the necessity of thinking something *as other than its other* merely subjective? It would appear to be objective in the same sense and on the same grounds as the togetherness or bare distinction of positives admitted by the realist. Realism objectifies the subjective because it is *known* and is not simply transcendental. The question may be asked, is the distinction of subject and object, of knowing and the known, both taken to be facts—'enjoyed' and 'contemplated' respectively, to use Professor Alexander's phrase—a fact of the former or of the latter category, subjective or objective? Now just as knowing is known, the absolute difference of the two forms of knowing—enjoying and contemplating—is also known; and if the unity of the knowing act be taken to correspond to objective togetherness, this absolute difference must also be taken to have its objective counterpart. Togetherness or bare distinction is the form of objectivity in general. The counterpart then of the difference of 'subjective' knowing or 'enjoying' from objective knowing or 'contemplating' would be distinction from objectivity i.e. from distinction. Thus both distinction and distinction from distinction should be taken by the realist as objection. These two howeverare not ordinarily distinguished: both are called by the same name—togetherness.

If however as shown these two forms of togetherness are fundamentally different, what is their further relation? Now distinction from distinction has sometimes been taken as a determinate relation, as identity or some unique relation like 'characterising' or adjectivity, which also for our present purpose we may call a peculiar form of identity. The problem is accordingly about the relation of identity and distinction in the objective. We may consider two forms of identity as presented by the Hegelian and the *Nyaya* sytems respec-

tively. The *Nyaya* is avowedly a realistic system and the Hegelian theory may also in some sense be taken to be realistic. Realism proper, as we canceive it, has no place for the relation of identity in the objective except in a factitious sense, although it should—what it ordinarily does not—admit distinction from distinction as a specific category. The above two theories however admit both identity and distinction though they do not stress them in the same way. The Hegelian subordinates distinction to identity while the *Nyaya* assigns priority to distinction. The *Jaina* theory admits identity only in the sense of indeterminate non-distinction; and it takes the two relations to be coordinate without subordinating any one to the other

In what sense does the Hegelian subordinate distinction to identity? No doubt he emphasises distinction to distinguish his concrete identity from abstract or formal identity but he does not admit—what a realist would admit—that an object can be distinct in itself and need not be in a comprising identity. The dialectic movement ends in an absolute identity, not in an absolute distinction. The thesis and antithesis at any stage are said to be reduced to 'ideality' in the synthesis, to be not only contained but transformed by it. The identity progresses in concreteness in the sense that it dissolves in itself a deeper and deeper diflerence; but the absolute in the last resort is taken as the identity of the deepest differences, not as incommensurable bifurcations of an identity.

What however is this relation of *subordination* of distinction to identity? Distinction is in some sense negated by the identity: it is said to be dissolved or reduced to 'ideality' in the identity. Not that it is negated in the sense an illusory percept is said to be negated by a true percept: difference or the rich variety of the universe is not an illusion. If then difference still retains some kind of being, what is the name of the relation between this being and the being of the identity? Should it be call identity again, as apparently the Hegelian would call it? Identity then would occupy two positions: the synthesis or the composite as we may call it is the identity *of* the different factors and is also identical *with* them, being thus at once a relation and a term.

The Hegelian ordinarily understands identity as mutual implication or correlation. If A and B imply one another, each being wholly intelligible by the other, they are said to be identical. In this sense a synthesis would be taken as the identity of its factors. Is the identity of the synthesis *with* the retained being of the distinction within it also to be understood in the sense of mutual implication? The two implications that make up mutual implication must be envisaged as substantially different truths and must not be a purposeless repetition of each other in different verbal order only. If a synthesis and its factors be mutually implicatory, the synthesis implying the the factors must mean some thing concretely different from the factors implying the synthesis. It cannot mean simply that the factors are *presupposed* by the unity; for that means substantially the same thing as that the factors presuppose the unity. The two sides are but the verbal explications of the same fact viz the thought of identity-in-difference or synthesis. Synthesis implying the factors should mean then that the unity must break out *actually* into difference. In the last resort it will amount to saying that the Absolute should be *experienced*, not merely *thought*, as necessarily reproducing itself in actuality. But is the actual universe *experienced* as necessary? It is only thought to be necessary; and accordingly the implication by the Absolute of actual differences—the necessity of its self-reproduction—is not distinct as a substantial truth from the mere *presupposition* of the Absolute by the universe.

The identity then of a synthesis with the retained being of the distinction within it is not an identity in the sense of mutual implication. If the relation be still called identity, it must be taken as simply intuited, as all identity is taken to be in the *Nyaya*. Apparently then the Hegelian, while subordinating distinction to identity, has to admit two utterly different kinds of identity, corresponding to the difference of thought and intuition, which cannot be reduced to further identity. This however is a contradiction.

A similar contradiction may be brought out in the *Nyaya* view. Here however we start with the priority of distinction to identity and we have to end, as will appear presently, by admitting an identity

that is not distinct from any thing at all. Confining ourselves to positives, we have synthetic identity of positives in this system in the form of *Samavāya* or the relation of inherence Without going into the subtle technicalities of the *Nyaya* in this connection, we may indicate that *Samavāya* is understood by it as the relation of attribute to its substratum and of a whole to it parts. It is a relation of distinct objects and is regarded as what is presupposed by every other relation of existents. It *is* not a mere formal relation of identity; the distinction of the terms of this relation is taken to be real and to be in no sense superseded by it. Hence it is not *called* identity in this theory but it is pointed out that one term of the relation—attribute or whole—exists inseparably from the other—substratum or part, the inseparability being *eternal* although no term may be infinite or permanent. This eternal inseparability may accordingly be regarded as a form of concrete identity.

Now this identity is taken as knowable by perception, unlike the implicational identity of Hegel which is supposed to be known only by necessary thought. As a percept it is a distinct among distincts, not as in the Hegelian theory comprehensive of the distincts. Ultimately there are objects like the simple atoms distinct in themselves and not inhering in anything beyond them. Other objects like attributes and wholes exist as distinct but inseparable from their substrata. Finally the relation *Samavāya* or this concrete identity is also a distinct object Thus priority is assigned, as has been pointed out, in this system to distinction.

The relation of *Samavāya* implies three grades of distincts—objects that must be in some substratum, the substrata, and the relation itself. The question may be asked if relation is a distinct being in the sense in which the objects of the other two grades are distinct. These objects are distinct as the terms of the relation: objects which do not inhere in anything are still determinate as having attributes and wholes inhering in them. Not that the knowledge of a substance presupposes the knowledge of what inheres in it: it is known as distinct prior to the analysis. But in point of being, every object except relation must either have something inhering in it or

itself inhere in something else or be in both these situations. Relation is not itself related to anything beyond, for then there would be a *regressus ad infinitum*. It is a distinct existent only by self-identity or *sva-samavāya.*

Self-identity however is not a relation of distincts at all. Granting — what is not admitted by all – that *Samavāya* is known by perception, this self-identity or *Sva-samavāya* is not a perceptible fact but is only an artificial thought-content. Self-related means unrelated in the objective. *Samavāya* is certainly *known* along with its terms but as a fact, it is only unrelated and cannot be even said to be definitely differrent from its terms. Can it then be determinate in itself ? It may indeed be conceded that the determinateness of a related term does not in point of being depend on its relations: the relation of a term *presupposes* an intrinsic determination in the term But that need not mean that the term is itself unrelated and has relation only added to it. In point of being the relation of *Samavāya* is eternal and so the related term is never unrelated, though as a term it is distinguishable from the relation. Relation then as an unrelated term is not even determinate and it is a contradiction to speak of it as self-related or unrelated and yet as determinate.

In the two conceptions of identity-in-difference above considered, the subordination of either relation to the other appears to lead to a contradiction. Shall we then take the relations to be merely coordinate ? We may take one type of such a view as presented in a work on logic by W. E. Johnson (Vol. I, chapter xii). In the last two views, a term A can be both identical with and other than B. The present view denies it and keeps to the commonsense principle that distincts cannot be also non-distinct. Yet identity as a relation is admitted : a term X, viewed in connexion with the distincts A and B, would be said to be identical as against the distinction of A and B. Identity of X here practically means its self-identity : it is not merely the thing X but a relation in reference to the distinction. Identity of X thus implies a distinction outside X viz, between A and B, not any distinction or plurality within itself.

The so-called mutual implication of the identity and distinction of two terms M and N means according to this view their identity *in one*

respect a and their distinction in another *b*: the two relations are presented together, each being known independently. It amounts to saying that M and N are in the two relations, the *same* two terms only in a factitious sense. They are two pairs of terms— *Ma Na*, and *Mb Nb* –presented together; and the identity of *Ma, Na* means that they are only different symbols of P.

But what does symbol of P mean, it may be asked. Can we simply say that *Ma, Na* are P as in connexion with i.e. as distinct from and together with *Mb, Nb* respectively? Apparently P *has* to be thought in two positions, The difference of symbols is not accidentally together with the identity P: it cannot be got rid of and cannot in the last resort be taken to be *outside* the identity, like the difference of *Mb, Nb*. In other words, a new relation—other than the mere coordinateness of distincts—has to be admitted between P and its ultimate symbols or thought-positions. So far as the identity of P can be distinguished from this relation, it is only P-*ness* and not P; and the relation itself is but the particularity of P. The identity of a determinate thing then disappears and gives place to a dualism of the abstractions–thinghood and particularity.

Ordinary realism starts with the determinate thing and would resist this analysis as artificial. But the alternative would appear to be to take the determinate thing as simply given, as implying no identity and to reject self-identity as only a meaningless phrase. What precisely is meant by 'simply given'? It can only mean 'independent of all particularising or symbolising thought.' It is to assume that the distinct exists apart from distinguishing. If this is justified simply by the circumstance that the distinction between the subjective and the objective is itself a known object, we come back to the old difficulty about distinction within the objective and distinction from the objective. Distinction from the objective, taken as itself objective, implies that knowing is known as distinct from the known i.e. *as unknown*. If this is not a contradiction, knowing can only be understood as the *indefinite* that is known (i.e. is definite or objective) *as* the indefinite. The realistic equivalent of the relation of object and subject then is the relation of the definite and indefinite.

The objective indefinite has been admitted by some logicians with a realistic tendency e.g. by L. T. Hobhouse in his *Theory of Knowledge.* The content of simple apprehension which to him is the standard fact is at once definite and indefinite. What is apprehended is a definite with an indefinite background The indefinite as apprehended is so far definite but it is definite *as* indefinite, not as superseding the indefinite. Yet to Hobhouse there is knowledge only so far as the content is defined by abstraction The knowledge of the indefinite as such is not regarded as necessitating any modification of the forms of definite knowledge The difference of the definite and the indefinite is not understood as other than the difference between two definites. There is the other obscure relation approximating to adjectivity or identity indicated by the phrase 'definite indefinite.' But this relation, if not denied, is not considered by him at all. The *Jaina* recognises both these relations explicitly and obtains from their contrast certain other forms of truth, simpler and more complex.

The obscure relation in the content 'definite indefinite' requires elucidation. If the indefinite is definite *as such,* is this definiteness an objective character ? To the realist, thought only discovers but does not constitute the object. Bare position corresponding to the simple positing act of thinking must then be objective. The indefinite is thought as *indefinite* and by the same logic the indefiniteness is also objective. The 'definite indefinite' is thus a fact but the two elements of it are incompatible in thought. The factual equivalent of this incompatibility would be disconnexion or *no-relation :* the two elements cannot be said to be related objectively even in the way of distinction. Yet as the elements have to be thought together, their togetherness is to be admitted as objective in the same abstract sense. Here then we have *togetherness of unrelated or undifferenced elements.* We can not deny a plurality nor can we affirm a definite distinction : the relation is a magical alternation. This would be the *Jaina* equivalent of the relation of identity. We may call it non-difference, distinction from distinction or indeterminate distinction.

If the given indefinite is definite *as* indefinite, the given definite is definite *as* definite. The given definite thus turns out to be a

manifold, in contrast with the given indefinite. If the adjective 'definite' in 'definite indefinite' be objective, it is also objective in 'definite definite' and distinguishable from the substantive 'definite'. We use the terms adjective and substantive only in a provisional way. The adjectival definite is objective thought-position and the substantive definite as contrasted with it is objective given-ness, or existence in general. As they are both distinct, their relation is definite distinction or differenced togetherness. Thus we have two modes of togetherness—differenced and undifferenced. The *Jaina* calls them *kramarpaṇa and saharpaṇa* respectively—consecutive presentation and co-presentation, as they might be translated. To him the indeterminism or manifoldness of truth (*anekanta*) presents itself primarily in these two forms of difference and non-difference.

The two definites in the phrase 'definite definite' mean thought-position and given-ness. They answer precisely to the elements of the determinate existent—viz. particularity and thinghood—which we obtained from the coordinateness of identity and distinction. In order to avoid the apparently artificial analysis, the realist takes the determinate existent as merely given. It is indeed given but so is the indefinite also given and the contrast of the two brings out the circumstance that the determinate existent is manifold—the very analysis that was sought to be avoided. The determinate existent then implies the distinct elements and is at the same time distinct from them.

Such is the logical predicament that is presented everywhere in the *Jaina* theory. It may be generalised as a principle : the distinction from distinction is other than mere distinction and yet asserts the distinction. It is just the realistic equivalent of the simple statement that the subject is distinct from the object and *knows* this distinction, or as it may be put more explicitly, that the knowing of knowing is the knowing of knowing *as referring to the object*. As we have already suggested, the different basal categories of objectivity with which the different forms of realism are bound up answer to the different aspects of the act of knowing. If knowing is a unity, the known is a plurality, the objective category being distinction or togetherness.

If knowing is itself a duality of 'contemplating' and 'enjoying', the known or the contemplated is a duality of distinction and distinction from distinction. If finally knowledge is *of* the object, *refers to* the known, the known must present an equivalent of this *of-relation* or *reference.*

What is this *of-relation*? It is the relation of knowing and its content, the knowing or assertive function which is sometimes identified with the function of meaning. It is a relation, not of two contents, but of content and no-content, of being and no-being—something that is neither the one nor the other and is intelligible only by the concept of *freedom that can neither be said to be nor not to be.* This freedom, stripped of its subjective associations, is but the category of indetermination. Distinction and identity infact—or as we call them differenced togetherness and undifferenced togetherness (of particularity and thinghood)—are themselves related in the way of indetermination or alternation: particularity and thinghood are in *each* relation without being in the other relation *at the same time.* Identity is distinct from distinction and yet implies it i.e. is in alternation with it. There are thus three basal categories—viz. distinction, distinction from distinction as other than distinction, and the indetermination of the two. Ordinary realism is based on the first category, there are forms of realism that admit some kind of definite identity as distinct from distinction, and finally *Jaina* realism admits both in the form of indetermination, the identity being iuterpreted as indefinite.

The *Jaina* develops this category of indetermination into seven alternative modes of truth. The indetermination is ultimately of the definite and indefinite. Now this yields two relations—definite distinction between them and indefinite distinction. But indefinite distinction between them is to our knowledge nothing other than the indefinite as a term of it: we do not know more of the indefinite than that it is indefinite. The most complex mode of truth then that we know is the definite distinction between the definite and the indefinite or as we put it more explicitly, between the definite-definite and the definite-indefinite. Every other aspect of truth, as we shall see presently, is implied by it as distinct from and alternative with it.

Now the definiteness of the given indefinite, as has been shown already, though objective, sits lightly on the indefinite and is a detachable adjective. The conception of detachable definiteness being thus obtained, the given definite turns out to be a manifold, to be a togetherness or distinction of two definites—the detachable definite on the one hand or particular position which has no reference to existence or non-existence and givenness or existence in general on the other which as contrasted with the particular i.e. as characterless may be called its negation. No other negation is admitted by the *Jaina* to be objective : what is called absolute negation—one form of which is the contradictory—i.e. the negation of what it is not possible to affirm at all is to be rejected as not objective, as no truth at all. The definite-definite or the determinate existent may then be said both to be and not to be : particularity or pure position is its being and existence in general is its negation. There is no contradiction if we bear in mind that the being of pure position is not given existence but only what must be thought, what is objective in this sense. The same logic is sometimes expressed by saying that a determinate existent A *is* in one respect and *is not* in another respect. This does not simply mean that A is A and is not B : it means that existent A, as existence universal, is distinct from its particularity.

The determinate existent is, in the sense explained, being and negation as distinguishably together, together by what the *Jaina* calls *kramarpaṇa*. The given indefinite—the 'unspeakable' or *avaktavya* as it has been called—as distinct from the definite existent, presents something other than this 'consecutive togetherness' : it implies *saharpaṇa* or co-presentation which amounts to non-distinction or indeterminate distinction of being and negation in the above sense. It is objective as given : it cannot be said to be *not* a particular position nor to be *non*-existent. At the same time it is not the definite distinction of position and existence : it represents a category by itself. The commonsense principle implied in its recognition is that what is given cannot be rejected simply because it is not expressible by a single positive concept. A truth has to be admitted if it cannot be got rid of, even if it is not understood

So far then we have obtained four modes of truth—being,

negation, their distinction and their non-distinction—all implied by the distinction between the definite given and the indefinite given. Now this distinction is itself a mode of truth ; and as the definite given is taken to be being and negation or particularity and existence together, tbe indefinite may be considered as together with or distinct from each of these elements taken singly. It may be taken to *be* a particular i.e. to be together with position, and it may be taken to be many indistinguishable negations, to be the universal—existence—as itself a confusion of the negations of many particulars as not-A. not-B, not-C......indefinitely together. Thus we have altogether seven modes of truth—*bhangas* as they have been called—viz. particular position or being, its negation or the universal—existence position and negation as distinguishably together or the determinate existent, these as indistinguishably together or the indefinite, this indefinite as itself a being or particular position, as many negations together, and finally as distinct from the determinate existent. If there be an eighth mode, it would be non-distinction of the definite and indefinite, which however is but the indefinite, nothing more specific than the fourth mode.

The value of these modes of truth for logic cannot be fully discussed within the limits of this paper. We may conclude by pointing out that these modes of truth are not merely *many* truths but *alternative* truths. The last mode may be regarded as implying the other modes but is not therefore in any sense a comprising unity. What is implied by a mode is a different mode. The implying relation in objective terms is but indetermination. The implying mode and the implied mode are at once distinct and indefinitely non-distinct. Truth as an indetermination or alternation of truths is but manifold possibility. Each mode of truth as alternative with the others is a *possible* though it has to be taken as objective.

There is the conception of indeterministic will to which there are many possibles, any of which can be realiy chosen by it. Here we have already the notion of manifold possibility as objective to the will. The logic of this notion has not been sufficiently investigated, though the relations of objective possibles cannot be adequately

expressed by the categories of ordinary logic. The *Jaina* theory elaborates a logic of indermination—not in reference to the will—but in referenceto knowing, though it is a pragmatist theory in some sense. As a realist, the *Jaina* holds that truth is not constituted by willing though he admits that the knowledge of truth has a neccssary reference to willing, His theory of indeterministic truth is not a form of scepticism. It represents, not doubt, but *toleration* of many modes of truth. The faith in one truth or even in a plurality of truths, each simply given as determinate, would be rejected by it as a species of intolerance. What is presented and cannot be got rid of has to be accepted as truth even though it is not definitely thinkable or is thinkable in *alternative* definite modes.

The Chronology of the Commentary of Sadānandagaṇi on the Siddhānta-Candrikā of Rāmāśrama or Rāmacandrāśrama—A. D. 1743.

By

P. K. Gode, M. A.

Curator,

Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona 4.

Aufrecht[1] records a few Mss of a commentary on the *Siddhānta Candrikā* of RāmacandrāŚrama by Sadānandagaṇi but records no date of composition of this commentary. Dr. Belvalkar[2] refers to this commentary in his account of the "Commentaries on the Sārasvata independently of the Prakriyā" but records no chronology for the work or its author. H. P. Shastri[3] describes a few Mss of Sadānanda Gaṇi's *Subodhinī* but makes no remarks about its date of composition. Prof. H. D. Velankar[4] in his *Jinaratnakośa* or Catalogus Catalogorum of Jain Mss. refers to *Subodhinī Vṛtti* composed by Sadānanda Gaṇi, pupil of Bhaktivijaya of the Kharatara Gaccha but does not mention its chronology. The *Jaina Granthāvali* also refers to this author without recording his chronology. I propose, therefore, to record in this paper some information about this author and his Commentary *Subodhinī* on the *Siddhāntācandrikā*.

---

1. *CC I, 718*—" सिद्धान्तचन्द्रिका gr. by सदानंद Oudh XVII, 22, Comm. सुबोधिनी by the same. L 2911. Oudh XVIII, 56; XVII, 22."

2. Vide p. 102 of *Systems of Sanskrit Grammar*, Poona, 1915. " ii. Sadānanda who wrote a Com. called Subodhinī which has been published at Benares."

3. Vide pp. 151—153 of *Des. Cata. of Vyākaraṇa Mss* (R. A. S. B.) Vol. VI (1931) Calcutta.—Ms Nos. 4456, 4457, 4457A " Sadānanda appears to be a Jain of the school of Kharatara."

4. The *Jinaratnakośa* records the following Mss of this Commentary :—
   " *B. O.* p. 43, 44; *CC I*, p. 718; III, P. 145; *D.B* 36 (5); *JG.* p. 308; *K.B.* 3 (29, 65), 5 (12); *Mitra* IX, p. 20; *Surat* I. 5"

The Govt. Mss Library at the B. O. R. Institute, Poona contains some Mss[1] of Sadānandagaṇi's *Subodhinī*. These Mss were not known to Aufrecht as they were added to the Govt. Mss Library subsequent to the publication of the *Catalogus Catalogorum*. Two of these Mss are important as they contain the verse recording the date of composition of the work viz. *Saṁvat 1799* = A. D. *1743*. In the preliminary six verses of the *Subodhini* Sadānanda gives us some information[2]

1. These Mss are :—
   * (1) *No 347 of 1895—1902*—folios 242
   * (2) *No 294 of 1899—1915*—folios 217
   (3) *No 295 of 1899—1915*—folios 10 (fragment)
   (4) *No 296 of 1899—1915*—folios 139
   (5) *No 261 of 1899—1915*—folios 135

   * The colophon of these Mss reads as follows :—

   "श्रीमत्पाठकधुर्यभक्तिविनया नंदंति सद्विद्यया
   नानाशास्त्रविचारजातपरमानंदाः स्वभावोज्ज्वलाः ।
   संवेगादिगुणैर्वशीकृतजना विख्यातकीर्त्तिप्रभाः
   संवर्वर्त्यंयितेषकां विनयवान् शिष्यः सदानंदकः ॥१॥
   निधिनंदार्वभू वर्षे सदानंदः सुधी मुदे ।
   सिद्धांतचंद्रिकावृत्तिं कृदंते चकृवानृजुम् ॥२॥
   इति कृदंतं समाप्तम् ॥श्रीः॥"

   The chronogram निधि (9) नंद (9) अर्व (7) भू (1) = Saṁvat 1799 = AD 1743

2. MS *No 294 of 1899-1915* begins:—

   ॥६०॥ पुराणपुरुषं ध्यात्वा नत्वा चार्हतनायकं
   सिद्धांतचन्द्रिकावृत्तिं चकरोमितरामहं १
   विद्यारत्नपयोनिधौ खरतराम्नाये जगत्पूज्यके
   श्रीभट्टारकसंपदां गुणगणैः स्तुत्या धरन् पुण्यवान्
   पूज्यश्रीजिनभक्तिसूरिरधिपो वर्वर्त्ति विद्यानिधिः
   सोयं शीतकरायते च यशसा सूरीयते तेजसा २
   श्रीकीर्त्तिरत्नसूर्याह्वो यतींद्रोभूत्तरांततः
   श्रीमत्सुमतिरंगाख्यः पाठकः प्रवरस्ततः ३
   श्रीपाठकाः श्रीसुखलाभसंज्ञा जाग्रत्प्रभावा विलसत्प्रतिज्ञाः
   तच्छिष्यवर्याः कृतराजिधुर्याः श्रीपाठकाः पाठकचारणेंद्राः ४
   श्रीभाग्यचंद्रागणि संप्रवर्हाः संवेगरंगांगनिमग्नविग्रहाः
   श्रीभक्तिपूर्वं विनयं हि येषां त्वन्नामधेयं गुरवो वदंति ५
   तेषां हि तेषां विनयप्रधानोऽनवद्य विद्याऽभ्यसनैकतानः
   प्राज्ञः सदानंदगणिः सुशिष्यः करोति वृत्तिं सुगमां सुबोधिनीं ६

about himself, his guru Bhaktivinaya and the *Kharataragaccha* to which he belongs. Verse 2 of the six verses giving this information refers to जिनभक्तिसूरि of the खरतरगच्छ who may be identical with his name-sake mentioned in the following *guruparamparā*[1] :—

(A. D. 1743) जिनभक्तिसूरि
|
pupil
जिनलाभसूरि
|
pupil
क्षमाकल्याण (Composed जीवविचारप्रकरणवृत्ति in A. D. *1794* or Saṁ. *1850*)

Prof. H. D. Velankar states in his *Jinaratnakośa* that क्षमाकल्याण who composed the above vṛtti was pupil of अमृतधर्म of the खरतरगच्छ.

The Commentary of Sadānandagaṇi is rich in citations especially in the Uttarārdha. I may note below some of the authors and works mentioned by this commentator. The number against each reference indicates the folio of Ms *No. 347 of 1895–1902* of this commentary in the Govt. Mss Library.

I —*References in the Pūrvārddha* (folios 1 to 125)

अमरः, 1, 14, 30, 37, 38, 50, 51, 53, 65, 68, 85, 99, 108
पतंजलिः, 2
पराशरः, 33
भारते, 33
यादवः, 37
विश्वः, 46 माधवः, 56
लघुभाष्यकर्तुः, 56 ("इति लघुभाष्यकर्तुरपि प्रयासो व्यर्थ एव")—This is evidently a criticism of an earlier commentator.
हरदत्तः, 70
वृत्तिकारः, 72
हरिः, 73, 113
उदीचीनामाचार्याणां मते 90
हैमः, 102, 119

---

1 Vide p. 220 (MS 1372-1) of *Cata. of Bodleian MSS, Vol. II (1905)* by Keith and Winternitz,

Colophon on folio 125—

"श्रीमत्पाठकवर्यभक्तिविनया विख्यातकीर्त्तिप्रभा
राजेन्द्रैः परिपूजिताः सुकृतिनः पुंभाववाग्देवताः ।
मंतारो जगतां पतिं गुणगणैर्विभ्राजमानाः सनत् (?)
संवेगादियुजो जयंतु सततं षट्शास्त्रविद्याविदः ॥१॥
तेषां शिष्यः सदानंदस्तदनुग्रहभूषितः ।
सिद्धांतचंद्रिकावृत्तिं पूर्वार्द्धेऽचकरीदिमां ॥२॥

इति श्रीसिद्धांतचंद्रिकाव्या (रव्या) यां सदानंदकृतौ सुबोधिन्याख्यायां पूर्वार्द्धं समाप्तं शुभं भवतु कल्याणमस्तु श्रीरस्तु ।"

II—*References in the Uttarārddha* (Folios 1 to 117)

This section begins : —"श्रीसरस्वत्यै नमः ॥"

सार्व्वीयं सच्चिदानंदं नामं नाभं जगत्प्रभुं ।
सिद्धांतचंद्रिकाख्यातवृत्तिश्चेक्रियतेतराम् ॥१॥

माघः 8, 27, 73. 80. 85, 93
श्रीहर्षः, 8, 32, 59
नैषधे, 21
मनोरमायां, 22—This is possibly a reference to the प्रौढमनोरमा of Bhaṭṭoji Dikṣita (A D. 1560-1620)
अमरः, 24, 72, 75, 81
माधवमते, 38
भट्टिः; 56

Colophon on folio 64 "इति लकारार्थप्रक्रिया ॥

बुद्धिमांद्यवशात्किंचिद् यदशुद्धमलेखि तत् ।
द्वेषभावं समुत्सृज्य सोधनीया मनीषिभिः ॥१॥
इति सिद्धांतचंद्रिकाव्याख्यायामाख्यातं कामं समाप्तिमगमत् ॥

॥ श्रीसरस्वत्यै नमः ॥ प्रतोष्टय जगन्नाथं सदानंदेन संमुदा ।
सिद्धांतचंद्रिकावृत्तिः क्रियते कृत्प्रकाशिका ॥१॥

हैमः 70, 75, 82, 84, 86, 98, 107
रघुः, 75, 78
हरचंद्रः, 81; 82
रत्नमाला 81
विश्वः, 81, 82, 83 (A.D. 1111)
मेदिनी, 82, 83, 85, 86
वररुचिकोशः, 82
शाश्वतः, 82
धरणिकोशः, 83, 93

The foregoing analysis of the Mss of *Subodhinī* of the Jaina commentator of the *Siddhānta—Candrikā* proves the following points about his history and Chronology :—

(1) Sadānandagaṇi (=S) Composed this Commentary in A. D. 1743.

(2) S belonged to the *Kharataragaccha*, his guru being *Bhaktivinaya*

(3) S was a very close student of Sanskrit grammar as will be seen from his voluminous commentary *Subodhinī* and his acquaintance with the works of previous writers on grammar as also the numerous lexicons quoted by him profusely in his work.

(4) S shows in an ample degree the interest of the Jaina writers[1] in sankrit grammar as late as the middle of the 18th century and maintains the great tradition of scholastic studies established by such early writers on grammar like Srī Hemacandrācārya.

I shall feel thankful to our Jaina scholar friends if they bring to light any other works of Sadānandagaṇi known to them either with private persons or public libraries not accessible to me.

---

1. Prof. H. D. Velankar in his *Jinaratnakośa*, which is now being published by the Bhandarkar O. R. Institute, Poona refers to three Jaina Commentaries on the *Siddhānta—candrikā* of Ramacandrāśrama :—

(1) *Subodhinī* by Sadānandagaṇi, the subject of my present paper.

(2) *Tippaṇa* by Candrakīrti which is different from his Commentary on the *Sārasvataprakriyā* (Candrakīrti flourished about A. D. *1550*)

(3) Tīkā (anonymous)

On the Latest Progress of

Jaina and Buddhistic Studies*

By

Dr. A. N. Upadhye

Apart from the field of Middle Indo-Aryan languages, the Jaina and Buddhist authors have contributed their mite to the various branches of Indian learning not only in Sanskrit but also in some of the Dravidian languages. Of the two major Kāvyas in Tamil attributed to Buddhist authors, only Maṇimekhalai has come down to us; and the chances of discovering Kuṇḍalakeśī are growing remote. Orientalists are studying Buddhist and Jaina texts in their respective lines of study such as lexicography, metrics, grammar, polity, Nyāya, medicine and calculatory sciences; but they are usually confined to Sanskrit, because the material from the Tamil and Kannaḍa works is not easily available for those who do not know these languages.

For the treatment of the subject-matter it may look convenient to take up Jaina literature as an unit of study, though the Jaina authors clearly show that their cultivation of literary lines was not isolated from the other streams of Indian literature. Pūjyapāda is fully conversant with the Mahābhāṣya of Patañjali; Akalaṅka studied and refuted the Buddhist logicians that flourished before him, and Haribhadra wrote even a commentary on the Nyāyapraveśa of Dignāga; poets like Ravikīrti and Jinasena show a respectful familiarity with the works of Kālidāsa and Bhāravi; and authors like Siddhicandra and Cāritravardhana wrote commentaries on the works of Bāṇa and Māgha. Thus the study of Jaina literature is quite essential to fully appreciate the growth of the network of Indian literature as a whole.

---

* This forms a portion of the Address delivered by Prof. A. N. Upadhye, as the President of the Prākrit, Pāli, Ardha-māgadhi (Jainism and Buddhism) Section of the Eleventh All-India Oriental Conference, Hyderabad, December, 1941.

The Jaina authors were pursuing their literary activities, almost side by side, in Prākrit, Sanskrit, Apabhraṁśa, Tamil and Kannaḍa; and some authors took pride in styling themselves 'ubhayabhāṣā-kavicakravarti' etc., because they could compose poems etc., in two languages. It is difficult for one and the same scholar to master all these languages; so the time has come now when systematic labours in different fields might be pooled together for settling finally various items in the chronology of Indian literature. The Jaina works found in these languages are so much interrelated that texts of identical names and similar contents are found in different languages at different periods. I may give only one illustration. Jayarāma wrote a Dharmaparīkṣā (DP) in Prākrit; based on this we have the Apabhraṁśa DP of Hariṣeṇa written in A.D. 988; Amitagati wrote his Sanskrit DP in A. D. 1014; and by about the middle of the 12th century Vṛttavilāsa wrote his DP in Kannaḍa. Hariṣeṇa belonged to Chitor, Amitagati is associated with Ujjain or Dhārā, and Vṛttavilāsa is a native of Karnāṭaka. This interlingual and interprovincial influence underlying the various works is sure to contribute interesting details to our structure of Indian literature. The late lamented R. Narasimhachar often felt the need of checking the relative chronology of Kannaḍa literature with the help of other Jaina works in Prākrit and Sanskrit. More than once it is the references from Kannaḍa works that have put reliable limits to the dates of some Prākrit and Sanskrit authors. But this has not been done, to any appreciable extent, with regard to Tamil literature, as far as I know. The Tamil scholars have occupied themselves in constructing a relative chronology which requires to be adjusted by a comparative study of corresponding works in Sanskrit and Prākrit. There should be no presupposition that every Tamil or Kannaḍa work is later than a similar work in Prākrit or Sanskrit, because we know that Keśavavarṇi's Kannaḍa commentary on the Gommaṭasāra was translated into Sanskrit by Nemicandra. A critical and dispassionate comparison of the contents would show in many cases which is the earlier and which is the later work; and when some facts are brought to light, hardly any scope is left for mere opinions. It is being accepted by some scholars now that Maṇimekhalai is later than Dignāga. If a Tamil work refers to Indra's Grammar sacred to the Jainas, we are

reminded of the Jainendra Vyākaraṇa which is more than once understood as Indra's grammar. It is necessary, therefore, to see how far Tolkāppiyam and Nannool are indebted to the Jainendra—Vyākaraṇa. It is expected that Tamil scholars would institute a critical comparision of Jīvakacintāmaṇi, Yaśodharakāvya, Nāgakumārakāvya etc., with corresponding works in Sanskrit whose dates are nearly settled. Tamil scholars like Shivaraj Pillai are growing suspicious about the ages of early Saṅgams the traditions about which are described as 'entirely apocryphal and not deserving any serious historical consideration.' At any rate a comparative study of Jaina works in Tamil and Sanskrit would help us to adjust rightly the chronology of Tamil literature. I believe, Prof. Chakravarti's essay, Jaina Literature in Tamil (Jaina Siddhānta Bhavana, Arrah, 1941), would attract the attention of many scholars to the contents of important Jaina works in Tamil

The Nyāya branch of early Indian literature has attracted comparatively little attention of the Orientalist. The Jaina Nyāya works are almost untouched, though for centuries together eminent authors have discussed the principles of Jainism in relation to other Indian systems of thought in a highly elaborate style. In the beginning it was Pathak and Vidyabhushan who wrote a good deal about the chronology of these texts; but lately so much new material is coming to light that we have to change many of our earlier conclusions. Prof. H. R. Kapadia is editing Anekāntajayapatākā with Svopajñavṛtti and Municandra's commentary in the G. O. S. (Vol. I, Baroda, 1940). In his excellent edition of Akalaṅka's three works, Akalaṇka-granthatrayam (Siṅghī Jaina Granthamālā. No. 12, Ahmedabad 1939), not only a new work of Akalaṅka has been brought to light but also a good deal of fresh information about Akalaṅka's age and exposition is put forth by Pt Mahendrakumar in his learned Introduction. Equally important is his edition of Nyāyakumudacandra (Māṇikachandra D. Jaina Granthamālā, Vols. 38-39, Bombay 1938—41). The text is presented with valuable comparative notes which testify to the deep study of the Editor in the wide range of Indian Nyāya literature. The two Introductions, one by Pt. Kailashchandra and

the other by Pt. Mahendrakumar, are rich contributions quite valuable for the new wealth of material and fresh outlook. Pt. Sukhlalaji of the Benares Hindu University is a rare genious, and his all-round mastery of Indian Nyāya literature is remarkable. His outlook is fresh, his analysis is searching, and his penetration is deep. His comprehension evokes admiration though one differs from him on some points. We owe to him and his colleagues two nice editions, Jaina Tarkabhāṣā and Pramāṇamīmāṁsā (Singhi Jaina Series, Ahmedabad 1939). The material that has come out through these volumes would require us to re-estimate many of our views about the medieval Indian logic. In representing the Pūrvapakṣa views these Jaina texts show remarkable impartiality, as observed by Winternitz, that their philosophical discussions are of great value to us in studying Indian philosophy. It is necessary that some of these texts should be carefully translated into English. Lately the smaller edition of Sanmati Tarka in Gujarātī by Pts. Sukhalal and Becharadas has been translated into English by Profs. Athavale and Gopani (Bombay 1939).

Some of the Buddhist logical texts were known to us only through their Tibetan translations and references. But through the zealous explorations of Tripiṭakācārya Rahula Sankrityayana many Sanskrit texts have once more reached the land of their birth; and he has already edited, partly or completely, texts like Parmāṇavārtika (with its commentaries), Vādanyāya etc. Lately attempts have been made to restore the Sanskrit text of Ālambanaparīkṣā and Vṛtti of Diṅnāga from the Tibetan and Chinese versions (Adyar L. B. III, pts. 2—3) by N. Aiyaswami Shastri with whose edition of Bhāvasaṁkrāntisūtram of Nāgārjuna (Madras 1938) we are already acquainted. Trisvabhāvanirdeśa of Vasubandhu, Sanskrit text and Tibetan version, is edited with English translation by Sujitkumar Mukherjee (Viśvabhāratī, 1939). The English translation of Tattvasaṁgraha has been now completed by Dr. Ganganath Jha in the G. O. S. (Vols. 80-83, Baroda 1937-39). The text and translation of this important work have added to the dignity of G. O. S. which has now assumed the form of a miniature Oriental Library. Important problems from this text have been lately studied by A. Kunst in his

Problems der Buddhischen Logik in der Darstellung des Tattva-saṁgraha (Krakow 1939).

Due to the religious injunction of Śāstradāna, the studious zeal of the ascetic community and the liberal patronage of rich laymen, we have in India many Jaina Bhaṇḍāras which on account of their old, authentic and valuable literary treasures deserve to be look upon as a part of our national wealth. Mss. are such a stuff that they cannot be replaced if they are once lost altogether. We know the names of many works from references and citations, but their Mss. are not found anywhere. To the historian af literature Mss. are valuable beyond measure. Jaina authors, both in the North and South, did not confine themselves to religious literature alone, but they enriched by their works, both literary and scientific, diffeient departments of Indian learning. As such Jaina Bhaṇḍāras are rich treasures requiring patient study at the hands of the Indologist. There was a time when the communal orthodoxy came in the way of opening these treasures to the world of scholars, but now the conditions are almost changed. Through the efforts of a series of scholars like Bühler, Kielhorn, Bhandarkars, Kathawate, Peterson, Weber, Leumann, Mitra, Keith, Dalal-Gandhi, Velankar, Hiralal, Kapadia and others we possess today various Descriptive Catalogues which are highly useful in taking a survey of different branches of Jaina literature. Bṛhaṭṭippaṇikā and Jaina Granthāvali were some of the preliminary and cursory attempts to take a consolidated view of Jaina literature as a whole. Prof. H. D. Velankar has compiled the Jinaratnakośa, Catalogus Catalogorum of Jaina Mss., which is in the Press. It is published by the B. O. R. I., Poona; and we earnestly hope that it might be out within a year or so It is a magnificent performance of major importance; and Prof. Velankar has achieved single-handed what an institution alone would have dared to undertake. When published, it will give a fresh orientation to all the studies in Jaina literature. A revision of Aufrecht's Catalogus Catalogorum has been undertaken by the Madras University; and according to the present plan, it is proposed to include 'all such literature, Jaina or Buddhistic, in Sanskrit or Prākrit, as would facilitate one's view of ancient Indian cultural developments'. The provisional

fasciculus shows that important references to critical discussions are also included. The plan is really praiseworthy. With the help of this work Jaina literature can be studied with much more precision in the grand perspective of Indian literature. Though the field is thus being circumscribed, there are still important Bhaṇḍāras at Idar, Nagaur, Jaipur, Bikaner and other places which are not as yet duly inspected; and there are no authentic reports of the Mss. collections of the South in places like Moodbidri, Humch, Varanga, Karkal etc., where piles of palm-leaf Mss. are preserved.

Because of their antiquity and authenticity these collections afford material for various lines of study. Some of the old Devanāgari Mss. at Jaipur, Patna, Jessalmere, Poona and Karanja go back to the 12th century A.D. By selecting a series of Mss, with definite dates and localities, it may be possible for us to prepare a sketch of the evolution of Devanāgarī alphabets from period to period; and thus it would be possible to supplement the tables already prepared by Ojha and Bühler from inscriptions. These Mss. have attracted the attention of some scholars. The Introduction of Muni Puṇyavijayaji to the Jaina Citra Kalpadruma (Ahmedabad 1935) is a solid contribution on the paleography and calligraphy so far as the Mss. from Gujarata are concerned. Prof. H. R. Kapadia also has discussed some of these topics lately in his papers: Outlines of Paleography and The Jaina Mss. (JUB. VI, part 2, VII, part 2). The material for the study of miniature painting from these Mss. is partly used by Brown, Nawab and others. With regard to Jaina Cave paintings there is a recent publication, 'Sittannivasal: an album of the rock-cut Jaina cave temple and its painting' by L. Ganesh Sharma of the Pudukottah state

The Mss., many of which are dated, contain a good deal of chronological material which, apart from its being highly valuable for the ecclesiastical history of the medieval and post-medieval Jaina church, is often useful in fixing and confirming the dates of Indian history. Though they are not found in every Mss, there are three types af Praśastis; first, the Praśasti of the author which gives many details about him, his spiritual genealogy, when and for whom he

wrote the work etc.; second, the Lekhaka-praśasti which gives information about the copyist and for whom he copied etc.; and lastly, the Praśasti of the donor which gives some facts about his family and about the monk etc , to whom the Mss. was given as a gift. Such information is more plenty in the Mss. from Gujurat and Central India than in those from Karṇāṭaka aud Tamil territory. Lately a bulky volume of Lekhaka-praśastis has been published from Ahmedabad; and if an exhaustive attempt is made, many more such volumes can be easily brought out. The admirable collection 'Sources of Karnāṭaka History, Vol. I' (Mysore 1940) compiled by Prof. S. Śrīkaṇṭha Śāstri shows that even in piecing together the information of Indian history, partly or as a whole, the Praśastis of Jaina authors form a valuable source. If these are duly co-ordinated and studied in comparison with the Pratimā-lekhas, plently of which are found inscribed on Jaina images and many of which are published also, and with other Jaina inscriptions, not only would new facts come to light, but well-known facts would also get inter-related ; and we shall get very good results in our chronological studies. It is by such interlinking of detached pieces of information that the age of the famous Mss. of Dhavalā could be determined and the identity of Malli Bhūpāla could be spotted. To-day it is a game of luck; but this factor of chance has to be eliminated by preparing exhaustive. Indices of names etc. for all these sources on the model of Guerinot's Repertoire d'Epigraphie Jaina. The chronological material that we get from Praśastis and Inscriptions is very valuable; and sometimes the dates have been found to be so definite that one often feels that Whitney's oft-quoted remark that all dates given in Indian literary history are pins set up to be bowled down again, though true in 1879, requires to be uttered with certain reservations now.

Rice, Narasimhachar, Guérinot, Saletore and other scholars have fruitfully worked on the Jaina inscriptions which shed important light on the different aspects of Jainism and often refer to contemporary rulers etc. The inscriptions on the Jaina images and in the temples, many of which have been brought to light by Buddhisagaraji, Jinavijayaji, Nahar, Kamtaprasad and others, are very useful in literary chronology because they generally mention outstanding

contemporary teachers who are often authors themselves. The Jaina inscriptions from the Epigraphia Carnatica have proved very fruitful in reconstructing the role of Jainism in Karnāṭaka ; and this is borne out by two latest publications, namely, Mediaeval Jainism (Bombay 1938) by Dr. B. A. Saletore and Jainism and Karnāṭaka culture (Dharwar 1940) by Prof. S. R. Sharma.

The monograph, The Kannaḍa Inscriptions of Kopbāḷ, published by the Archaeological Department of H. E. H. Nizam's Government, has given us a rich specimen of the Jaina inscriptions plenty of which, it is reported, are found scattered all over the area of this dominion. The department is working under the liberal patronage of H. E. H. the Nizam and its activities are conducted by a veteran archoeologist, Mr. Ghulam Yazdani, the worthy President of our Conference; so I have every hope that many more Jaina inscriptions from this area would be brought to light in the near future.

From the inscriptions found in places like Deogarh and the records actually published in the Epigraphia Indica, it appears that many Jaina inscriptions, which are not of outstanding importance in reconstructing the political history of the land, still lie in the archives of the Government departments of Archaeology and Epigraphy. We can understand the difficulty of publishing all the records, at any early date, by these Departments, especially when we know that the Government have always a step-motherly attitude in financing such academic lines as archaeology and epigraphy. Under such circumstances, it is in the interest of Oriental studies that those records, which are not being published officially, might be made available to bonafide scholars who are interested in Jaina inscriptions and are working in institutions like the Bhandarkar O. R. Institute, Poona, Bhāratīya Vidyā Bhavana, Bombay etc. Many of these records, though not very important for the political history of the country, may give valuable clues to indentify authors and places in Jaina literature. Moreover they may help us in reconstructing the history of Jainism in different localities.

Just as Dr. Bhandarkar has brought uptodate and revised the lists of inscriptions compiled by Kielhorn, it is quite necessary that

some scholar, who is working in a centre where archaeological and epigraphic publications are easily accessible, should try to bring upto date and revise the monumental publication of Guérinot noted above. Since 1906 many records have come to light in different parts of the country ; and the rich wealth of facts from them cannot be adequately used in the absence of such a work An upto date resume of all the published Jaina inscriptions would immensely advance the cause of Jaina studies.

Jaina Iconography is an important aspect of the ancient Indian iconographic art. In spite of the large number of Jaina images in the temples of the North and South and the rich theoretical material available in the Jaina texts, somehow the study of Jaina Iconography is still in its infancy. Yet one is glad to note that some important work is being done in the last few years Details may require verification and correction, but an outline is lately attempted by Prof. B. C. Bhattacharya in The Jaina Iconography (Lahore 1939). Noteworthy are some of the latest contributions on this subject by Dr H. D. Sankalia, viz., Jaina Iconography (NIA. II, 8), Jaina Yakṣas and. Yakṣiṇīs, The so-called Buddhist Images from the Baroda State, (Bulletin of the Deccan College R. I ,I, 2—4), The story in stone of the great Renunciation of Neminātha (IHQ XVII, part 2), An unusual form of a Jaina Goddess and A Jaina Ganeśa of Brass (Jaina A. IV, P. 84 ff; V, p. 49 ff.). Mr. U, P. Shaha of Baroda is working under Dr. Benoytosh Bhattachary, Oriental Institute, Baroda, on the subject of Jaina Iconography. He has collected a good deal of information from the original sources, and his book is awaiting publication. He has already published a few important papers on this topic: Iconography of the Jaina Goddess Ambikā and the Jaina Sarasvatī (JUB, Arts Nos. 1940—41). Mr. V. S. Agrawal has explained some iconographic terms from Jaina inscriptions (Jaina A. U, p. 43 ff.). Mr. K. K. Ganguli's note on the Jaina Images in Bengal (IC, VI, ii, p. 137 ff.) rightly shows that this part of the counrry needs more scrutinising exploration. In a refreshing article 'Jainism and the Antiquities of Bhatkal (Annual Report on Kannaḍa Research in Bombay Province for 1939-40, Dharwar 1941, p. 81 ff.), Mr. R. S. Panchamuki, Directar of Kannḍa Research, has passingly touched

some aspects of Jaina Iconography. Apart from some of his in-authentic generalisations, he has given a connected account of Jainism in the South and has brought to light some new images from Bhatkal and other places which were once the cultural centres of Jainism. In studying Jaina Iconography, the growth of Jaina pantheon and the origin and evolution of image worship in Jainism should be treated as independent subjects, to begin with, with a historical perspective. Because these two problems get intermingled at a later date, we should not start by confusing them from the beginning. The studies are still in their infancy; we should carefully note all parallelisms in the fields of Hindu, Buddhistic and Jaina iconography; and without adequate evidence we should not be eloquent in asserting borrowal from one side or the other.

THE PRAMĀṆASUNDARA OF PADMASUNDARA

By

K. Madhava Krishna Sarma, M. O. L.

Aufrecht does not mention in his Catalogus Catalogorum one of the important Jaina authors, namely Padmasundara, a disciple of Padmameru of Nāgapura Tapāgaccha and a contemporary of Akbar who honoured him with various gifts on his success in a literary contest. Krishnamachariar (History of Classical Sanskrit, p. 294) mentions only two of his works, viz. the Rāyamallābhyudaya and the Pārśvanāthakāvya. A third work of this author, namely the Akbarśāhi Śṛṅgāradarpaṇa has recently been discovered by me in the Anup Sanskrit Library and is now being edited in the Ganga Oriental Series. I have now found a fourth work of his, namely Pramāṇasundara in the same Library.

Description—

No. 8432. Paper M S. 13 folia (numbered 9—21, foll. 1—8 missing). 11″×6″. 15 lines in a page. 45 letters per line. Devanāgarī script. Fairly well written in a small hand. Damaged. Nearly three hundred years old. At the end there is this endorsement in a later hand : पु० महाराजकुंवर श्री४ अनूपसिहजीरोछै ॥ प्रमाणसुन्दर ॥

Padmasundara is hitherto known only as a poet. The extracts given here from his Pramāṇasundara will show that he was a great philosopher too. The work deals with the Pramāṇas The MS. in the Anup Sanskrit Library is incomplete It contains a portion of the Anumānakhaṇḍa and the whole of the Śabdakhaṇḍa

It begins :

......स्येति साध्यविकलम् । परमाणुषु तु साध्यमपौरुषेयत्वमस्ति । साधनममूर्तत्वं नास्ति मूर्तत्वात्तेषामिति साधनविकलम् । घटे तूभयमपि नास्ति पौरुषेयत्वान्मूर्तत्वाच्चास्येत्युभय विकलम् । रागादिमान्सुगतो वक्तृत्वादे रथ्यापुरुषवदिति रथ्यापुरुषे साध्यस्य प्रत्यक्त्वेन निश्चयात् वचनस्य च तत्र दृष्टस्य तदभावेऽप्यनिश्चयासंभवादिति संदिग्धसाध्यम । मरणधर्मायं

रागादिति संदिग्धसाधनम् । असर्वज्ञोऽयं रागादिसंभवादिति संदिग्धोभयं रागादिवद्सर्वज्ञस्यापि तन्निश्चेतुमशक्यत्वात् । रागादिमानयं वक्तृत्वात् । तत्र रागादेरसिद्धौ तदन्वयस्यासिद्धेरित्यन्वयः । यदनित्यं तत्कृतकमिति विपरीतान्वयः । अनित्यः शब्दः कृतकत्वाद्घटवदिति । ततोऽत्र यद्यत्कृतकं तत्तदनित्यमित्यन्वयप्रदर्शनस्यात्राभावादप्रदर्शितान्वयः । तदित्थं नवान्वयदृष्टान्ताभासाः ।

Fol. 15 a : नापि भेदव्यवहारः कर्तुं शक्यः स्वहेतुभ्योऽसाधारणतयोत्पन्नानां सकलभावानां प्रत्यक्त्वेन प्रतिभासमानादेव भेदव्यवहारस्यापि प्रसिद्धेरलमनर्थकप्रयासेनेति प्रतिक्षिप्तश्चेतरेतराभाव इति सिद्धं भेदाभेदात्मकं सामान्यविशेषविषयात्मकमर्थज्ञानं प्रमाणमिति ।

Fol. 15 b : वर्णक्रमस्यैव पदादित्वात्तदन्यस्य स्फोटात्मनोऽप्रतिपत्ते इतरेतरदोषपरिहारावस्थायिनां कारकाणामप्येकत्र कार्योपधास्वदेशंभावादि वर्णानामपि ?) यथास्वकालं विद्यमानत्वस्याविशेषादवश्यमेवाभ्युगन्तव्यम् ... ... ।

Ends :

गच्छे श्रीमत्तपाख्ये जनिर ... ...विस्फारकीर्तिः
श्रीमानानन्दमेरुस्त्रिभुवनजनतानन्दतातन्द्रचन्द्रः ।
तच्छिष्यः पद्ममेरुः श्रुतसलिलनिधेः पारदृश्वामितद्रुः
श्रौतस्मार्तागमानामसकलसकलब्रह्मवेदी विनेयः ॥
स तस्य पद्मसुन्दरः प्रमाणसुन्दरं व्यधात् ।
प्रमाणयन्तु कोविदाः प्रमाणिकामिमां गिरम् ॥
इति श्रीयन्नागपुरीयतपागच्छ ... ...

श्रीपद्ममेरुपण्डितोत्तमसद्विनेयश्रीपद्मसुन्दरविरचिते श्रीप्रमाणसुन्दरप्रकरणे शब्दखण्डः समाप्तः ॥ श्रीरस्तु ॥ कल्याणमाला आविर्भवन्तु ॥

ADVENT OF JAINISM.*

By

Prof.—D. S. Triveda.

The greatest achievement of Jaina thought is its ideal of Ahiṁsā-non-violence, towards which, as the Jainas believe, the present world is slowly, though imperfectly moving. The word Jaina is derived from Jina[1] —the victor. It is also applicable to all those men and women who have conquered their lower nature, and all attachment and antipathies and realised the highest[2].

It is difficult to fix a particular date for the origin of Jainism. According to the Jaina tradition the Nirvāṇa of Ṛṣabha the first Tīrthaṅkara took place on Māghs Kṛṣṇa Caturdaśi 41345263030820317774951219199999999999999999999999999999999999999999996-0482 years ago[3]. The Hindus regard him as the eighth incarnation of Viṣṇu whose 24 incarnations[4] are enumerated in thc Purāṇas.

The script of Mohen-jo-Daro has not yet been successfully disciphered but according to some interpretations ventured by a scholar in some of the seals the inscription may be read as 'Namo Jineśvarāya'. The nude statues (which look like those of divinities or saints) of the Indus valley may be the prototypes of the Digambara Tīrthaṅkara statues worshipped by Nagna-Kṣapaṇaka.

It has been revealed again and again in every one of the endless succeeding periods of the world by twenty-four Tīrthaṇkaras[5] (one who has crossed over[6] i e. the worldly ocean. (Cf. The body is the

---

*A chapter from the author's book "Pre-Mauryan History of India" to be published shortly.

1. (Unadi. III. 2).
2. S. Radhakrishnan's Indian Philosophy, London, 1922, Vol. I. 286.
3. Jaina Antiquary, Vol. III. p. 23.
4. The Puranas differ as to the number of incarnations. The incarnation theory was probably established by the 8th century A. C.
5. C. J. Shah's Jainism in North India (800 B. C.—A. D. 526) Longman's Green & Co. 1932 p. 3.
6. Another plausible explanation is (तीर्थं करोति धर्मोपदेशं करोतीति) one who preaches the religion.

boat, life is the sailor, and the circle of the Births is the ocean which is crossed by the great sages[1]). The lives of many of these Tīrthaṅkaras have been worked out at great length in legendary forms in the Jaina Canon and life sketches. The followings are the twenty-four Tīrthaṅkaras of the Jainas :–

Ṛṣabha, Ajita, Saṁbhava, Abhinandana, Sumati, Padmaprabha, Supārśva Candraprabha. Puṣpadanta or Suvidhi, Śītala, Śreyāṁsa, Vāsupūjya, Vimala, Ananta Dharma, Śānti, Kunthu, Ara. Malli, Munisuvrata, Namī, Nemi or Ariṣṭanemi, Pārśvanātha, Vardhamāna. Of these Mallinātha and Naminātha were born at Mithilā while Munisuvrta was born at Rājagṛha, and Māhavīra at Kuṇḍagrāma in Vaiśālī. All except Ṛṣabhadeva and Neminātha attained Nirvāṇa in the province of Bihar, Vāsupūjaya at Campā and Mahavīra at Majjama-Pāvā and the rest at Sammeda Śikhara (Pārśvanātha Hill) in the Hazaribagh district[2].

ITS RELATION TO BRAHMANISM.

Their only real gods are their Tīrthaṅkaras and Siddhas (those who have attained mokṣa) chiefs or teachers, whose idols are worshipped in their temples.'[3] The Jainas flatly deny an eternal God, but they believe in the eternity of existence, universality of life, immutability of the law of Karma or action, and right knowledge right belief and right conduct as the means of self-liberation. Though Karma decides all, we ourselves can undo out past Karma in our present life[4] by austerities. Regarding God, they argue as follows :—

If God created the universe, where was he before creating it ? If he was not in space, where did he localise the universe ? How could a formless or immaterial substance like God create the World of matter ? If the material is to be taken as existing, why not take the world itself as eternal ? If the creator was uncreated, why not

1. Uttarādhyayana 23, 73. Vol. 45 S. B. E.
2. Anekānta, Vol. III. p. 521. Jainiyon ki Dṛṣṭi me Bihar.
3 Hopkins E. W. The Religions of India, London, 1910, pp. 285-6'
4, C. L. Shah. pp. 34-35.

suppose the world to be itself self-existing? Is God self-sufficient? If he is, he need not have created the world. If he is not, like an ordinary potter, he would be incapable of the task, since by hypothesis, only a perfect being could produce it. If God created the world as a mere play of his will, it would be making God childish. If God is benevolent and if he has created the world out of his grace, he would not have brought into existence misery as well as felicity[1]. If it is argued that every thing that exists must have a maker, that maker himself would, stand in need of another maker and we would be landed in a cycle[2]. The Jaina philosopher puts forward the hypothesis of a number of substances. 'The whole universe of being, of mental and material factors, has existed from all eternity, undergoing an infinite number of revolutions produced by the powers of nature without the intervention of any external deity. The diversities of the world are traced to the five co-operative conditions of time (kāla), nature (svābhava), necessity (niyati), activity (karma) and desire to be and to act (udyama)[3].

The Jaina holds that men are born in lower or higher castes, determind by their sins or good works in a former existence, but at the same time by a life of purity and love, by becoming a spiritual man, everyone may attain at once the highest salvation. Caste makes no difference to him; he looks for the man in the Caṇḍāla but according to the Digambaras, Śūdras and women cannot attain mokṣa in their present life.

The Jainas were jealous of Brāhmanas on account of their haughtiness and the high-respects paid to them by the populace. According to them a born Brāhmaṇa may become a Kevalī (possessor of spiritual nature), and attain Mokṣa, but he cannot become a Tīrthaṅkara[4]. The Kalpasūtra says[5]: "It never has happened, nor does it happen, nor will it happen that Arhats (those entitled to the homage

1. Jinasena' Ādipurana, Ch. IV, Mysore, 1933, composed in 783 A. C.
2. C. L. Shah, p. ?
3. Radhakrishnan, p. 330.
4. C. L Shah, p. 22.
5. S. B. E. XXII, (Jaina Sutras by H. Jacobi) p. 225.

of gods and men), Cakravartins, Baladevas or Vāsudevas, in the past, present or future. should be born in low families, mean families, degraded families, poor families, indigent families, beggars' families or Brahmanical families. For indeed Arhats, Cakravartins, Baladevas, and Vāsudevas, in the past, present and future, are born in high families, noble families. royal families, noblemen's families, in families belonging to the race of Ikṣvāku or of Hari or in such like families of pure decent on both sides."

The Jaina Tīrthaṅkaras are not reborn like the incarnations of Viṣṇu The Tīrthaṅkara takes his last birth and becomes a Mukta. The Jainas deny the authority of the Vedas.

PĀRŚVA.

Everything connected with the life of Pārśva[1] happend in Viśākhā asterism. He was conceived of king Aśvasena—a ruling magnet at Benares and his wife Vāmā on the fourth dark fortnight of Pauṣa at midnight in B. C 949. He was the people's favourite. He lived thirty years as a householder. He left the city on the eleventh day of Pauṣa dark fortnight. After fasting for a three and a half-days without drinking water he put on a divine robe, tore out his hairs and entered houselessness. He neglected his body for 83 days and entered Kevala on the fourth day of dark Caitra under a dhātakī tree. He had 16,000 Śramaṇas with Āryadatta at their head 38,000 nuns with Puṣpacūlā at their head, 164,000 lay votaries with Suvrata at their head. He was a Kevalin for less than 70 years, and a Śramaṇa for full 7o years. An he died on the eighth day of the bright Śrāvaṇa at the age of 100 in B C. 849 on the summit of Mount Sammeda. His Lāñchana is a snake.

HIS HISTORICITY.

The return to reason in the stature and years of the last two Tīrthaṅkaras induced some scholars to draw a probable inference

1. See Kalpasūtra (S B.E.) p. 271-74.
The name was given to him because before his birth his mother, lying on her couch, saw in the dark a black serpent crawling about (Pārśve).

that the last two alone are to be considered as historical personages[1]. The opinion that Pārśva was a real person is specially supported by the circumstances that the duration of his life does not at all transgress the limits of probability as is the case with his predecessors[2]. The Hill of Sammedaśikhara—Pārasanath Hill is a monumental proof. Both in the Kalpasūtra[3] and the Triṣaṣṭhiśalākācarita[4] of Hemacandra we find that on the eve of his Nirvāṇa, Pārśva came down to this hill and attained the Mokṣa.

In the Sāmaññaphala Sutta[5], the Cātuyāma Saṁvara Saṁvuto 'the System of the Nātaputta is referred to. Jacobi[2] says that this Caturyāma 'is applied to the doctrine of Mahāvīra's predecessor Pārśva, to distinguish it from the reformed creed of Mahāvīra which is called Pañcayāmadharma. The Caturyāmas are non-violence, truthful speech, no-stealing and renouncing all attachments.

Thus Buddhist books give sound proofs which help us to ascertain the historical character of Pārśva's life. There is a story in the Uttarādhyayana[7] that a disciple of Pārśva met a disciple of Mahāvīra in a garden at Śrāvastī and brought about the union of the old Jainism and that propounded by Mahāvīra. It seems to suggest that this Pārśva was probably a historical person[8].

In the pre-historical development of Jainism, the last point which we can perceive is Pārśva; beyond him all is lost in the midst of fable and fiction[9].

MAHĀVĪRA.

About the history of Jainism for 250 years during ths period of Pārśva's Nirvāṇa and Mahāvīra's birth, we are quite in the dark.

1. C. L. Shah, p. 3.
2. Lassen, I. A. II. 261.
3. Kalpasūtra 168 (Sutra)-
4. IX. V. 216. 319.
5. Second Sutta of Digha Nikāya. (I. 47-48).
6. I. A. IX. 160.
7. S. B. E. Vol. 45. Uttarādhyayana, Lecture 23.
8. S. N. Dasgupta's History of Indian Philosophy, I. 169.
9. Jacobi, S. B. E Vol. 45. p. 163.

Mahāvīra like any other Jina (Victor of all human passion and infirmities) enjoyed no better position than that of a reformer in the galaxy of the Tīrthaṅkaras of Jainas[1]. He worked out for himself the solution of the riddle of the cosmos, which placed man's fate, for weal or woe, here and thereafter, in man's own hands, and taught him to look not beyond himself for hope or aid[2]. He added a fifth dogma of chastity (Brahmacarya), quite distinct from the aparigraha of Pārśva. He proclaimed in India the message of salvation that religion is a reality and not a mere social convention—that salvation comes from taking refuge in that true religon, and not from observing the external ceremonies of the community—that religion cannot regard any barrier between man and man as an eternal verity[3].

HIS LIFE.

The venerable ascetic[4] Mahāvīra's five important moments of his life—His conception, his removal of embryo, his birth, his becoming a recluse, and his attainment of Kevala—happend when the moon was in conjunction with the asterism Uttarāphālgunī, But he obtained final liberation in the Svātikā

According to the legends he took the form of an embryo at midnight in the womb of Devanandā of the Jālandharāyaṇa gotra, the wife of a Brāmaṇa Ṛṣabhadatta of Koḍala gotra in the Brahmanical part of the town of Kuṇḍagrāma—a suburb of Vaiśālī. He was born as a lovely and handsome child after nine months and seven and a half days, on Caitra Śukla 14 in B.C. 599(527—72). According to the Kalpasūtra[5], he was replaced as an embryo in the womb of the Kṣatriyāṇī Priyakāriṇī or Triśalā of the Vasiṣṭhagotra, wife of the Kṣatriya Siddhārtha of the Kāśyapa gotra, belonging to the clan of the Jñāta Kṣatriya; and Triśalā's embryo was placed in that of Devanandā the Brāhmaṇī. It seems from the legends to be somewhat probable that their respective children when young were

1. C. L. Shah, p. 3.
2. C. L. Shah, p. 18.
3 Rabindranath Tagore, as quoted in the Hindi Viśvakoṣa (See Jainadharma)
4. S. B E. XXII, p. 217 ff.
5 Ibid, p. 226,

exchanged and the Brāhmaṇa child being of extraordinary qualities was brought up in a royal family[1]. On his birth there was all round prosperity and gold and silver increased, so the child was called Vardhamāna by his parents. He was later on called Śramaṇa because he was devoid of love and hate. He stood firm in midst of dangers and fear, patiently bore hardships and calamities, adhered to the chosen rules of penance, was wise, indifferent to pleasure and pain, rich in control and gifted with fortitude, so he was called Mahāvīra by the gods (wise)[2].

His mother Triśalā was the sister of the chieftain of Vaiśālī. In Nandivardhana and Sudarśana he had his eldest brother and sister respectively. Mahāvīra married Yaśodā of Kauṇḍinya gotra and had by her a daughter Anojā also called Priyadarśanā who was married to his nephew Prince Jāmāli—a future disciple of his father-in-law[3] and the propagator of the first schism in the Jaina church[4].

On Mārgaśiras Kṛṣṇa 10th, when the shadow had turned towards the east (i.e. in the evening), at the age of 30, he left home with the permisson of his elder brother and entered the spiritual career which in India just as the church in the western country, seems to have offered a field for ambitious younger sons[5]. He wore clothes for one year and one month. (According to the Digambaras he wore no clothes). After that he walked naked. For more than 12 years, he neglected the care of his body. In the thirteenth year on Vaiśākha Śukla 10th, he reached the highest knowledge and intuition called Kevala in the evening, outside the town of Jambhiyagāma on the bank of the river Ṛjupālikā[6], not far from an old temple,

1. There was no transfer of the embryo according to the Digambara works and Mahāvīra was born in a Kṣatriya family.
2. Kalpasūtra, 255.
3. According to the Digambaras, he was not married at all.
4. C. L. Shah, p. 24
5. Radhakrishnan, p 287.
6. The river Barakar near Giridih in the district of Hazaribagh. From an inscription in a temple about 8 miles from Giridih, containing foot-prints of Mahāvira, it appears that the name of the river, on which it was originally situated but in a different locality, was Rjupālika, the present temple being erected with the materials of the old ruined temple removed to this place. Hence the original site of the temple must have been Jṛmbhikāgrāma near Parasnath hills. N. L. Dey's Geographical *Dictionary of Ancient and medieval India*, Calcutta, 1927.

in the field of a householder Samāja, under a Sal tree. He stayed the first rainy season in Atthigāma. He spent three rainy seasons in Campā and Pṛṣṭicampā, twelve in Vaiśālī and Vaṇiggrāma[1], fourteen in Rājagṛha and the suburb of Nālandā, six in Mithilā, two in Bhaddiya, one in Alabhikā, one in Panitabhūmi (a place in Vrajabhūmi), one in Śrâvastī, and one and the last at Pāpāpurī in king Hastipāla's office of thc writers[2].

He attained Nirvāṇa at the age of 72, on the fifteenth day of the dark Kārtika in the last quarter of the night at Pāvāpurī—9 miles to the east of Rajgir and became a mukta —in B. C. 527. The eighteen confederate kings cf Kāśī and Kosala and nine Mallakis and nine Licchavis, instituted an illumination of his material remains. He had an excellent community of 14,000 Śramaṇas with Indrabhūti at their head, 36,000 nuns with Candanā at their head, 159,000 lay votaries with Śaṁkhaśataka at their head, 3,18,000 female lay votaries with Sulasā and Revatī at their head and 300 sages who knew the Pūrvas (collections)[3]. His Lāñchana is a lion.*

To be Continued.

---

1. The ancient Town of Vaiśāli comprised three districts or quarters. Vaiśāli proper (Basarh), Kuṇḍapura (Vasukuṇḍa) and Vaniggrama (Bania), *Dey.* p. 107.
2. Kalpasūtra.
3. Ibid. pp. 266–67.

Editorial note will appear in the next issue.—K. B. Shastri.

Review.

Annual Report of the Mysore Archaeological Department for the year 1941, edited by Dr. M. H. Krishna, Director of Archaeology, Mysore, pp. 285. Price not stated.

The book under review has been well prepared under the learned guidance of Dr. M.H. Krishna, Professor of History and Archaeology of the Mysore University. Chapters on epigraphy, numismatics, iconography, manuscriptology, library and museum have been carefully planned and discussed elaborately. A thorough study of the report would amply repay the reader to give a detailed history of the state in it sources. The letter of Vira Rajendra Wodeyar, Raja of Koorg. to the British written in 1799A.D. is an interesting study and a historical document of great importance. It is written in Kannada and signed in English. It contains 26 illustrations and a nice index, The state authorities as well as the Director af Archaeology are to be congratulated for undertaking the huge compilation.

Report of the Pudokkottai State Museum for the Fasli Year 1351. pp. 24

There is nothing particular to be noted in it. Like all the reports of the museum it serves its purpose well for the visitors of the museum and especially for the local institutions interested in its preservation and glory. It is been carefully planned by Mr. K. R. Srinivasa Aiyar, the curator of the museum.

D. S. T.

Restraint an important Factor in Ancient Indian Penalogy

By

Prof. Nalina Vilocana Sarma, M. A.

Considered in the light of modern ideas in the field of Penalogy, those embodied in the ancient Sanskrit books dealing with law, prove to have attained to a developed stage, something like which was not even contemplated in Europe till before the end of the eighteenth century. In view of this it is not quite true that "the notion of an offence against the state is of entirely modern growth and the theory that punishment is imposed for the sake of reforming the criminal and detering others from following the example is even still more modern "[1]

The problems which have to be faced in practical penalogy are numerous and intricate It is doubtful if it has been brought to a satisfactory level even in the most advanced countries. Ancient Indian Penalogy, too, is not without its short comings. It is, however, to its credit that some of the fundamental ideas of modern Penalogy are prescribed unanimously as essential by the ancient law givers of India.

As Kenny[2] sums it up "according to the most generally accepted writers—as, for instance, Beccaria, Blackstone, Romilly, Paley, Feuarbach—the hope of preventing the repetition of the offence is not only a main object, but the sole permissible object, of inflicting criminal punishment." It cannot be claimed that this was the single purpose of punishment in Ancient India. But it is not so either in modern Penalogy. This fact, however, is being accorded gradual recognition in modern times and it formed the main, if not the sole, factor of Ancient Indian Penalogy.

In Europe the sole purpose of punishment was retribution till almost the end of the eighteenth century. Punishment, accordingly,

1. Cherry : Growth of Criminal law in Ancient Communities p. 3.
2. Outlines of Criminal Law p. 30.

was rigid and did not take note of age, sex, circumstances etc. in the least. In India on the contrary, punishment was regarded from the earliest times to be an act about which the authorities should exercise the utmost care and discretion

As already pointed out, the sole factor of European Penalogy was retribution almost up to the end of the eigteenth century. Gautama (c. 600—400 B. C.), on the other hand, derives Daṇḍa from Daṁ = 'to restrain'[1]. That this is not putting into the mouth of Gautama what he may never have intended is proved by the considerations prescribed by him as necessary before punishment is actually awarded, viz., the consideration of the following facts—the status of the criminal, his physical condition. the nature of his crime and whether the offence has been repeated[2]. Vasiṣṭha improves upon it[3] and Viṣṇu also refers to the point briefly[4].

The idea is put forth clearly in the Bṛhaspati Sutra where Niti (i e. Daṇḍa Niti) is likened to a tree on a river's bank[5] which indicates the limits of the bank as well as holds it firm. In the case of punishment this may be interpreted to show the limit which nobody can cross without meeting restraint from authorities vested with power. It is further laid down that a king versed in Daṇḍa-Nīti should get to know the action suitable to place and time as also good and had policy[6].

Kautilya Arthaśāstra is a strictly practical treatise. Dharma-Śāstra works may be accused of idealism but Kauṭilya—Arthaśāstra escapes the critisism. But this work too agrees completly with the critical attitude taken up by Gautama and others before and after him. It attaches great importance to punishment; as a matter of fact Daṇḍa is said to be the only thing on which depends the well being and progress of the sciences of Ānvikṣaki, the three Vedas and Vārtā.

1. XI 28.
2. XII 48.
3. XIX. 9-10.
4. III. 91-92.
5. I. 102.
6. VI 1.

But he disagrees emphatically with those authorities who hold punishment to be the be-all and end-all of successful administration. If such a rigorous attitude is taken administration is bound to prove unpopular, althogh, it is equally inadvisable to eschew punishment altogether, in which case, disrespect for authority will be engendered in the mind of the people As such his advice given is to inflict punishment impartially, in tho right manner and with consideration, the only course of action which will lead the people to the Dharma, Artha and Kāma—ends of life[1]. We see here that Kauṭilya deprecates strongly the policy of awarding punishment for the sake of punishment —thus barring the idea of retribution. The general welfare of the people to which punishment should lead according to him further bars any idea of mere 'satisfaction of justice' which is commonly found to be closely associated with the primitive idea of retribution.

Whatever difierence of opinion may have prevailed during or before Kauṭilya, as is clearly manifasted by his reference to authorities holding a different opinion the principal Dharma-Śāstra works are unanimous as far as this basic principle of punishment is concerned.

Manu emphasizes the importanre of the principle in detail and more than once. He emphatically lays down that punishment must be meted out approprialely having carefully considered the time, place, strength and learning of the offender[2] He includes in his statement the salient features of Gautama and Vaśiṣṭha, the latter of whom is more elaborate on this point than any of the earlier writers. Manu points out its inportance and advantages. It is not only the offender who suffers by the wrong application of punishment but the repercussion is far and wide and all the people may be affected—'When meted out properly after due investigation it makes all people happy; but when meted out without due investigation it destroys all things'[3].

They refer to it in the following chapter when actually prescribing

1. See I. 1.
2. VII. 16.
3. VII. 19.

punishments for specified offences as a sort of warning for the authority in whom the power to punish is vested[1].

Yājñavalkya, as usual, puts it briefly but without omitting any point of importance. It is interesting to have a summary of this issue in his own words 'The king shall inflict punishment upon those who deserve it, after duly taking into consideration the crime, the place and the time, as also the strength, age, act and wealth of the culprit'[2].

Nārada also emphasizes the point adding only the consideration of motive[3]. Bṛhaspati Smṛti has nothing new to add[4].

Kāmandaka Nītisāra which is rightly regarded as the epitome of Kauṭilyas' treatise versifies the discussion given by his predecessor[5].

The most comprehensive statement is, however, contained in a verse quoted by Vardhamāna which includes in all, the consideration of eleven points before punishment can be awarded. These are (1) taste (2) object (3) amount (4) application of punishment (5) the connections of the offender (6) age (7) pecuniary condition (8) merits (9) place (10) time and (11) the particular offence[6].

The law-givers are not satisfied merely with an idealogical rationalization of the system of awarding punishment. That the actual grades of punishment could be justified only after the aforesaid factors were taken into consideration is clear from the general rule indicating the precedence of types of punishment according to the nature of the offence. While picking-pockets was a capital offence in the days of Elizabeth and the penalty for stealing five shillings and upwards was transportation even in 1810 in England without any externating considerations the ancient. law-givers definitely lay down that admonition, reproof, fine and corporal

1. VIII. 126, 324.
2. I. 3682.
3. Punishments 38.
4 Quoted in Daṇḍa Viveka p. 20 (Caekwad Oriental Suries).
5 II. 36—39.
6. Daṇḍa Viveka (Gaekwad Oriental Series) p. 36-

punishments should be resorted to one by one and only in very serious cases the strictest punishment should be inflicted *on the first offender*[1].

It is clear from the following study that retribution was not the motive behind the ancient Indian Penalogy It was, on the other hand, something far more beneficial which took into consideration the interests not only of the wronged individual, society or justice alone but *also of the offender* who may have erred simply because it is human to err.

It is further shown by the provision of a systematic code of Prāyaścitta parallel to and completing the ends of secular punishment. As a high church dignitary of present day England has said, 'severity to the offender may be necessary but it must not represent the vengeance either of the wronged individual or the society although the latter should promptly 'repudiate' the offence of its particular member'. And what is more important after this 'repudiation' has been effectively employed is that every effort should be made for the delinquant member to be again 'restored' to his former condition. This is truly provided for in the system of Prayaścitta, the philosophy and elaborate nature of which has not been given due credit up till now.

We have traced above the gradual and consistent development of the ideas of treating crimes and their perpetrators rationally from the earliest Dharma-Sūtra and Dharma-Śāstra works The ideas can stand comparison with the most modern ones on the question.

The study, however, cannot be complete unless it takes into account the attitude of the Buddhists and the Jainas on this question. The essentially humanitarian systems professed by the Buddhists and the Jainas believe in Ahiṇsa and Forgiveness in the extreme. Buddhist and Jaina rulers, nevertheless, could not be expected to do away with punishment in day to day administration

The space and time at the disposal of the writer being limited the questions will be discussed in this light in a subsequent paper.

---

1. Manu VIII, 129—130; Yajū. I. 137; Bṛhaspati (Extract in Daṇḍa Viveka p. 63); A quotation given by Haradtta on Gautama Dh. Sū. 2. 29.

 The difference in the order of precedence as prescribed by Manu and Yajñ in respect of admonition and reproof, though nof important, may be noted. The quotation in Haradatta on Gau. Dha. Sū. agrees with the latter while Bṛ. Smṛ. agrees with the former.

RULES.

1. The 'Jaina Antiquary' is an Anglo half-yearly Journal which is issued in two parts, *i.e.*, in June and December.

2 The inland subscription is Rs. 3 (including 'Jain Sidhanta Bhaskara') and foreign subscription is 4*s.* 8*d.* per annum, payable in advance. Specimen copy will be sent on receipt of Rs. 1-8-0.

3. Only the literary and other decent advertisements will be accepted for publication. The rates of charges may be ascertained on application to the Manager, 'Jaina Antiquary' The Jaina Sidhanta Bhavana, Arrah (India) to whom all remittances should be made.

4. Any change of address should also be intimated to him promptly.

5. In case of non-receipt of the journal within a fortnight from the approximate date of publication, the office at Arrah should be informed at-once.

6. The journal deals with topics relating to Jaina history, geography, art, archaeology, iconography, epigraphy, numismatics, religion, literature, philosophy, ethnology, folklore, etc., from the earliest times to the modern period

7. Contributors are requested to send articles, notes, etc., type-written, and addressed to K. P. Jain, Esq., M. R. A. S., Editor, 'Jaina Antiquary' Aliganj, Dist Etah (India).

8. The Editors reserve to themselves the right of accepting or rejecting the whole or portions of the articles, notes etc.

9. The rejected contributions are not returned to senders if postage is not paid.

10. Two copies of every publication meant for review should be sent to the office of the journal at Arrah (India).

11. The following are the editors of the journal, who work honorarily simply with a view to foster and promote the cause of Jainology :—

Prof. HIRALAL JAIN, M.A., L.L.B.
Prof. A N. UPADHYE, M A , D Litt.
B. KAMATA PRASAD JAIN, M.R.A.S.
Pt. K. BHUJABALI SHASTRI, VIDYABHUSANA.

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD.
ARRAH.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

भाग १०　　　　　　किरण २

THE JAINA ANTIQUARY

Vol IX　　　　　　No. II.

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
B. Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

PUBLISHED AT

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY
[JAINA SIDDHANTA BHAVANA]
ARRAH, BIHAR, INDIA.

DECEMBER, 1943.

जैन-सिद्धान्त-भास्कर पर कुछ सम्मतियां

"जैन संशोधन का एकमात्र षाण्मासिक पत्र है। इसमें प्रकाशित लेख जैन साहित्य के लिये अमूल्य होते हैं।"

—जैनमित्र

"जैन समाज में पुरातत्त्व अन्वेषण सम्बन्धी लेखों को प्रकाशित करने में 'भास्कर' सफल रहा है। सम्पादक महोदयों का प्रयत्न सराहनीय है।"

—जैनसंदेश

"इसमें जैन पुरातत्त्व सम्बन्धी खोजपूर्ण और ठोस सामग्री रहती है।"

—खण्डेलवाल जैन हितेच्छु

"इसमें सभी लेख अन्वेषणात्मक हैं। जैन समाज का एकमात्र ऐतिहासिक पत्र यही है। इसका स्थान वही है जो आधुनिक विश्वविद्यालयों में प्रकाशित खोजपूर्ण जर्नलों का है। अथवा यह भी कहा जाय तो अत्युक्ति न होगा कि निष्पक्ष किसी भी अन्य मतावलम्बी विद्वान् के हाथ में देने योग्य जैन समाज का यही पत्र है। पत्र अत्यन्त उपयोगी है।"

—जैन महिलादर्श

"यह षाण्मासिक पत्र यथावत् अपनी उत्कृष्टता की रक्षा करता आ रहा है। लेखों में वैविध्यता एवं विद्वत्ता स्पष्ट झलक रही है।"

—अध्यात्मप्रकाश

"The paper, no doubt has been appreciated by the visitors very much."

— Ganga Saran Mathur
Librarian & Secretary
Maharaja's public Library, Jaipur.

Jaina Literature in Tamil अपने ढंग की अनूठी पुस्तक है। इस ग्रन्थ के पढ़ने से हम अच्छी तरह से जान सकते हैं कि प्राचीन तमिल साहित्य की उन्नति में जैनधर्म का कितना महत्त्वपूर्ण हाथ है। उत्तर भारत के लोगों के लिये यह ग्रन्थ एक विशाल रत्न-राशि को प्रकट कर रहा है।

—प्रो० बलदेव उपाध्याय एम० ए०, बनारस

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १०] [किरण २

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी.
प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम. ए., डी. लिट्.
बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस.
पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥) एक प्रति का १॥)

वि० सं० २०००

विषय-सूची

श्रीजिनाय नमः

जैनपुरातत्त्व और इतिहास-विषयक षाण्मासिक पत्र

भाग १० | दिसम्बर, १९४३ । पौष, वीर नि० सं० २४७० | किरण २

सुकौशलचरित

[ले० श्रीयुत रामजी उपाध्याय, एम० ए०]

प्राचीन भारत की साहित्यिक भाषायें संस्कृत, पालि, प्राकृत और अपभ्रंश रही हैं। अपभ्रंश की उत्पत्ति और इसका विकास संस्कृत, पालि और प्राकृत के पश्चात् हुआ। अपभ्रंश काव्यों की रचना का प्रथम उल्लेख वलभी के धरसेन द्वितीय के शिलालेख में मिलता है। इस शिलालेख का समय ५५९ और ५६९ ई० के बीच का है। इस लेख में धरसेन के पिता गुहसेन के विषय में कहा गया है कि वे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं की प्रबन्ध-रचना में निपुण थे।[१] इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि ६ वीं शताब्दी में अपभ्रंश में स्वतन्त्र रूप से रचनायें होती थीं। उस समय से लेकर कम से कम १५वीं शताब्दी तक अपभ्रंश भाषा साहित्यिक भाषा रही है। सुकौशलचरित अपभ्रंश के साहित्यिक जीवन के अन्तिम काल की रचना है। अभी तक अपभ्रंश भाषा का कोई भी ग्रंथ इसके बाद का लिखा हुआ नहीं मिला है।[२]

---

१ बम्बे गजेटियर, प्रथम भाग, पृष्ठ ९० ।

२ रयधू के प्राय: समकालीन यश:कीर्ति के लिखे हुये दो अपभ्रंश ग्रन्थ हरिवंशपुराण और चन्द्रप्रभचरित मिले हैं। यश:कीर्ति संवत् १४८६ वि० में ग्वालियर काष्ठासंघ के आचार्य थे। इनका उल्लेख श्रीधररचित सुकुमारचरित की हस्तलिखित प्रति के अन्त में किया गया है। हरिवंशपुराण और चन्द्रप्रभचरित का उल्लेख नाथूराम प्रेमी के 'जैन साहित्य और इतिहास' के पृष्ठ ३८० में मिलता है। सुकुमारचरित की विवेचना प्रो० हीरालाल जैन ने नागपुर यूनिवर्सिटी जर्नल दिसम्बर १९४२ के अपभ्रंश साहित्य विषयक लेख में की है।

सुकौशलचरित[1] के रचयिता जैनधर्मानुयायी पण्डित रयधू थे। इनका दूसरा नाम सिंहसेन भी है।[2] इनके पिता का नाम हरसिंघ या हरिसिंह था। इनकी रचनाओं का समय ईसा की १५वीं शताब्दी का मध्यकाल है।[3] रयधू ग्वालियर के गणधर कुमारसेन के शिष्य थे। इन्होंने गणधर परम्परा में विजयसेन, क्षेमकीर्ति, हेमकीर्ति और कुमारसेन का उल्लेख किया है।[4] इनका जीवन प्रायः धार्मिक ग्रंथों के लिखने में ही व्यतीत हुआ। अन्य अपभ्रंश कवियों की तरह ये भी आश्रयदाताओं अथवा गुरुजनों के आदेशानुसार ग्रंथ-रचना करते थे। इनको अपने पाण्डित्य का तनिक भी अभिमान नहीं था। इन्होंने अपने को 'जडमति' और 'अगर्व' आदि कहा है।[5] अपने विषय में ये लिखते हैं कि मुझे शब्द, अर्थ और पिङ्गल का ज्ञान नहीं है। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि कवि में विद्वत्ता की किसी प्रकार कमी थी। इनके गुरु कुमारसेन ने इनको पण्डित और बुध आदि उपाधियों से सम्बोधित किया है।[6]

सौभाग्य वश रयधू ने अपनी कुछ कृतियों का उल्लेख सुकौशलचरित में किया है। इन्होंने स्वरचित नेमिजिनेन्द्रचरित[7] (हरिवंशपुराण) के विषय में लिखा है कि इसका

---

१ इस ग्रन्थ की हस्तलिखित प्रति जैन-सिद्धान्त-भवन आरा से लेखक को प्राप्त हुई। इस प्रति के अन्त में इसकी प्रतिलिपि के विषय में लिखा गया है : यह प्रति मु० देहली खजूर की मसजिद वाले नये पंचायती मंदिर में से संवत् १६३३ विक्रम की लिखी हुई प्रति से लिखी जो कि बाबू देवकुमार जी द्वारा स्थापित श्री जैन-सिद्धान्त-भवन आरा के लिये संग्रहार्थ विक्रम संवत् १९८७ के मार्गशीर्ष कृष्णा १४ को लिख कर तैयार हुई।

२ प्रो० हीरालाल जैन लिखित इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज़ १९२५ ई० के अपभ्रंश साहित्य विषयक लेख में मेघेश्वरचरित के रचयिता सिंहसेन का दूसरा नाम रयधू लिखा गया है।

३ पं० परमानन्दजी पण्डित रयधू का ग्रन्थरचनाकाल वि० सं० १४९७ से वि० सं १५२१ तक अर्थात् वि० की १५वीं शताब्दी का उत्तरार्ध एवं १६वीं शताब्दी का पूर्वार्ध मानते हैं। [अनेकान्त वर्ष ५, पृष्ठ ४०४] —के० बी० शास्त्री।

४ सुकौशलचरित १.२।

पं० परमानन्दजी ने रयधू को काष्ठासंघ के माथुरान्वय और पुष्करगण के भट्टारक यशःकीर्ति का शिष्य तथा भट्टारक गुणकीर्त्ति का प्रशिष्य बतलाया है। [अनेकान्त वर्ष ५, पृष्ठ ४०२] —के० बी० शास्त्री

५ सुकौशलचरित १.५।

६ सुकौशलचरित १.३, ४.।

७ इस ग्रन्थ की एक हस्तलिखित प्रति हरिवंशपुराण रयधू-रचित प्राकृत ग्रन्थ के नाम से जैन-सिद्धान्त-भवन आरा में है। सम्भवतः यह अपभ्रंश-प्राकृत का काव्य है।

पठन-पाठन आनन्दप्रद है। खेऊ या खेमसी साहु के लिये इन्होंने पार्श्वचरित की रचना की थी। बलभद्रपुराण की रचना कवि ने स्वान्तःसुखाय ही की।[1] इन ग्रंथों के अतिरिक्त रयधू के लिखे हुए मेघेश्वर चरित और दशलाक्षणिक जयमाला नामक दो अपभ्रंश ग्रंथों की हस्तलिखित प्रतियाँ भी प्राप्त हुई हैं।[2] रयधू ने एक करकण्डुचरित नामक ग्रंथ भी लिखा है जिसका उल्लेख प्रो० हीरालाल जैन ने कनकामर रचित करकण्डुचरित की भूमिका के पृष्ठ १३ में किया है।[3]

रयधू ने सुकौशलचरित की रचना अपने गुरु कुमारसेन गणधर के आदेशानुसार की थी। कवि ने गणधर से ग्रंथ की उपादेयता के निमित्त इसके प्रचार करने वाले की आवश्यकता बतलाई। इस ग्रंथ का विस्तार करने के लिये गणधर ने ग्वालियर के आणा साहु के पुत्र रणमल्ल का नाम बतलाया और यह ग्रंथ उन्हीं के आश्रय में लिखा गया।[4] इस ग्रंथ की रचना का समय बतलाते हुये कवि ने लिखा है :

१　जहं पइ णेमि जिणिंदहुकेरउ। चरिउ रइउ बहु सुक्ख जणेरउ॥
अण्णु वि पासहु चरिउ पयासिउ। खेऊ साहु णिमित्त सुहासिउ॥
बलहद्दउ पुराण पुणु तीयउ। णियमण अणुराएं पइं कीयउ॥
तहु सुकोसल चरिउ सुहंकरु। विरयहि भवसय दुक्ख खयंकरु॥

सुकौशल चरित १. ३

२　प्रो० हीरालाल जैन लिखित इलाहाबाद यूनिवर्सिटी स्टडीज़ १९२५ ई० के अपभ्रंश साहित्य विषयक लेख में इन दो ग्रन्थों के विषय में लिखा गया है।

३　पं० परमानन्दजी ने अनेकान्त वर्ष ५, पृष्ठ ४०१ में प्रकाशित 'अपभ्रंश-भाषा के प्रसिद्ध कवि पं० रइधू' नामक अपने लेख में इनके २३ ग्रन्थों का नाम गिनाया है। वे इस प्रकार हैं : १ आदिपुराण (महापुराण) २ यशोधरचरित्र ३ वृत्तसार ४ जीवंधरचरित्र ५ पार्श्वनाथपुराण ६ हरिवंशपुराण ७ दशलक्षणजयमाला ८ सुकौशलचरित्र ९ रामपुराण १० षोडशकारण-जयमाला ११ महावीरचरित्र १२ करकंडुचरित्र १३ अणथमीकथा १४ सिद्धचक्रचरित्र १५ जिणंधरचरित्र १६ उपदेशरत्नमाला १७ आत्मसंबोधन १८ पुण्याश्रवकथा १९ श्रीपालचरित्र २० सम्मत्तगुणनिधान २१ सम्यग्गुणारोहण २२ सम्यक्त्वकौमुदी २३ सिद्धान्तार्थसार।

—के० बी० शास्त्री।

४　रणमल्ल बहुत धनी वणिक् थे। कवि ने आश्रयदाता की वंशावली और प्रशंसा ग्रन्थ के अन्त और प्रथम संधि के चतुर्थ कडवक में की है। प्रत्येक संधि के अन्त में भी कवि रणमल्ल के प्रति कृतज्ञता का भाव प्रकट करता है। द्वितीय संधि के प्रारम्भ में आश्रयदाता को आशीर्वाद देते हुये संस्कृत भाषा में कवि ने लिखा है :

अभिमत्तगुणग्रामः कामं जगज्जनवल्लभः।
कलमलीलासालः (?) कलं कलकेलिदः॥
जयतु जगतां सारः सतां शिरसि शेखरः।
परमधार्मिकः साधुरणमल्ल नामकः॥२. १

सिरि विक्कम समयंतरालि । वट्टंत इन्दु सम विसम कालि ।
चउदह सय संवच्छरइ अन्न । छण्णउव अहिय पुणु जाय पुण्णु ।।
माहहु जि किण्ह दहमा दिणम्मि । अणुराहरिक्खि पयडिय सकम्मि ।।

इससे ज्ञात होता है कि यह ग्रन्थ १४९६ वि० सं० (१४५० ई०) के माघ मास कृष्ण पक्ष में दशमी तिथि को समाप्त हुआ था। उस समय ग्वालियर[1] (गोवागिरि) में डुंगर सिंह राज्य करते थे।[2]

सुकौशलचरित केवल ४ संधियों में समाप्त हुआ है। इसमें कुल मिला कर ७४ कडवक हैं। पहली दो संधियों में कवि ने पुराणों की तरह 'काल, कुलधर, जिननाथ और देश' सम्बन्धी वर्णन दिया है। रचयिता की शैली प्रस्तुत ग्रंथ में प्रायः वर्णनात्मक है। कहीं कहीं पर रयधू ने कवित्व का प्रदर्शन भी किया है। चौथी संधि में अन्तःपुर की रमणियों के हाव-भाव और अलंकारों का काव्यमय वर्णन उच्चकोटि का है। इस ग्रन्थ को समाप्त करते हुये कवि ने उपसंहार में नाटकों के भरत वाक्य की भाँति लिखा है :

राणउ णंदउ सुहि वसउ देसु
जिण सासण णंदउ विगयलेसु ।।

कवि की भाषा साहित्यिक अपभ्रंश है। तत्कालीन जनता की भाषा का कोई भी प्रभाव इस ग्रन्थ में नहीं लक्षित होता। अपभ्रंश भाषा भी अन्य भाषाओं की भाँति एक व्यवस्थित (Classical) भाषा रही है।

सुकौशल चरित का कथानक

इक्ष्वाकुवंश में कीर्तिधर नाम के एक प्रसिद्ध राजा थे। उल्का देखने के पश्चात् इनको संसार की असारता का ज्ञान हुआ। वे संन्यासी होकर जीवन बिताना चाहते थे किन्तु मंत्रियों के समझाने से पुत्रोत्पत्ति के समय तक इन्होंने सन्यास से विरत रहने का निश्चय किया।

कई वर्षों तक उन्हें कोई पुत्र उत्पन्न नहीं हुआ। उनकी रानी सहदेवी एक दिन जैन मन्दिर में गई। वहाँ मुनि ने सूचित किया कि तुम्हें एक पुत्र होगा, किन्तु वह किसी भी मुनि को देख कर संन्यासी हो जायेगा।

कुछ समय के पश्चात् रानी ने पुत्र प्रसव किया। इस पुत्रोत्पत्ति को गुप्त रखने की महती चेष्टा करने पर भी राजा ने जान लिया और तत्काल ही उस कुमार को राज्य भार

---

१ ग्वालियर के अन्य नाम गोपालगिरि, गोवाचल इत्यादि हैं।
२ सुकौशलचरित १. ४; ४. २२

सौंप कर व्रतधारी हो गये। राजा ने इस पुत्र को विद्वान् के लक्षणों से युक्त देखकर उसका नाम सुकौशल रखा।

रानी का पति-वियोग तो असह्य था हीं, साथ ही साथ उन्हें पुत्र के संन्यासी होने का भी भय था। युवावस्था में कुमार का विवाह ३२ राजकुमारियों से कर दिया गया। वे भोगविलास पूर्वक राजप्रासाद में रहने लगे। बाहर जाने का अधिकार उनको नहीं था। उनकी माता इस बात का सतत प्रयत्न करती थीं कि वे कहीं किसी मुनि को न देख लें। नगर में किसी मुनि को आने की आज्ञा नहीं थी। यदि वे कहीं पकड़ लिये जाते थे तो खूब पीटे जाते थे।

एक दिन राजकुमार के पिता, कीर्तिधवल जो मुनि हो गये थे, उस नगर में आये। उनकी भी वही दुर्गति हुई। जब राजकुमार को यह बात ज्ञात हुई तो उन्होंने अपना राज्य छोड़कर संन्यास ले लिया और कीर्तिधवल का शिष्य बन कर जैनधर्म के व्रतों और आचारों का पालन किया।

सहदेवी मरने के पश्चात् व्याघ्री हुई। क्योंकि वह सांसारिक मोह-माया में पड़ी हुई थी। एक दिन उसने अत्यन्त भूखी होने पर पर्वत पर विचरण करते हुये सुकौशल मुनि को ही खा लिया। सुकौशल ने मरने के पश्चात् मोक्ष पद प्राप्त किया। सहदेवी को कीर्तिधवल ने अपने पूर्व जन्म का स्मरण कराया। मुनि के उपदेशों को सुनकर उसे जातिस्मरण हुआ और अन्त में संन्यासी होकर मरने से उसे स्वर्ग की प्राप्ति हुई। कीर्तिधवल ने भी अपने कुकर्मों का नाश कर के मोक्ष पद प्राप्त किया।

भगवान् महावीर की जन्मभूमि

[ले० श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

विख्यात बौद्ध विद्वान राहुल सांकृत्यायन[1] आदि कुछ विद्वानों का मत है कि भगवान् महावीर का निर्वाण गोरखपुर जिला में कुशीनारा के निकट वर्तमान 'पपउर' नामक ग्राम में हुआ था। परन्तु वास्तव में भगवान् महावीर की निर्वाणभूमि वही पावा है जो बिहार शरीफ से आग्नेय कोण में ७ मील की दूरी पर पावापुरी के नाम से प्रसिद्ध है। श्वेताम्बर जैन ग्रन्थों में इसे मध्यमा पावा कहा है। क्योंकि जैन और बौद्ध साहित्य के समन्वय से पावा तीन सिद्ध होती है और पहली एवं तीसरी इन दोनों के बीच में समानान्तर अवस्थित होने से यह उल्लिखित दूसरी पावा मध्यमा पावा के नाम से प्रसिद्ध हो गई थी। हां, बौद्ध ग्रन्थों में तीसरी पावा तथा जैन ग्रन्थों में पहली पावा का उल्लेख नहीं मिलता है। यही कारण है कि अन्वेषक विद्वान् दो ही पावाओं का उल्लेख करते हैं। तीन पावाओं में पहली गोरखपुर जिला में, दूसरी पटना जिला में और तीसरी हजारीबाग जिला में अवस्थित थी।

अस्तु, जैन समाज को भगवान महावीर की निर्वाणभूमि का जब ठीक-ठीक पता लग गया और वहां पर विशाल मन्दिर एवं धर्मशालाएँ भी बन गई तब इसे महावीर की जन्मभूमि के अन्वेषण की भी चिन्ता हुई होगी। उसने यह सोचा कि जब भगवान का निर्वाण पावापुरी में हुआ है तब उनका पवित्र जन्म भी इसीके आसपास ही कहीं हुआ होगा। जैन जनता अच्छी तरह जानती थी कि जैन ग्रन्थों में भगवान महावीर का जन्म कुण्डलपुर[2] में लिखा है। अचानक नालन्दा से सटा हुआ लगभग दो मील की दूरी पर एक कुण्डलपुर नामक गांव का इसे पता भी लग गया। फिर पूछना ही क्या है, ज्ञात होता है कि यही कुण्डलपुर महावीर की जन्मभूमि मान ली गई और यहां पर भी मन्दिर, धर्मशाला आदि बन गई। तभी से यह स्थान भगवान महावीर की जन्मभूमि के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

परन्तु यह कुण्डलपुर भगवान् महावीर की जन्मभूमि नहीं हो सकती। क्योंकि दिगम्बर[3]

१—'बुद्धचर्या'।

२—"उन्मीलितावधिदृशा सहसा विदित्वा तज्जन्मभक्तिभरतः प्रणतोत्तमांगाः।
घंटानिनादसमवेतनिकायमुख्या दिष्ट्या ययुस्तदिति कुण्डपुरं सुरेन्द्राः॥" १७—६१
[महाकवि असग-(ई० सन् ९८८) विरचित वर्धमानचरित्र]

३ (क) "सिद्धार्थनृपतितनयो भारतवास्ये विदेहकुण्डपुरे।
देव्यां प्रियकारिण्यां सुस्वप्नान् संप्रदर्श्य विभुः" ॥४॥
[आचार्य पूज्यपाद-(वि० ५ वीं शताब्दी) विरचित दशभक्ति पृ. ११६]

एवं श्वेताम्बर[1] दोनों आम्नाय के साहित्य में महावीर की जन्मभूमि कुण्डलपुर विदेह अथवा वैशाली[2] में लिखा हुआ मिलता है।

जिस कुण्डलपुर को जैन समाज इस समय महावीर की जन्मभूमि मान रहा है, वह विदेह या वैशाली में न होकर मगध की प्राचीन राजधानी राजगृह के अति निकट वर्तमान है। भगवान् महावीर के जमाने में इस राजगृह में शिशुनागवंश का प्रतापी राजा, महावीर का मौसा श्रेणिक या बिम्बसार राज करता था। यह बात निर्विवाद सिद्ध है कि भगवान् महावीर के पूज्य पिता, इक्ष्वाकु या नाथवंश के मुकुटमणि सिद्धार्थ जैन ग्रन्थों में कुण्डपुर के राजा के रूप में कहे गये हैं। कौटिल्य-अर्थशास्त्र से स्पष्ट है कि प्रजातन्त्रराजसंघ में क्षत्रियकुलों के मुखियों की कौंसिल मुख्य-कार्य-कर्त्री थी और इस कौंसिल के सदस्यों का नामोल्लेख राजा के रूप में होता था।[3] नाथवंशीय क्षत्रिय वज्जिप्रदेशीय प्रजातन्त्रात्मक राजसंघ में सम्मिलित थे। यही कारण है कि भगवान् महावीर के पिता सिद्धार्थ कुण्डपुर के राजा कहलाते थे। बल्कि इनका विवाह वैशाली के लिच्छवि-क्षत्रियों के प्रमुख नेता राजा चेटक

(ख) "अथ देशोऽस्ति विस्तारी जम्बूद्वीपस्य भारते।
विदेह इति विख्यातः स्वर्गखंडसमः श्रियः ॥१॥
तत्राखंडलनेत्रालीपद्मिनीखंडमंडनं।
सुखांभःकुंडमाभाति नाम्ना कुंडपुरं पुरं" ॥२॥
[आचार्य जिनसेन-(वि० ८ वीं शताब्दी) विरचित हरिवंशपुराण खण्ड १, सर्ग २]

(ग) "तस्मिन् षण्मासशेषायुष्यानाकादागमिष्यति।
भरतेऽस्मिन् विदेहाख्ये विषये भवनांगणे ॥२५१॥
राज्ञः कुंडपुरेशस्य वसुधारापतत्पृथु।
सप्तकोटीमणीः सार्द्धाः सिद्धार्थस्य दिनं प्रति" ॥२५२॥
[आचार्य गुणभद्र-(वि० ९वीं शताब्दी) विरचित उत्तरपुराण पर्व ७४]

(घ) "अथेह भारते क्षेत्रे विदेहाभिध ऊर्जितः। देशः सद्धर्मसंघाद्यैः विदेह इव राजते। ७—२
इत्यादिवर्णनोपेतदेशस्याभ्यन्तरे पुरं। राजते कुण्डलाभिख्यं ...... ॥" ७—१०
[महाकवि सकलकीर्ति-(मृत्युकाल ई० सन् १४६४) विरचित वर्धमानचरित्र]

(च) "अथास्मिन् भारते वर्षे विदेहेषु महर्द्धिषु।
आसीत्कुण्डपुरं नाम्ना पुरं सुरपुरोपमम्" ॥१॥
[दामनन्दि-विरचित पुराण-संग्रह (हस्तलिखित) पृ. ५२, पूर्वपत्र]

१—सूत्रकृताङ्ग—१. २. ३. २२। उत्तराध्ययनसूत्र—६. १७। कल्पसूत्र—११०।
भगवतीसूत्रटीका—२. १. १२. २। [जैन-सिद्धान्त-भास्कर भाग ३, पृष्ठ. ७१]

२—कुण्डग्राम या कुण्डलपुर वैशाली का ही अपर भाग था।
[Ksatriya clans in Buddhist India, Page 36.]

३—'कौटिल्य-अर्थशास्त्र' का मैसूर-संस्करण, पृष्ठ. ४५५।

की पुत्री प्रियकारिणी अथवा त्रिशला के साथ हुआ था। ऐसे सम्भ्रान्त राजवंश से वैवाहिक सम्बन्ध होना भी इनकी प्रतिष्ठा और गौरव का ज्वलन्त निदर्शन है।

आधुनिक साहित्यान्वेषण से सिद्ध हो चुका है कि नाथ या ज्ञातृक क्षत्रियों का निवास-स्थान प्रधानतया वैशाली (बसाड़), कुण्डग्राम एवं वणिय ग्रामों में था। साथ ही साथ यह भी प्रकट हो चुका है कि नाथवंशीय क्षत्रिय कुण्डग्राम से ऐशान्य दिशा में अवस्थित कोल्लाग में अधिक संख्या में रहते थे। वैशाली के निकट ही कुण्डग्राम वर्तमान था, जो सम्भवतः आजकल का 'वसुकुण्ड' है। जैन ग्रन्थों के अनुसार भगवान् महावीर का जन्म यहीं हुआ था। कोई-कोई विद्वान् कोल्लाग को ही इनका जन्मस्थान मानते हैं। परन्तु यह बात दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों की आस्था के प्रतिकूल है।

नाथवंशीय क्षत्रियों के विषय में इतना और जान लेना आवश्यक है कि वे मुख्यतः जैनों के २३ वें तीर्थंकर भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी थे। बाद जब भगवान महावीर के दिव्य करकमलों में जैनधर्म का शासन-सूत्र आया तब वे नियमानुसार उनके उपासक बन गये।

अस्तु, अब पाठक यह भी देख लें कि प्राचीन काल में विदेह की सीमा क्या थी। १४वीं शताब्दी के 'शक्तिसंगमकल्प' में विदेह की सीमा गण्डकी नदी के पूर्व बतलाई गई है।[1] सम्राट् अकबर द्वारा महामहोपाध्याय मिथिलेश पं॰ महेश ठाकुर के दान-पत्र में भी मिथिला की सीमा गंगा से हिमालय तथा कोशी और गण्डकी नदी के बीच बताई गई है।[2] इससे वैशाली के निकटवर्ती उक्त कुण्डनपुर गंगा के उत्तर होना स्वयं सिद्ध है। अब यह भी देख लीजिये कि पूर्व में मगध की सीमा क्या रही। 'शब्दार्थचिन्तामणि' में लिखा है कि "व्यामेश्वरं समारभ्य तप्तकुण्डान्तकं शिवे। मगधाख्यो महादेशो यात्रायां न हि दुष्यति॥" भगवान् बुद्ध के समय[3] मगध की सीमा इस प्रकार बतलाई गई है:

मगध के पूर्व में चम्पानदी थी, दक्षिण में विन्ध्याचल पहाड़, पश्चिम में शोणभद्र तथा उत्तर में गंगा की धारा। एक बार जब भगवान् बुद्ध राजगृह से वैशाली जाने लगे तो बिम्बसार ने[4] राजगृह से गंगातट तक के मार्ग को जो ५ योजन था पांच रंग के फूलों से सुसज्जित करा दिया

१— 'गण्डकीतीरमारभ्य चम्पारण्यान्तकं शिवे।
विदेहभूः समाख्याता तीरभुक्ताभिधो मनुः॥'

२— 'अज गंग ता संग अज कोसी ता गोसी।'
[महामहोपाध्याय डा॰ सर. गंगानाथ झा 'अभिनन्दनग्रन्थ' पृष्ठ, १८]

३— डा॰ जी॰ पी॰ मल्लालशेखर-रचित 'ए डिक्शनरी आफ पाली प्रापर नेम्स' भाग २, पृष्ठ, ४०३।

४— 'सुमंगलविलासिनी'।

था तथा स्वयं गर्दन भर पानी तक गंगा में जाकर उनको विदा किया था। उनके लौटने पर उसी ठाट से उन्हें वापस ले गये थे।

कुछ पाठकों को यहां पर एक बात की शंका हो सकती है कि जैन ग्रन्थों में कहीं-कहीं भगवान् महावीर का जन्म विदेह में लिखा है और कहीं-कहीं वैशाली में। इसका उत्तर स्पष्ट है। विदेह भारत का एक विशाल राष्ट्र था और वैशाली उसी के अन्तर्गत था। पूर्व में वैशाली की सीमा उत्तर और पूर्व में विदेह तथा दक्षिण में मगध थी। वैशाली उस समय तीन भागों में[1] बंटा था। प्रथम भाग में उत्तम श्रेणी के लोग रहते थे जहां पर ७००० घर थे, जिनके शिखर स्वर्ण के थे। द्वितीय भाग में १४००० घर मध्यम श्रेणी के लोगों के थे, जिनके शिखर चान्दी के तथा तृतीय भाग में जघन्य श्रेणी के लोग रहते थे, जिनके २१००० घर थे। इनके शिखर ताम्र के थे। अतः ज्ञात होता है कि यह वैशाली उस समय तीन भागों में विभक्त था, जिनके नाम वैशाली (बसाढ़), कुण्डपुर और वणियग्राम थे।

इस सम्बन्ध में श्वेताम्बर विद्वान् पुरातत्त्ववेत्ता पं० कल्याणविजयजी गणी का अभिप्राय इस प्रकार है :

"प्रचलित परम्परानुसार आजकल भगवान् की जन्म-भूमि पूर्व बिहार में क्यूल स्टेशन से पश्चिम की ओर आठ कोस पर अवस्थित लच्छु-आड़ गांव माना जाता है। पर हम इसको ठीक नहीं समझते। इसके अनेक कारण हैं—

(१) सूत्रों में महावीर के लिये 'विदेहे विदेहदिन्ने विदेहजच्चे विदेहसूमाले तीसं वासाइं विदेहं सिकट्टु'[2] इत्यादि जो वर्णन मिलता है, इससे यह स्वतः सिद्ध होता है कि महावीर विदेह देश में अवतीर्ण हुए और वहीं उनका संवर्धन हुआ था। यद्यपि टीकाकारों ने इन शब्दों का अर्थ और ही तरह से लगाया है, पर शब्दों से प्रथमोपस्थित 'विदेह, वैदेहदत्त, विदेहजात्या, विदेहसुकुमाल, तीस वर्ष विदेह में (पूरे) करके' इन अर्थवाले शब्दों पर विचार करने से यही ध्वनित होता है कि भगवान् महावीर विदेह जाति के लोगों में उत्तम और सुकुमार थे। एक जगह तो महावीर को 'वैशालिक' भी लिखा है। इससे ज्ञात होता है कि आप का जन्म-स्थान क्षत्रियकुण्डपुर वैशाली का ही एक विभाग रहा होगा।

(२) जब कि भगवान् ने राजगृह और वैशाली आदि में बहुत से वर्षा चातुर्मास्य किये थे तब क्षत्रियकुण्डपुर में एक भी वर्षाकाल नहीं बिताया। यदि क्षत्रियकुण्डपुर जहाँ आज माना जाता है वहीं होता तो भगवान् के कतिपय वर्षावास भी वहाँ अवश्य ही होते; पर ऐसा नहीं हुआ। वर्षावास तो दूर रहा, दीक्षा लेने के बाद कभी क्षत्रियकुण्डपुर अथवा

१—राकहिल-रचित 'लाइफ आफ बुद्ध' पृष्ठ. ६२।

२—सचित्र कल्पसूत्र ११० (१)।

उसके उद्यान में भगवान् के आने जाने का भी कहीं उल्लेख नहीं है। हां, प्रारम्भ में जब आप ब्राह्मणकुण्डपुर के बाहर बहुसाल चैत्य में पधारे थे तब क्षत्रियकुण्डपुर के लोगों का आप की धर्मसभा में जाने और जमालि के प्रव्रज्या लेने की बात अवश्य आती है।

भगवान् महावीर बहुधा वहीं अधिक ठहरा करते थे जहां पर राजवंश के मनुष्यों का आप की तरफ सद्भाव रहता। राजगृह-नालंदा में चौदह और वैशाली-वाणिज्यग्राम में बारह वर्षावास होने का यही कारण था कि वहां के राजकर्ताओं की आप की तरफ अनन्य भक्ति थी। क्षत्रियकुण्ड के राजपुत्र जमालि ने अपनी जाति के पाँच सौ राजपुत्रों के साथ निर्ग्रन्थ धर्म की प्रव्रज्या ली थी। इसमें भी इतना तो सिद्ध होता है कि क्षत्रियकुण्डपुर जहां से कि एक साथ पाँच सौ राजपुत्र निकले थे कोई बड़ा नगर रहा होगा। तब क्या कारण है कि महावीर ने एक भी वर्षावास अपने जन्मस्थान में नहीं किया? इसका उत्तर यही है कि क्षत्रियकुण्डपुर वैशाली का ही एक भाग उपनगर था और वैशाली-वाणिज्यग्राम में बारह वर्षा चातुर्मास्य हुए ही थे, जिनसे क्षत्रियकुण्ड और ब्राह्मणकुण्ड के निवासियों को भी पर्याप्त लाभ मिल चुका था। इस परिस्थिति में क्षत्रियकुण्ड में जाने आने अथवा वर्षावास करने सम्बन्धी उल्लेखों का न होना अस्वाभाविक नहीं है।

(३) भगवान की दीक्षा के दूसरे दिन कोल्लाकसंनिवेश में पारणा करने का उल्लेख है। जैन सूत्रों के अनुसार कोल्लाकसंनिवेश दो थे—एक वाणिज्यगांव के निकट और दूसरा राजगृह के समीप। यदि भगवान् का जन्मस्थान आजकल का क्षत्रियकुण्ड होता तो दूसरे दिन कोल्लाक में पारणा होना असम्भव था, क्योंकि राजगृहवाला कोल्लाकसंनिवेश वहाँ से कोई चालीस मील दूर पश्चिम में पड़ता था और वाणिज्यग्रामवाला कोल्लाक इससे भी बहुत दूर। इससे यही मानना तर्कसंगत होगा कि भगवान ने वैशाली के निकटवर्ती क्षत्रियकुण्ड के ज्ञातखण्ड वन में प्रव्रज्या ली और दूसरे दिन वाणिज्यग्राम के समीपवर्ती कोल्लाक में पारणा की।

(४) क्षत्रिय-कुण्ड में दीक्षा लेकर भगवान ने कर्मारग्राम, कोल्लाकसंनिवेश, मोराक-संनिवेश आदि में विचरकर अस्थिकग्राम में वर्षा चातुर्मास्य बिताया और चातुर्मास्य के बाद भी मोराक, वाचाला, कनकखल, आश्रमपद और श्वेतविका आदि स्थानों में विचरने के उपरान्त राजगृह की तरफ प्रयाण किया और दूसरा वर्षावास राजगृह में किया था।

उक्त विहार-वर्णन में दो मुद्दे ऐसे हैं जो आधुनिक क्षत्रियकुण्ड असली क्षत्रियकुण्ड नहीं है, ऐसा सिद्ध करते हैं। एक तो भगवान प्रथम चातुर्मास्य के बाद श्वेताविका नगरी की तरफ जाते हैं और दूसरा यह कि उधर से विहार करने के बाद आप गंगानदी उतर कर राजगृह जाते हैं।

श्वेतविका श्रावस्ती से कपिलवस्तु की तरफ जाते समय मार्ग में पड़ती थी। यह भूमि-प्रदेश कोशल के पूर्वोत्तर में और विदेह के पश्चिम में पड़ता था और वहाँ से राजगृह की

तरफ जाते समय बीच में गंगा पार करना पड़ता था, यह भी निश्चित है। आधुनिक क्षत्रियकुण्डपुर के आस-पास न तो श्वेतविका नगरी थी और न उधर से राजगृह जाते समय गंगा ही पार करना पड़ता था। इससे ज्ञात होता है कि भगवान् की जन्मभूमि आधुनिक क्षत्रियकुण्ड—जो आजकल पूर्व बिहार में गिद्धौर स्टेट में और पूर्वकालीन प्रादेशिक सीमानुसार अंग देश में पड़ता है—नहीं है, किन्तु गंगा से उत्तर की ओर उत्तर बिहार में कहीं थी और वह स्थान पूर्वोक्त प्रमाणों के अनुसार वैशाली के निकटवर्ती क्षत्रिय-कुण्ड ही हो सकता है"।[1]

यहां पर यह खयाल हो सकता है कि प्राचीन वैशाली अर्थात् वर्तमान बसाढ़ ही यदि भगवान् महावीर की जन्मभूमि है तो वहाँ पर इस बात का कुछ न कुछ चिन्ह मिलना भी आवश्यक है। इसका स्पष्ट उत्तर तो यह है कि इस दृष्टि से वहां पर अभी तक कोई खोज हुई ही नहीं है। फिर भी इस प्रकरण में मैं सन् १९०२ में 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' के जर्नल में प्रकाशित वैशाली सम्बन्धी एक लेख और सन् १९०३—४ की 'आरकिओलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया' की रिपोर्ट की ओर विज्ञ पाठकों का ध्यान आकर्षित करना चाहता हूं। 'रायल एशियाटिक सोसाइटी' के जर्नल में प्रकाशित लेख का कुछ अंश इस प्रकार है :

"जैन मन्तव्यानुसार वैशाली में तीन जिले शामिल थे। जैसे, खास वैशाली, कुण्डग्राम और बनियाग्राम। इसके अतिरिक्त कोल्लाग एक प्रान्त था। वर्तमान बनिया-ग्राम वास्तव में प्राचीन वणिय-ग्राम है। इस ग्राम में बहुत से बड़े-बड़े टीले हैं। १० वर्ष पूर्व यहां पर खुदाई करने पर ग्राम से पश्चिम ५०० गज जाकर जमीन से ८ फुट के अनुमान खोदने पर दो जैन तीर्थंकरों की मूर्तियां मिली हैं। उसमें एक पद्मासन और दूसरी खड्गासन थीं। ....यदि बनिया और कोल्हुआ के स्थानों की जांच की जाय तो जैन इतिहास का बहुतसा मसाला मिलेगा। मैं आशा करता हूं कि जैन और बौद्ध स्मारक मिले हुये मिलेंगे और उनके पहचानने में बहुत कठिनता पड़ेगी। क्योंकि जैन और बौद्ध दोनों में स्तूप, तोरणद्वार आदि एक से ही मिलते हैं।[2]

अब पाठक 'आरकिओलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया' की रिपोर्ट का अंश भी पढ़ लें: "इस वर्ष बसाढ़ में खुदाई की गई। इस खुदाई में बहुत से बर्तन और मोहरें मिलीं। एक मोहर पर चरण-चिन्ह हैं जो किन्हीं जैन तीर्थंकर की पादुकाएँ होंगी। इन मोहरों पर विद्यमान मंगल यन्त्रों से हमें यह फल प्रकट होता है कि ये मोहरें ब्राह्मणधर्म एवं जैनधर्म

१—'श्रमण भगवान् महावीर' की प्रस्तावना पृष्ठ XXV.

२—'बंगाल-बिहार-उड़ीसा के प्राचीन जैन स्मारक' पृष्ठ २३—२५।

के मानने वालों की हैं, बौद्धों की नहीं। इनमें चरण-पादुकाएँ हैं, कलश है और त्रिशूल हैं। ये ही चिन्ह् कटक में खण्डगिरि पर्वत की हाथी-गुफा के राजा खारवेल के शिलालेख में भी मिले हैं।[१]"

'आरकिऑलाजिकल सर्वे आफ इंडिया' की १९१३-१४ की रिपोर्ट से ज्ञात होता है कि बसाढ़ में फिर खुदाई हुई थी, जिसमें बहुत सी मोहरें निकली थीं। इनमें से बहुतसों में लेख भी मौजूद हैं। इन मोहरों में उपलब्ध नामों को जैन पुराणों के नामों से सावधानी से मिलान करने पर बहुतसी नई बातों का पता लग सकता है।

एक जमाने में वैशाली बहुत ही समृद्धशाली था। बल्कि ७ वीं शताब्दी तक वहां पर जैनधर्मावलम्बी प्रचुर संख्या में पाये जाते थे। चीन-यात्री ह्वेनसांग ने अपने यात्राविवरण में लिखा है कि वैशाली में उन्हें जैनमतानुयायी अधिक संख्या में मिले थे।

उल्लिखित ये सब प्रमाण बसाढ़ को भगवान् महावीर की जन्मभूमि सिद्ध करने में अवश्य सहायक हैं।

अस्तु, विज्ञ पाठकों के समक्ष सिर्फ विचारार्थ मैंने अपनी एक राय उपस्थित कर दी है। कृपया इसे कोई अन्यथा समझने की चेष्टा नहीं करेंगे। अगर कोई विद्वान् नालन्दा के निकटवर्ती, पटना-जिलान्तर्गत कुण्डलपुर को ही भगवान् महावीर की जन्मभूमि प्रमाणित कर दें तो उसे मैं सहर्ष स्वीकार कर लूंगा। सच्चे अन्वेषक का लक्ष्य सदैव सत्य की ही खोज रहता है। आशा है कि अनुसन्धानप्रेमी अन्य जैन व जैनेतर विद्वान् भी इस विषय पर अपना विचार अवश्य प्रकट करेंगे। अन्त में एक अन्वेषक विद्वान् के शब्दों में 'क्या कोई भक्तवत्सल जैन मुजफ्फरपुर-जिलान्तर्गत उस गाँव (बसाढ़) की खुदाई कराकर भगवान् के जन्मस्थान का ठीक-ठीक पता लगाने का उद्योग करके पुण्य और यश का भागी बनेगा ?'

१—'बंगाल-बिहार-उड़ीसा के प्राचीन जैन स्मारक' पृष्ठ. २५।

देवराज द्वारा जैनधर्म की सहायता[1]

[ले० श्रीयुत बनारसीप्रसाद भोजपुरी, सा० रत्न, रचनानिधि]

यदि यह कहा जाय कि विजयनगर के हिन्दू राजाओं ने, हिन्दूधर्म के अनुयायी होते हुए भी, अन्य धर्मों का आदरपूर्वक सम्मान किया है, तो कोई अतिशयोक्ति नहीं हो सकती। उन्होंने यदि एक तरफ हिन्दूधर्म के अस्तित्व की रक्षा के लिए अपने धन को पानी की तरह बहाया है, तो दूसरी ओर अन्य धर्मों के अस्तित्व की रक्षा के लिए भी उन्होंने अपना परिश्रम और धन खर्च करने में जरा भी आनाकानी नहीं की है। निःसन्देह उन हिन्दूधर्म के कर्णधारों को सभी धर्मों और संस्कृतियों का पोषक और संरक्षक कहना न्यायसंगत होगा। हम उनकी महान् उदारता और धर्मवीरता का बखान किन शब्दों में करें जब हम देखते हैं कि जहां उनका एकमात्र संकल्प और व्रत केवल हिन्दूधर्म की रक्षा और प्रचार करना था, वहाँ उन्होंने अन्य धर्मों की रक्षा और प्रचार करने में भी उसी प्रकार की तत्परता दिखाई। बेशक, उन्होंने हिन्दूधर्म के 'सत्य, अहिंसा और प्रेम' के उच्चादर्श को पूर्णरूप से समझा था।

जैनधर्म को भी उन्होंने पर्याप्त सहायता पहुंचायी, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। राजा बुक्काराय प्रथम का प्रभाव उनके उत्तराधिकारियों पर पूर्णरूप से वर्त्तमान था। यह एक बहुत ही संतोष और आनन्द का विषय है कि सर्व प्रथम विजयनगर की पटरानियों के मस्तिष्क में ही जैनधर्म का अंकुर पैदा हुआ। देवराय प्रथम की रानी भीमा देवी ने उन्हें जैनधर्म की ओर प्रवृत्त किया। उनके धर्मगुरु पंडिताचार्य थे। भीमादेवी के प्रयत्न से करीब १४१० (ए० डी०) में श्रवणबेलगोल के मंगाइ बसदि में शांतिनाथ स्वामी की प्रतिमा की स्थापना की गयी थी। उपर्युक्त बसदि का निर्माण करीब १३२५ (ए० डी०) में बेलगोल के मंगाइ के द्वारा हुआ था।

भीमादेवी के प्रभाव से देवराय प्रथम की उत्तरोत्तर जैन-मुनियों के प्रति श्रद्धा बढ़ने लगी। उन्होंने जैन मुनियों के प्रचार-कार्य में पूरी सहायता पहुँचायी। शिलालेख से पता चलता है कि विख्यात वक्ता वर्धमान मुनि के प्रधान शिष्य धर्मभूषण गुरु की विजयनगर के राजा देवराय प्रथम ने पूरी प्रतिष्ठा और सहायता की थी। उन्होंने जैनों के विख्यात केन्द्र श्रवणबेलगोल से पूरा संपर्क स्थापित किया था। करीब १४२० (ए० डी०) में उन्होंने गौतमस्वामी के अर्चनार्थ, वृत्ति के निमित्त, मेपिनाड में बेलमे नामक गाँव दान में दिया था। राजकुमार हरिहर ने भी अपने पूज्य पिता का सच्चा अनुकरण किया। उन्होंने कनकगिरि की बसदि के लिए बहुमूल्य और अनुकरणीय दान दिया।

---

१ श्रीयुत बी० ए० सालेतोर की 'Mediaeval Jainism' के एक प्रकरण के आधार पर।

विजयनगर के राजा देवराय द्वितीय ने भी जैनधर्म को पूरी सहायता पहुँचायी। इन्होंने १४१९ (ए० डी०) से १४४६ (ए० डी०) तक शासन किया। १४२४ (ए० डी०) के करीब इन्होंने तुलु देश के वरंग नामक गाँव को वहीं के नेमिनाथ की बसदि के लिए दान में दिया।

कृष्णदेव राय के बारे में यह कहना अनुचित न होगा कि उन्होंने अपने राज्य के विभिन्न संप्रदायों को एक नजर से बराबर देखा। उनकी सहृदयता और सच्ची शालीनता का इससे बढ़कर ज्वलंत उदाहरण क्या मिल सकता है कि उन्होंने अपने साम्राज्य से परे दो दूर प्रांतों में जैन मंदिरों के लिए दान दिया था। इसके अलावा उन्होंने चिंगलेपट जिलान्तर्गत कंजीवरम् तालुका स्थित तिरुप्परुत्तिकुणारु की त्रैलोक्यनाथ बसदि के लिए दान स्वरूप दो गाँव दिये थे। ये घटनाएँ १५१६ (ए० डी०) और १५१९ (ए० डी०) के बीच की हैं। उन्हीं दानवीर राजा ने १५२८ (ए० डी०) में मिप्पागिरि (अलूरु तालुक) की बसदि के लिए भी दान दिया था।

विजयनगर के राजाओं में देवराय का नाम जैन-बसदि-निर्माण-कार्य में सर्वप्रथम लिया जा सकता है। इन्होंने जैन-बसदि-निर्माण-कार्य के अलावा सभी धर्मों में पारस्परिक सद्भावना कायम रखने की पूरी चेष्टा की थी। ये इस्लाम-धर्म की प्रतिष्ठा करने के लिए कुरान शरीफ को अपनी बगल में रखते थे। इन्हीं की उदारता का फल था कि राजधानी में पार्श्वनाथ-बसदि का निर्माण हो सका।

जैनधर्म के इतिहास में जेनरल इरुगप्प का नाम भी एक विशिष्ट स्थान रखता है। वे अपने काल के एक विख्यात जैन जेनरल थे। उन्होंने जैनधर्म के प्रचार के लिए चिरस्मरणीय कार्य किया है। शिलालेख में उनकी वीरता का बखान करते हुए कहा गया है कि जेनरल राजकुमार इरुगप्प जिस समय युद्ध भूमि के लिए प्रस्थान करते थे उस समय उनकी अश्वारोही सेना की घुड़दौड़ से आकाश धूलाच्छादित हो जाता था, और सूर्य्यदेव को अपनी रश्मियाँ छिपा लेनी पड़ती थीं। बात की बात में उनकी सेना शत्रुओं के समीप पहुँच जाती थी, जिससे शत्रुओं का हाथ बँध जाता था। एक ओर यदि उनकी वीरता चढ़ी-बढ़ी थी, तो दूसरी ओर उनकी धार्मिकता भी अपना शानी नहीं रखती। वे जैनधर्म के पक्के अनुयायी थे। उन्होंने १३८२ (ए० डी०) में तिरुपरुत्तिकुणारु की त्रैलोक्यनाथ-बसदि के लिए भूमि-दान किया था। उस वक्त विजयनगर के राजा हरिहर राय द्वितीय थे। जेनरल इरुगप्प के गुरु पुष्पसेन थे।

हरिहरराय द्वितीय के समय जेनरल इरुगप्प मंत्री के पद पर आसीन थे। उन्होंने राजधानी में कुन्थु जिननाथ का चैत्यालय बनवाया था। इसका निर्माण-कार्य १६ फरवरी १३८६ (ए० डी०) को समाप्त हुआ था। आजकल भूल से लोग इसे गाणगित्ति मंदिर के नाम से पुकारा करते हैं। इस शिलालेख में जिन जैन-गुरु सिंहनंदी का नाम अंकित है, वह

वही सिंहनंदी आचार्य हैं, जिनका उल्लेख श्रवणबेलगोल में प्राप्त करीब १४०० (ए० डी०) के कागज-पत्रों में मिलता है।

इरुगप्प सिर्फ कुशल राजनीतिज्ञ ही नहीं थे, बल्कि एक योग्य इञ्जिनर भी थे। १३९४ (ए० डी०) में उन्होंने कुणिगल के तालाब से नहर निकाली थी। उक्त नहर पर प्राप्त शिलालेख से पता चलता है कि इरुगप्प संस्कृत के प्रकांड विद्वान् थे और उन्होंने संस्कृत में 'नानार्थरत्नाकर' नामक कोष लिखा था। उन्होंने १४०३ (ए० डी०) में हरिहरराय द्वितीय के शासन-काल में मंत्रिपद को योग्यता के साथ निभाया और ऊँचे राजपद पर राजा देवराय द्वितीय के शासन काल तक बने रहे। १४२२ (ए० डी०) के करीब श्रवणबेलगोल के शिलालेख से पता चलता है कि जेनरल इरुगप्प ने जैन गुरु श्रुतमुनि के सम्मुख बेलगोल नामक ग्राम को गुम्मटेश्वर की पूजा के लिए दान में दिया था। १४४२ (ए० डी०) के करीब प्राप्त शिलालेख से इस बात की पूरी पुष्टि हो जाती है कि इरुगप्प देवराय द्वितीय के शासन-काल में एक ऊँचे सरकारी पद पर वर्त्तमान थे। उसमें लिखा है कि जैन कमांडर इरुगप्प गोवा और चन्द्रगुट्टि के वायसराय के पद पर विराजमान थे। तात्पर्य यह कि उन्होंने करीब ५९ वर्षों तक (१३८३ ए० डी से १४४२ ए० डी० तक) विजयनगर की सरकार के ऊँचे सरकारी पदों को योग्यता पूर्वक निबाहा। वे उतने समय तक जैनधर्म की उन्नति के लिए बराबर तत्परता से कार्य करते रहे और हर तरह की सरकारी सहायता पहुँचाते रहे।

इरुगप्प के भाई जेनरल बैचप्प ने भी जैनधर्म की पूरी सहायता की थी। यहीं तक नहीं, बल्कि इरुगप्प के अन्य साथियों ने भी जैनधर्म को पूरी सहायता की और इसके प्रचार में काफी तत्परता और संलग्नता प्रकट की।

इरुगप्प के वक्त में एक और मशहूर राज-अधिकारी ने जैनधर्म की पूरी सहायता की थी। उनका नाम महाप्रधान गोप चमूपति था। उनकी वीरता और कार्य-क्षमता की ए० डी० १४०८ के शिलालेखों में पूरा जिक्र मिलता है। वे पक्के जैनी थे। जैनधर्म के प्रति उनकी श्रद्धा और प्रेम सराहनीय है। उन्हीं की तरह दो और राज-आफिसरों ने जैनधर्म को पूरी सहायता पहुँचायी थी, जिनमें एक का नाम था मसनहल्लि कम्पन्न गौड़। इन्होंने १४२४ (ए० डी०) में बेलगोल के गुम्मट स्वामी के पूजार्थ नोत हल्लि नामक ग्राम दान में दिया था। दूसरे का नाम वल्लभ राजदेव महाअरसु था। ये महामंडलेश्वर श्रीपति राजा के पोता थे। इन्होंने भी जैनधर्म को हर तरह की सहायता पहुँचायी थी। इस प्रकार जब हम विजयनगर राज का इतिहास देखते हैं, तो हमें कहना पड़ता है कि वहाँ के राजाओं में जैसी स्वधर्म के लिए सच्ची कट्टरता थी, उसी प्रकार अन्य धर्मों के लिए महान् उदारता भी थी। खास कर जैनधर्म का तो उनके द्वारा पर्याप्त प्रचार हुआ है, जिसके लिए जैन-समाज उन दूरदर्शी, योग्य और उदार राजाओं का चिर आभारी रहेगा।

उपाध्याय मेघविजय के दो नवीन ग्रन्थ

[ले० श्रीयुत अगरचन्द, नाहटा]

भारतीय प्राचीन जैन ज्ञानभंडारों में यद्यपि जैसलमेर, पाटण, खंभात आदि स्थानोंके ज्ञानभंडार विशेष प्रसिद्ध हैं ! पर हस्तलिखित प्रतियों की संख्या के लिहाज से मेरे ख्याल से बीकानेर जैसा गौरव किसी भी स्थान को प्राप्त नहीं है। यहाँ के विविध संग्रहालयों में करीब ४०-५० हजार हस्तलिखित प्रतियां हैं जिनमें सैकड़ों जैन एवं जैनेतर ग्रन्थरत्न ऐसे भी हैं जिनकी प्रतियाँ अन्यत्र कहीं भी प्राप्त-ज्ञात नहीं हैं। प्रस्तुत लेख में ऐसे ही दो अन्यत्र अप्राप्य ग्रन्थरत्नों का परिचय प्रकाशित किया जा रहा है।

अट्ठारहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में तपागच्छ के तीन महाविद्वानों का स्थान बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, वे हैं—१ उ० विनयविजय २ उ० यशोविजय और उ० मेघविजय। इनमें प्रथम सिद्धान्तशास्त्र, दूसरे न्यायशास्त्र और तीसरे काव्यशास्त्र के पारंगत रूप से प्रसिद्ध हैं। इनमें प्रथम का स्वर्ग सं० १७३८ द्वितीय का सं० १७४५ और तृतीय का ग्रन्थ-रचना-काल सं० १७२७ से १७६० तक है। उपाध्याय मेघविजय विविध विषयों के मर्मज्ञ थे। उन्होंने काव्य में पादपूर्ति+ की जो चमत्कृति दिखाई है वह अपूर्व है—माघ की पादपूर्ति रूप में देवानंदाभ्युदय, मेघदूत की पादपूर्ति में मेघदूतसमस्यालेख, नैषध की पादपूर्ति में शांतिनाथचरित्र बनाया एवं दिग्विजय महाकाव्य तथा सर्वोच्च सप्तसंधान-काव्य रच कर अपनी अपूर्व विद्वत्प्रतिभा का विश्व को अनोखा परिचय दिया। आपने लोकसाहित्य में पंचाख्यान, कथासाहित्य में लघु त्रिषष्ठिचरित्र, व्याकरण में चंद्रप्रभा, ज्योतिष में उदयदीपिका, वर्षप्रबोध (मेघमहोदय), रमलशास्त्र, सामुद्रिक में हस्तसंजीवन, मंत्र पर बीसायंत्रविधि, आध्यात्म में मातृप्रसाद, खंडन में युक्तिप्रबोध और धर्मसंजूषा इत्यादि अनेक ग्रन्थ रचे हैं। प्राकृत, संस्कृत एवं लोकभाषा इन तीनों में आप की रचनाएँ प्राप्त हैं। जिससे विविध भाषाओं एवं विषयों पर आपका प्रभुत्व प्रतीत होता है। आप की दो नवीन रचनायें हमारी खोज से बीकानेर के जैन भंडारों में प्राप्त हुई हैं जिनका परिचय कराना ही इस लेख का उद्देश्य है। इनमें से प्रथम ग्रन्थ व्याकरण विषयक है और इसकी प्रति हमारे संग्रहालय में सुरक्षित है। दूसरा ग्रन्थ न्याय पर है और उसकी प्रति स्थानीय वृहत् ज्ञानभंडार के अंतर्वर्ती भुवनभक्तिभंडार में है। इन ग्रन्थों का विशेष परिचय इस प्रकार है :—

+ देखें, मेरा लेख 'जैनपादपूर्ति साहित्य'—जैन-सिद्धान्त-भास्कर भा० ३, किरण २-३।

१ **शब्दचंद्रिकाः**—इस ग्रन्थ के तीन प्रकाश हैं और २४ पत्र की प्रति हमारे संग्रह में है। खेद है कि प्रति के ऊपर के किनारे के मध्य में किसी जन्तु के गोल काट देने के कारण उस स्थान का पाठ सब पत्रों में खंडित हो गया है। प्रतिलिपि सुन्दर है। पर अक्षर जैनेतर प्रतीत होते हैं। प्रति संवत् १७६१ की लिखी हुई है अर्थात् ग्रन्थकार के समय की ही है। ग्रन्थ में रचना संवत् नहीं दिया गया है। पर सं० १७६१ में प्रति लिखी हुई है। अतः इससे पूर्व का ही निश्चित होता है। प्रति का प्रथम पृष्ठ एवं अंतिम पृष्ठ का पौना भाग रिक्त है। अवशेष पत्रों के प्रत्येक पृष्ठ में पंक्ति १०, व प्रतिपंक्ति वर्ण ४५ करीब हैं।

आदिः—॥ ॥ ह० ॐ **शंखेश्वरपार्श्वा, हीं नत्वा बालाय** ·· ······।

············**(हे) मचंद्रस्य, चंद्रिकासौ निरूप्यते ॥**

अर्हं पदं सदा ध्येयं कल्याणैकश्रिये सता (सदा)

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः क ख इत्यादि—

प्रथम प्रकाश के अंत में :—पत्रांक १२ A.

श्रीविजयप्रभसूरेः प्रेष्यः शिष्यः कृपादिविजयकवेः।

श्रीमेघविजयवाचकवरोऽभ्यधाच्चंद्रिकास्यादौ।

इतिशब्दचंद्रिकायां प्रथमप्रकाशः

(पत्रांक A में भी हीरविजयसूरि, विजयसेन, विजयदेव, विजयप्रभसूरि का नाम आता है)

द्वितीय प्रकाश के प्रारंभ में---

श्रीनाभिभूः सरस्वत्यां, दिष्ट्या दष्ट्या रसंदधत्।

सुमंगलान्वितः शंभुः सृष्टे धातुर्जयश्रिये क्रियार्थो धातुर्भ्वादि ॥

×　　×　　×

अंत :---उपरोक्त श्लोक के बाद :---

इति श्रीसिद्धहेमचंद्रव्यकरणस्य शब्दचंद्रिकायां द्वितीयप्रकाशः।

तीसरे प्रकाश का आरंभ पत्रांक २१ B

आदिः---**श्रीपार्श्वो जयतु श्रीऋषभनाथः श्रियेऽस्तु।**

आनुमोऽत्यादिः कृत्वक्ष्यमाणः प्रत्ययः।

×　　×　　×

अंतः---उपर्युक्त श्लोक के पश्चात् :---**प्रौढाया; सरसाभावा वृत्तेः केकेनशर्मदाः।**

एकैवास्याश्रुमुग्धा या रूपश्रीरस्तु नर्मदा ।२।

स·········मेघाभ्युदयनंदिनी ।
सौरप्रभावादालोकं चंद्रिका जयताच्चिरं ।
शाविबुधैः पीयमानासौ नयनानंददा··· ·······
·········गर सोल्लासात् पुष्णातु विजयश्रियं ।४

इति श्रीशब्दचंद्रिकायां तृतीयः प्रकाशस्तत्पूर्त्तौ ग्रंथोपि संपूर्णश्रियमशिश्रेयत् ।।शुभम् संवत् १७६१।।

२ **मणिपरीक्षा** :—प्रस्तुत ग्रन्थ में ४ विमर्श हैं और प्रसिद्ध नैयायिक गंगेश उपाध्याय के चिन्तामणि ग्रन्थपर इसमें आलोचना है। प्रति ८ पत्र की है। प्रत्येक पृष्ट में पंक्तियाँ २१ से २४ व प्रतिपंक्ति अक्षर ५० के करीब है। प्रथम पृष्ट रिक्त एवं अंतिम पत्र में केवल ३ ही पंक्तियाँ लिखी हुई हैं। कहीं कहीं किनारों पर टिप्पणी भी लिखी हुई है। प्रति में लेखन एवं रचना-समय नहीं हैं। ग्रन्थ का विशेष विवरण इस प्रकार है :—

आदिः—**तर्कश्चिंतामणौ कार्यः स्मृत्वा स्याद्वादिनं जिनं ।**
विशिष्य शिस्यबोधाय धार्यश्चात्रोपदिश्यते ॥१॥

तत्राप्यादावनुमानपरिच्छेदव्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञानमनुमितिः तत्करण-मनुमानमिति प्रथमतो लक्षणं तस्यार्थः । इत्यादि

द्वितीय विमर्श के प्रारंभ में :—
अथ न्यायांगमुख्यत्वात् व्याप्तेः किंचिद्विचार्यते ।
चिंतामणौ श्रीगंगेशोपाध्यायोक्तेऽस्य सन्निधेः ।१।

तृतीय विमर्श प्रारंभ :—**अथ उपाधिसाधितविमर्शः** । इत्यादि

चतुर्थ विमर्श प्रारंभ :—**अथ एवं भावत्वव्यावृत्याध्वंसे जन्यत्वानित्यत्वयोः संबंधो निवर्त्तमानः पक्षधर्मताबला × पक्षधर्मतापि विमृश्यते ×** इत्यादि

अंतः—**मणेः परीक्षा मणिकर्णिकेव पूर्णारसैः स्वारसिकैर्मुदेव ।**
गंगेश्वरश्रीगृहसंनिधाना, ध्यानोऽवधार्या शिवपूर्वतुर्या ।१।
भानुदयसदाध्याय बुद्ध्यायश्चाप्लवं सृजेत् ।
अस्यामश्याय धीरहंस्तुष्टस्तस्येह सुश्रिये ।२।
श्रीविजयप्रभसूरेस्तपागणेशस्य सेवको मेघः ।
सम्यक्त्वशुद्धिसिद्धेः कृतवानेतां मणिपरीक्षां ।३।

इति श्रीमणिपरीक्षायां चतुर्थो विमर्शः ॥

उक्त दोनों प्रतियों के उदाहरण अक्षम्य अशुद्धियों से भरे पड़े हैं। सं०

जिनकल्प और स्थविरकल्प पर श्वे० साधु श्री कल्याणविजयजी

[ले० श्रीयुत कामताप्रसाद जैन, डी. एल., एम. आर. ए. एस.]

मैंने पहले-पहल श्वेताम्बर साधु स्व० श्री विजयधर्म सूरिजी को देखा था। वह अलीगंज होकर निकले थे। उनकी विद्वत्ता और निर्भीक चर्या का प्रभाव मेरे मन पर पड़ा था। उपरान्त साहित्यिक प्रसंग में श्वेताम्बर साधुगण श्री विद्याविजयजी, स्व० श्री हिमांशुविजयजी, वयोवृद्ध चौथमलजी प्रभृति से भी मेरा परिचय हुआ। मुझे श्वेताम्बर यतिवर्ग पर गर्व था; वह निस्सन्देह उपर्युल्लिखित विद्वज्जनों से समलंकृत है। किन्तु इसके साथ ही श्री 'जैन सत्यप्रकाश' में प्रकाशित कतिपय श्वेताम्बर साधुओं के लेखों की विचारसरणी से मुझे अनुभव हुआ कि सब ही चमकनेवाली चीज सोना नहीं होती। श्वेताम्बरीय यतिसमुदाय में साम्प्रदायिकता के पोषक कतिपय पक्षपाती साधुओं के करतब अचम्भे में डालनेवाले हैं—सम्प्रदायवाद के पोषण में वह शायद अपने सत्यमहाव्रत की रक्षा करना आवश्यक नहीं समझते! यही कारण है कि 'हिमवन्त थेरावली' जैसी जाली और कल्पित पट्टावलियां एवं झूठे फरमान यह लोग उपस्थित कर सके हैं।[1] इसी 'हिमवन्त थेरावली' के आधार पर एक समय श्री कल्याणविजयजी ने सम्राट् खारवेल को श्वेताम्बर सिद्ध करने का असफल उद्योग किया था; परन्तु श्री जिनविजयजी ने उस 'थेरावली' को ही झूठा सिद्ध किया जिस पर श्री कल्याणविजयजी ने वह लेख लिखा था।[2] इन्हीं श्री कल्याणविजयजी ने एक पुस्तक "श्रमण भगवान् महावीर" नामक लिखी है, जो श्री क० वि० शास्त्रसंग्रह समिति, जालोर द्वारा संवत् १९९८ में प्रकाशित की गई है। इस पुस्तक के अन्तिम भाग में विद्वान् लेखक ने 'जिनकल्प' और 'स्थविरकल्प' पर विवेचना करते हुये, दिगम्बर सम्प्रदाय की उत्पत्ति पर अद्भुत प्रकाश डाला है, जिसका न कोई सिर है और न पैर।[3] पहले ही आपने दोनों

---

१ 'अनेकान्त' वर्ष १ पृ० ३२१-३२२ में 'हिमवन्तथेरावली' को जाली प्रकट किया गया है। श्री सम्मेदशिखरजी के मुकद्दमे में ऐसे फरमान पेश किये गये जो जाली थे। उनके विषय में माननीय जज ने अपने फैसले में लिखा था :—

"They (Firmans) will appear to be matlabi on the face of them and to have been got up for the purpose of disputes."

—Parasnath Hill Judgment p. 32

२ "अनेकान्त" की प्रथम वर्ष की फाइल देखो।

३ षष्ठ परिच्छेद, पृ० २८५-३५०

'कल्पों' का स्वरूप दिगम्बर और श्वेताम्बर मतानुसार इस ढंग से लिखा है कि दोनों में बजाहिर कुछ अन्तर ही नहीं दिखता। अतः सब से पहले हम इस पर ही विवेचन करेंगे।

दिगम्बरमत : दिगम्बर सम्प्रदाय के प्राचीनतम उल्लेख से स्पष्ट है कि उसके निकट साधुवेष दिगम्बरत्व में निहित रहा है। बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से रहित साधु ही निर्ग्रन्थ हो सकता है।[1] तिलतुषमात्र परिग्रहरहित यतिवेष ही प्रशंसनीय और मोक्ष का साधन है। जिनेन्द्र ने इसी का उपदेश दिया है। प्रथम तीर्थङ्कर आदिनाथ द्वारा उपदिष्ट इस यतिधर्म को माननेवाले ही निर्ग्रन्थ साधु हैं।[2] अन्य लोग जो वस्त्रादि धारण करते हैं, वह भ्रष्टाचारी हैं।[3] यथाजातरूप निष्परिग्रही निर्ग्रन्थ ही पूज्य हैं—यही जिनलिङ्ग है! इस जिनलिङ्ग के चार चिन्हों में सर्वप्रथम आचेलक्य (नग्नत्व) है, जिसमें साधु को वस्त्रादि सब ही परिग्रह का त्याग कर देना होता है।[4] उसके साथ केशलुञ्चन, शरीरव्युत्सर्ग (शरीर से अममत्वभाव) और प्रतिलेखन भी निर्ग्रन्थलिङ्ग के चिन्ह हैं। प्रतिलेखन से भाव जीवदया के उपकरण मयूरपिच्छिका है। इस जिनलिङ्ग को वे ही महाभाग धारण करते हैं जो श्री जिनेन्द्र के समान होना चाहते है—निर्ग्रन्थ रूप जिनेन्द्र का प्रतिबिम्ब ही है।[5]

---

१ 'जधजाद रूवजादं उप्पाडिदकेसमं सुगं सुद्धं। रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥५॥
मुच्छारंभविमुक्कं जुत्तं उवजोग जोग सुद्धीहिं। लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारण जेण्हं ॥६॥
प्रवचनसार अ० ३

२ 'ततः सङ्गद्वयत्यक्तं जिनलिङ्ग प्रशस्यते। ससम्यक्त्वस्य जीवस्य मोक्षसौख्यस्य साधनम्।'
भद्रबाहुचरित्रः।

'णिग्गंथो जिणवसहो णिग्गंथं पवयणं कयं तेण।
तस्साणुमग्गलग्गा सव्वे णिग्गंथमहरिसिणो ॥१३४॥'—भावसंग्रहः।

३ 'जे पुण भूसियगंथा दूसियणिग्गंथलिंग वयभट्टा।'—भावसंग्रहः।

४ 'आचेलक्कं लोचो, वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंगकप्पो, चदुव्विहो होदि उस्सग्गे ॥८२॥'—भगवती आराधनाः।

× × × ×

'आचेलक्कं लोचो वोसट्टसरीरदा य पडिलिहणं।
एसो हु लिंगकप्पो चदुव्विधो होदि णादव्वो ॥१०८॥'—मूलाचारः।

× × × ×

'चेलादिसव्व संगचाओ पढमो हु होदि ठिदिकप्पो।
इह पर लोइयदोसे, सव्वे आवहदि संगोहु ॥२२॥'—भगवती आराधनाः।

५ 'जिणपडिरूवं विरियायारो, रागादिदोस परिहरणं।
इच्चेवमादिबहुगा, आचेलक्के गुणा होंति ॥८७॥'—भगवती आराधनाः।

इस निर्ग्रन्थलिङ्ग के दो भेद शास्त्रोंमें बताये गये हैं, (१) जिनकल्प और (२) स्थविरकल्प[1]। यह भेद मुनिजनों के संहनन, चारित्र और ज्ञान के विशेषत्व की अपेक्षा ही कहे जा सकते हैं; वरन् हैं दोनों एक ही चीज़! जिस प्रकार सामान्यकेवली और विशेषकेवली में केवल-ज्ञान की अपेक्षा कोई भी भेद नहीं है—दोनों ही त्रिकालज्ञ त्रिलोकदर्शी हैं, उसी प्रकार जिनकल्पी और स्थविरकल्पी मुनि धर्म की अपेक्षा से अभिन्न हैं। उपर्युल्लिखित मुनिलिङ्ग के चार चिन्हों से जिनमें आचेलक्य (दिगम्बरत्व) सर्वप्रथम है, दोनों ही प्रकार के मुनिजन समलंकृत रहते हैं।

जिनकल्पी मुनि की विशेषता साधारण मुनि, जो स्थविरकल्पी कहे गये हैं उनसे निम्नलिखित विशेषताओं के कारण है:[2] "एम मुनिराज सम्यक्त्वरत्न से विभूषित अर्थात् भावलिङ्गी होते हैं—अपनी इन्द्रियों को वह पूरी तरह वश में किये होते हैं। उनका ज्ञान इतना विशाल होता है कि एकाक्षर के समान एकादशाङ्ग शास्त्र के ज्ञाता होते हैं। उनकी सहनशीलता चरमसीमा की होती है—कदाचित् उनके पांव में कांटा लग जावे अथवा आंखों में रजकण गिर जावे तो उसे न वे स्वयं निकालते हैं और न दूसरों से कहते हैं कि तुम निकाल दो। वह निरन्तर मौन सहित रहते हैं। वह उत्तम—वज्रवृषभनाराचसंहनन के धारक होते हैं। गिरि-गुहाओं वन-कन्दराओं आदि निर्जन स्थानों में रहते हैं। वर्षाकाल में जब मार्ग जीवों से पूर्ण हो जाते हैं तो वह छह मास पर्यन्त निराहार रहकर कायोत्सर्ग धारण करते हैं। सर्वपरिग्रह रहित और रत्नत्रय से भूषित वे मोक्ष की साधना में लीन रहते हैं। धर्मध्यान और शुक्लध्यान में ही वे सदा निरत रहते हैं। उनके रहने के स्थान का कोई पता नहीं होता और वे जिन भगवान के समान एकाकी विहार करनेवाले होते हैं।"[3]

---

१ 'दुविहो जिणेहिं कहिओ जिणकप्पो तह य थविरकप्पो य।
सो जिणकप्पो उत्तो उत्तम संहणण धारिस्स ॥११६॥'—भावसंग्रहः

× × × ×

२ "सो जिणकप्पो उत्तो उत्तमसंहणणधारिस्स ॥
जत्थ ण कंटयभग्गो पाए णयणम्मि रयपविट्ठम्मि।
फेडंति सयं मुणिणो परावहारे य तुसिहक्का ॥१२०॥
जलवरिससवा याई गमणे भग्गे य जम्म छम्मासं।
अच्छंति णिराहारा काओ समोरण छम्मासं ॥१२१॥
एयारसंगधारी एआई धम्मसुक्कझाणी य।
चत्तासेस कसाया मोणवई कंदरावासी ॥१२२॥
वहिरंतर गंथ चुवा णिण्णेहा णिप्पिहा य जइवइणो।
जिण इव विहरंति सया ते जिणकप्पे ठिया सवणा ॥१२३॥"—भावसंग्रहः

३ 'भद्रबाहुचरित्र', परिच्छेद ४ श्लोक १०४—११०

ये विशेषतायें ही उन्हें जिन भगवान् के सदृश चर्यायुक्त होने के कारण जिनकल्पी ठहराती हैं। श्री अपराजित सूरि ने संक्षेप में यही कहा है कि जो मुनि राग, द्वेष और मोह को जीतनेवाले हैं—उपसर्ग-परीषहों को समभाव से सहते हैं और जिनेन्द्र के समान विहार करते हैं वह जिनकल्पी हैं।[1]

स्थविरकल्पी मुनि जिनसंघ में रहने वाले सामान्य निर्ग्रन्थ साधुओं का द्योतक है। शास्त्रों में इनका वर्णन यूँ मिलता है :[2] "जिनलिङ्ग के धारक अट्ठाईस मूलगुणों से युक्त और सम्यक्त्वरत्न से समलंकृत साधु स्थविरकल्पी निर्ग्रन्थ हैं। उनका अधिकांश समय ध्यान अध्ययन में व्यतीत होता है। पञ्चाचार का वे पालन करते हैं, उत्तम, क्षमादि दशधर्म से

---

१ 'जितरागद्वेषमोहा उपसर्गपरीषहारि वेग सहाः जिनाइव विहरन्ति इति जिनकल्पिका:।

—विजयोदयाटीका, ३।१५५

यह उल्लेख हमें श्रीयुत पं० परमानन्द जी से प्राप्त हुआ है। इसके लिए हम उनका आभार मानते हैं। हमारे संग्रह की एक हस्तलिखित पोथी में 'सिद्धान्तशिरोमणि' नामक रचना है। उसमें कतिपय गाथाओं को उद्धृत करके निम्न प्रकार वर्णन लिखा है :—

"भूमि सयनं लुंचो वे बे मासेहि असहनिजासो (?), बावीस परीसा सहियं असहि जाणेनिग्गंथी ॥४४॥
निग्गंथ पवयनं जिनवरनाहेन अखियं परमं; तंतंभि उनभानं पंच मानो नमिछन्नं (?) ॥४५॥
बहिरंतरंगं गंथचया निनेहा निप्पयजय वयने; जिनइवा विहरंति सय ते जिनकप्पो ठिया सवना॥४६॥
थिवर कप्पो विकहाउ, अनगारा तं जिनेसनिए; सो पंचय चेलय चाउ आकिंचमत्तपडिलहनं ॥४७॥
(चौपई) बाहिर अंतर परिग्रह छोडि; मौन रहे नि:सनेही जोर।
पंच चेल तजि जिनवर जिसो, जिनकल्पी मुनि कहिये इसो ॥४८॥", इत्यादि।

२ "थविर कप्पो वि कहिओ अणयाराणं जिणेण सो एसो।
पंचच्चेल चाओ अकिंचणत्तं च पडिलिहणं ॥१२४॥
पंच महव्वय धरणं ठिदिभोयण एयभत्त करपत्तो।
भत्तिभरेण य दत्तं काले य अजायणे भिक्खं ॥१२५॥
दुविहतवे उज्जमणं छव्विह आवासएहिं अणवरयं।
खिदिसयणं सिरलोओ जिणवर पडिरूवपडिगहणं ॥१२६॥
संहणणस्स गुणेण य दुस्समकालस्स तव पहावेण।
पुरणयर गाम वासी थविरे कप्पे ठिया जाया ॥१२७॥
उवयरणं तं गहियं जेण ण भंगो हवेइ चरियस्स।
गहियं पुत्थयदाणं जोग्गं जस्स तं तेण ॥१२८॥
समुदाएण विहारो धम्मस्स पहावणं ससत्तीए।
भवियाण धम्मसवणं सिस्साण य पालणं गहणं ॥१२९॥
संहणणं अइणिच्चं कालो सो दुस्समो मणो चवलो।
तह वि हु धीरा पुरिसा महव्वयभर धरणउच्छहिया ॥१३०॥—भावसंग्रह:।

सदा विभूषित रहते हैं। बाह्याभ्यन्तर परिग्रह से विरक्त होते हैं। खड़े-खड़े विधि से दिन में एक दफा करपात्र पर भोजन करते हैं। मणि-तृण, नगर-वन, शत्रु-मित्र, सुख-दुख, सब में समभावी होते हैं। मोह-मान आदि से उन्मत्त नहीं होते। धर्मोपदेश के समय बोलते हैं—शेष समय मौन रहते हैं। सुन्दर मोर पिच्छिका प्रतिलेखन (शोधन) के लिये धारण करते हैं। वे संघ के साथ-साथ विहार करते है। धर्मप्रभावना करने में निरत रहते हैं और अपने शिष्यों का संरक्षण करते हैं। वृद्ध साधुसमूह की वैयावृत्ति करने में सावधान रहते हैं। इसीलिये महर्षिगण उनको स्थविरकल्पी कहते हैं।"[1] पूर्वोक्त 'सिद्धान्तशिरोमणि' में इनके विषय में उल्लेख है कि :—

"थिवरकल्पी मुख सौं कहैं वाणि। नीरस भोजन लेंय सकति परिमाण॥
आकिंचन पंच चेला तजैं। तासौं थिविरकल्पी कहि वजैं॥४९॥"

सारांश यह कि सब प्रकार के हीन संहननवाले मुमुक्षु जिनलिङ्ग को धारण कर के मुनिसंघ में रहकर आत्मकल्याण करते हैं, वे मुनिजन स्थविरकल्पी कहलाते हैं। यही दो प्रकार का मुनिकल्प जिनेन्द्र ने कहा है। शेष सग्रंथ (सवस्त्र) कल्प मात्र पाखंड हैं![2]

श्वेताम्बर मत : साधु का वेप क्या होना चाहिये अथवा मुक्ति किस लिङ्ग से प्राप्त की जा सकती है? इस प्रश्न के उत्तर में श्वेताम्बरों की प्राचीन मान्यता दि० जैनों से प्राय: अभिन्न है। श्वेताम्बरीय 'आचाराङ्गसूत्र' में भिक्षु के लिये परमधर्म आचेलक्य ही बतलाया है अर्थात् साधु को दिगम्बर वेप धारण करना चाहिये।[3] प्रथम तीर्थङ्कर श्री ऋषभदेव ने इसी धर्म का प्रतिपादन किया और अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर ने भी उसी को धारण किया।[4] भ० महावीर के शिष्य जो साधु हुये उन्हें नग्नवेप धारण करना पड़ता था। राजा उदयन, ऋषभदत्त आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।[5] भ० महावीर ने स्पष्ट कहा था कि निर्ग्रन्थ श्रमण को नग्नभाव, मुंडभाव, अस्नान, छत्र नहीं करना. पगरखी नहीं पहनना, भूमिशय्या, केशलोच, ब्रह्मचर्यपालन, अन्य के गृह में भिक्षार्थ जाना और आहार की वृत्ति का पालन करना

१ भद्रबाहुचरित्र, प० ४ श्लोक १११-१२०

२ 'एवं दुविहो कप्पो परमजिणंदेहिं अक्खिओ णूणं।
सयणो पासंडिकओ गिहकप्पो गंथपरिकलिओ॥१३२॥—भावसंग्रह:

३ 'जे अचेले परिवुसिए तस्सणं भिक्खुस्सणो एव·····।' १८१—आचाराङ्ग; 'तं वोसज्ज वत्थमणगारे।'—२१० आचाराङ्ग; प्रो० जैकोबी ने 'अचेल' शब्द का अर्थ नग्नता (nudity) किया है (Jaina Sutras, SBE , I. p. 56) श्वे० 'प्रवचनसारोद्धार' (भा० ३ पृ० ११) से भी यही प्रकट है।

४ कल्पसूत्र (जैनसूत्र) S. B. E., भा० १ पृ० २८५

५ ऋषभदत्त के विषय में कहा गया है कि जिस प्रयोजन के लिये उन्होंने नग्नता धारण की थी, उस अर्थ—निर्वाण को प्राप्त किया ("अस्सट्ठाए कीरइ नग्गभावो जाव तमट्ठं आरोहेइ।"- भगवतीसूत्र, शतक ९ उद्देशक ३३. उदयन कथा में यही बात उदयन के विषय में कही गई है।

अनिवार्य है।[1] आगामी तीर्थङ्कर महापद्म भी ऐसा ही उपदेश देंगे। उन्होंने अचेलक (दिगम्बर) निर्ग्रन्थ मुनियों को सचेल (सवस्त्र) आर्यिकाओं से अलग रहने के लिये सावधान भी किया था।[2] इन उल्लेखों से स्पष्ट है कि श्वेताम्बरीय मान्यता भी प्राचीन निर्ग्रन्थलिङ्ग अचेलक (दिगम्बर) ही प्रकट करती है। सवस्त्र साधुत्व बाद की सूझ है और साधुओं द्वारा कल्पित है। श्री कल्याणविजय जी ने इस विषय पर श्वेताम्बरीय मत का उल्लेख निम्न-लिखित शब्दों में किया है :—

"श्वेताम्बर जैनों के निर्युक्ति और भाष्यादि आगम ग्रन्थों में जिनकल्प की व्याख्या करते हुये उसकी योग्यता के विषय में लिखा गया है कि वज्रऋषभनाराचसंहननवाला और साढ़े नव पूर्व के ऊपर तथा दश पूर्व के भीतर श्रुत पढ़ा हुआ हो वही जिनकल्प ग्रहण कर सकता है। जिनकल्पिक नग्न, निष्प्रतिकर्म और विविध अभिग्रहधारी होने के नाते एक होते हुए भी, 'पाणिपात्र' और 'पात्रधारी' के भेद से दो प्रकार के होते हैं। (१) पाणिपात्र भी उपधि भेद से चार प्रकार के होते थे। कोई रजोहरण और मुखवस्त्रिका ये दो उपकरण रखते, कोई उक्त दो के अतिरिक्त एक, कोई दो और कोई तीन कल्प (चादरें) रखते थे।······ सूत्रकालीन स्थविरकल्पिकों का वर्णन इस प्रकार है : 'जो भिक्षु तीन वस्त्र और एक पात्र के साथ रहता है, उसे कभी चतुर्थ वस्त्र मांगने की इच्छा नहीं करना चाहिये। तीन वस्त्र भी निर्दोष जानकर मांगने चाहिये और जैसे मिले वैसे ही काम में लाने चाहिये। न उन्हें धोवे रंगे, न धुले-रंगे वस्त्रों को धारण करे। विहार में उन्हें न छिपाकर अल्पवस्त्रवान होकर फिरे। यही वस्त्रधारी की सामग्री है। जब वह यह समझे कि शीतकाल बीत गया और ग्रीष्मकाल आ गया है तब यथाजीर्ण वस्त्रों को त्याग दे वा कम कर दे अथवा एक शाटक (टुकड़ा) रखकर बाकी त्याग दे अथवा बिल्कुल अचेल बन जाय।'"

इस उद्धरण से पाठक श्वेताम्बर मान्यता को जान सकते हैं। श्री कल्याणविजयजी ने आगे एक पात्र और दो वस्त्रादि के विधान का उल्लेख किया है। यह भी लिखा है कि यदि लज्जा प्रतिच्छादन को न छोड़ सके तो कटिबन्ध रख ले। भाष्यकाल में उपकरणों में कुछ वृद्धि हो गई और कटिबन्ध का स्थान चोलपट्ट ने ले लिया। इस प्रकार श्वेताम्बरीय मत से जिनकल्प और स्थविरकल्प की व्याख्या है।

---

१ 'से जहानामए अज्जोमए समणाणं निग्गंथाणं नग्गभावे, मुंडभावे, अण्हाणए, अदंतवणे, अच्छत्तए, अणुवाहणए, भूमिसेज्जा, फलगसेज्जा, कट्ठसेज्जा, केसलोए, बंभचेरवासे, लद्धावलद्ध वित्तीओ जाव पण्णत्ताओ एवामेव महापउमेवि अरहा समणाणं णिग्गंथाणं नग्गभावे जाव लद्धावलद्ध वित्तीओ जाव पन्नवेहिंत्ति।'—ठाणाङ्ग सूत्र (हैदराबाद) पृ० ८१३; 'सूत्रकृताङ्ग' (पृ० ७२) में भी निर्ग्रन्थ श्रमणों को मुंडे सिर नंगे फिरनेवाला लिखा है। (नगिणापिंडोल गाहमा। मुंडाकंडूविणट्ठंगा।)

२ ठाणाङ्गसूत्र पृ० ५६१

दोनों मतों में अन्तर : अब दिगम्बर और श्वेताम्बर मान्यता का भेद स्पष्ट कर देना आवश्यक है। पाठक देख सकते हैं कि दिगम्बर मान्यता दोनों ही कल्पों में आचेलक्य को प्रधानता देती है—दिगम्बरत्व के बिना निर्ग्रन्थत्व बन ही नहीं सकता। इसके विपरीत श्वेताम्बर मान्यता जिनकल्पी साधुओं के लिये तो दिगम्बर रहना आवश्यक ठहराती है, परन्तु स्थविरकल्पी साधुओं को लंगोटी से लेकर तीन वस्त्र तक धारण करने की अनुमति देती है और यह साधु की खुशी पर निर्भर है कि वह अचेलकव्रत पाले या नहीं। जिनकल्पी के लिये भी चादरें रखने की छूट है। यह कैसी विडम्बना है ? जब सवस्त्रदशा से मोक्ष मिल सकता है तो कोई क्यों नंगा होने लगा ? तब नंगा होने की आवश्यकता ही क्या रही ? उस पर मज़ा यह है कि यदि साधक लज्जा के कारण प्रतिच्छादन न छोड़ सके तो कटिबन्ध रखने का भी विधान है—उस अवस्था में भी वह मोक्ष पा सकेगा ! लज्जा एक दोष है—उसको छिपाने के लिए ही वस्त्र रक्खा जाता है, यह बात श्वेताम्बर भी मानते हैं। फिर लज्जादोष के रहते हुए मोक्ष कैसे संभव हो सकता है ? इसके अतिरिक्त भ० महावीर ने श्रमणत्व के लिये सामान्य रूप से सब ही के लिए जो नग्नभाव-मुंडभाव आदि का विधान किया, वह कैसे बन सकता है ? जब पहले पहले सब ही मुनि स्थविरकल्पी वस्त्रधारी होते थे और उनमें से केवल वज्रवृषभनाराच संहननधारी विरले ही जिनलिङ्गी हो पाते थे—क्योंकि इस उत्तम संहनन का धारी हर कोई तो होता नहीं, तो फिर भ० महावीर के संघ में वस्त्रधारी निर्ग्रन्थ ही होना चाहिये—नंगे जिनकल्पी तो अत्यल्प होना चाहिये। इस अवस्था में श्रमणत्व का मुख्य लक्षण और उद्देश्य 'नग्नभाव' कैसे सिद्ध हो सकता होगा ? श्वेताम्बर जैन ग्रन्थों के अतिरिक्त किसी भी जैनेतर ग्रन्थ, शिलालेख या मूर्ति से इस बात की पुष्टि नहीं होती कि जैनमुनि वस्त्र पहना करते थे। कोई भी ऐसी मूर्ति किसी तीर्थङ्कर या मुनि की उस प्राचीन समय की नहीं मिली है जो वस्त्रयुक्त हो और श्वेताम्बरों की मान्यता को पुष्ट करे ! जब श्वेताम्बर मतानुसार पहले और अन्तिम तीर्थङ्कर के अतिरिक्त मध्यवर्ती बाईस तीर्थङ्कर वस्त्रधारी श्रमण हुये थे, तो उनकी वैसी मूर्तियाँ क्यों नहीं बनाई गई ? प्राचीन जैनियों की यदि यही मान्यता थी तो उन्होंने अपनी श्रद्धा के विपरीत मध्यवर्ती तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ दिगम्बर (नग्न) क्यों बनाई ? क्यों श्वेताम्बर मत के आचार्यों ने मथुरा में दिगम्बर मूर्तियों को ही पूज्य माना ? सबसे प्राचीन उपलब्ध जिनप्रतिमायें पटना के पास से प्राप्त हुई हैं - वे मौर्यकालीन दिगम्बर प्रतिमायें हैं[1] और फिर श्वेताम्बरों ने दिगम्बर-वेषी जिनकल्पी मुनियों को वस्त्रधारी से अधिक विशुद्ध क्यों माना ? (आउरण वज्जियाणं विसुद्ध जिणकप्पियाणन्तु—प्रवचनसारोद्धार भा० ३ पृ० १३) 'आचाराङ्ग' सूत्र में भी सर्वोत्कृष्ट धर्म

[1] जैन एंटीक्वेरी, भा० ३

अचेलकत्व (दिगम्बरत्व) कहा है। इस प्रकार तर्क-विज्ञान और प्रमाण से यह बाधित है कि पहले सब जैन मुनि वस्त्र पहनते थे—उपरान्त जो चाहता वह नग्न हो जाता था! मथुरा के पुरातत्त्व में श्वेताम्बराचार्य कृष्ण (कराह समण) भी नग्न (दिगम्बर) दर्शाये गये हैं—केवल वस्त्र का एक टुकड़ा उनकी कलाई पर है।[१] श्री कल्याणविजयजी देखें कि उनकी मान्यता इस मूर्ति के होते हुए कैसे सिद्ध होती है? यह मूर्ति उस समय की है, जब दिगम्बर रहने और न रहने पर विवाद हो रहा था और श्वेताम्बरों के पूर्वगामी अर्द्धफालकों का जन्म हो चुका था।

पाठकगण इस विवेचन से स्वयं समझ सकते हैं कि दिगम्बर और श्वेताम्बर मतों में से कौन सा कल्पस्वरूप समीचीन हो सकता है? मनुष्य दिगम्बर वेष में जन्मता और मरता है। अतः उसका नैसगिक वेष दिगम्बर है—वस्त्रपरिधान कृत्रिम है इसलिये त्याज्य है।

दिगम्बर श्वेताम्बर उत्पत्ति! श्री कल्याणविजयजी ने जिनकल्प और स्थविरकल्प का वर्णन कर के आगे दिगम्बरों की उत्पत्ति के विषय में अपनी अनूठी मान्यता का प्रतिपादन किया है। उनका यह लिखना अवश्य ठीक है कि भ० महावीर के निर्वाण के साथ ही जैनसंघ में मतभेद का जन्म नहीं हुआ था। उस मतभेद की उत्पत्ति श्रुतकेवली भद्रबाहु के समय में हो गई थी, जो विक्रम दूसरी शताब्दि में दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में प्रकट हुई। आगे उन्होंने लिखा है कि "महावीर निर्वाण के बाद चौंसठ वर्ष तक उनके शिष्यों में स्थविरकल्पिक और जिनकल्प दोनों तरह के साधु रहे, पर बाद में जिनकल्प का आचरण बंद पड़ गया और लगभग डेढ़ सौ वर्ष तक उसकी कुछ भी चर्चा नहीं हुई। स्थविर कल्प में रहनेवाले साधु यद्यपि नग्नप्राय रहते थे तथापि शीतनिवारणार्थ कुछ वस्त्र और एक पात्र अवश्य रखते थे। यह स्थिति भद्रबाहु के पट्टधर आर्य स्थूलभद्र तक बराबर चलती रही।" (पृ० २८९) स्थूलभद्र के शिष्य आय महागिरि ने फिर से जिनकल्प (दिगम्बरवेष)

---

१ जैनस्तूप ऐंड अदर ऐंटीक्विटीज़ ऑव मथुरा, प्लेट नं० १७। आजकल यह शिलापट्ट लखनऊ के संग्रहालय में सुरक्षित है। संग्रहालय के अध्यक्ष श्री० डॉ० वासुदेवशरणजी अग्रवाल ने उसको देखकर लिखने की कृपा की है कि "पट्ट के ऊपरी भाग में स्तूप के दो ओर चार तीर्थंकर हैं; जिनमें से तीसरे पार्श्वनाथ (सर्पफणालंकृत, और चौथे सम्भवतः भगवान् महावीर हैं। पहले दो ऋषभनाथ और नेमिनाथ हो सकते हैं। पर तीर्थंकर मूर्तियों पर न कोई चिन्ह है और न वस्त्र। पट्ट में नीचे एक स्त्री और उसके सामने एक नग्न श्रमण है जिसका नाम कराह श्रमण खुदा हुआ है। वह एक हाथ में सम्मार्जनी और बाँए हाथ में एक कपड़ा (लंगोट ?) लिये हुए है। शेष शरीर नग्न है।" (पत्र नं० ३२ ता० १९.८.४३)

इस पर कोट्टियगण (श्वेताम्बर) के आचार्यों के नामवाला लेख अङ्कित है। यह श्रमण बाहर निकलते हुये अपने गुह्यभाग को छिपाने के लिये कलाई पर वस्त्र लटकाये हुये प्रतीत होते हैं।

धारण करके उसे पुनर्जीवित किया। उपरान्त उनके एवं सुहस्तिसूरि के शिष्यों में खुल्लमखुल्ला नग्नचर्या और करपात्रवृत्ति का विरोध होने लगा। आर्यमहागिरि से दो तीन पीढ़ी तक चलकर वह विरोध नामनिःशेष हो गया और स्थविरकल्प चलता रहा! सभी श्रमणगण आचाराङ्ग सूत्र के अनुसार एक-एक पात्र और मात्र शीतकाल में ओढ़ने के लिये एक, दो या तीन वस्त्र रखते थे। कटिबन्ध का भी प्रचार हो गया था। अन्त: साधुओं के वस्ती में रहने के कारण नग्नता का सर्वथा अन्त हो गया। इसी अवसर पर मथुरा के निकट रहवीरपुर में आर्य कृष्ण के शिष्य शिवभूति ने फिर जिनकल्प की चर्चा खड़ी की और स्वयं जिनकल्प (दिगम्बर) बनकर मतभेद को नवीन रूपमें पल्लवित किया। बोटिक शिवभूति से बोडियलिङ्ग की उत्पत्ति हुई, जिनके परम्पराशिष्य कोंडकुण्ड और वीर हुये। यही दिगम्बरों के पूर्वाचार्य थे।"

श्वेताम्बर जैनों का उपर्युक्त कथन केवल उनकी मान्यता का सूचक है। इसकी पुष्टि किसी दूसरे स्रोत से नहीं होती है। इससे दिगम्बरों का अस्तित्व छठी शताब्दि में हुआ निर्दिष्ट किया गया है— आगे श्री कल्याणविजयजी ने श्री कुन्दकुन्दाचार्य और मूलसंघ को भी पांचवी छठी शताब्दि का बताया है। किन्तु यह मान्यता दिगम्बर मान्यता के प्रतिकूल तो सर्वथा है ही; पर साथ ही ऐतिहासिक साक्षी भी इसको बाधित ठहराती है। वास्तव में यह श्वेताम्बरीय संघ की अन्तरङ्ग दशा का द्योतक है—इससे प्राचीन निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) संघ का सामञ्जस्य बैठाना गलत है। दिगम्बर ही बोटिक हैं यह भी सिद्ध नहीं किया गया है; क्योंकि यह किसी स्वाधीन साक्षी से प्रमाणित नहीं है कि दिगम्बर कभी 'बोटिक' कहलाते थे।

दिगम्बर-मान्यता। यहाँ पर हम दिगम्बर मान्यता को भी स्पष्ट कर देना आवश्यक समझते हैं। दिगम्बर मतानुसार भद्रबाहु श्रुतकेवली के समय तक प्राचीन निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) संघ की परिपाटी अक्षुण्ण चलती रही। दिगम्बर और श्वेताम्बर पट्टावलियाँ भी अधिकांशतः भद्रबाहुतक परस्पर सहमत हैं। भद्रबाहुजी के समय में द्वादश वर्षीय दुष्काल उत्तरभारत में पड़ा: जिसके कारण श्री भद्रबाहुजी संघ को लेकर दक्षिण भारत को चले गये—उनके साथ सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य भी जिनमुनि की दीक्षा लेकर वहाँ गये थे। इधर जो मुनिसंघ उनके साथ नहीं गया और उत्तर भारत में ही रह गया, वह दुष्काल की कठिनाइयों में पड़कर चारित्र से च्युत हो गया। श्रावकों के आग्रह से उसने नग्नता को आवरण करने के लिये कपड़े का एक टुकड़ा ले लिया और रक्षा के लिये दण्ड एवं भोजनपात्र भी ग्रहण कर लिये। दक्षिण से लौटकर प्राचीन संघ ने इन लोगों को समझाया, परंतु यह नहीं माने और संघ में नग्न रहते हुये भी बाहर चर्या में लज्जा के निमित्त नग्नता को छिपाने के लिये कलाई पर वस्त्र लटका कर जाने लगे। मथुरा के पुरातत्त्व में इस प्रकार के साधुओं के चित्र श्वेताम्बरीय गण-गच्छ द्वारा प्रतिष्ठित शिलापटों पर अङ्कित हैं—वे यद्यपि नग्न है, परंतु नग्नता को छिपाने के लिये

कलाई पर वस्त्र का आच्छादन लटकाये हुये हैं ।[1] पहले पहल दिगम्बरत्व से एकदम सवस्त्र दशा में आ जाना कठिन था। अतः पहले एक खंडवस्त्र ही धारण किया गया; जिसके कारण यह लोग 'अर्द्धफालक' कहलाये। उपरान्त यह सम्प्रदाय बल पकड़ता गया और अपने आगम भी व्यवस्थित करता गया। परिणामतः दूसरी शताब्दि के प्रारंभ में वह स्पष्टतः पूर्ण वस्त्रों को ग्रहण करके श्वेतपट (श्वेताम्बरों) के रूप में प्रकट हो गया। ईस्वी छठी शताब्दि के लगभग श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने आगम-साहित्य को सुव्यवस्थित करके श्वेताम्बर दर्शन को भी स्पष्ट बना दिया था। इसके विपरीत दिगम्बर जैनों ने उपलब्ध अंग साहित्य को इस घटना से बहुत पहले—विक्रमीय पहली शताब्दि के लगभग ही लिपिबद्ध कर लिया था। दिगम्बर पट्टावलियों में अंगधर ऋषियों की नामावली ठीक से दी हुई मिलती है; जिससे स्पष्ट है कि अङ्गज्ञान क्रमशः विलुप्त होता आया था। हाथी गुफा के शिलालेख मे इस मान्यता की पुष्टि होती है, क्योंकि उसमें जिनश्रुत के लुप्त होने का उल्लेख है।[2] इस प्रकार दिगम्बर-मान्यता स्वाभाविक रूपमें उचित जंचती है और उसकी पुष्टि स्वाधीन साक्षी से भी होती है।

श्वेताम्बर-मान्यता यह नहीं स्पष्ट करती कि आर्य महागिरि एवं उनके शिष्यों ने किस कारण से जिनकल्प (दिगम्बरत्व) को प्रधानता दी थी, जब कि वे जानते थे कि उनका वज्रवृषभनाराच संहनन नहीं है ? वास्तव में उसका कारण यही हो सकता है कि प्राचीन निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) संघ ने दक्षिण भारत से लौटकर उत्तर भारत के संघ की उसके भ्रष्टाचरण पर भर्त्सना की थी। आर्य महागिरि ने उनकी बात ठीक मानी और प्राचीन निर्ग्रन्थरूप—नग्नत्व धारण कर लिया; परंतु समय के प्रभाव ने उनके मत को पनपने नहीं दिया। उनके शिष्य सचेल श्वेताम्बरीय अर्द्ध फालकों में जा मिले, जो पहले नग्न रहते हुये भी कपड़े धारण कर लेते थे। उनमें से जो नग्न वेष में रहे वह प्राचीन निर्ग्रन्थ (दिगम्बर) जैनों में सम्भवतः सम्मिलित हो गये होंगे।

ऐतिहासिक प्रकाश। श्री कल्याणविजयजी के उपर्युल्लिखित विवेचन में निम्नलिखित बातें ऐतिहासिक साक्षी से बाधित हैं:—

(१) म० महावीर के संघ में पहले सब ही साधु स्थविरकल्पी (वस्त्रधारी) होते थे; उपरान्त उनमें से कुछ जिनकल्पी (दिगम्बर) हो जाते थे;

(२) म० महावीर के निर्वाण जाने के ६४ वर्ष तक कुछ जिनकल्पी साधु हुये; बाद को सब स्थविरकल्पी (वस्त्रधारी) ही हुये;

(३) दिगम्बर सम्प्रदाय का जन्म आचार्य शिवभूति द्वारा लगभग ५ वीं ६ ठी शताब्दि के हुआ। लगभग इसी समय मूलसंघ अस्तित्व में आया।

---

1. *Buhler* Ep. Ind., II. 316 & Festschrift Prof. Kane--(Poona) p. 232.
2. GBORS, XIII, 236 ff.

प्रथम मान्यता के विषय में हम पहले ही दिगम्बर और श्वेताम्बर मत का दिग्दर्शन कर आये हैं, जिससे स्पष्ट है कि महावीर संघ में साधुओं का वेष नग्न था। श्वेताम्बरीय आगम—सूत्र ग्रंथों में शायद ही कहीं पर जिनकल्प या स्थविरकल्प का वैसा उल्लेख हो जैसा कि श्री कल्याणविजयजी ने दर्शाया है—यह वर्णन भाष्य और चूर्णियों में ही मिलता है। वास्तव में जैन साधु का प्राचीन वेष नग्न ही था। जैनेतर साहित्य और पुरातत्त्व की साक्षी इस बात की ही पोषक है और उससे श्री कल्याणविजयजी की उपर्युक्त प्रथम व द्वितीय मान्यता का खंडन होता है:—

जैनेतर साहित्य में वैदिक और बौद्ध सम्प्रदायों के ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। अतः पहले ही वैदिक साहित्य को लीजिये। 'ऋकसंहिता' (१०।१३६—२) में "मुनयो वातवसनाः" का उल्लेख है। हिन्दूपुराण 'भागवत' से स्पष्ट है कि प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने जिन ऋषियों को दिगम्बरत्वका उपदेश दिया था, वे 'वातरशनानां' श्रमण कहे गये हैं। प्रो० अल्बेट वेबर ने भी उक्त उल्लेख को दिगम्बर जैन मुनियों के लिये प्रयुक्त हुआ बतलाया है[१]। 'अथर्ववेद' (अ० १५) में 'व्रात्य' लोगों का उल्लेख है, जिन्हें प्रो० चक्रवर्ती दि० जैन श्रमण प्रमाणित करते हैं।[२] उसमें ज्येष्ठव्रात्य को 'समनिचमेढ्र' लिखा है, जिसका भाव 'अपेत-प्रजननाः' होता है और यह उनके दिगम्बरत्व का द्योतक है। इन उल्लेखों से वैदिक काल में दिगम्बर जैन मुनियों का अस्तित्व सिद्ध होता है, जब कि श्वेताम्बर मतानुसार सब ही तीर्थङ्कर और मुनि वस्त्र पहननेवाले साधु होते थे। अतः उनकी यह मान्यता बाधित है।

उपरान्तकालीन उपनिषद् भी यथाजात दिगम्बरत्व का विधान अपने साधुओं के लिये करते हैं और उन्हें तुरियातीत और अवधूत परमहंस कहकर पुकारते हैं।[३] इनमें साधु निर्ग्रन्थ, निष्परिग्रही, यथाजातरूपधारी और शुक्लध्यानपरायण लिखा है। ("यथाजातरूपधरो निर्ग्रन्थो निष्परिग्रहः .... शुक्लध्यानपरायणः"—जाबालोपनिषद् सूत्र ६) शुक्लध्यान जैनदर्शन की मुख्य वस्तु है। वस्तुतः दिगम्बर जैन मुनियों का प्रभाव उपनिषद्कालीन ऋषियों पर पड़ा प्रतीत होता है। यही कारण है कि उन्होंने वैसी साधुचर्या का विधान किया है जैसी कि दिगम्बर शास्त्रों में है। इससे उपनिषद्काल में दि० जैन मुनियों का अस्तित्व प्रमाणित होता है, जो निर्ग्रन्थ कहलाते थे।

'रामायण' में (बालकांड १४।२२) उन श्रमणों का उल्लेख है जो भूषण टीका में दिगम्बर

१ Indian Antiquary, XXX, p 280
२ हमारे ग्रंथ "भगवान् पार्श्वनाथ" की प्रस्तावना देखो।
३ "दिगम्बरत्व और दि० मुनि" पृष्ठ ११-३६

मुनि बताये गये हैं। 'महाभारत' (आदि पर्व ३२६-२७) में जैन मुनिगण नग्नक्षपणक कहे गए हैं।

पुराणों में 'विष्णुपुराण' और 'पद्मपुराण' चौथी से पांचवीं-छठीं शताब्दि के रचे हुये कहे जाते हैं। इनमें भी जैन मुनि दिगम्बर ही लिखे गये है—उनमें वस्त्रधारी जैन मुनियों का उल्लेख नहीं है।[१] अब यदि श्रीकल्याणविजयजी के मतानुसार पांचवीं छठी शताब्दि के पहले दिगम्बर जैन मुनि थे ही नहीं—सब वस्त्रधारी स्थविरकल्पी (श्वे०) थे, तो उस समय के साहित्य में उनका उल्लेख कहाँ से आ गया ?

संस्कृत classical साहित्य में भी जो ईस्वी प्रारंभिक शताब्दियों का रचा हुआ है, उसमें भी दि० जैन मुनियों का अस्तित्व मिलता है। भर्तृहरि के 'वैराग्यशतक' में जैन मुनि को पाणिपात्र और दिगम्बर लिखा है।[२] इसी तरह 'वराहमिहिरसंहिता' में दि० जैनों को 'नग्नान्' और 'अर्हतदेव' को 'दिग्वास' लिखा है।[३] 'पञ्चतंत्र' में दिगम्बर जैन मुनियों को आहारवेला पर घूमते हुये श्रावक के घर पर शुद्ध भोजन मिलने पर विधिपूर्वक आहार लेते लिखा है।[४] 'गोलाध्याय' ज्योतिषग्रंथ के रचयिता भी दि० जैनों का उल्लेख करते हैं[५] और 'मुद्राराक्षस' नाटक में भी जैन मुनि का उल्लेख 'नग्नक्षपणक' के रूप में हुआ है।[६] यह उल्लेख भी श्वेताम्बर-मान्यता की निस्सारता प्रकट करते हैं।

पिटक बौद्ध साहित्य। ई० पूर्व सन ८० में लिपिबद्ध किया गया था। उसमें भी यही उल्लेख मिलते हैं कि निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र महावीर और उनके साधु शिष्य नग्न रहा करते थे। 'दीघनिकाय' में निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र महावीर को निर्ग्रन्थ संघ का नेता और अनुभवी धर्मप्रवर्तक

---

१ 'ततो दिगंवरो मुंडो······'विष्णुपुराण तृतीयांश अ० १७ व १८
'दिगम्बरेण······जैनधर्मोपदेशः······ दिगंबरजैनधर्मदीक्षादानम्।'

पद्मपुराण प्रथम सृष्टिखंड १३

२ वेद पुराणादि ग्रंथों में जैनधर्म का अस्तित्व, पृ० ४६

३ 'नग्नान् जिनानां विदुः' ॥६१॥६१॥
'दिग्वासस्तरुणो रूपवांश्च कार्योऽर्हतां देवः' ॥४५॥५८॥—वराहमिहिरसंहिता।

४ पञ्चतंत्र (तंत्र ४)—'नग्नीकृता मुण्डिता' व. तंत्र ५

५ गोलाध्याय ३।८-१० "The naked sectarians & the rest affirm that two suns, two moons··· "etc The commentator Lakshamidas agree that the Jainas are here meant····and remarks that they are described as 'naked sectarians' etc., because the class of Digambaras is a principal one among these people."—
Asiatic Researches—Vol. IX p. 317

६ Hindu Dramatic Works, p. 10

लिखा है।[1] 'मज्झिमनिकाय' में भ० महावीर के सर्वज्ञ और सर्वदर्शी होने का उल्लेख है।[2] 'जातक' कथा में भ० महावीर निर्ग्रन्थ को अचेलक (नग्न) लिखा है।[3] वैशाली के निकट कन्डरमसुक नामक महानुभाव जैन मुनि हुये थे। उन्होंने ब्रह्मचर्यादि व्रतों के साथ याज्जीवन नग्न (अचेलक) रहने का भी नियम किया था।[4] बौद्ध टीकाकार बुद्धघोष 'अचेलक' से मात्र 'नग्न' के लेते हैं। (अचेलकोऽतिनिच्चेलो नग्गो) जैन साधु पाटिकपुत्र अचेल लिखे गये हैं। उस समय सब ही निर्ग्रन्थ साधु नग्न रहते थे। त्रिपिटक में निर्ग्रन्थ और अचेलक शब्द समानरूप में जैन मुनियों के लिये प्रयुक्त हुये हैं।[5] इन दिगम्बर मुनियों का प्रभाव जैनेतर साधुओं पर पड़ा था और वे नग्न रहने लगे थे।[6] 'महावग्ग' के उल्लेख से स्पष्ट है कि भ० महावीर से पहले के नित्थिय (तीर्थक) साधु भी नग्न रहते थे। यह तीर्थक मुख्यतः जैन थे अर्थात् भ० पार्श्वनाथ के तीर्थ के साधु थे। 'दीघनिकाय' के 'पासादिक सुत्तन्त' से स्पष्ट है कि भ० महावीर के गृहवासी श्रावक शिष्य श्वेतवस्त्र पहना करते थे[7]— निर्ग्रन्थ मुनि वैसे वस्त्र नहीं पहनते थे। "जातक-घटकथा",[8] "चुल्लवग्ग" (८।२८।३), "महावग्ग" (८।१५।३८) "संयुत्तनिकाय" (२।३।१०।७) इत्यादि ग्रन्थों में भी निर्ग्रन्थों की नग्नता के द्योतक उल्लेख हैं। उनमें ऐसा एक भी उल्लेख नहीं है जिससे स्पष्ट हो कि भ० महावीर तो स्वयं नग्न रहते थे, परन्तु उनके सब ही शिष्य वस्त्रधारी स्थविर होते थे।

उपरान्तकालीन बौद्धरचनाओं में भी जैसे 'विशाखावत्थुधम्मपदट्ठकथा (P.T.S., I, 2.384) 'दिव्यावदान' (पृ० १६५) आदि ग्रन्थों में भी निर्ग्रन्थों को नग्न साधु लिखा है। 'दाठावंसो' नामक ग्रन्थ में 'अहिरिका' शब्द के साथ 'निगण्ठ' शब्द का प्रयोग जैन साधु के लिये

---

१ दीघनिकाय (P.T.S.) भा० १ पृ० ४८-४६

२ मज्झिमनिकाय (P.T.S.) भा० १ पृ० ६२-६३

३ जातक २।१८२

४ दीघनिकाय (P.T.S.) भा० ३ पृ० ६-१०

५ 'वीर' वर्ष ४ पृ० ३५३

६ Form Buddhist accounts in their canonical works as well as in other books; it may be seen that...in their description of other rivals ef Buddha that these, in oder to gain esteem, copied the *Nirgranthas* and went unclothed, or they were looked upon by the people as *Nirgrantha* holy ones, because they happend to lose their clothes."—Buhler. *An Indian sect of the Jainas, p. 36.*

बुल्हर के अतिरिक्त जेम्स अल्विस (IA. VIII) और जैकोबी ने भी (IA., IX. 162) जैनों का प्रभाव अन्य मत प्रवर्तकों पर पड़ा बताया जो नग्न साधु हो रहे थे।

७ 'निगण्ठस्स नाथपुत्तस्स सावका गिही ओदातवसनां' (PTS. III, 117-118.)

८ जातकमाला (S.B.B., Vol. I) पृ० १४५

हुआ है।[१] इसी ग्रन्थ में ईस्वी तीसरी या चौथी शताब्दि के लगभग कलिङ्ग में गुहशिव नामक राजा निगंठों का भक्त लिखा है। निर्ग्रन्थ यहां भी दिगम्बर लिखे हैं। बौद्ध नैयायिक कमलशील ने जैनों का अह्रीक नाम से उल्लेख किया है। 'अह्रीकादयश्चोदयन्ति'— स्याद्वादपरीक्षाप्रकरण, तत्वसंग्रह पृ० ४८६) इन उल्लेखों से यह भी स्पष्ट है कि दिगम्बर मुनियों का अस्तित्व पांचवीं-छठी शताब्दि से पहले से चला आता था। उस समय उनका नया प्रादुर्भाव नहीं हुआ था।

फाह्यान्[२] और हुएनत्सांग[३] नामक चीनी यात्रियों को सारे भारत में दिगम्बर जैनी फैले हुये मिले थे। हुएनसांग ने निर्ग्रन्थ साधु को नग्न ही लिखा है।[३] इनके बहुत पहले सिकन्दर महान् के समय में यूनानी लेखकों ने जैन श्रमणों को दिगम्बर ही लिखा था।[४] ई० पूर्व सन् २५ में पाड्यराज ने यूनान के शाह ऑगस्टस के लिये भेंट भेजी थी। उसके साथ एक श्रमणाचार्य (जैन गुरु) भी गये थे, जिन्होंने दिगम्बर वेष में सल्लेखनाव्रत द्वारा अपने जीवन का अन्त अथेन्स नगर में किया था।[५] ईस्वी प्रथम शताब्दि में अपोल और दमस नामक यूनानी तत्त्ववेत्ता भारत आये थे और उन्होंने दि० जैन मुनियों से शास्त्रार्थ किया था।[६]

तामिल साहित्य । में 'मणिमेखलै' और 'सिलप्पदिकारम्' नामक दो महाकाव्य प्राचीन संगमकाल की रचनायें हैं। इनमें से पहला काव्य एक बौद्ध लेखक की कृति है। इसमें दिगम्बर जैनों का उल्लेख है।[७] एक स्थल पर उसमें लिखा है कि 'मानाइकन नामक

१ 'इमे अहिरिका सब्बे सद्धादिगुणवज्जिता। यद्धा सठा च दुप्पञ्ञा सग्ग मोक्ख विबन्धका ॥८८॥
इति सो चिन्तयित्वान गुहसीवो नराधिपो। पब्बाजेसि सकारट्ठा निगण्ठे ते असेसके ॥८९॥
—दाठावंसो पृ० १४

२ फाह्यान्, पृ० ३१-४५ (The Niganthas were ascetics who went naked.— Fa-Hian, Beal, pp. 110-113)

३ "The Lihi (Nirgranthas) distinguish themselves by leaving their bodies naked & pulling out their hair."—St. Julien. Vienna, p. 224.

४ "Alexander heard that these *Sramans* went about naked……"– Mc Crindle, Ancient India, p. 70.

"Those Indians, who are called *Semnoi* (श्रमण) go naked all their lives."— Clemens Alex :

५ Indian Historical Quarterly, Vol II, p. 293.

६ "……disputed with Indian gymnosophists."
QJMS XVIII, 305-306.

Term 'Indian Gymnosophists applies very aptly to the Niganthas (Digambara Jains)."
—Encyclo :Britannica, XV. 128.

७ Studies in South Indian Jainism, pt. I. pp. 47-48.
"These Jains were the Digambaras is clearly seen from their description.
—S. K. Aiyangar.

व्यक्ति निर्ग्रन्थ संघ में जाकर दिगम्बर मुनि हो गया।' यही बात दूसरे महाकाव्य से स्पष्ट है, जो एक दिगम्बर जैन की ही रचना है। इनसे दिगम्बर जैनों का अस्तित्व प्राचीन काल से सिद्ध होता है।

भारतीय पुरातत्त्व में साधुता के लिये दिगम्बरत्व का महत्त्व प्राचीन काल से स्पष्ट है; क्योंकि सिंधु उपत्यका से उपलब्ध पुरातत्त्व में अनेक नग्न मूर्तियां मिली हैं। यह मूर्त्तियाँ दि० जैनिमूर्त्तियों के अनुरूप हैं।[1] वहां की एक मुद्रा पर जिनेन्द्र शब्द भी पढ़ा गया है।[2] अतः आज से चार-पांच हजार वर्षों पहले दिगम्बर मुद्रा का प्रचार प्रमाणित होता है।

सम्राट् अशोकने अपने सातवें स्तंभलेख में निर्ग्रन्थ साधुओं का उल्लेख किया है। निर्ग्रन्थ से भाव दिगम्बर जैन साधु होता है।[3] हाथीगुफा के एवं वहां के अन्य शिलालेखों में दिगम्बर मुनिजनों का उल्लेख तापस और श्रमण नाम से हुआ है।[4] वहाँ की सब ही प्रतिमायें दिगम्बर हैं। मथुरा के कंकालीटीला से प्राप्त पुरातत्त्व से भी दि० जैनों का तत्कालीन अस्तित्व प्रमाणित है। वहाँ के एक स्तूप के चित्रपट में एक जैन मुनि पीछी व कमंडल लिये हुए नग्न दिखाये गये हैं।[5] होलीदरवाजा से मिले आयागपट पर जो लेख है उसमें स्पष्ट निर्ग्रन्थ आर्हतों का उल्लेख है।[6] ऐसे ही और उल्लेख भी वहाँ हैं। अहिच्छत्र (बरेली) के एक स्तंभलेख से (१ या २ श०) महाचार्य इन्द्रनन्दि का अस्तित्व प्रमाणित है,[7] जो प्राचीन नन्दिसंघ (दिग०) से सम्बन्धित प्रतीत होते हैं। गुप्तकालीन कुहाऊं के स्तंभलेख से भी दिगम्बर जैनों का अस्तित्व सिद्ध है—इस स्तंभ पर दिगम्बर जैन प्रतिमायें अङ्कित हैं।[8] पहाड़पुर (राजशाही) के ताम्रलेख में उल्लेख है कि सन् ४७९ ई० में आचार्य गुहनन्दि द्वार शासित निर्ग्रन्थ संघ वहाँ मौजूद था, जिसका सम्बन्ध दिगम्बर जैनोचार्य श्री जिनसेन द्वारा उल्लिखित 'पंचस्तूपान्वय' से संभवित है।[9] उदयगिरि (भेलसा) के ५वीं शती के लेखों से दिगम्बर जैन संघ का अस्तित्व प्रमाणित है।[10] शक सं० ५२२ के श्रवणबेलगोलस्थ

१ **रामप्रसाद चंदा**, Survival of the Prehistoric Civilisation of Indus valley, pp. 25—33.

२ **प्रो० प्राणनाथ**, Indian Historical Quarterly, vol. VIII suppl. pp. 18—32.

३ श्वेताम्बराचार्य श्री आत्मारामजी ने "तत्त्वनिर्णयप्रासाद" में निग्रन्थ की व्याख्या में लिखा है : "यथाजातरूपधरा निर्ग्रन्था निष्परिग्रहाः।"

४ 'सवदिसानं तापसानं ''''''—, पंक्ति १५ बंगाल बिहार और उड़ीसा के प्राचीन जैन स्मारक, पृ० ६१—६७

५ जैन-सिद्धान्त-भास्कर, वर्ष १ किरण ४ पृ० १२३

६ वीर, वर्ष ४ पृ० ३०३

७ संयुक्त प्रांतीय जैन स्मारक, पृ० ८१—८२

८ पूर्व० पृ० ३४

९ मॉडर्न रिव्यू, अगस्त १९३१, पृ० १५०   १० बम्बई प्रां० जैन स्मारक ७०

शिलालेख से श्रुतकेवली भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त का परिचय प्राप्त होता है।[1] इस प्रकार शिलालेखीय साक्षी से भी दिगम्बर जैन मुनियों का अस्तित्व, जो निर्ग्रन्थ कहलाते थे, प्राचीन काल से सिद्ध है। अतः श्री कल्याणविजयजी की पहली दोनों मान्यतायें कि पहले सब निर्ग्रन्थ साधु स्थविरकल्पी वस्त्रधारी होते थे मिथ्या सिद्ध होतीं हैं।

श्री कल्याणविजयजी की तीसरी मान्यता है कि ५ वीं ६ठी शताब्दि के लगभग आचार्य शिवभूति द्वारा दिगम्बर जैनों और उनके मूलसंघ का जन्म हुआ। उनका यह लिखना भी ग़लत है, क्योंकि शिवभूति से पहले के दिगम्बर जैनाचार्यों का अस्तित्व प्रमाणित है। आचार्यप्रवर श्री धरसेनजी और उनके शिष्य भगवान् पुष्पदन्त और भूतबलि ईस्वी पहली या दूसरी शताब्दि के लगभग विद्यमान थे और उनके रचे हुये 'षटखण्डागमसूत्र' और 'कषाय-प्राभृत' आदि उपलब्ध हैं।[2] श्री यतिवृषभाचार्यजी शिवभूति से पहले के आचार्य प्रमाणित हैं; उनका 'तिलोयपण्णत्ति' ग्रन्थ उपलब्ध है।[3] उस पर श्री कल्याणविजयजी ने अपने शिवभूति का एकत्व 'भगवती आराधना' के कर्त्ता शिवार्यजी से सिद्ध नहीं किया है, यद्यपि उनका लिखना यही बताता है कि वे दोनों को एक समझते हैं। किन्तु उनके शिवभूति जब आर्य कृष्ण के शिष्य हैं तब 'भगवती' के शिवार्यजी के गुरुओं के नाम आर्य जिननन्दिगणि आर्य सर्वगुप्तगणि और आर्य मित्रनन्दि हैं। (अज्जजिणणंदिगणि सव्वगुत्तगणि अज्ज-मित्तणंदीणं। अवगमिय पादमूले सम्मं सुत्तं च अत्थं च ॥ २१६१॥) इसलिये ये दोनों शिवभूति या शिवार्य एक नहीं हो सकते। आचार्य धरसेन के दादागुरु अर्हद्बलि ने ही मूल निर्ग्रन्थ संघ को चार भिन्न संघों में विभाजित किया था।[4] यह समय वीर निर्वाण के पश्चात् ६१४ और ६८३ वर्ष के भीतर पड़ता है।[5] श्रवणबेल्गोल के शिलालेख नं० १०५ में भी श्री अर्हद्बलि को संघ भेद का कर्त्ता कहा है।[6] अतः यह कहना कि मूलसंघ का जन्म ५ वीं-६ठी शताब्दि में हुआ निराधार है।

क्रमशः

१ जैन शिलालेखसंग्रह (मा० ग्रं०) पृ० १—२

२ षट्खंडागमसूत्र भा० १ की भूमिका देखो।

३ तिलोयपण्णत्ति (शोलापुर)। शक सं० ३९५ के पश्चात् यह ग्रंथ रचा गया था।

४ षट् खंडागमसूत्र भा० १ भूमिका पृष्ठ १५

५ पूर्व० भूमिका पृष्ठ २९

६ अर्हद्बलिस्संघचतुर्विधं स श्रीकोण्डकुन्दान्वयमूलसंघम्।
कालस्वभावादिह जायमान-द्वेषेतराल्पीकरणाय चक्रे ॥२६॥

क्या तत्त्वार्थसूत्रकार और उनके टीकाकारों का अभिप्राय एक ही है ?

[ले० श्रीयुत प्रो० हीरालाल जैन, एम. ए.; एल-एल. बी.]

जैनधर्म में मुनियों के लिये परीषह सहन करने का नियम बड़ा मौलिक, महत्त्व-पूर्ण एवं व्यापक है। प्राचीनतम काल से लगाकर वर्तमान समय तक दिगम्बर, श्वेताम्बर आदि सभी जैन सम्प्रदायों में परीषहों का विधान पाया जाता है, एवं परीषहों की सख्या, उनके क्रम और उनके स्वरूप में भी कहीं कोई बड़ा भेद नहीं पाया जाता। अतएव यह स्वाभाविक है कि तत्त्वार्थसूत्र जैसे जैनधर्म का सम्पूर्ण परिचय करानेवाले ग्रन्थ में परीषहों का विवेचन पाया जाय। इस विषय को सूत्रकार उमास्वाति ने कितना महत्त्वपूर्ण समझा है, यह इसी से अनुमान किया जा सकता है कि नौवें अध्याय में जहां उन्होंने समिति, गुप्ति, दश धर्म व बारह अनुप्रेक्षाओं को केवल एक एक ही सूत्र में निपटाया है, वहां परीषहों का विवेचन उन्होंने ८ से लेकर १७ तक दश सूत्रों में किया है। पहले उन्होंने सूत्र ८ में परीषहों के दो प्रयोजन बतलाये हैं कि जिनोपदिष्ट मार्ग से च्युत न हो इसके लिये, तथा कर्मों की निर्जरा के लिये, परिषहों का सहन करना आवश्यक है। फिर सूत्र ९ में क्षुधा, पिपासा आदि २२ परीषहों का नामनिर्देश किया गया है। इसके पश्चात् सूत्र १०, ११ और १२ इन तीन सूत्रों में यह बतलाया गया है कि किन किन गुणस्थानों में उन बाइस में से कितने परीषह होना संभव है। यहां स्पष्ट विधान किया गया है कि सूक्ष्मसाम्पराय और छद्मस्थ वीतराग के चौदह परीषह होते हैं, जिन भगवान् के ग्यारह होते हैं और बादरसाम्पराय तक सभी होते हैं। ऐसा भेद क्यों पड़ता है इसका कारण आगे के १३ से १६ तक चार सूत्रों में बतलाया गया है कि वे भिन्न भिन्न परीषह भिन्न भिन्न कर्मों से सम्बद्ध हैं। अतएव जहां तक उन कर्मों का उदय पाया जाता है तहां तक ही उनसे फलित होने वाली वेदनाओं के होने से उनके सहन करने रूप परीषह होते हैं। बादरसाम्पराय तक वे सभी कर्मोदय विद्यमान हैं, अतएव वहां तक सभी परीषह सहने योग्य होते हैं। सूक्ष्मसाम्पराय होने पर सूक्ष्म लोभ को छोड़ शेष समस्त मोह कर्म के उदय का अभाव हो जाता है; अतएव दर्शनमोह जनित अदर्शन एवं चारित्रमोह जनित नाग्न्य, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना और सत्कार-पुरस्कार, इन आठ परीषहों का भी अभाव हो जाता है, जिससे सूक्ष्मसाम्पराय व छद्मस्थ वीतराग के केवल शेष १४ परीषह ही होते हैं। किन्तु जब सयोगी गुणस्थान में ज्ञानावरण और अन्तराय कर्मों के उदय का भी अभाव हो जाता है, तब उनसे सम्बद्ध प्रज्ञा, अज्ञान और अलाभ, इन तीन

परीषहों का भी अभाव होकर केवल शेष ग्यारह परीषह रह जाते हैं जो कि वेदनीय कर्म के अनुषंगी हैं। और चूंकि वेदनीय कर्म का उदय अयोगि गुणस्थान के अन्तिम समय तक, अर्थात् जब तक शरीर और आयु है तब तक, बना रहता है, इसलिये ये ग्यारह परीषह अन्त तक सहनीय होते हैं। ये ग्यारह परीषह हैं—क्षुधा[१], पिपासा[२], शीत[३], उष्ण[४], दंशमशक[५], चर्या[६], शय्या[७], वध, रोग[९], तृणस्पर्श[१०] और मल[११]।

अब सूत्रकार की उक्त व्यवस्था पर उनके टीकाकार पूज्यपाद स्वामी व अकलंकदेव का क्या मन्तव्य है, यह देखना चाहिये। बादरसाम्पराय तक सभी परीषहों के मानने में तो कहीं कोई विशेषता नहीं है। सूक्ष्म साम्पराय में भी टीकाकारों ने १४ परीषहों को स्वीकार किया है। पर शेष के निराकरण करने में उन्होंने जो सूक्ष्मसाम्पराय को सूक्ष्म लोभ के होते हुए भी छद्मस्थ वीतराग के समान मान लेने की कल्पना की है, वह आवश्यक नहीं है। जिन आठ परीषहों का सूक्ष्मसाम्पराय में अभाव कहा गया है वे दर्शनमोह और चारित्रमोह की उन प्रकृतियों से उत्पन्न होते हैं जिनके उदय का सूक्ष्मसाम्पराय से पूर्व ही अभाव हो चुका है। उनमें ऐसा कोई परीषह नहीं है जो सूक्ष्मलोभ से सम्बन्ध रखता हो। अतएव सूक्ष्म साम्पराय में उनका अभाव मानना ठीक है, और इसके लिये सूक्ष्म-साम्पराय को वीतराग के समान मानने की स्थूल कल्पना आवश्यक नहीं है।

किन्तु छद्मस्थ वीतराग में चौदह परीषहों के सद्भाव मानने में टीकाकारों को आपत्ति उत्पन्न हुई है। उनका कहना है कि मोह के उदय की सहायता न होने से वीतराग के वेदनीय कर्म का उदय मन्द हो जाता है। अतएव उनके क्षुधादि वेदना का अभाव है और इसलिये उनके उस वेदना के सहन करने रूप परीषह का मानना ठीक नहीं है। फिर भी सूत्रकार ने जो उनके चौदह परीषहों का सद्भाव कहा है वह शक्तिमात्र की विवक्षा से है, जिस प्रकार कि सर्वार्थसिद्धि-विमानवासी देव के सातवीं पृथिवी तक गमन करने की शक्ति मानी जाती है। आगे केवली जिनके जो ग्यारह परीषहों का विधान सूत्रकार ने किया है उसके सम्बन्ध में टीकाकारों को विशेष आपत्ति उत्पन्न हुई है, और नाना प्रकार से उस सूत्र का अर्थ बैठाने का प्रयत्न किया गया है। सर्वार्थसिद्धिकार की एक कल्पना यह है कि सूत्र में **'न सन्ति'** इतना वाक्यांश और जोड़कर ऐसा अर्थ कर लेना चाहिये कि 'जिन भगवान् में ग्यारह परीषह नहीं होते'। राजवार्तिककार ने **"केश्चित्कल्प्यन्ते"** इतना वाक्यांश सूत्र में और समझ लेने की सलाह दी है जिससे सूत्र का अर्थ होगा 'कुछ आचार्य जिन भगवान् में ग्यारह परीषहों की कल्पना करते हैं'। इन कल्पनाओं के समर्थन में दोनों टीकाकारों का कहना है कि मोहनीय या घातिकर्मों की सहायता के अभाव से क्षुधादि वेदनाओं का भी अभाव हो जाता है। इसका राजवार्तिककार ने यह उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार मंत्र और औषधि के बल से जब विषद्रव्य की मारण-शक्ति का क्षय कर दिया जाता है, तब वह विषद्रव्य मरण कराने में समर्थ नहीं होता;

उसी प्रकार ध्यान रूपी अग्नि द्वारा घातिया कर्मों का क्षय हो जाने पर वेदनीय कर्म अपना फल दिखाने में असमर्थ हो जाता है, जिससे क्षुधादि वेदनायें नहीं होतीं। इसलिये केवली जिन में कोई परीषह नहीं होते। तथापि जिस प्रकार ज्ञानावरण का क्षय व पूर्ण ज्ञान का विकास हो जाने पर एकाग्रचिन्तानिरोध का भी अभाव हो जाता है, फिर भी उपचार से केवली में ध्यान की सत्ता मानते हैं, उसी प्रकार क्षुधादि वेदना रूप भावपरीषहों का अभाव होने पर भी वेदनीय कर्म के उदयरूप द्रव्य परीषह का सद्भाव मानकर जिन भगवान् में उपचार से ग्यारह परीषह कहे गये हैं।

टीकाकारों की इन सब युक्तियों पर से निम्न शंकायें उपस्थित होती हैं।

(१) क्या **'एकादश जिने'** वाले सूत्र में **'न सन्ति'** या **'कैश्चित्कल्प्यन्ते'** इतना वाक्यशेष जोड़ना युक्तिसंगत है ?

(२) क्या वेदनीय कर्म के उदय में या उसकी तीव्रता में मोहनीय कर्म की सहायता अपेक्षित है ? क्या वेदनीय कर्म का उदय मन्द हो जाने पर क्षुधादि वेदनाओं का अभाव हो जाता है ?

(३) क्या घातिया कर्मों के क्षय हो जाने से वेदनीय कर्म की फलदायिनी शक्ति नष्ट हो जाती है ?

(४) शक्तिमात्र की विवक्षा का क्या तात्पर्य है, और सर्वार्थसिद्धि के देव का उदाहरण प्रकृत विषय पर किस प्रकार घटित होता है ?

(५) मंत्रौषधि द्वारा विषद्रव्य के प्रभाव को नष्ट करने का उदाहरण प्रकृत में कहां तक घटित होता है ?

(६) केवली में एकाग्रचिन्तानिरोध का अभाव और फिर भी ध्यान की कल्पना किस प्रकार होती है और उसकी उपमा प्रकृत विषय पर कहां तक ठीक बैठती है ?

अब मैं इन शंकाओं पर अपनी समझ के अनुसार कुछ विचार प्रकट करता हूँ—

(१) सूत्रों में किसी वाक्यशेष की कल्पना तभी की जा सकती है जब वे अपने रूपमें अधूरे हों और बिना कुछ जोड़े उनका ठीक अर्थ ही न लगता हो। ऐसी अवस्था में दो प्रकार से वाक्यशेष की कल्पना की जा सकती है। एक तो ऐसे शब्दों की जो ऊपर के सूत्रों द्वारा निर्दिष्ट हो चुके हैं और जिनकी अनुवृत्ति चालू है, और दूसरे कदाचित् ऐसे शब्दों की जो सूत्रकार की विशेष शैली के अनुसार हों और वह शैली अनेक स्थलों पर स्पष्ट दिखाई दे रही हो। प्रस्तुत **'एकादश जिने'** सूत्र में इन नियमों के अनुसार यदि कुछ शब्दों का अध्याहार किया जा सकता है तो एकादश के साथ **'परीषहाः'** का और वाक्य-पूर्ति के लिये अन्त में **'सन्ति'** का, जिससे परिपूर्ण सूत्रवाक्य होगा **'एकादश परीषहाः जिने सन्ति'**। किन्तु यहां **'न सन्ति'** या **'कैश्चित् कल्प्यन्ते'** जोड़ने के लिये कोई आधार

दृष्टिगोचर नहीं होता। इसके विपरीत इन वाक्यांशों को जोड़ने से कई आशंकाएं उठ खड़ी होती हैं जिनका कोई समाधान नहीं पाया जाता; जैसे, यदि यही सूत्रार्थ माना जावे कि 'जिन भगवान् में ग्यारह परीषह नहीं होते', तो उसमे स्वभावतः यह अनुमान होगा कि शेष ग्यारह होते हैं, वे कौन से हैं? यदि यह वाक्यार्थ लिया जाय कि 'कुछ आचार्य ग्यारह परीषहों की कल्पना करते हैं' तो इससे अनुमान होगा कि सूत्रकार के सम्मुख प्रस्तुत विषय पर दो मतभेद उपस्थित थे, जिनमें से एक ही का उन्होंने यहां स्पष्ट उल्लेख किया और दूसरे का कोई स्पष्ट उल्लेख ही नहीं किया। इसपर से स्वभावतः अनुमान यही होगा कि सूत्रकार का मत उसी पक्ष में था जिसका उन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है, इत्यादि। पर न तो प्रस्तुत प्रसंग में ऐसी कल्पना के लिये कोई आधार है और न शेष ग्रंथ में कहीं भी सूत्रकार ने ऐसी कथनशैली ग्रहण की है। अतः इन वाक्यशेषों की कल्पना निराधार प्रतीत होती है।

(२) यदि हम कर्मसिद्धान्तानुसार मोहनीय और वेदनीय कर्मों के स्वरूप पर विचार करें तो ज्ञात होता है कि वेदनीय कर्म की स्थिति और अनुभाग बन्ध मोहनीय कर्मोदय के आधीन है। जब मोहनीय कर्म का उदय मन्द-मन्दतर होने लगता है, तब उसी के अनुसार वेदनीय कर्म का स्थितिबन्ध भी उत्तरोत्तर कम होता जाता है; और जब सूक्ष्म-साम्पराय गुणस्थान के अन्त में मोह के उदय का सर्वथा अभाव हो जाता है, तब वेदनीय का स्थितिबन्ध भी समाप्त हो जाता है। यहां तक तो वेदनीय कर्म मोहनीय के अधीन है। किन्तु बंधे हुए कर्म की सत्ता और उसके उदय में वेदनीय कर्म मोहनीय से सर्वथा स्वतंत्र है। मोहनीय का उदयाभाव ही नहीं, उसकी सत्तामात्र के क्षय हो जाने पर भी वेदनीय के बंधे हुए कर्मों की सत्ता जीव में बनी ही रहती है और वह बराबर उदय में आती रहती है, एवं उसकी तीव्रता व मन्दता उसके अनुभागोदय पर अवलम्बित रहती है। जब मोहनीय कर्म का उदय रहता है, तब उसके योग से वेदनीयोदय के साथ रागद्वेष परिणति का मिश्रण दिखाई देगा। मोहोदय के अभाव में रागद्वेष परिणति का भी अभाव हो जायगा। पर उससे वेदनीयोदयजन्य शुद्ध वेदना कम नहीं होगी, अभाव तो बहुत दूर की बात है। हां, वेदनीय कर्म का उदय जितनी मात्रा में मन्द होगा उतनी ही मात्रा में क्षुधादि वेदनायें मन्द होती जावेंगी। किन्तु वेदना का सर्वथा अभाव तो तभी माना जा सकता है जब उस कर्म के उदय का सर्वथा अभाव हो जाय। इस प्रकार कर्मोदय, वेदना और परीषह की तीव्रता व मन्दता का तरतमभाव व अभाव उत्तरोत्तर आनुषाङ्गिक रूप से होता है।

(३) जब वेदनीय कर्म की फलदायिनी शक्ति मोहनीय कर्म के अधीन नहीं है, तब अन्य घातिया कर्मों के अधीन तो हो ही कैसे सकती है। दर्शनावरण कर्म के अभाव से केवली की दृष्टि निर्मल होगी, ज्ञानावरण के अभाव से उनकी समझदारी परिपूर्ण होगी, एवं

मोहनीय कर्म के अभाव से ऊपर कहे अनुसार राग-द्वेष प्रवृत्ति नहीं रहेगी। पर इनसे वेदनीय-कर्म-जन्य वेदना में तो कोई परिवर्तन न होगा। अन्तराय कर्म के अभाव से न केवल वेदनीय के उदय में कोई बाधा नहीं आयगी, बल्कि दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य, इन शक्तियों के पूर्ण विकास में जो रूकावट हो रही थी वह दूर हो जायगी और उनकी पूर्ति का मार्ग खुल जायगा। नहीं तो इन शक्तियों की सार्थकता ही कहां सिद्ध होगी ? अतएव यह कहना ठीक नहीं जान पड़ता कि घातियां कर्मों के अभाव में वेदनीय की फलदायिनी शक्ति नष्ट या जर्जरित हो जाती है। सूक्ष्मसाम्पराय के अन्त समय में जब ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय का स्थितिबन्ध अन्तर्मुहुर्त मात्र होता है, उसी समय वेदनीय का स्थितिबन्ध उपशमक के चौवीस मूहूर्त और क्षपक के बारह मुहूर्त होता है। एवं क्षपक के वेदनीय का स्थिति-सत्त्व थोड़ा नहीं असंख्यात वर्ष प्रमाण होता है जो क्षीणकषाय और सयोगी एवं अयोगी गुणस्थानों में बराबर अपनी स्थिति अनुसार अनुभाग का उदय दिखाया करता है। सयोगी जिन विहार करते हुए कर्म प्रदेशों की निर्जरा करते हैं, पर वे भी उक्त कर्म-स्थिति को बहुत नहीं घटा पाते। वह फिर भी प्रायः आयु की स्थिति से अधिक ही शेष रह जाती है। अतएव उसकी स्थिति को आयु प्रमाण करने के लिये उन्हें एक विशेष महत्त्वपूर्ण क्रिया करनी पड़ती है जिसे समुद्धात कहते हैं। यह समुद्धात क्रिया वे आयु के अन्तर्मुहूर्त मात्र शेष रहने पर करते है। उस अन्तर्मुहूर्त में भी अयोगी के अन्तिम समय तक वेदनीय का उदय बराबर बना रहता है और उसका उदयाभाव और क्षय आयु के अन्त होने के साथ ही हो पाता है। ऐसी अवस्था में यह कैसे माना जाय कि घातिकर्मों के क्षय होने से ही वेदनीय कर्म की उदयशक्ति क्षीण हो जाती है ?

(४) शक्ति का सद्भाव होते हुए भी उसके उपयोग का अभाव वहीं पर माना जा सकता है जहां उसका कोई प्रतिबन्धक कारण मौजूद हो। सर्वार्थसिद्धि के देव में यदि सातवीं पृथिवी तक जाने की शक्ति है और फिर भी वह देव वहां जाता नहीं है तो इसमें प्रतिबन्धक कारण यह मानना पड़ेगा कि उसके वहां तक गमनागमन कराने वाले वेदनीय कर्म के उदय का अभाव है। और यही अभाव उस शक्ति के उपयोग का प्रतिबन्धक है। पर वीतराग में ऐसा कोई प्रतिबन्धक कारण दृष्टिगोचर नहीं होता। बल्कि उसके विपरीत वेदनीयजन्य चर्यादि क्रियायें स्पष्टतः मानी ही जाती हैं। तब फिर उनकी वेदना होने में कौन सी शक्तिका प्रतिबन्ध लगता है यह जान नहीं पड़ता।

(४) जिन मंत्रों और औषधियों में विषद्रव्य के प्रभाव को नष्ट करने का शक्ति होगी उनके प्रयोग से विषद्रव्य का प्रभाव अवश्य घट जायगा या नष्ट हो जायगा। किन्तु क्या घातिया कर्मों के नाश और वेदनीयादि अघातिया कर्मो के उदयाभाव में भी उसी प्रकार का कारण-कार्य सम्बन्ध है ? विचार करने से ज्ञात होगा कि वैसा नहीं है। हम ऊपर

देख ही चुके कि उक्त कर्मों में एक दूसरे की फलदायिनी शक्ति को नष्ट करने का सामर्थ्य नहीं है। ऐसी अवस्था में उक्त उदाहरण प्रस्तुत विषय पर घटित नहीं होता।

(५) केवली के एकाग्रचिन्तानिरोध रूप ध्यान भले ही न होता हो, पर जो ध्यान उनके माना जाता है वह यथार्थतः चिन्तानिरोध रूप नहीं किन्तु क्रमशः योगों के निरोध रूप होता है। बादर और सूक्ष्म काय, वचन और मन का किस प्रकार एक के द्वारा दूसरे का निसेध किया जाता है, यही केवली की ध्यान क्रिया है जो उपचार से नहीं मानी गई, किन्तु यथार्थता से होती है। इस प्रकार दृष्टान्त में भी उपचार घटित नहीं होता। और दार्ष्टान्त में तो बिलकुल ही नहीं होता। वेदनीय कर्म का उदय होते हुए द्रव्य-परीषह का सद्भाव और वेदनारूप भावपरीषह का अभाव कैसे घटित होगा सो कुछ समझ में नहीं आता। वेदनीय कर्म का उदय जीव में वेदना उत्पन्न किये बिना होगा ही किस प्रकार ? वह कर्म तो जीवविपाकी है जो अपनी फलदायिनी शक्ति को जीव में वेदना रूप से ही प्रकट करेगा। और उसी वेदना के सहन करने से परीषह होगा। इसके अनुसार जो शारीरिक क्रिया होगी उसे द्रव्यपरीषह कहा जा सकता है। अतएव वेदना रूप भावपरीषह के बिना द्रव्यपरीषह हो ही कैसे सकता है, और उसमें उपचार मानने की गुंजाइश ही क्या है ?

इस प्रकार जहां तक हम विचार करते हैं टीकाकारों का विवेचन न तो सूत्रकार के वचनों की सार्थकता सिद्ध करने में समर्थ होता और न कर्मसिद्धान्त के नियमों के अनुसार बैठता। यदि हम टीकाकारों के मत को स्वीकार करते हैं तो हमें उपलब्ध कर्मसिद्धान्त को अप्रामाणिक कहना पड़ेगा, और यदि हम कर्मसिद्धान्त की प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं तो टीकाकारों का विवेचन उपयुक्त नहीं सिद्ध होता। किन्तु सूत्रकार के जो वचन हैं, उन्हें यदि हम प्रारम्भ में प्रकट किये अनुसार अर्थ में लेवें तो उनका कर्मसिद्धान्त से ठीक सामञ्जस्य बैठता है।

उक्त टीकाकारों के अतिरिक्त यदि हम दिगम्बर सम्प्रदाय के प्राचीनतम तार्किक समन्तभद्रस्वामी का उक्त विषय पर मत जानना चाहते हैं तो हमें उनकी आप्तमीमांसा देखनी चाहिये। यहां उन्होंने आप्त में दोष और आवरण की हानि आवश्यक बतलाई है। उनके विद्वान् टीकाकर विद्यानन्दि स्वामी के अनुसार दोष का अभिप्राय ज्ञानावरणादि भावकर्मों से है और आवरण का अभिप्राय उन्हीं के द्रव्यकर्मों से (देखो आप्तमीमांसा १,४-६) पर वेदनीय जैसे अघातिया कर्मों के भाव व द्रव्य उदय से यहां तात्पर्य नहीं हो सकता, क्योंकि आगे नौव परिच्छेद में वीतराग के भी दुःख की वेदना स्वीकार की गई है। ऐसी अवस्था में मर्मज्ञ विद्वानों को विचार कर स्पष्ट करना चाहिये कि सूत्रकार और उनके टीकाकारों का क्या एक ही अभिप्राय है, या भिन्न भिन्न।

जैन-सिद्धान्त-भवन के कार्यों का सिंहावलोकन

[ले० श्रीयुत पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण]

यों तो जैन-सिद्धान्त-भवन आरा की नींव सन् १९०३ में ही पड़ चुकी थी। पर हां, उस समय यह जैन-धर्म-पुस्तकालय के नाम से स्थापित हुआ था और साथ ही साथ इसके उद्देश भी इतने उच्च, गम्भीर एवं व्यापक नहीं थे। उक्त जैन-धर्म-पुस्तकालय को सन् १९०३ में श्रीमान् भट्टारक हर्षकीर्तिजी की अध्यक्षता में श्रीमान् स्व० बा० देवकुमारजी ने स्थापित किया था। इसमें उस समय बा० देवकुमारजी के घर के बहुमूल्य हस्तलिखित ग्रन्थों के अतिरिक्त भट्टारक श्रीहर्षकीर्तिजी तथा स्थानीय कई धर्मात्माओं के अमूल्य हस्तलिखित ग्रन्थ भी शामिल कर दिये गये थे। स्व० बा० देवकुमारजी के श्रद्धेय पितामह पं० प्रभुदासजी संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। आप पं० भागचन्दजी, पं० दौलतरामजी आदि समाजमान्य विख्यात विद्वानों के समसामयिक थे। आपके पास संस्कृत प्राकृत आदि भाषाओं के हस्तलिखित ग्रन्थों का अच्छा संग्रह था। पं० प्रभुदासजी के स्वर्गवास के बाद वह पैत्रिक अमूल्य निधि स्व० बा० देवकुमारजी को मिली थी जिसको इन्होंने उक्त पुस्तकालय को भेंट कर दिया था।

उपर्युक्त जैन-धर्म-पुस्तकालय प्रारंभ में श्रीमती स्व० श्रेयांस कुंवरी के द्वारा निर्मापित सुविशाल, श्रीशांतिनाथ भगवान् के भव्य मंदिर के बगल के एक विशाल हॉल में खोला गया था। पीछे सन् १९०८ में जब बा० देवकुमारजी का स्वर्गवास हुआ, तब उनके अंतिम दिव्य आदेशानुसार सन् १९११ में, आमन्त्रित अन्यान्य प्रान्तों के जैन-जैनेतर विशाल जनसमुदाय के समक्ष पूर्वोक्त जैन-धर्म-पुस्तकालय का नाम ही जैन-सिद्धान्त-भवन या The central Jaina Oriental Library के रूप में परिवर्तित किया गया। बा० देवकुमारजी के अंतिम पवित्र आदेश निम्न-प्रकार थे:

"आप सब भाइयों से और विशेषतया जैन समाज के नेताओं से मेरी अंतिम प्रार्थना यही है कि प्राचीन शास्त्रों और मंदिरों और शिलालेखों की शीघ्रतर रक्षा होनी चाहिये। क्योंकि इन्हीं से संसार में जैनधर्म के महत्त्व का अस्तित्व रहेगा। मैं तो इसी ही चिंता में था, किंतु अचानक काल आकर मुझे लिये जा रहा है। मैंने यह प्रतिज्ञा की थी कि जब तक इस कार्य को पूरा न करूंगा तब तक ब्रह्मचर्य का पालन करूंगा। बड़े शोक की बात है कि अपने अभाग्योदय से मुझे इस परम पवित्र कार्य करने का पुण्य प्राप्त नहीं हुआ। अब आप ही लोग इस पवित्र कार्य के स्तंभ स्वरूप हैं। इसलिये इस परमावश्यक कार्य का संपादन करना आप सबका परम कर्त्तव्य है।"

श्रीमान् देवकुमारजी के इस अंतिम आदेश को पढ़कर हृदय गद्गद होता है, शरीर प्रफुल्लित हो जाता है और नेत्रों में आंसू भर आते हैं। वास्तव में देवकुमारजी एक महान् व्यक्ति थे। उनकी मृत्यु बहुत ही अल्प अवस्था अर्थात् सिर्फ ३१ साल में हुई थी। अगर वे अबतक जीवित रहते तो पता नहीं कि जैन समाज की उन्नति के लिये वे क्या क्या करते! श्रीमान् स्व० सेठ माणिकचंद्रजी बंबई के बाद दिगम्बर जैन समाज के सच्चे सेवकों में बा० देवकुमारजी का ही शुभ नाम लिया जाता है। बा० देवकुमारजी के सफल नाम से दिगम्बर जैन समाज का बच्चा-बच्चा परिचित है। उन्होंने पाठशालायें स्थापित कराईं, विद्यार्थि-निलय (जैन बोर्डिंग हाउस) खुलवाया, वर्षों तक हिंदी 'जैन गजट' के संपादन द्वारा जैन समाज एवं साहित्य की सेवा की। आरा में उक्त जैन-सिद्धांत-भवन स्थापित करने का पवित्र भाव उन्हें सन् १९०७ की दक्षिणयात्रा के द्वारा ही उदित हुआ। इस यात्रा में बा० देवकुमारजी को खासकर मूडबिद्री में कई एक प्राचीन शास्त्रभाण्डारों का अवलोकन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। इन भाण्डारों की व्यवस्था अत्यधिक शोचनीय थी। इसी से उन्होंने महसूस किया कि इन बहुमूल्य प्राचीन ग्रन्थरत्नों की रक्षा के लिये एक विशाल पुस्तकालय की स्थापना परमावश्यक है।

प्रारंभ में जैन-सिद्धान्त-भवन के मंत्री श्रीमान् स्व० बा० करोड़ीचन्द्रजी थे। इन्होंने आमरण भवन की अच्छी सेवा की। इनके मंत्रित्वकाल में खासकर ताड़पत्र के ग्रन्थों का अच्छा संग्रह हुआ है। इस पवित्र कार्य में श्रीमान् श्रद्धेय नेमिसागरजी वर्णी (वतमान भट्टारक श्रवणबेल्गोल) का विशेष हाथ था। अन्यथा ताड़पत्रांकित ग्रन्थों का इतना संग्रह होना आसान काम नहीं था। बा० करोड़ीचन्द्रजी ने ताड़पत्र के इन अमूल्य ग्रन्थों के संग्रहार्थ पर्याप्त द्रव्य व्यय किया था। इस अत्यावश्यक पवित्र कार्य के संपादन के लिये कई योग्य प्रचारक खासकर कर्णाटक एवं तमिल प्रांत में भेजे गये थे। इन प्रचारकों ने ग्रन्थसंग्रह के साथ साथ दक्षिण के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध सभी प्राचीन जैन ग्रन्थभाण्डारों की ग्रन्थ-तालिकाएं भी तैयार कर ली थीं जो कि आज भी भवन में मौजूद हैं। हां, पर मालूम होता है कि ये ग्रन्थ-तालिकाएं बहुत असावधानी से तैयार की गई थीं; इसीलिये इनमें बहुत सी भद्दी भद्दी भूलें रह गई हैं। खासकर दक्षिण भारत के मूडबिद्री, कारकल, वरांग, हुंबुच्च एवं श्रवणबेल्गोल आदि सुप्रसिद्ध प्राचीन जैन ग्रन्थभाण्डारों की एक विस्तृत, प्रामाणिक, सर्वाङ्गसुन्दर ग्रन्थसूची का निर्माण होना बहुत ही आवश्यक है। मेरी धारणा है कि उक्त विशाल ग्रन्थभाण्डारों में ऐसे-ऐसे भी अनेक ग्रन्थरत्न उपलब्ध हो सकते हैं, जिनके केवल नाम ही अन्यान्य रचनाओं में मिलते हैं। साथ ही साथ कर्णाटक तथा तमिल प्रांत के देहातों में भी ग्रन्थान्वेषण का कार्य अवश्य होना चाहिये। पर खेद की बात है कि इन परमावश्यक महत्त्वपूर्ण कार्यों की ओर किसी भी संस्था का ध्यान नहीं जाता! अस्तु, यह विषयांतर है। बा० करोड़ीचन्द्रजी एक साहित्यप्रेमी उत्साही सज्जन

थे। इस जैन-सिद्धान्त भास्कर का शुभ जन्म भी सन् १९१२ में इन्हीं के मंत्रित्वकाल में हुआ था जो कि स्वनामधन्य श्रीमान् सेठ पद्मराजजी जैन रानीवाले के सफल सम्पादकत्व में एक वर्ष तक सुचारुरूप से चलकर बन्द हो गया था।

इस प्रकरण में श्रीमान् स्व० बा० देवेन्द्रप्रसादजी का नाम भी अवश्य उल्लेखनीय है, जिन्होंने करोड़ीचंद्रजी के उपर्युक्त प्रत्येक पुनीत कार्य में बराबर सहायता की थी। खासकर हिन्दुस्तान भर के जैन तीर्थों के फोटो जो भवन में संगृहीत हैं वे इन्हीं देवेन्द्र प्रसादजी के सुप्रयत्न के सुमधुर फल हैं। बा० देवेन्द्र प्रसादजी अंत तक जैन-सिद्धांत-भवन के सहायक मंत्रीपद पर आरूढ़ रहे। इन दोनों की असामयिक मृत्यु के उपरान्त श्रीमान् बा० सुपार्श्व-दासजी गुप्त बी० ए० सन् १९२२ तक बराबर भवन की सेवा करते रहे। इनके मंत्रित्व-काल में ग्रन्थसंग्रह के अतिरिक्त कोई उल्लेखनीय कार्य नज़र नहीं आता। हां, जैन-सिद्धांत-भवन में विद्यमान प्राकृत, संस्कृतादि भाषाओं के हस्तलिखित एवं मुद्रित ग्रन्थों की एक सूची प्रकाशित हुई है अवश्य। पर यह सूची अधिक सुन्दर नहीं बन सकी है। फिर भी गुप्तजी का यह साहित्यिक कार्य अवश्य प्रशंसनीय है।

सन १९२३ के अप्रैल मास में, जैन-सिद्धांत-भवन के कार्यभार को स्व० बा० देवकुमारजी के सुयोग्य ज्येष्ठ-पुत्र श्रीमान् बा० निर्मलकुमारजी ने स्वयं अपने हाथ में लिया। संयोगवश उसी साल जुलाई महीने में काकतालीयन्याय से मैं भी आरा आ पहुंचा। इसके बाद भिन्न-भिन्न समय में भवन के द्वारा मुख्य-मुख्य जो जो महत्त्वपूर्ण कार्य संपन्न हुए हैं, उनका विवरण निम्न प्रकार है:

सर्व प्रथम भवन में संगृहीत कन्नड एवं तमिल लिपि के अन्यान्य भाषाबद्ध बहुमूल्य ताड़पत्र के ग्रन्थों की एक विश्वस्त तालिका तैयार की गई। क्योंकि इन ग्रन्थों की जो तालिका पहले से भवन में मौजूद थी, उसमें बहुतसी भद्दी-भद्दी त्रुटियां रह गई थीं। बाद जैनेतर हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची, संस्कृत, प्राकृतादि नागरी-लिपि के अनेक संग्रह-ग्रंथों की विस्तृत सूची आदि प्रायः भवन की सभी ग्रंथसूचियां ठीक की गईं। सूचियों को ठीक करने के बाद भवन के अप्रकाशित महत्त्वपूर्ण हस्तलिखित जैन ग्रन्थों की प्रशस्तियां एकत्रित की गईं, जो कि दो जिल्दों में भवन में सुचारु रूप से सुरक्षित हैं। बल्कि उन्हीं में की कुछ प्रशस्तियां 'प्रशस्ति-संग्रह' के नाम से हाल ही में प्रकाशित हो चुकी हैं जिनकी अन्वेषक विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसाकर शेष प्रशस्तियों को शीघ्र ही प्रकाशित करने के लिये जोरदार शब्दों में अनुरोध किया है।

इसके उपरांत भवन ने मुनिसुव्रतकाव्य के हिंदी अनुवाद के कार्य को अपने हाथ में लिया। यह एक बहुत ही सुंदर, सरल एवं सरस जैन महाकाव्य है जो कि सन् १९२९ में भवन की ओर से सटीक प्रकाशित हो चुका है। पश्चात् सन् १९३३ में, भवन में संगृहीत

अंग्रेजी पुस्तकों की एक सर्वांगसुंदर तालिका (Catalogue) एवं सन् १९३४ में ज्ञान-प्रदीपिका नामक फलित ज्योतिष का एक अपूर्व जैन ज्योतिष ग्रंथ प्रकाशित किया गया। सन् १९३५ में यह भास्कर पुनः उदित होकर जैन इतिहास, साहित्य, शिल्प, पुरातत्त्व, दर्शन आदि की जो अपूर्व सेवा कर रहा है, वह विज्ञ पाठकों से छिपी नहीं है। इसी जैन-सिद्धांत-भास्कर में क्रमशः तिलोयपरणत्ति [जैन-लोकज्ञान-सिद्धांत विषयक एक सुंदर प्राकृत ग्रंथ], प्रशस्ति-संग्रह [जैन इतिहासनिर्माण का एक उपयोगी साधन], वैद्यसार [रसायन संबंधी एक अपूर्व जैन वैद्यक ग्रंथ], प्रतिमा-लेख-संग्रह, Jaina Literature in Tamil नामक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ धाराप्रवाह से प्रकाशित होते रहे जिनकी प्रतियां विक्रयार्थ अलग भी तैयार कराई गई हैं।

महत्त्वपूर्ण इस प्रकाशन के बीच में कन्नड-साहित्य-परिषत्-पत्रिका, प्रबुद्ध कर्नाटक, जय कर्नाटक, सुबोध, त्रिवेणि,+ विवेकाभ्युदय, शरण साहित्य, अध्यात्मप्रकाश, शक्ति, भारति,+ कर्णाटक बन्धु, बडवर बन्धु, कराठीरव (विशेषांकों में), किशोर, बालक, विश्ववाणी, वीरवाणि+ वीर, जैन दर्शन, जैन संदेश, जैन मित्र, जैन गजट, खराडेलवाल जैन हितेच्छु, जिनविजय, जैन बोधक, अनेकांत, आर्यमहिला, आदर्श जैन चरितमाला, गोलापूर्व जैन, दिगम्बर जैन आदि सुप्रसिद्ध जैन एवं जैनेतर सामाजिक तथा सार्वजनिक पत्रों में अन्यान्य भाषाओं में मेरे द्वारा लिखे गये अन्यान्य विषय संबंधी छोटे-बड़े लगभग २०० लेखों; जैन दर्शन, जैनर मूरु रत्नगलु (कन्नड) दिगम्बर मुद्रा की सर्वमान्यता, मूर्त्तिपूजा की आवश्यकता, (हिंदी तथा कन्नड) आत्मनिवेदनम्, शांतशृंगारविलासः (संस्कृत) आदि भिन्न-भिन्न भाषाओं में प्रचारार्थ लिखी गई लघुकलेवर रचनाओं; चित्रसेनपद्मावतीचरित, मुहूर्तदर्पण, कामन कालग (एक कन्नड खराड-काव्य) आदि मेरे द्वारा संपादित ग्रंथों एवं शांतीश्वरचरित, बृहद्समाधिमरण, चित्रसेनपद्मावतीचरित, ज्ञानकोष, रत्नकरराडश्रावकाचार, ज्ञानप्रदीपिका और क्षत्रचूडामणि-काव्य आदि ग्रंथों के लिये लिखी गई आलोचनात्मक भूमिकाओं का श्रेय भी भवन को प्राप्त है। इतना ही नहीं धवला, जयधवला, पंपभारत, शान्तिपुराण, कविराजमार्ग, शान्तीश्वरचरित, परमात्मप्रकाश, पुष्पदंतपुराण, रसरत्नाकर, लीलावति, पंचतंत्र, वर्धमानपुराण, अभिधानरत्नमाला, शब्दमणिदर्पण और औषधिकोष आदि महत्त्वपूर्ण प्राकृत, संस्कृत एवं कन्नड आदि भाषाओं के ग्रंथों के प्रकाशन में भी प्रतिदान आदि के द्वारा भवन ने पर्याप्त सहायता पहुँचाई है।

यह हुई भवन के प्रकाशन की बातें। अब ग्रंथ-संग्रह की बातों को लीजिये। सन् १९२३ में, भवन में संगृहीत प्राकृत, संस्कृत, हिंदी, मराठी, गुजराती, कन्नड, तमिल एवं तेलुगु आदि भारतीय अन्यान्य भाषाओं के मुद्रित ग्रंथों की संख्या कुल ११९१ थी। *

+ दीर्घ ईकारांत संस्कृत शब्द कन्नड भाषा में ह्रस्व ही होता है।

वही संख्या आज लगभग ६५०० को पहुंच गई है। इसी प्रकार मुद्रित अंग्रेजी पुस्तकों की संख्या सन् १९३० में जो लगभग ५०० की थी वह आज लगभग २६५० की है। इस समय ताड़पत्र एवं कागज पर लिखे हुए हस्तलिखित ग्रन्थों की संख्या लगभग ६३७८ की है। हां, इतना अवश्य स्वीकार करना होगा कि मुद्रित ग्रन्थों की संख्या में जितनी वृद्धि हुई है, उतनी वृद्धि हस्तलिखित ग्रन्थों की संख्या में नहीं हुई। इसका कारण स्पष्ट है कि हस्तलिखित ग्रंथों की प्रतिलिपि में काफी द्रव्य व्यय होता है और इस कार्य को भवन की आय के अनुकूल प्रतिवर्ष सीमित रखना पड़ता है। फिर भी इस बीच में भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों से खोज-खोज कर बहुत से मौलिक ग्रंथ लिखवाये गये हैं जिनकी प्रतिलिपियां भवन में पहले से मौजूद नहीं थीं। बल्कि इस कार्य के लिये हमें प्राचीन कई ग्रन्थ-भाण्डारों की नई सूचियां भी तैयार करानी पड़ीं। भवन में संगृहीत कन्नड लिपि में वर्तमान ताड़पत्र के कई ग्रंथों की नागरी लिपि में प्रतिलिपि भी करनी पड़ी। भवन से भी बहुत से ग्रन्थ प्रतिलिपि करवाकर बाहर भेजे गये। हां, सुज्ञ पाठक इतना अवश्य स्मरण रखेंगे कि भवन में मुद्रित या हस्तलिखित जो कोई भी ग्रन्थ संगृहीत होता है वह चुना हुआ महत्त्वपूर्ण ही होता है। ग्रन्थों के अतिरिक्त Coin Collection, Currency Notes Collection, Stamp Collection, Match Collection, Playing Cards Collection, Cartoon Colleetion, Art Picture Collection इन चीजों का भी भवन में अच्छा संग्रह हो गया है जिसका सारा श्रेय श्रीमान् बा० निर्मल-कुमारजी के चि० सुपुत्रों को मिलना चाहिये। भवन में, भिन्न-भिन्न प्रांतों में विराजमान जिनप्रतिमाओं पर के लेखों का भी उल्लेखनीय संग्रह है जो कि जैन इतिहासनिर्माण के लिये अन्यतम उपयोगी साधन है।

जैन भ्रातृसंघ आदि जैन संस्थाओं के अतिरिक्त साहित्यमण्डल, साहित्यपरिषत्, जिला हिंदी-साहित्य-सम्मेलन आदि सार्वजनिक स्थानीय साहित्यक संस्थाओं को भी भवन ने स्थानप्रदान आदि के द्वारा पर्याप्त साहाय्य पहुँचाया है। इतिहास, साहित्य आदि गंभीर विषयों से संबंध रखनेवाले सैकड़ों पत्रों का समुचित उत्तर भी भवन ने बराबर दिया है जिससे पत्रप्रेषक विद्वानों को पर्याप्त संतोष मिला है। साथ ही साथ यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि भारत के प्रत्येक प्रांत के जैन जैनेतर मान्य विद्वानों ने प्रत्यक्ष या परोक्षरूप में भवन से बराबर लाभ उठाया है और उठा रहे हैं। बल्कि भवन के अध्यक्ष के नाते नहीं, किंतु एक साहित्यिक की हैसियत से मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि दिगम्बर जैन समाज में यह एक अद्वितीय संस्था है जिसके जोड़ की वर्तमान में दूसरी कोई संस्था नहीं है। महात्मा गांधी, श्रीमान् पं० मदनमोहन मालवीय, श्रीमान् सच्चिदानंद सिनहा, दीवान मिरजा एम० इस्मायल, Dr. Walther Schubring, Germany. W. Norman Brown America आदि सैकड़ों पौर्वात्य और पाश्चात्य विद्वानों ने

भवन का संग्रह, सुव्यवस्था आदि के संबंध में जो शुभ उद्गार प्रकट किये हैं उन सबों को यदि संग्रह किया जाय तो एक बड़ी पोथी ही बन जायगी।

बा० देवकुमारजी अपनी मृत्यु के पूर्व कुछ संस्थाओं एवं मंदिरों के स्थायी संचालन के लिये अपनी जमींदारी में से ५०००) रुपये वार्षिक आयवाला एक गांव दान कर गये हैं। उसी में से १५००) रुपये प्रति वर्ष जैन-सिद्धांत-भवन को मिलते हैं। इस आय के अतिरिक्त देवकुमारजी के धर्मश्रद्धालु सुयोग्य सुपुत्र बा० निर्मलकुमारजी एवं चक्रेश्वर-कुमारजी से और भी आवश्यकतानुसार यथेष्ट सहायता मिलती रहती है। बल्कि भवन के भवन-निर्माणार्थ प्रारंभ में बा० देवकुमारजी जो २०००) रुपये नगद दे गये थे उनमें २०-२५ हजार और मिलाकर उनके सुपुत्रों ने सन् १९२४ में एक बहुत भव्य मंदिर निर्माण कराया है जिसकी प्रशंसा सभी दर्शक मुक्तकण्ठ से किया करते हैं। वास्तव में भवन की यह इमारत बहुत ही सुंदर बनी है। यह भवन दो मंज़िला है। इसके प्रवेशद्वार के ऊपर सरस्वती की एक दर्शनीय मूर्ति विराजमान है। इसके बरामदे के बाद एक बहुत बड़ा हॉल है, जिसमें दो-तीन सौ आदमी आराम से बैठ सकते हैं। हॉल काफी हवादार और प्रकाशपूर्ण है। इस हॉल में प्रवेश करते ही ३ फुट लंबा और २७ इंच चौड़ा भवन के संस्थापक स्व० बा० देवकुमारजी के दिव्य तैल चित्र पर दृष्टि पड़ती है जो बहुत ही आकर्षक है। हॉल में अभ्यागतों एवं वाचकों के बैठने के लिये फ़र्श बिछा रहता है। फ़र्श के एक ओर एक लंबा टेबुल है, जिसपर बहुत सी पत्रपत्रिकाएं रक्खी रहती हैं। नीचे और ऊपर बड़ी-बड़ी अलमारियां पुस्तकों से सुशोभित हैं।

अस्तु, इस लेख को अधिक बढ़ाना मेरा अभीष्ट नहीं है। इसलिये अंत में मैं इतना और कह देना चाहता हूं कि ताड़पत्र पर लौह लेखनी से लिखे गये सुंदर से सुंदर ग्रन्थ [जिनके पत्र लगभग ४ अंगुल चौड़े, १॥-२ बालिश्त या उनसे भी अधिक लंबे हैं], मनोज्ञ कलापूर्ण, सचित्र जैन रामायण [जिसके आश्चर्यकारी रंगीन चित्र निहायत पतले और चमकदार कागज़ पर प्रायः प्रत्येक पृष्ठ में अंकित हैं], एक छोटे से कार्ड पर लिखित तत्त्वार्थसूत्र तथा भक्तामरस्तोत्र, सोलह स्वप्न, समवसरण, महाराज चन्द्रगुप्त, पावापुरी एवं सम्मेदशिखर आदि के कलापूर्ण सुंदर चित्र आदि भवन की बहुत सी दर्शनीय चीजें मौजूद हैं। विद्वान् लेखकों और कलाकारों के श्रम और चातुर्य का अवलोकन कर एकबार हृदय गद्गद हो जाता है और मस्तक श्रद्धा से झुक जाता है। वास्तव में यह भवन खासकर जैन-धर्म-विषयक साहित्य, पुरातत्त्व एवं इतिहास आदि के अनुसंधान के लिये एक अद्वितीय संस्था है।

'नीतिवाक्यामृत' आदि के रचयिता श्रीसोमदेवसूरि

[ले० श्रीयुत डा० वी० राघवन, एम० ए०, पी-एच० डी०]

'श्रीमाणिक्यचंद्र दि० जैन ग्रन्थमाला' (नं० २१) में श्रीसोमदेवसूरिकृत 'नीतिवाक्यामृत' का प्रकाशन टीकासहित हुआ है। उस टीका के आरंभ में उल्लेख है कि सोमदेव ने यह ग्रंथ कान्यकुब्ज नरेश महेन्द्रपाल के इच्छानुसार रचा था। श्रीनाथूरामजी प्रेमी इस ग्रंथ की भूमिका में इस उल्लेख को अप्रामाणिक ठहराते हैं। यही नहीं, टीका के और भी कई उल्लेखों को उन्होंने अप्रामाणिक बताया है। वह यह भी कहते हैं कि यदि टीकाकार का उक्त कथन सच मान लिया जाय तो कालगणना में बहुत गड़बड़ी आती है। (पृ० २१-३०) प्रेमीजी ने पृ० २१-२२ पर लिखा है कि महेन्द्रपाल ने सन् ९०३-७ तक शासन किया है और वह राजशेखर के संरक्षक थे। सोमदेवजी ने अपना 'यशस्तिलक-चम्पू' सन् ९५९ ई० में पूर्ण किया। 'नीतिवाक्यामृत' उसके बाद की रचना है क्योंकि उसकी प्रशस्ति में सोमदेव के अन्य ग्रंथों के साथ 'यशस्तिलक' का भी उल्लेख है। इसका अर्थ हुआ कि महेन्द्रपाल से ५० या ५१ वर्ष पश्चात् 'नीतिवाक्यामृत' रची गई थी। अतः टीकाकार का कथन कि महेन्द्रपाल के लिये 'नीतिवाक्यामृत' की रचना हुई, ग़लत है। यह एक कल्पित कथा ही है।

इसके अतिरिक्त लेमुलवाड के दानपत्र से जो 'भारत इतिहास संशोधक पत्रिका' (१३।३) में प्रकाशित हुआ है और जिसका उल्लेख प्रेमीजी ने अपनी पुस्तक "जैन साहित्य और इतिहास" (पृ० ९०-९२) में सोमदेव के नीतिवाक्यामृत के प्रसंग में किया है, प्रकट है कि सोमदेव उस दानपत्र के समय अर्थात् ९६६ में राष्ट्रकूट-करद वद्यग के पुत्र तृतीय अरिकेसरिन् चालुक्य के राज्य में रहते थे। वद्यग अरिकेसरी द्वितीय के ज्येष्ठ पुत्र थे। उनके समय अर्थात् ९५९ ई० में सोमदेव ने 'यशस्तिलक' को रचकर समाप्त किया था।

किन्तु एक ग्रंथकर्ता की रचनाओं का उल्लेख उसके किसी अन्य ग्रंथ की प्रशस्ति में होने पर पूरा विश्वास नहीं किया जा सकता अर्थात् यह मानना बिल्कुल निरापद नहीं है कि चूंकि 'नीतिवाक्यामृत' की प्रशस्ति में 'यशस्तिलक' का उल्लेख है, इसलिए वह उसके बाद की रचना है। यह तभी मान्य हो सकता है कि जब यह निश्चित हो जावे कि लिपिकर्त्ताओंने संधियों और प्रशस्तियों में हस्तक्षेप नहीं किया है। दूसरे टीकाकार ने जिन कान्यकुब्ज नरेश महेन्द्रपाल के लिए सोमदेव को 'नीतिवाक्यामृत' रचते लिखा है,

वे उस नाम के द्वितीय महेन्द्रपाल नरेश होंगे, जिनका पता डा० त्रिपाठी ने दक्षिणी राजपूताना से उपलब्ध सन् ६४६ ई० के शिलालेख से पाया है और उसका उल्लेख अपनी 'हिस्ट्री ऑव कन्नौज' (पृ० २६६-२७१) में किया है। बालकवि रूप में राजशेखर को महेन्द्रपाल प्रथम (८८५-६१० ई०) का संरक्षण प्राप्त था और उन्हीं का उल्लेख सोमदेव ने सर्व अन्तिम ग्रंथकार के तरीके से किया है। वह एक अधिक वृद्धावस्था तक अर्थात् ६० वर्ष तक जीवित रहे थे अर्थात् त्रिपुरी के युवराजदेव द्वितीय के समय ६६० ई० तक मौजूद थे, जैसे कि मम० वी. वी. मिराशी ने सिद्ध किया है।[1] मान लीजिए कि सोमदेव राजशेखर से उम्र में थोड़े ही छोटे थे और उनकी आयु भी अधिक थी, तो उनकी ज्ञात तिथियों (६५६ ई० यशस्तिलक और ६६६ ई० लेमुलवाड का दानपत्र) से उनका महेन्द्र-पाल प्रथम के सम्पर्क में आना भी असंभव नहीं ठहर सकता।

लेमुलवाड दानपत्र में सोमदेव के दादागुरु का नाम गौडसंघ के यशोदेव लिखा है। चूंकि 'यशस्तिलक' में सोमदेव को देवसंघ का आचार्य लिखा है, इसीलिए प्रेमीजी ने बताया है कि संभवतः गौड़ से अभिप्राय 'गोल्ल' से होगा, जिसका उल्लेख श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों में मिलता है।[2] यदि गौडसंघ का अर्थ बंगालीय प्राधान्य का संघ न माना जावे, तो सोमदेव को गौडसंघ से सम्बन्धित क्या अर्थ रक्खेगा, जैसा कि उल्लेख है ?

यह स्पष्ट है कि सोमदेव के 'यशस्तिलक' में अगणित ऐतिहासिक एवं अन्य उल्लेख हैं—बहुधा उनका वर्णन श्लेषालंकार के द्वारा किया गया है। एक दफा प्रारंभ में और फिर अन्त में सोमदेव राजा को 'धर्मावलोक' कहकर सम्बोधित करते हैं :—

१. अहो × × × धर्मावलोक महीपाल × ×

(आ० २, पृ० १९६)
K. M. 70 Pt. I

२. अहो × × × धर्मावलोक × ×

(आ० ४ पृ० ७५)
K. M. 70 Pt. II

राष्ट्रकूट-करद वड्यग चालुक्य की संरक्षकता में 'यशस्तिलक' की रचना की गई थी। और उसमें राष्ट्रकूट सम्बन्धी अनेक उल्लेख हैं, जिसमे कवि का सम्पर्क उन राजाओं से प्रकट होता है। उदाहरणतः पृ० २८१ (भा० १) पर राजा का उल्लेख 'विक्रमतुङ्ग' रूप में हुआ है। यह 'तुङ्ग' शब्द राष्ट्रकूट-गुण सूचक है—राष्ट्रकूट राजाओं के नाम के अन्त में 'तुङ्ग' होता है। 'असमसाहस' वाक्य पृ० ५६२ (भा० १) पर एक योद्धा का नाम सूचक

---

१ The Chronological order of Rajasekhar's works, Pathak,
—Com: Vol pp. 365—366.

२ जैन साहित्य और इतिहास पृ० ८९.

है और उससे सांगली और कैम्बे दानपत्रों में गोविन्द चतुर्थ के लिए प्रयुक्त वाक्य 'त्यागेनासमसाहसैश्च' का स्मरण होता है। पृ० ५६७ पर राजा का वर्णन 'चैद्यसुन्दरी-विनोदकन्दलः' रूप में हुआ है और यह सर्व प्रकट है कि राष्ट्रकूट और चेदि राजवंशों में परस्पर विवाह सम्बन्ध हुए थे। अमोघवर्ष तृतीय और उनके पुत्र कृष्ण चतुर्थ, जिन्होंने गोविन्द चतुर्थ से चेदि सहायता द्वारा राजसिंहासन प्राप्त किया था, चेदि राजाओं के दामाद थे। पृ० ८५ (भा० २) एक मंत्रि का नाम 'वसुवर्ष' लिखा है और एक बन्दिन् को सुभाषितवर्ष कह कर सम्बोधन है। वर्षान्तक नाम राष्ट्रकूटों की ही विशेषता है। उनके सहायक और सम्बन्धी चेदि राजाओं के भी ऐसे नाम मिलते हैं।

अब देखना है कि राष्ट्रकूटवंश के मुख्य नरेशों अथवा उनकी शाखागत या करद नरेशों में किसी का उल्लेख 'धर्मावलोक' रूप में हुआ है ? यह निश्चित है कि 'अवलोक'-अन्तक विशेष नाम राष्ट्रकूटों के ही होते हैं। सोमदेव ने जिस 'धर्मावलोक' विशेषण से नरेश का उल्लेख किया है, वह विशेषण बोधगया राष्ट्रकूट शाखा के राजा, गुणगुणार्णव के पौत्र और कीर्तिराज के पुत्र तुङ्गधर्मावलोक के नाम के साथ प्रयुक्त हुआ था।[१] सोमदेव ने इस वाक्य को किसी विशेष भाव से प्रयोग में लाया होगा और बहुत कर के उन्होंने बोधगया शाखा के उक्त राजा के सम्पर्क को स्मरण कर के उसका प्रयोग किया है। यदि सोमदेव बोधगया की ओर कुछ समय के लिए रहे माने जावें तो उनका गौड़संघ से सम्बन्धित होना संभव है।

इतिहास में कई दफा ऐसे प्रसंग आये हैं जिनसे प्रकट है कि राष्ट्रकूटों, चेदि और कन्नौज के गुर्जर प्रतिहारों में घनिष्ट सम्बन्ध था। स्वयं राजशेखर महोदय और त्रिपुरी के मध्य घूमते रहे थे। सन् ९१६ ई० में राष्ट्रकूट इन्द्र तृतीय ने कन्नौज को नष्टभ्रष्ट किया था। इस आक्रमण में अरिकेसरिन् द्वितीय के पिता नरसिंह ने भाग लिया था और अरिकेसरिन् द्वितीय के पुत्र के समय में सोमदेव ने 'यशस्तिलक' रचा था।[२] उपरान्त कर्णाट-गुर्जर सम्बन्ध इतने बढ़े कि विवाह सम्बन्ध भी उनके हुए, राजशेखर की 'कर्पूरमञ्जरी' में कुन्तलदेश के एक राजा का नाम वल्लभराज आया है, जो निस्सन्देह राष्ट्रकूट नरेश का द्योतक है। श्री मम० मिराशी ने उन्हें गोविन्द चतुर्थ बताया है। इन कुन्तल नरेश की

---

१ See Buddhagaya : R. Mitra, p. 195, a Bodhagaya Rastrakuta inscrip:, undated, but palaeographically assigned to the 10th. century A. D. by Mitra; the inscrip : is of the 15th. year of the king who is described as the pupil of गुणरत्न Gunaratna.

२ पम्पभारत और आंध्र हिस्टारीकल रिसर्च सोसाइटी, ६ पृ० १६९ श्लोक ९

कन्या वीर चंडपाल (कन्नौज के महीपाल) से ब्याही गई दर्शाई है।[१] 'कर्पूरमंजरी' के चतुर्थ जवनिकान्तर में जिन नृत्यों का वर्णन है, उनमें कर्णाटक शैली भी मिलती है। चेदि और राष्ट्रकूट घरानों के विवाह सम्बन्ध तो सर्वप्रकट है। राजवंशों के ऐसे घनिष्ट सम्बन्धों के कारण ही प्रख्यात कवियों, विद्वानों और कलाकारों आदि का स्थानांतरित होना आवश्यक हो जाता है। इन सब बातों को मद्दे नज़र रखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि सोमदेव गौड़देश के गौड़संघ के एक आचार्य थे और संभवतः उनका सम्मान बोधगया के एक राष्ट्रकूट नरेश ने किया था। राष्ट्रकूट-करद चालुक्य अरिकेसरी और उनके उत्तराधिकारियों के समय में वह लेमुलवाड की ओर विहार करने गए थे और कन्नौज को जाते हुए चेदी एवं राष्ट्रकूट राजदरबारों में भी पहुँचे अथवा लेमुलवाड में रहते हुए ही जब कभी उपर्युक्त तीनों राजदरबारों में घूम फिर आते थे। ऐसी अवस्था में यह अनहोनी नहीं कही जा सकती कि उन्होंने कन्नौज के महेन्द्रपाल नरेश के लिए 'नीतिवाक्यामृत' की रचना की हो।

---

१ Chronological order of Rajasekhara's works, Pathak, Com: Vol pp. 363-4 गोविन्द चतुर्थ स्वयं परान्तक चोल के दामाद थे। चोल-राष्ट्रकूट विवाहसंबंधों के विषय पर A. S. रामनाथ अय्यर; इपीग्रेफिया इंडिका २६ पृ० २३०-५ देखो। अन्त में गोविन्द संभवतः टक्कोलम को भाग गए थे। आश्चर्य है कि सोमदेव ने कृष्ण तृतीय द्वारा चोल-राजकुमार राजादित्य के मरण (सन् ९४९ ई० टक्कोलम में) का उल्लेख नहीं किया है। न उनके बहनोई भूतग का उल्लेख है। कुछ वर्ष बाद कृष्ण तृतीय मेलपाटी में थे, तब सोमदेव ने अपना 'यशस्तिलक' लिखा था। सोमदेव ने तामिल देश के सैनिकों का वर्णन पृ० ४६३-४ पर किया है।

—अनुवादक कामता प्रसाद जैन

चन्देरी

चन्देरी ग्वालियर राज्य में बेतवा नदी के किनारे एक पहाड़ी पर एक दुर्गम दुर्ग है। ललितपुर से मोटर द्वारा जाने का सीधा रास्ता है। संभवतः इसे चन्देलवंशी राजपूतों ने बसाया था इसी से इसको चन्देरी या चन्द्रगिरि कहते हैं। इस नगर से ८ या ९ मील की दूरी पर एक बूढ़ी चन्देरी भी है जो ओर नदी के दक्षिण तट पर बसी है। इस बूढ़ी चन्देरी में दशवीं और ग्यारहवीं शताब्दी के अनेक मन्दिर जिनमें विशेष जैनों के हैं, जीर्णावस्था में पड़े हैं तथापि उन में सुन्दर कला के पूर्ण रूप पाये जाते हैं। महाभारत या किसी पुराण में चन्देरी का जिक्र नहीं है। अलबेरुनी (१०३० खृ० सन्) ने सर्व प्रथम इसका उल्लेख किया है। मुगलराज्य के सान्ध्य काल में बुन्देलों ने इसपर आधिपत्य कर लिया किन्तु १८०६ ई० में महाराज दौलतराव सिन्धिया ने इसपर कब्जा कर लिया। गदर के समय यह अंगरेजों के हाथ लगा और १८६० में फिर सिन्धिया राज को लौटा दिया गया।

चन्देरी और बूढ़ी चन्देरी दोनों ही जैन यात्रियों के लिए दर्शनीय स्थान हैं। चन्देरी के आसपास अनेक गांवों में पुराने जैन मन्दिर जीर्णावस्था में पड़े हैं। यहां से ८ मील की दूरी पर थोवन (तपोवन) में ऐसे अनेक मन्दिर पड़े हैं और यह जैनों का प्रसिद्ध तीर्थस्थान है।

चन्देरी दुर्ग और कातिघाटी के बीच खण्डर पहाड़ में जैन तीर्थङ्करों की मूर्तियां खुदी हुई हैं। इनमें कुछ उत्कीर्ण शिलालेखों से प्रकट होता है कि वे १३ वीं शताब्दी की हैं। यथा उनमें १२५२, १२९१, १३०३, १३१६, १२८०, १२८३, १३५७ वि० सं० की उत्कीर्ण मूर्तियाँ और सती चौतरे पाये जाते हैं।

शहर में एक नया भी जैन मन्दिर है जिसे चौधरी वंश के प्रमुख श्री हृदय सहायजी ने वि० संवत् १८९३ में बनवाया था। चन्देरी के चौधरी जमीन्दार खानदानी पुरुष हैं और वे वहां पर लगभग २०० वर्ष से बस गये हैं। मुगलशासनकाल में राजपुताना में हिन्दोन से उनके पूर्वज रत्नपाल आकर यहां बस गये। राजपुताना से आने के पहले से ही वे जैन थे। रत्नपाल का एक पुत्र ताराचन्द औरंगजेब का प्रियपात्र होने के कारण मुसलमान हो गया, किन्तु ताराचन्द के अपुत्र मर जाने से वंश की ख्याति में कुछ क्षति न हुई। चौधरीजी ने बुन्देल राजाओं की अधीनता में सेवा स्वीकार की तथा उन्हें फौजदार, राजधर और सवाई उपाधियों से भूषित किया जिसे वे आज भी अपने नाम के साथ लगाते हैं। चौधरी हृदय सहायजी ने रामनगर में एक विशाल जैन रथोत्सव मनाया, अतः उन्हें सिंघई की उपाधि दी गयी। चौधरी मंगलसिंहजी श्री रत्नपालजी के १३ वीं पीढ़ी में हैं।

इस जैन मन्दिर के उच्च शिखर से शहर की शोभा दुगुनी हो जाती है। इसमें २४ सों तीर्थङ्करों की मूर्तियां सजी हैं। कृपया पूरे विवरण के लिये गर्देकृत '*A guide to Chanderi*' देखें।

दे० स० त्रिवेद

समीक्षा

तिलोय-पण्णत्ती [त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति]—रचयिता—श्रीयति वृषभाचार्य; सम्पादक—प्रो० आदिनाथ उपाध्याय, एम० ए० डी० लिट तथा प्रो० हीरालाल जैन, एम० ए० एल०-एल० बी०; अनुवादक—श्री पं० बालचन्द्र शास्त्री; प्रकाशक—जैन संस्कृति-संरक्षण-संघ शोलापुर; मूल्य १२) रुपये; पृष्ठ-संख्या ३८ + ५२८।

यह ग्रन्थराज 'जीवराज-जैन-ग्रन्थमाला' का प्रथम पुष्प है। प्रारम्भ में प्रो० ए० एन० उपाध्ये ने अंग्रेजी में भूमिका लिखी है। इसके अनन्तर प्राक्कथन, जीवराज-जैन-ग्रन्थमाला का परिचय, ब्र० जीवराज गौतमचन्द्र दोशी की जीवनी और प्रस्तावना हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन लोक-सम्बन्धी विषय का वर्णन गम्भीरतापूर्वक मार्मिक प्रणाली से हुआ है। यह करणानुयोग-सम्बन्धी अमूल्य रत्न होते हुए भी ऐतिहासिक ग्रन्थ है। दैवज्ञ और गणितज्ञों को इसमें आधुनिक गणित से भिन्न और नवीन एक नहीं अनेक बातें मिलेंगी। करणसूत्रों की वासना में जो बौद्धिक चमत्कार है वह तो तद्विषय के जानकारों के लिये अपूर्व है। प्रारम्भ में मङ्गलाचरण के अनेक अर्थ बतलाते हुए नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इन छह भेदों के द्वारा मंगल का विस्तृत वर्णन किया है। लोक का क्षेत्रफल और घनफल, वृत्रासन, यवमध्य, गिरिकटक, दूष्य इत्यादि आकारों की कल्पना करके विभिन्न रीतियों से व्यक्त गणित द्वारा निकाला है। क्षेत्रफल सम्बन्धी यह प्रकरण रेखागणित और अंकगणित की दृष्टि से बहुत ऊँचे दर्जे का है। नरकों के इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलों की संख्यानयन-सम्बन्धी सूत्र भी व्यावहारिक और उपयोगी है। इसी सम्बन्ध में गच्छ, चय, आदि और सर्वधन का साधन भी गणित-कौशल का सूचक है। पृष्ठ ८५ पर नरक पटलों में नारकियों की आयु बतलाई गई है, यह विषय सैद्धान्तिक और गणितज्ञ दोनों के लिये ही महत्त्वपूर्ण है। इन्द्रक आदि बिलों में आयु के हानि-वृद्धि-क्रम का कथन करणानुयोग के जिज्ञासुओं के लिये बड़े काम का है। इसी प्रकार नारकियों के शरीर की ऊँचाई उनके अवधिज्ञान का क्षेत्र, जन्ममरण के अन्तरकाल का प्रमाण आदि का कथन भी गणित-प्रक्रिया-सहित बताया गया है।

तृतीय अधिकार के प्रारम्भ में भवनवासियों के भेद; उनके भवनों की संख्या; अल्पर्द्धिक, महर्द्धिक और मध्यमर्द्धि धारक देवों के भवनों का स्थान; भवन एवं उनकी वेदियों का विस्तार, दैर्घ्य और उत्सेध आदि का वर्णन विस्तृत रूप से किया गया है। इसी अध्याय में

आगे जाकर असुरकुमारादि देवों के शरीर की ऊँचाई गणित के करणसूत्रों सहित बताई गई है। स्वाध्याय प्रेमियों के लिये यह विषय अत्यन्त मनोरञ्जक और ज्ञानवर्द्धक है।

चतुर्थ अधिकार के प्रारम्भ में मनुष्यलोक का वर्णन करते हुए प्रसंगवश पृष्ठ १६३ पर अंकित जीवा और चाप सम्बन्धी करण-सूत्र विशेष महत्त्वपूर्ण है। भास्कराचार्य जैसे गणितज्ञों ने भी इतनी सूक्ष्मता से जीवा और चाप के गणित का कथन नहीं किया है। आचार्य के सूत्र की अपेक्षा भास्कराचार्य के सूत्र में पर्याप्त स्थूलता है। भास्कराचार्य के सूत्र की वासना स्वल्पान्तर से सिद्ध होती है, पर आचार्यकथित सूत्र में स्वल्पान्तर की आवश्यकता नहीं पड़ती। आगे इसी अधिकार में धनुष, जीवा आदि के गणित का कथन करते हुए विजयार्ध की उत्तर और दक्षिण जीवाओं का प्रमाण तथा पार्श्वभुजाओं का प्रमाण निकाला गया है। आगे इसी अधिकार में चौबीस तीर्थङ्करों के जन्मस्थान, माता-पिता, जन्मतिथि, जन्मनक्षत्र, वंशों का निर्देश, जन्मान्तराल का प्रमाण, आयु, शरीर आदि का उत्सेध, केवलज्ञान के समय तीर्थङ्करों के शरीर का ऊर्ध्वगमन, समवशरण की रचना, उसकी वीथियों का निरूपण, धूलिशाल, और नाट्यशाल आदि का निरूपण आदि विषय महत्त्व-पूर्ण हैं। यह स्वाध्यायप्रेमी जिज्ञासुओं के लिये विशेष आनन्ददायक है। इसी अध्याय में लवणसमुद्र, धातकीखण्ड और पुष्करवरद्वीप का वर्णन किया गया है। इस वर्णन में आदि, मध्य और बाह्य सूची-व्यास सम्बन्धी विषय में कई नवीन बातें हैं तथा सूची की परिधि बनाने वाला नियम गणितज्ञों के लिये विशेष उपयोगी हैं। व्यास, परिधि, बाण, सूची-व्यास, वलयव्यास, आदि का कथन विस्तृत और महत्त्वपूर्ण है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का सम्पादन अच्छा हुआ है। अनुवादक ने प्रत्येक क्षेत्र के परिधि, व्यास, जीवा, चाप और बाण के व्यक्ताङ्क निकालने में प्रशंसनीय श्रम किया है। हां, यदि करण-सूत्रों की वासना गणित के साथ ही दे दी जाती तो अधिक अच्छा होता। क्योंकि व्यक्त और अव्यक्त दोनों गणितों का समन्वय रहने से गणितज्ञों को अधिक लाभ होता। साथ ही जैन गणित का महत्त्व भी सूचित होता। आशा है, आगे इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया जायगा। ग्रन्थ की छपाई, सफाई सर्वाङ्ग सुन्दर है। जैन साहित्य के प्रचार के लिये प्रत्येक मन्दिर और लाइब्रेरी में इस ग्रन्थराज को अवश्य मंगाना चाहिये। स्वाध्याय प्रेमियों को तो इसकी एक प्रति अपने पास रखना नितान्त आवश्यक है।

—नेमिचन्द्र जैन, शास्त्री न्यायज्योतिषतीर्थ

पूर्वपुराणं—रचयिता—हस्तिमल्ल; सम्पादक—प्रो० के० जी० कुंदणगार, राजाराम कालेज, कोल्हापुर; प्रकाशिका—श्रीमती रुक्मिणीबाई, कोल्हापुर; पृष्ठ-संख्या—१२+५५=६७; मूल्य—१); १९४३; छपाई-सफाई सुन्दर।

इस पूर्वपुराण के रचयिता कवि हस्तिमल्ल का दिगम्बर जैन समाज में एक खास स्थान है। क्योंकि इस समाज के दृश्य काव्य-[नाटक] सम्बन्धी साहित्य के अंग को पुष्ट बनाने का सारा श्रेय इन्हीं को प्राप्त है। इनके दो नाटक मा० दि० जैन ग्रन्थमाला, बम्बई की ओर से प्रकाशित भी हो चुके हैं। हस्तिमल्ल के इस कन्नड पूर्वपुराण या आदिपुराण को प्रकाश में लाकर श्रीयुत प्रो० कुंदणगारजी ने कन्नड-भाषा-भाषियों का बड़ा उपकार किया है। वास्तव में इसके उपलक्ष में मित्रवर कुंदणगारजी विशेष धन्यवाद के पात्र हैं।

दुर्भाग्यवश प्रो० सा० को इस ग्रन्थ के प्रारम्भ के दो पृष्ठ नहीं मिले हैं। साथ ही साथ प्राप्त इस प्रति के प्रथम पर्व का पाठ भी बहुत अशुद्ध रहा। विद्वान् संपादक ने प्रारंभ के दो पृष्ठों की पूर्ति तो आदि पंप का आदि-पुराण एवं अभिनव पंप की रामायण इन दोनों के आधार से की है और प्रथम पर्व के अशुद्ध पाठ को नीचे रखकर उसका शुद्ध पाठ अपनी ओर से ऊपर दे दिया है। इस प्रकार प्रस्तुत संस्करण काफी सुन्दर बन गया है। इसमें सन्देह नहीं है कि कुंदणगारजी ने इसके संशोधन में पर्याप्त परिश्रम किया है। फिर भी कहीं से इसकी दूसरी कोई शुद्ध प्रति मिल जाती तो संभव था कि यह और भी सुन्दर प्रकाशित होता।

इस ग्रन्थ में कुल दश पर्व हैं। इसमें प्रारंभ के सात पर्वों में भगवान् आदिनाथ की भवावलियां एवं शेष तीन पर्वों में उनकी पवित्र जीवनी वर्णित हैं। इसके प्रत्येक पर्व के प्रारंभ में आचार्य जिनसेन के पूर्वपुराण का प्रारंभिक मंगल-पद्य ही मिलता है। बल्कि श्रीपुराण में भी यही बात देखने में आती है। कवि ने अपने ग्रन्थ का नाम भी श्रीजिनसेन के पूर्वपुराण के समान पूर्वपुराण ही दे रक्खा है। फिर भी विज्ञ संपादक का कहना है कि यह ग्रन्थ महाकवि पंप के आदिपुराण से साम्य रखता है। ग्रन्थ की भाषा प्रौढ़ है। इससे कवि की 'उभयभाषाकविचक्रवर्ती' यह उपाधि सार्थक सिद्ध होती है।

हस्तिमल्ल ने अपने आश्रयदाता पाण्ड्यमहीश्वर का कोई नाम नहीं दिया है। सिर्फ इतना ही मालूम होता है कि वे थे तो पाण्ड्यदेश के राजवंश के, परन्तु कर्णाटक में आकर राज्य करने लगे थे। दक्षिण कन्नड जिले के कार्कल में उन दिनों पाण्ड्यवंश का ही शासन रहा। यह राजवंश जैनधर्मानुयायी था और इसमें अनेक विद्वान् तथा कलाकुशल राजा भी हुए हैं। 'भव्यानन्द' के कर्ता भी अपने को सिर्फ पाण्ड्यक्ष्मापति ही लिखते हैं, कोई विशेष नाम नहीं देते। कार्कल में शासन करने वाला पाण्ड्यवंश पांबुच्च (मैसूर) में राज्यक

करने वाले जिनदत्तराय का वंशज था। मेरा खयाल है कि हस्तिमल्ल के आश्रयदाता पाण्ड्यराज इसी वंश के रहे होंगे। बल्कि श्रीयुत पं० नाथूरामजी प्रेमी ने भी 'जैनसाहित्य और इतिहास' नामक अपनी सुन्दर रचना में मेरे इस अनुमान का समर्थन किया है। हां, इसके अन्तिम निर्णय के लिये हस्तिमल्ल की कृतियों में प्रयुक्त पाण्ड्यराजधानी 'सारण्यपुर' तथा 'संततगम' इन दोनों की खोज परमावश्यक है।[१]

कवि के कालनिर्णय के प्रकरण में सम्पादक ने जहां पर स्वर्गीय आर० नरसिंहाचार्य का मत उद्धृत किया है, वहां पर थोड़ी सी भूल हो गई है। इससे तो सिद्ध होता है कि नरसिंहाचार्य हस्तिमल्ल को इस आदिपुराण के कर्ता नहीं मानते थे। परन्तु वास्तव में उनका मत इससे विपरीत था। उन्होंने भी हस्तिमल्ल को ही आदिपुराण का कर्त्ता अनुमान किया था। दूसरी बात है कि मेरे खयाल से 'सज्जनचित्तवल्लभ' के कर्त्ता मल्लिषेण ही हैं, न कि संपादक के कथनानुसार यह हस्तिमल्ल।

अन्त में मुझ सम्पादक को फिर एक बार धन्यवाद दिये देता हूं कि जिन्होंने इस सुन्दर संस्करण को जनता के समक्ष उपस्थित कर बड़ा उपकार किया है। साथ ही साथ इसकी प्रकाशिका श्रीमती रुक्मिणी बाई एवं प्रेरक पूज्य स्वस्तिश्रीमुनि देशभूषण महाराज भी कम धन्यवाद के पात्र नहीं हैं। आशा है कि कर्णाटक-जनता इस सुन्दर ग्रन्थ से अवश्य लाभ उठायेगी।

—के० भुजबली शास्त्री

आदर्श महिला पं० चन्दाबाई—लेखक—पं० परमानन्द जैन शास्त्री; प्रकाशिका—महिलाभूषण पं० व्रजबालादेवी, जैनबालाविश्राम, आरा; मूल्य १।।।); पृष्ठ-संख्या—प्रायः तीन सौ; छपाई-सफाई सुन्दर।

पं० चन्दाबाईजी एक आदर्श महिला हैं। आप जैन ही क्यों, अजैन हिन्दुओं में भी अपनी साहित्यिक साधनाओं तथा लोकहित की भावनाओं द्वारा प्रसिद्धि पा चुकी हैं। आप का जीवन तपाया हुआ सोना है, यह बात किसी से छिपी नहीं है। ज्ञात होता है, आप अपने तपःपूत जीवन को किसी चिर सत्य की ओर अग्रसर करतीं निर्बाध गति से चली जा रही हैं। आत्म-सिद्धि के लिए लोक-कल्याण-साधन भी अत्यन्त अपेक्षित है, इसे आपने समझ लिया है। तभी तो बालाविश्राम द्वारा आप मन, वचन और कर्म से कितने ही लौकिक जीवों को पारलौकिकता का पाठ पढ़ाती रहती हैं!

इस ग्रन्थ में पंडिताजी के उद्देश्यों आत्मानुभूतियों तथा उदार भावनाओं का अच्छा परिचय मिल जाता है। साथ ही किन किन कुलों को आपने पावन किया है, किन किन

१ विशेष के लिये देखें मेरे 'प्रशस्ति-संग्रह' पृष्ठ १०३

प्रतिष्ठित संस्थाओं ने आप को सम्मानित किया है तथा आप की सेवाओं से किन किन लोगों ने लाभ उठाया है, इत्यादि बातों का भी दिग्दर्शन हो जाता है। ग्रन्थ में अनेक चित्रों द्वारा रोचकता भी लायी गयी है।

लेखक महाशय सुयोग्य प्रतीत होते हैं, किन्तु प्रकरणों में उचित क्रमबद्धता नहीं की जा सकी है। मालूम होता है, सामयिक पूर्वापर के विचार से वृत्तों का संकलन किया गया है। आत्मीयों का परिचय संक्षिप्त रूप में होता, तो अच्छा था। 'जैनमहिलादर्श का सम्पादन' शीर्षक प्रकरण में अभी और प्रकाश डाला जा सकता था। खैर, इस जीवनी में सामयिक पूर्वापर-द्वारा चरित-विभाग न कर विषयविभाग द्वारा प्रकरण बनाये जाते, तो ग्रन्थ अधिक सुन्दर होता। कारण कि आजकल का पाठक किसी जीवन-चरित को पढ़ कर चरितनायक की कुल बातें जानकर ही सन्तोष नहीं कर लेता। वह चाहता है कि लेखक आलोचनात्मक शैली द्वारा भिन्न-भिन्न पहलुओं से चरित-सम्बन्धी घटनाओं तथा विशेषताओं को वर्ग-बद्ध कर दे, ताकि हमें कुछ ढूँढ़ना न पड़े; प्रत्युत सजी सजायी वस्तुएँ मिल जायँ। उपर्युक्त शैली का अवलंबन न करने से ही कहीं-कहीं विषय की पुनरुक्तियाँ आ गयी हैं।

भाषा व्याख्यानात्मक है। जहाँ तहाँ व्याकरण और प्रूफ की अशुद्धियाँ भी हैं। समर्पण के श्लोक सदोष हैं। तथापि पुस्तक की उपादेयता और सुन्दरता के समक्ष ये दोष नगण्य हैं। आशा है, दूसरे संस्करण में सुधार हो जायगा।

मैं जोरदार शब्दों में कहूँगा कि पुस्तक अवश्य संग्रहणीय है। पण्डिताजी के आदर्श पथ पर चल कर कितनी ही नारियाँ अपना कर्त्तव्य निर्णय कर सकतीं तथा जीवन को एक सधे हुए साँचे में ढाल सकती हैं।

—कमलाकान्त उपाध्याय, व्याकरण-साहित्य-वेदान्ताचार्य

जैनसाहित्य और इतिहास—पृष्ठ-संख्या २०+६१५; कागज उत्तम; छपाई सुन्दर एवं विशुद्ध; जिल्ददार; मूल्य ३ रुपये; प्रकाशक हेमचन्द्र मोदी; प्राप्तिस्थान — हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर-कार्यालय, हीराबाग, गिरगाँव, बंबई।

यह वही पुस्तक है जिसे अस्तंगत "जैन हितैषी" एवं वर्तमान "माणिक्यचन्द्र-ग्रन्थमाला" के यशस्वी तथा सुबुद्ध संपादक श्रीमान् पं० नाथूराम प्रेमीजी ने लिखा है। मेरी समझ में इस पुस्तक के गुण-दोषों पर विचार करने की शक्ति उसी की होगी, जिस जैन विद्वान् ने अपने साहित्य, इतिहास तथा पुरातत्त्व की समधिक अभिज्ञता प्राप्त की है। और वही इसकी समालोचना करने का प्रमुख तथा प्रकृत अधिकारी हो सकता है। इन गुणों में से एक भी गुण मुझ में नहीं। अतएव मैं इसकी आलोचना करने का अधिकारी नहीं। किन्तु सुहृद्वर पं० के० भुजबली शास्त्रीजी विद्याभूषण का अधिक अनुरोध और उसका

उल्लङ्घन करने का साहसाभाव, इन दो कारणों ने इस पुस्तक की कुछ बातों का उल्लेख-मात्र कर देने को मुझे विवश किया है।

इस पुस्तक में जैन साहित्य और इतिहास का गंगा और सरस्वती के समान सुन्दर सुप्रशस्त संगम है। इसमें निम्नाङ्कित विषयों का बड़ा ही पाण्डित्य एवं गवेषणापूर्ण विवेचन किया गया है :—

लोक-विभाग और तिलोयपण्णत्ति, आराधना और टीकायें, यापनीय साहित्य की खोज, सोमसूरि का नीतिवाक्यामृत, देवनन्दि और उनका जैनेन्द्रव्याकरण, पण्डित आशाधर, शाकटायन और उनका शब्दानुशासन आदि ४६ ग्रन्थ और ग्रन्थकर्त्ता। इनके अतिरिक्त ६ अप्राप्य ग्रन्थ। "छान-बीन" शीर्षक के अधस्तन संघी, संघवी, सिंघई, साधु, साहु, पति-पत्नी के समान नाम, साधुओं का बहु-पत्नीत्व, शूद्रों के लिये जिन-मूर्त्तियाँ, यज्ञोपवीत और जैनधर्म, जैनधर्म अनीश्वरवादी है आदि १२ विषय। 'परिशिष्ट' शीर्षक में लगभग १० ग्रन्थ और कुछ ग्रन्थों की साहित्यिक एवं ऐतिहासिक पद्धति-द्वारा संक्षिप्त तथा समीचीन समालोचना। "नामसूची" शीर्षक के ४१ पृष्ठों में ग्रन्थों, ग्रन्थकारों संघ, गोत्र, स्थल, क्षेत्र और राजाओं के जितने भी नाम इस पुस्तक में आ गये हैं, वे सब के सब पृष्ठ-संख्या के साथ अक्षरानुक्रम से दे दिये गये हैं।

नौ पृष्ठों में पुस्तक का परिचय (Introduction) बड़ी योग्यतापूर्वक प्रो० डा० ए० एन० उपाध्ये एम० ए० ने अंग्रेजी में लिखा है। दो पृष्ठों में प्रो० हीरालालजी जैन एम० ए० ने संक्षेप में भारतीय इतिहास का अभाव, खासकर जैन संस्कृति के इतिहास की दुर्दशा एवं इसे सुदशा में परिणत करने के लिये प्रेमीजी के अदम्य अध्यवसाय तथा चिरचिन्तन का चित्र बड़े सुन्दर ढंग से चित्रित किया है। "लेखक की ओर से" इस शीर्षक-द्वारा इस पुस्तक के प्रादुर्भाव का आद्योपान्त संक्षिप्त इतिहास और इस सदनुष्ठान में सहयोगदाताओं के प्रति हार्दिक कृतज्ञता-ज्ञापन किया गया है। प्रकाशक [अब स्मरणशेष स्व० हेमचन्द्र] ने अपनी माता की मृत्यु के समय अपने पूज्य पिता प्रेमीजी के द्वारा निकाले गये दो हजार रुपयों से इस पुस्तक के प्रकाशन का शुभानुष्ठान और इसकी आय से पुनः ऐसी ही किसी सत्कृति के प्रकाशन की सदिच्छा से कागज के ऐसे अतर्क्य और अचिन्त्य दौर्लभ्य के समय में भी इस पुस्तक की इतनी कम कीमत प्रचार-बाहुल्य के विचार से रक्खी गयी है—यों दिग्दर्शन कराया है। आशा है कि धर्मप्राण साक्षर एवं निरक्षर जैन जनता अपने इतिहासगत निष्प्राण तथा निर्जीव समाज को मुखोज्ज्वल करने के लिये प्रेमीजी की इस पुस्तक को शीघ्र से शीघ्र हाथों हाथ खरीद कर इन्हें ऐसा ही कोई जैन इतिहास-रत्न लिखवाने को बाध्य करेगी। क्या ही अच्छा हो यदि दानवीर शान्तिप्रसाद जी जैन इसको बहुसंख्यक प्रतियां

सम्पादक की ओर से

आत्रेयगोत्रीय, जैन-विप्रोत्तम, पण्डितमुनि के शिष्य, पिरियपट्टण के निवासी, करणिकतिलक देवप्प के पुत्र, सोलहवीं शताब्दी के कवि दोड्डय्य का यह भुजबलिचरित भुजबलिशतक के नाम से भी प्रसिद्ध है। इस लघु कलेवर सुंदर संस्कृत काव्य में कवि ने पुराणप्रसिद्ध श्रीबाहुबली अथवा भुजबली की मैसूर राज्यान्तर्गत श्रवणबेल्गोलस्थ, लोक-विख्यात, आश्चर्यकारी, अलौकिक, अनुपम, दिव्य मूर्ति के इतिहास को सजीव ढंग से अंकित किया है। इस ऐतिहासिक रचना से इतिहासविशारद तो बहुत दिनों से परिचित थे। परंतु अप्रकाशित रहने से यह अभी तक सर्वसाधारण जनता के समक्ष न आ पाया था। गत मार्च में मूडबिद्री से प्रसिद्ध अन्वेषक विद्वान् मित्रवर एम० गोविंद पै से मिलने के लिये जब मैं मंजेश्वर गया तब इस कृति की अपने पास की हस्तलिखित प्रति मुझे दिखलाकर पै जी ने इसे जैन सिद्धांत-भास्कर में प्रकाशित करने के लिये मुझसे कहा। प्रति को तो मैं ले आया। किंतु पै जी की यह प्रति बहुत अशुद्ध थी। इधर-उधर दो-चार जगह लिखने पर भी जब इसकी दूसरी प्रति नहीं मिली तब गत्यंतराभाव से पै जी की प्रति के आधार पर ही भास्कर की गत किरण में 'चरित' के चार पृष्ठ दे दिये गये थे।

चार पृष्ठों के प्रकाशित होने के बाद मालूम हुआ कि सुहृद्वर एच० शेष अय्यंगार मद्रास के पास भी इसकी एक प्रति मौजूद है। तुरंत उसे मंगाकर मैंने देखा। उसके देखने से ज्ञात हुआ कि यों तो दोनों प्रतियां एक ही आदर्श प्रति की प्रतिलिपियां हैं, पर अय्यंगारजी की प्रति के लेखक पै जी की प्रति के लेखक की अपेक्षा अधिक सुबुद्ध हैं। इसलिये दोनों के आधार से पूर्व प्रकाशित पृष्ठों को फिर संशोधित कर इस किरण में प्रारम्भ से ही चरित समग्र दे दिया गया है। संशोधन में पर्याप्त परिश्रम किया गया है। फिर भी यत्र-तत्र त्रुटियां रह गई हैं। ये त्रुटियां किसी शुद्ध प्रति की प्राप्ति के बिना नहीं जा सकतीं। इसमें कोष्ठक में जो पाठ दिये गये हैं वे मेरे हैं। बल्कि जहां आवश्यक समझा गया है वहां अपनी ओर से कुछ फुटनोट भी लगाये गये हैं। यों तो साहित्यिक दृष्टि से ग्रंथ उत्तम है। हां, रचयिता ने जहां-तहां यति पर ध्यान नहीं दिया है। एक दो स्थानों में गण दोष भी है। व्याकरण सम्बन्धी बड़ी-बड़ी भूलों पर प्रश्नान्त चिह्न और साधारण भूलों पर आवश्यक टिप्पणियां दे दी गई हैं। ग्रन्थ में कहीं-कहीं बड़े सुंदर ढंग से अलंकारों का समावेश है। विषय के अनुसार भाषा में प्रसाद गुण का प्रवाह है। इतिहास की दृष्टि से तो ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है ही। बल्कि इसी दृष्टिकोण से इसे भास्कर में स्थान दिया गया है।

अंत में मैं प्रतिप्रदान करनेवाले पै जी एवं अय्यंगार जी को हृदय से धन्यवाद देता हूँ। अय्यंगार जी ने संशोधन में भी मुझे सहायता की है। संशोधन में मुझे और एक विद्वान् मित्र से मदद मिली है। वह हैं व्या० सा० वेदा० आचार्य पं० कमलाकांत जी उपाध्याय। मैं उनका भी आभारी हूँ। श्रीमान् पैजी को मैं फिर एकबार धन्यवाद दिये देता हूं जिनकी असीम कृपा से यह ऐतिहासिक कृति विज्ञ पाठकों के समक्ष आ सकी। —के० भुजबली शास्त्री

भुजबलिचरितम्

श्रीमोक्षलक्ष्मीमुखपद्मसूर्यं नाभेयपुत्रं वरदोर्बलीशम् ।
नत्वादिकामं भरतानुजातं तस्य प्रशस्तां सुकथां प्रवक्ष्ये ॥१॥
आनन्त्याकाशमध्ये त्रिजगदनिलतः सन्ति[1] तन्मध्यलोके
सन्ति द्वीपाब्धिवृन्दाः सद्वलयिता वारदाद्यावृतोऽसौ ।
जम्बूद्वीपोऽस्ति तस्मिन् कनकगिरिवरो भाति तद्दक्षिणस्या-
माशायामस्ति भास्वद्भरतवरुषको मध्यगस्तारशैलः ॥२॥
तच्छैलामलपुष्पलिट्पद इव प्रोद्भासमानं सदा
गंगासिंधुनदीविभागविलसत्षट्खण्डभूमण्डलम् ।
आर्या (?) खण्ड इति त्रिषष्ठिसुशलाकापूरुषोत्पत्तिनै-
मित्तो भात्युपलावणाब्ध्युपनदीभिः पञ्चखण्डात्मिका [पञ्चखण्डात्मकः] ॥३॥
तत्खण्डपद्म...............उदग्रदेशाः
तत् कर्णिकाद्राविडनामदेशो भातीह सौभाग्यरथाधिवासः ॥४॥
तद्देशलक्ष्मीमुखमण्डलेव भाति प्रशस्ता मधुरा पुरी सा ।
तां रक्षति क्षत्रललामकोऽसौ श्रीराज [च] मल्लक्षितिपाग्रगण्यः ॥५॥
श्रीदेशीयगणाब्धिपूर्णमृगभृच्छ्री [सिंह] नन्दिव्रति-
श्रीपादाम्बुजयुग्ममत्तमधुपः सम्यक्त्वरत्नाकरः ।
श्रीमज्जैनमताब्धिवर्धनसुधासूतिर्महीमण्डले
पौलोमीश्वरवैभवो विजयते श्रीराज [च] मल्लो विभुः ॥६॥
आहारादिचतुर्विधोत्तममहादानानुरक्तः सदा
सर्वज्ञोदितदिव्यशास्त्रसुकलावाराशिपारंगतः ।
भास्वज्जैननिवासजैनवरबिम्बोद्धारधौरेयको
रेजे सद्गुणभूषणो बुधनुतः श्रीराज [च] मल्लो नृपः ॥७॥

---

१ बहुवचनश्चिन्तनीयम् ।

अद्रौ रत्नगणायते सुरसरिन्मध्येऽरुणाब्जायते
दिङ्नागव्रजमस्तके रुचिरसिन्दूरायते सम्प्रति ।
दिक्कान्ताकुचमण्डले घसृणसत्पुञ्जायते शौर्येण
त्वत्तेजो वरराज [च] मल्लनृपते रन्येऽप्य [वन्येष्व] शोकायते ॥८॥
स्नात्वा देवापगायां सुरुचिरविलसच्चन्द्रिकाशुभ्रवस्त्रम्
धृत्वा नक्षत्रमुक्ताभरणममलिनं भूषयित्वा विशुद्ध्या ।
स्वर्धेनुक्षीरधारादरकुजकुसुमैः पुष्पवृष्टिं करोति
त्वत्कीर्त्तिप्रेयसी............श्रीराज [च] मल्लक्षितीन्द्र ॥९॥
१
त्वन्मूर्त्तिः सुरपादपस्तव भुजस्तज्जातशाखात्मकः
तव करांगुल्यः स्वर्धेनुस्तनाः............
त्वद्बुधावल्यनखांकुराः सुरसुमास्त्वद्वाचि सिद्धोरसः
त्वद्वाक्यं तु सुधैव दानसमये हे राज [च] मल्लप्रभो ॥१०॥
तस्यामात्यशिखामणिस्सकलवित् सम्यक्त्वचूडामणिः
भव्याम्भोजवियन्मणिस्सुजनवन्दिव्रातचिन्तामणिः ।
ब्रह्मक्षत्रियवंशशुक्तिसुमणिः कीर्त्यौघमुक्तामणिः
पादन्यस्तमहीशमस्तकमणिश्चामुण्डभूपाग्रणीः ॥११॥
प्रभातकाले नृपराज [च] मल्लः स्नात्वा च मानादिकसत्क्रियाश्च ।
कृत्वा जिनेन्द्रं परया च भक्त्या स्तुत्वा महालंकृतवान् [महालंकृतिमान्] बभूव ॥१२॥
मणिप्रभामण्डितसिंहपीठेऽप्यास्थानमध्यप्रविभासमाने ।
अतिष्ठदुद्यद्दिवसाधिपोसाविव प्रपूर्वाचलशेखरस्थः ॥१३॥
अमात्यचूडामणिना नृपोऽसौ चामुण्डनाम्ना सह सत्सभायाम् ।
वाचस्पतिव्यक्तसुरेन्द्रशोभां चकार सर्वावसराख्यकायाम् ॥१४॥
कश्चिद्वणिग्वंशललामकोऽस्य प्रविश्य राज्ञश्च सभान्तरालम् ।
महीतलालिङ्गितविग्रहस्सन प्रणम्य चोवाच कथां सुवार्ताम् ॥१५॥
सदुत्तरस्यां दिशि पौदनाख्या पुरी विभाति त्रिदशाधिपस्य ।
पुरप्रभास्वत्प्रतिबिम्बितादर्शमेव जैनक्षितिमण्डलेऽस्मिन् ॥१६॥

१ अत्र मात्रादोषः ।

तत्पत्तने श्रीभरतेश्वरेणादिब्रह्मपुत्रेण कुलंकरेण ।
राजर्षिणा चादिमचक्रिणा स [सु] निर्मापितं बाहुबलीन्द्रबिम्बम् ॥१७॥
पञ्चसप्ततिविहीनषट्शतप्रोद्धचापसमविग्र [हाश्वि] तः ।
चारुबाहुबलिविग्रहश्च कर्केतनोपलविराजितो भुवि ॥१८॥
पश्यतीव हसतीव सुवाक्यं जल्पतीव सदकृत्रिमबिम्बम् ।
तिष्ठतीव वरपौदनपुर्यां भाति बाहुबलिसुप्रतिमाऽसौ ॥१९॥
श्रीगुम्मटाभिनवनामविराजितोऽसौ
श्रीबाहुबल्युरुतरप्रविभासमानः ।
श्रीचारुसत्प्रतिकृतिर्नयनद्वयस्य
मूर्तीयमानहरिताद्रिरिवोरु [वेह] भाति ॥२०॥
अकृत्रिमार्हत्प्रतिमापि कायोत्सर्गेण भातीव सुकामधेनुः ।
चिन्तामणिः कल्पकुजः पुमानाकृतिं विधत्ते जिनबिम्बमेतत् ॥२१॥
श्रीपादचारुनखजानुसदूरुयुग्म-
नेत्रं नितम्बवलिनाभिसुहस्तवक्षः ॥
कण्ठास्यकर्णलसदोष्ठसुनासिकाक्षि-
भ्रूभालकुन्तलमहो जिनपुंगवस्य ॥२२॥
पदादिदोरन्तिमवेष्टिता सद्वल्ली महाबाहुबलेर्जिनस्य ।
आकर्षणार्थं वरमोक्षलक्ष्म्या त्यक्ताब्जवल्लीव सदा विभाति ॥२३॥
इत्थं जिनेन्द्रप्रतिमाप्रभावं श्रुत्वातिहृष्टो नृपराज [च] मल्लः ।
चामुण्डराजोऽपि तथातिहृष्टः सम्यक्त्ववरत्नाकरपूर्णचन्द्रः ॥२४॥
तदा नमस्कृत्य तमेव भूप सभान्तरालात्स्वगृहं प्रविश्य ।
तद्वृत्तकं मातुरवोचदेतच्छ्रुत्वा तदानन्दवती बभूव ॥२५॥
सुतेन साधं वरकालिकाम्बा गत्वा जिनाधीशगृहं त्रिशुद्ध्या ।
स्तुत्वा जिनेन्द्रं स्वगुणैर्गुरुश्च श्रीसिंहनन्द्यार्यमुनिं प्रणम्य ॥२६॥
श्रीभूभृद्राज [च] मल्लव्रतगुरुरमलः सत्तपश्शीलजालः
श्रीमद्देशीगणाम्भोरुहविकसनसामर्थ्यमार्तण्डबिम्बः ।
प्रोद्यद्वादीभसिंहः सकलगुणनिधिः सर्वशास्त्रस्य कर्ता
रेजे सिद्धान्तवेदी सुरनुतचरणः सिंहनन्द्यार्यवर्यः ॥२७॥

पश्चात्साजितसेनपण्डितमुनिं देशीगणाग्रेसरम्
स्वस्यापत्यसुबुद्धिवार्धिशशिनं श्रीनन्दिसंघाधिपम् ।
श्रीमद्भासुरसिंहनन्दिमुनिपांघ्र्यं भोजरोलंबकम्
चानम्याप्रवदत्[1] सुपौदनपुरीश्रीदोर्बलेर्वृत्तकम् ॥२८॥
तच्छ्रीबाहुबलीशचारुतरसद्बिम्बस्य संदर्शनम्
नो कृत्वा न पिबाम्यहं पय इति क्षीरव्रतं धारयेत् [धारये] ।
तद्योगीन्द्रपदाम्बुजातनिकटे चामुण्डभूपाग्रणीः
तत्क्षीरव्रतमप्यसौ गुणमणिः संधारयेत् [सोऽधारयत्] भक्तितः ॥२९॥
पुनर्नमस्कृत्य मुनीन्द्रपादं श्रीराज [च] मल्लं प्रतिगम्य भूपम् ।
मनोगतार्थं स बभाण तस्य प्रयाणयत्नश्च चकार गगात् ॥३०॥
श्रीसैद्धान्तिकचक्रिणा मुनिवरश्रीनेमिचन्द्रेण त-
च्छिष्याग्रेसरयोगिभिर्बुधजनैः सार्धं जनन्या सह ।
हस्तिव्रातरथाश्वपत्तिनिकरैः साकं प्रतस्थे शुभे [शुचौ]
लग्ने वाग्रवावृते दिशि पुरा चामुण्डपृथ्वीश्वरः ॥३१॥
मार्गे मार्गे यत्र यत्र प्रवासं चक्रे राजा तत्र तत्रार्हदीयम् ।
कृत्वा कृत्वा श्रीगृहं पूजयित्वा सेनाव्यूहं धन्यवन्तं चकार ॥३२॥
उत्तराभिगमनं विरचय्यागत्य केचिदपि [किंचिदपि] योजनमात्रम् ।
विंध्यशैलमपि सोऽपि ददर्श क्ष्मारमामुकुरकन्दुकमाम्यम् ॥३३॥
तच्छैलसानुनिकटे ललिताख्यचारुपद्माकरस्तदचलप्रभुदर्पणाभः ।
आभात्यसौ तदवनीधरपार्श्वदेशे सेनाव्रजश्च निवसेत् क्षितिपाग्रगण्यः ॥३४॥
ह्रस्वाद्रिस्तदवनिभृत्कुबेरकाष्ठायां तद्भूधरशिखरेऽस्ति जैनवासः ।
इत्येवं नृपतिशिखामणेरवोचत्कश्चित्किङ्कर उदधेर्गभीरकस्य ॥३५॥
श्रुत्वा तदा जिनगृहं प्रतिगम्य भक्त्या स्तुत्वा जिनेन्द्रवरबिम्बमधातवत्रम् ।
श्रीनेमिचन्द्रमुनिना सह भूमिपालो निद्रां चकार निशि तद्गृहमण्डपेऽसौ ॥३६॥
कूष्माण्डी तन्मुनीशस्य च तदवनीपालस्य तस्याम्बिकायाः
स्वप्ने चातुर्थयामेऽभणदनिकठिनो मार्ग इत्यग्र (?) गन्तुम् ।

---

१ पूर्वं धातुः साधनेन युज्यते, पश्चादुपसर्गेणेति व्यवहारः ।
२ अत्र परोक्षकालत्वमपेक्ष्यते ।

शैलेऽस्मिन्नावगोणेन विकृतभुजबल्युद्घबिम्बं प्रसन्ने
त्वं [त्वद्] भक्तिप्रेरितैः काञ्चनमयविशिखैर्जायते तेऽद्य भूप ॥३७॥
दृष्ट्वा शुभस्वप्नमपि क्षितीशः सुप्रातरुत्थाय जिनं प्रणम्य ।
गुरुञ्च नत्वा जननीं प्रवंद्य स्वप्नं ददर्शेति बभाण दिव्यम् ॥३८॥
तद्वत्सुस्वप्नमावाभ्यां दृष्टं तत्फलकारणम् ।
यत्नं कुरु नृपालेति[1] बभाण मुनिपुंगवः ॥३९॥
स्नात्वालंकारयित्वा मुनिपतिनिकटे चोपवासञ्च कृत्वा
दाक्षिण्याशाननः सन् समपदयुगलः कार्मुकात् स्वर्णबाणान् ।
सद्भक्त्यैकैककाले प्रकिरति सति संघट्टनाच्छैलमध्ये
त्रैलोक्याश्चर्यमानं भुजबलिजिनपं संददर्श क्षितीन्द्रः ॥४०॥
चामुण्डराजनृपतेश्च तदम्बिकाया भक्तेश्च पौदनपुरस्थितगुम्मटेशः ।
एतद्गिरीन्द्रलमदग्रमहाशिलायां प्रत्यक्षवानिव विभाति जिनेश्वरोऽसौ ॥४१॥
फणिगणमुखनिःश्वासस्फुरद्धूमलेखाफणमणिगणदीप्तिस्तोमनीराजनञ्च ।
परिवृतवरवल्लीसत्कगभ्यां शतेन्द्रप्रणुतभुजबलीशस्याद्रिराजः करोति ॥४२॥
द्विःपञ्चतालसमलक्षणपूर्णगात्रो विंशच्छरासनसमोन्नतभासमूर्त्तिः ।
सन्माधवीव्रत [ति] नागलसत्सुकायः सद्यः प्रसन्न इति बाहुबली बभूव ॥४३॥
अष्टाधिक्यसहस्रकुम्भनिभृतैः सन्मन्त्रपूतात्मकैः
कर्पूरोत्तमकुंकुमादिविलसद्गंधच्छटामिश्रितैः ।
गंगाद्युद्घजलैरशेषकलिलोत्सन्तापविच्छेदकैः
श्रीमद्दोर्बलिमस्तकाभिषवणं चक्रे नृपाग्रेसरः ॥४४॥
पीयूषवत्साधुकरैरनिंद्यैश्चोचोद्भवैः सारतरैर्जलौघैः ।
श्रीगुम्मटाधीश्वरमस्तकाग्रे स्नानं चकार क्षितिपाग्रगण्यः ॥४५॥
नालिकेरकुसुमावृतमूर्त्तिर्भासमानवरबाहुबलीशः
माधवीविलसदुद्गममालाच्छन्नकल्पविटपीव विभाति ॥४६॥
सौरभ्यसुस्वादुसुपक्वरम्भाफलोत्करैश्चूतरसप्रवाहैः ।
पुण्ड्रेक्षुजम्ब्वादिरसैः सुपूज्यैः शिरोऽभिषेकं जिनपस्य चक्रुः ॥४७॥

---

[1] अत्र व्याकरणाशुद्धिः ।

सन्तप्तसौरभ्यसुवर्णधारा इव प्रपिंगाभतडित्समूहः ।
इव प्रपूज्याज्यमहाप्रवाहः श्रीगुम्मटेशस्य विभाति शैले ॥४८॥
श्रीमोक्षलक्ष्मीविलसत्कटाक्षविक्षेपलीलामपहास्यमानाम् ।
सत्क्षीरधारामभृतोपमानां जिनस्य मूर्ध्नि प्रचकार भूपः ॥४६॥
अदभ्रभास्वच्छरदभ्रशुभ्रभ्राजिष्णुसत्सान्द्रदधिप्रपूरैः ।
श्रीबाहुबल्ल्युद्धतरोत्तमांगे स्नानं चकार क्षितिपः सुभक्त्या ॥५०॥
चतुष्कोणकुम्भस्थसद्वारिपूरैश्चतुस्संघमध्ये जिनेन्द्राभिषेकम् ।
चतुस्सागरान्तं सुकीर्त्तिं विकीर्य चतुर्वेदपारंगतोऽखण्डभूपः ॥५१॥
गंधद्रव्यसमन्वितोत्तमलसत्पिष्टातकैर्भासुरैः
लाजाराजिभिरुद्घकुंकुमलसत्कर्पूरसम्मिश्रितैः ।
सद्गंधैः स्नपनं रचय्य[1] [विधाय] विलसत्पुष्पौघवृष्टिं ततः
चक्रे बाहुबलीशमस्तकतटे चामुण्डराजाधिपः ॥५२॥
सलिलसुगंधैः सदक्षतकुसुमैर्वरचरुदीपसुधूपफलौघैः ।
निरुपमभक्त्या व्यकरोत्पूजां भुजबलिजिनपं नृपकुलतिलकः ॥५३॥
सदर्घ्यैः सुशान्तिप्रधाराप्रवाहैः सुपुष्पाञ्जलिक्षेपकैर्दोर्बलीशम् ।
तदा पूजयित्वा नुतिं कारयित्वा[2] सुधन्योऽभवद्भव्यचामुण्डभूपः ॥५४॥
कल्यब्दे (कल्क्यब्दे) षट्शताख्ये विनुतविभवसंवत्सरे मासि चैत्रे
पञ्चम्यां शुक्लपक्षे दिनमणिदिवसे कुम्भलग्ने मनोज्ञे ।
सौभाग्याख्यानुयोगे मृगशिर (?) भगणे सुप्रशस्तां चकार
श्रीमच्चामुण्डराजो बेलगुलनगरे गोम्मटेशप्रतिष्ठाम् ॥५५॥
संतेशेवर-दव्वेघट्ट-नविलूरबक्काग्रहारानिति
ग्रामान् कग्गेरे-नुग्गिहल्लि-दिड्डगान् कौबेरदिग्वर्तिनः ।
धाराशासनपूर्वकं बेलगुलश्रीगुम्मटेशाय तान्
दत्त्वाश्नाति सदा सुरेन्द्रविभवं चामुण्डभूपालकः ॥५६॥
कणकूर-स्थलबाचिहल्लि-दड्डगान् दोड्डावलं-कंडगं
वरहोन्नावर-मत्तिघट्टहिरियूर्बेल्लूरु कंभापुरम् ।

१ उपसर्गपूर्वकत्वाभावात् ल्यप् चिन्तनीयः ।
२ अत्र स्वार्थे णिच् ।

कलितं प्राग्दिशि वैभवाय विदधे श्रीगुम्मटार्हत्पते-
स्तरणीन्दुस्थिरशासनाद्वरयुतान् चामुण्डपृथ्वीश्वरः ॥५७॥

किक्केरीस्थल-धर्मनिंगल-लसत्कुण्दूरु-सारंगि-ना-
मग्रामान् वरसिन्धघट्ट-पुर-भास्वद्धारतीपत्तनम् ।
याम्यायां दिशि वर्ति शक्रविनुतश्रीगुम्मटार्हत्पते-
र्नित्यश्रीबलिवैभवाय विदधे चामुण्डभूपाग्रणीः ॥५८॥

कोणनूरस्थलजन्निवारएरेयूर्बागूरुसिद्धापुरम्
सवणूर्दन्तितटाकमाधवपुरं चांभःपतेर्दिग्युतम् ।
धरणीमण्डलचन्द्रसूर्यनिरतश्रीशासनं बेल्गुला-
चलभास्वज्जिनगुम्मटाय विदधे चामुण्डधात्रीश्वरः ॥५९॥

भास्वद्देशीगणाग्रेसरसुरुचिरसिद्धान्तवन्नेमिचन्द्र-
श्रीपादाग्रे सदा षण्णवतिदशशतद्रव्यभूग्रामवर्यान् ।
दत्त्वा श्रीगुम्मटेशोत्सवतररथनित्यार्चनावैभवाय
श्रीमच्चामुण्डराजो निजपुरमधुरां संजगाम क्षितीशः ॥६०॥

सिद्धान्ताम्भोधिचन्द्रः प्रणुतपरमदेशीगणाम्भोधिचन्द्रः
स्याद्वादाम्भोधिचन्द्रः प्रकटितनयनिक्षेपवाराशिचन्द्रः ।
एनश्चक्रौघचन्द्रः परमतकमलव्रातचन्द्रः प्रशस्तो
जीयाद्ज्ञानाब्धिचन्द्रो मुनिपकुलवियच्चन्द्रमा नेमिचन्द्रः ॥६१॥

सिद्धान्तामृतसागरं स्वमतिमंथक्ष्माभृदोन्मथ्य सं-
लेभेऽभीष्टफलप्रदानपि सदा देशीगणाग्रेसरः ।
श्रीमद्गुम्मटलब्धिसारविलसत्त्रैलोक्यसारामर-
क्ष्माभृश्रीसुरधेनुचिन्तकमणिः श्रीनेमिचन्द्रो मुनिः ॥६२॥

श्रीनेमिचन्द्रमुनिना सह कालिकाम्बया सार्द्धमिन्द्रविभवेन पुरीं निजाश्च[1] ।
भेरीमृदंगवरपूरितदिक्तटेन चामुण्डराजनृपतिः प्रविशत् प्रमोदात् ॥६३॥

श्रीमान् स्वस्य पतिं प्रणम्य नृपतिं श्रीराज [च] मल्लं वदे-[2]
च्छ्रीमत्पौदनपत्तनस्थितमहादेवोऽत्र विन्ध्याचले ।

---

१ अत्र अडागमोऽपेक्ष्यते । २ परोक्षकालमपेक्ष्यते ।

द्वैतीयाख्यकबेल्गुलावनिधरे कूष्माण्डिकारुण्यत-
श्चैत्यैवं जननीस्वभक्तिवशतो मे सुप्रसन्नोऽभवत् ॥६४॥
श्रीमन्नेम्यादिचन्द्रस्य च पदनिकटे गुम्मटेशस्य नित्य-
प्रोन्मासाब्दक्रियायै मुनिसमुदयनित्यान्नदानाय भक्त्या ।
लक्षार्धाधिक्यलक्षप्रचुरतरसुदीनारभूग्रामवर्यान्
ते पुण्यार्थं हि देव त्वददवनिपालेति चामुण्डभूपः ॥६५॥
भो धन्य मंत्रिन् वद साधु साधु भूयोऽपि वार्तां कुरु भूमिदानम् ।
नृपोऽवदज्जैनसुवैभवाय रायाभिधानश्च तवास्तु भूमौ ॥६६॥
श्रीगुम्मटेशचरणाम्बुजमत्तभृंगौ चामुण्डरायनृपशेखरराज [च] मल्लौ ।
भूमण्डलं त्वनुदिनं प्रतिपालयन्तौ सन्तौ च चारकुरु[चारुतर]कीर्तिलसत्प्रतापौ ॥६७॥
बल्लालक्षितिपस्य पूर्वभवसम्बन्धैरिह व्यन्तरै-
स्तं भूपं कवलायितुं घनतरं धूमस्फुलिङ्गं बिलम् ।
तत्सिंहासनभूतले सति कृते मिथ्याजनैर्भाषितम्
मेषादिव्रजरक्तमांसबलिना व्यापूर्यते तद्बिलम् ॥६८॥
हिंसाकृत्यं विशृण्वन् नरपतिरहह श्रोत्रयुग्मं कराभ्या-
माच्छाद्योवाच धर्मान्नहि भुवनतले वस्तु विघ्नापहारम् ।
तस्माद्धर्माभिवृद्धिर्मुनिजनवचनात्स्यात्तदा सर्वविघ्नान्
हन्त्येवं चिन्तयन् सन् निजपरमगुरुः पण्डितार्यः शरण्यः ॥६९॥
श्रीचारुकीर्तिप्रचुराभिधानश्रीपण्डितार्यपदाब्जयुग्मम् ।
प्रणम्य चानर्च्य जलादिभिश्च बल्लालभूपः प्रमुदा सुभक्त्या ॥७०॥
कार्यदक्षकर्मकार्यमेरुधैर्यवार्धिगांभीर्यकन्तुशौर्यहार्यदोर्युगप्रभावक ।
आर्यवन्द्यदुर्मदापहार्यवीर्यपण्डितार्यवर्य भव्यपद्मसूर्य पाहि मां सदा ॥७१॥
इत्यनेकगुणस्तोत्रैः स्तुत्वा नत्वा पुनः पुनः ।
प्राणापहारविघ्नाच्च रक्ष मां मुनिपुङ्गव ॥७२॥
योगीन्द्रः पादपीठानतनृपमुकुटे सद्यामूलचिह्नम्
पिञ्छं विन्यस्य तेऽस्तु प्रवरतरसुखावाप्तिसद्धर्मवृद्धिः ।
इष्टार्थास्सन्तु दुष्टग्रहसमुदितपीडाः प्रणाशं प्रयान्तु
श्रेयोलाभोऽपि भूयादिति मृदुतरगंभीरवाक्यैरुवाच ॥७३॥

इत्याशीर्वचनामृतं मुनिगणाधीशास्यचन्द्रोद्भवम्
श्रीभास्वत्सुमनस्सुसेव्यमनघं शाश्वत्तमोभञ्जनम् ।
विघ्नोद्दामनिदाघसूर्यकिरणज्वालाकलापार्तितो-
बल्लालावनिभृच्चकोरविहगः पीत्वातिहृष्टोऽभवत् ॥७४॥
सर्वज्ञोदितदिव्यमन्त्रनिकरैर्बीजाक्षराकल्पकैः
कूष्माण्डानभिमन्त्र्य भीकरतरं बल्लालभूभृत्पतेः ।
आस्थानस्य बृहद्बिलं ग्रहकृतं व्यापूरयित्वा स्थितम्
तन्मध्ये हरिविष्टरं विरचयित्वा[1]चार्यवर्यं रहो ॥७५॥
अंगवंगकलिंगमालवतौलवान्ध्रमहीशकैः
लाटखोटवराटमागधकुन्तलावनिपालकैः ।
सार्धमेव नृपालवंशललामको नरपालक-
श्चारुकीर्तिमुनिं प्रणम्य कृतार्थतामुपयात्यलम् ॥७६॥
श्रीमत्पण्डितदेवयोगिवृषभं प्राहुः सभापण्डिताः
शब्दे शेषसमः सुतर्कनिकरे स्कंदश्च वेदे विधिः ।
वाग्मित्वेऽपि शचीपतिः सुकविताशास्त्रेऽपि सद्भार्गवो-
वादित्वे गमके गुरुः सुरमुनिः साहित्यके शंकरः ॥७७॥
सिद्धान्तोक्तसुमंत्रतंत्रवरयंत्रोद्धारसामर्थ्यके
ज्योतिर्भेषजकल्पशिल्पभरतच्छन्दोऽङ्कसच्छास्त्रके ।
काव्यालङ्कृतिकामनाटकसुसंगीताभिधानादिके
त्वं सर्वज्ञ इति ब्रुवन्ति विबुधाः श्रीचारुकीर्तिव्रतिन् ॥७८॥
माध्वद्वैदिकबौद्धवैष्णवमहाचार्वाकमीमांसकैः
गर्जद्गौतमयौगपाशुपतिकप्रोद्भाट्टनैयायिकैः ।
इत्याद्युद्धतसर्ववादिनिकरैः श्रीपण्डिताचार्यको-
बल्लालस्य सभान्तरे जयमहावादीति संकीर्तितः ॥७९॥
दुष्टव्यन्तरकृत्रिमज्वरभयातंकातिदुर्भिक्षका-
द्युत्पातैर्वरपण्मतोद्भवजने नाशं गतेऽसौ मुनिः ।

---

[1] उपसर्गयोगादत्र क्त्वा चिन्त्यः ।

तच्छान्तिं रचयन्नरत्वदमुना षड्दर्शनस्थापना-
चार्यत्वं च परस्य नैव तव [भोः] शास्तास्त्यतः षण्मते ॥८०॥

मूलसंघवक्रगच्छकुन्दकुन्दवंशवा-
राशिवर्धमानचन्द्र तावते जनालये ।
अस्त्विति प्रभाषितं नृपेण भक्तितश्च ब-
ल्लालजीवरत्नपालकप्रशस्तिता भुवि ॥८१॥

स्वस्तिश्रीमूलसंघांबरगगनमणिः पुस्तकोत्तुंगगच्छ-
प्रख्यातः कुन्दकुन्दान्वयवनधिविधुः षण्मतस्थापनार्यः ।
श्रीमद्देशीगणेशः सकलविबुधचक्रेश्वरः सुप्रसिद्धो-
जीयात् स्याद्वादविद्याविभवपरिणतः पण्डिताचार्यवर्यः॥८२॥

बल्लालक्षितिपालजीववररक्षापालकाद्यङ्कमा-
लावर्णाङ्कितसर्वपाठकलसज्जिह्वाशिलाशासनः ।
श्रीमद्रायसुराजमुख्यगुरुराड्भूमण्डलाचार्यकः
पायात्पण्डितनामधेयविधृतः श्रीचारुकीर्तिव्रती ॥८३॥

श्रीमत्स्याद्वादविद्याविलसितविजितोदारदुर्वारगर्व-
क्षुभ्यद्वादीन्द्रमत्तद्विरदसमुदयः सर्वशास्त्रप्रवीणः ।
जीयादाचन्द्रतारं सुगुणगणलसद्राज [च] मल्लप्रजेश-
प्रत्यग्रोदग्रमौलिप्रतिफलितपदः पण्डिताचार्यवर्यः ॥८४॥

शान्तिग्रामविभासबूकनतटाकच्छत्रकुन्दूरिति
ग्रामान्द्व्यष्टसहस्रनिष्कजनितान् धाराशिलाशासनान् ।
बल्लालक्षितिपालको बेलुगुलश्रीगुम्मटार्हत्पतेः
नित्याब्दोत्सववैभवाय विदधे श्रीपण्डितार्यान्तिके ॥८५॥

घूर्णज्जैनमताब्धिजातविधुवच्छ्रीनंदिसंघोऽभवत्
सुज्ञानार्थितपोधनाः कुवलयानन्दामयूखा इव ।
तत्संघे भुवि देशदेशनिकरे श्रीसुप्रसिद्धे सति
श्रीदेशीयगुरुर्द्वितीयविलसन्नामा बुधैः कथ्यते ॥८६॥

श्रीदेशीयगणामृताब्धिजनिता ज्ञानप्रभामण्डिताः
निर्दोषामरमुख्यरत्ननिकराः स्वच्छान्तरानर्घ्यकाः ।

तर्कज्योतिषमंत्रवादगणितालङ्कारशब्दागम-
वृन्दो वैद्यनिघंटुनाटकमहाशास्त्राणि चक्रुर्भुवि ॥८७॥

श्रीचम्पापुरसुप्रसिद्धविलसत्सिंहासनाधीश्वरो
भास्वत्पंचसहस्र [शुभ्र] मुनितारासंकुलैरावृतः ।
श्रीदेशीगणवार्द्धिवर्धनकरो भव्यालिहृत्कैरवा-
नन्दो भाति सुवीरनन्दिमुनिचन्द्रो वाक्यचन्द्रातपैः ॥८८॥

श्रीमद्देशीगणांभोनिधितुहिनकरः पाणिनेः सूत्रवृत्तिम्
तत्वार्थाख्यानसूत्रस्य च निरुपमसट्टिप्पणं सर्वशास्त्रम् ।
कृत्वा श्रीपादलेपौषधकृतगतिना प्राग्विदेहं प्रयातो-
पश्यत्तीर्थंकरांघ्रिं निरुपमचरितो पूज्यपादव्रतीन्द्रः ॥८९॥

श्रीनन्दिसंघवरपुस्तकगच्छकुन्दकुन्दान्वयाम्बुधिसुवर्द्धनपूर्णचन्द्रः ।
वादीभकुम्भदलनोग्रपटिष्ठसिंहश्रीवादिराजमुनिपो भुवि राजतेऽसौ ॥९०॥

कुन्दकुन्दकुलचारुललामो नन्दिसंघसलिलाकरचन्द्रः ।
वक्रगच्छवनजातदिनेशो वर्धमानमुनिपश्च विभाति ॥९१॥

कुन्दकुन्दवंशवार्धिपूर्णचन्द्रचारुदे-
शीगणाभ्रसूर्यवक्रगच्छहर्म्यशेखर ।
नन्दिसंघपद्मषण्डराजहंस भूतले
त्वं जयात्र हेमसेन पण्डितार्य सन्मुने ॥९२॥

महेन्द्रचन्द्रपण्डिताः शुभादिकीर्तिपण्डितो-
जिनेन्द्रचन्द्रपण्डितः त्रिरत्नपण्डितो मुनिः ॥९४॥

यशस्सुकीर्तिपण्डितस्सुवासनेन्दुपण्डित-
स्सुचन्द्रनन्दिपण्डितस्सुबाहुपण्डितो यतिः ॥९४॥

नृपेन्द्रसेनपण्डितस्सुनन्दिसेनपण्डितो-
महेन्द्रसेनपण्डितस्सुधर्मसेनपण्डितः ॥९५॥

श्रीदेशीगणपालको बुधनुतः श्रीनन्दिसंघेश्वरः
श्रीशब्दागमतर्कवार्धिहिमगुः श्रीकुन्दकुन्दान्वयः ।
श्रीचामुण्डनृपालपूजितलसच्छ्रीपादपद्मद्वयो-
जीयात्सोऽजितसेनपण्डितमुनिः श्रीवक्रगच्छाधिपः ॥९६॥

तच्छिष्योऽजितसेनसन्मुनिरभूच्चामुण्डभूपस्य पा-
रंपर्यागतसद्गुरुस्तदवनीपालश्चतुर्विंशतिम् ।
तीर्थाधीशपुराणरत्नमकरोत्साहित्यरत्नाकरः
श्रीविन्ध्याचलगुम्मटेशनिकटे सम्यक्त्वचूडामणिः ॥९७॥

बेलगुलगिरिमूर्ध्निप्रज्वलद्गुम्मटेशः
प्रणुतपरमदेवः पण्डिताचार्यवर्यः ।
परमगुरुरमुष्य प्रौढचामुण्डराजः
परमसुकृत [युक्तः] स्यादसौ सान्द्रकीर्तिः ॥९८॥

बेलगुलभूधराग्रपरिशोभितपद्मसुपीठकर्णिकोज्ज्वलदमलांघ्रियुग्म-
नखरालिमरीचिसुधांशुमण्डलः । प्रलयविदूरसारसुखसागरमारम-
देभसिंहनिश्चलजयसर्वभव्यकमलावलिभास्करगुम्मटेश्वरः ॥९९॥

श्रीभरताख्यचक्रधरपूजितपादयुगः कृते युगे रावणराजपूजित-
पदाब्जयुगश्च युगे द्वितीयके द्वापरके च पाण्डवसुपूजितपाद-
युगः कलौ तु चामुण्डनृपालपूजितपदोऽवतु बेल्गुलगोम्मटेश्वरः ॥१००॥

इमां बेल्गुले गुम्मटेशप्रशस्ताम्
कथां ये विशृण्वन्ति ते मानवाश्च ।
सुनैश्रेयसं सौख्यमश्नन्ति भद्रम्
शुभं मंगलं त्वस्तु चास्याः कथायाः ॥१०१॥

आदिब्रह्मविनिर्मितामलमहावंशाब्धिचन्द्रायमा-
नात्रेयोद्भवविप्रगोत्रतिलकः श्रीजैनविप्रोत्तमः ।
दोड्डय्यः सुगुणाकरोऽस्ति पिरियराजाख्यानसत्पत्तने
तेनासौ जिनगोम्मटेशचरितं भक्त्या मुदा निर्मितम् ॥१०२॥

जैन-सिद्धान्त-भास्कर

जैन-पुरातत्त्व-सम्बन्धी षाण्मासिक पत्र

भाग १०—वि० सं० २०००, वीर० सं० २४७०

सम्पादक

प्रोफेसर हीरालाल जैन, एम. ए., एल-एल. बी.

प्रोफेसर ए० एन० उपाध्ये, एम.ए., डी. लिट्.

बाबू कामता प्रसाद जैन, एम. आर. ए. एस.

पं० के० भुजबली शास्त्री, विद्याभूषण.

जैन-सिद्धान्त-भवन आरा-द्वारा प्रकाशित

भारत में ३) विदेश में ३॥) एक प्रति का १॥)

वि० सं० २०००

विषय-सूची

परिशिष्ट

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. IX. DECEMBER 1943 No. II

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt.
Babu Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
[JAINA SIDDHANTA BHAVANA]
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs. 3. Foreign 4s. 8d. Single Copy Rs. 1-8

CONTENTS.

"श्रीमत्परमगम्भीरस्याद्वादामोघलाञ्छनम् ।
जीयात् त्रैलोक्यनाथस्य शासनं जिनशासनम् ॥"

[अकलंकदेव]

Vol. IX No. II | ARRAH (INDIA) | December, 1943

ON THE LATEST PROGRESS OF JAINA AND BUDDHISTIC STUDIES[1]

By

Dr. A. N. Upadhye

There was a time when the Jaina texts were not easily accessible; and naturally the writers on Indian philosophy had to satisfy their thirst for a review of Jaina philosophy from the Pūrvapakṣa given in non-Jaina works. Apparently this method has its defects, and we have to correct and clarify our notions in the light of the Jaina texts themselves. The atomic theory in the early Jaina texts, the relation between Jainism and Sāṁkhya, Jaina epistemology and other topics are touched upon here and there; but detailed investigations are still to be carried out. That the Jaina texts supply interesting details in the study of different branches of Indian philosophy is abundantly clear from the discussions of Prof. J. Sinh (Indian Psychology: Perception, London 1934). It is necessary that

1. This forms the concluding portion of the Address delivered by Prof. A.N. Upadhye, as the President of the Prākrit, Pāli, Ardha-māgadhī (Jainism and Buddhism) Section of the Eleventh All-India Oriental Conference, Hyderabad, December 1941.

the material from the canon and the works of Akalaṅka etc. should be thoroughly analysed. Some articles have appeared on these topics lately; Jaina theory of knowledge and Error etc., by Prof. Bhattacharya (Jaina A. IV. i, also V p. 21 ff.); Mind in Jaina Philosophy by Prof. S. C. Ghoshal (Ibidem V, p. 75 ff.); etc.

Winternitz's outline of Jaina literature in his History of Indian Literature, Vol. II, and Schubring's survey of the Jaina doctrines in his Die Lehre der Jainas are phenomenal landmarks in the progress of Jaina studies. It was very unfortunate that Winternitz did not live to revise his third volume; and his last contribution on the subject was 'The Jainas in Indian Literature' in the IC, I, ii. Such works are to be compiled after extensive studies by specialists in different topics of the field; but here, thanks to the insight and industry of these two veteran Indologists, these monumental works are composed much earlier than expected. These are excellent guides for all further study ; but by these we should not understand that the survey of the field is over and that very little remains to be done now. In one of his letters (Dated Nov. 19, 1935) the late lamented Dr. Winternitz himself wrote to me thus: "You are perfectly right in saying in your Preface that my account of Jaina literature in my History of Indian Literature, Vol II, only 'shows how much more remains to be done'. In fact, I have made it throughout a point in my 'History' to draw special attention to the—alas, so numerous—unsolved problems and open questions in the history of Indian literature, which are left to be struggled with and if possible solved by those who come after me." This is equally true, though to a less extent, with regard to Schubring's work in the Grundriss. These savants were concerned more with an outlinear survey than with the detailed study of individual texts, the latter being still an urgent desideratum in Jaina literature. Bits of new information about various authors and works are coming to light in various Journals and in the Descriptive catalogues published in the G. O. S., Baroda and by the B. O. R. I., Poona, in connection with Jaina literature. We cannot afford to remain satisfied all along with those sketchy remarks expressed by Peterson and others on their

first discovery of these texts some of which are now published also. We can hardly say that texts like the Yaśastilakacampū are fully studied. Dr. Sen's dissertation on the Praśnavyākaraṇāṅga shows that there is ample scope for an exhaustive study of individual works. This has been approved of by Dr. Schubring and is published after his book. To advance our studies in Jaina literature, the individual works and authors have to be studied critically in the back-ground of Indian literature as a whole. It is on account of the absence of such earlier studies that some sections in the survey of Winternitz read like lists of authors and works. Plenty of Mss. are available (in the case of majority of books) for a text-critic; and these Sanskrit and Prākrit texts, if studied in detail, unfold new facts which enrich our knowledge of Indian life and culture in their manifold aspects.

In the last ten years many important works connected with our section have seen the light of day; and many eminent editors are working with the avowed aim of advancing the studies. We might note here passingly a few important publications of the last two or three years. Herr Kohl's Die Sūryaprajñapti (Stuttgart 1937), besides presenting to us the text of this much neglected work of the Ardhamāgadhī canon, brings out the relation between the Sūra-, Jambuddīva— and Caṁda-paṇṇatti. The author postulates the existence of an original gathā-text from which these three works derive themselves. In the light of the outline of Jaina cosmography which Dr. Kirfel has exhaustively given to us, this text may be studied now in comparison with other Jaina cosmographical texts like Tiloyapaṇṇatti (a portion of which has been edited by me, Arrah 1941, and I have a complete ed. with Hindī translation on hand which is in the Press) and Jambūdvīpaprajñaptisaṁgraha (IHQ. XIV, p. 188 ff.). On account of Jacobi's Ausgewählte Erzählungen in Māhārāṣṭrī (Leipzig 1886), which, with Konow's Karpūramañjarī, formed the first lessons in Prākrit for many Oriental scholars, Devendra's Sukhabodhā commentary, from which Jacobi collected these stories, acquired immortal fame among Prākritists. We are happy that a good edition of this commentary has been made available now (Ahmedabad 1938). These illustrative stories are

typically representative of the medieval Jaina narrative literature of which ornate Prākrit specimens are found in standard works like the Samarāïccakahā and Mahāvīracariya.

Muni Śrī Nyāyavijayajī in one of those few gifted monks who can fluently compose original works both in Sanskrit and Prākrit. His Ajjhatta-tattāloo (Jamnagar 1938) fully testifies to his grip over the Prākrit expression, and besides gives a vigorous exposition of the pious ideals of life. With its valuable Introduction and useful indices, Pt. Bechardas's edition of Rāyapaseṇaiyasutta (Ahmedabad Sam. 1994) fairly surpasses the earlier editions. Many Jaina works are known only by their names ; and if a careful search in the Jaina Bhaṇḍāras is made, there is every possibility of tracing some of them. Varāṅgacarita and its author, though often referred to by earlier authors, had fallen into oblivion. But this work has been lately brought to light (Bombay 1938) and also critically studied in the back-ground of Sanskrit literature. Its author Jaṭāsiṁhanandi flourished about the close of the 7th century A D., and it is one of the early Sanskrit Purāṇic Kāvyas.

Lately some four works (Nos. 41-44) are published by the Jina-dattasūri Jñānabhaṇḍāra, Pydhoni, Bombay. The first is the Sāmā-cāriśatakam which contains Samayasundara's exposition in Sanskrit of one hundred debatable points connected with the mode of life of both monks and house-holders of the Jaina community. The Second is the Kalpalatā commentary on the Kalpasūtra to which Prof. H. D. Velankar has contributed a learned Indtroduction in English giving an important list of commentaries and glosses (with significant details about their authors and age) on the Kalpasūtra. The third is the Gāthāsaḥasrī of Samayasundara which is an anthology of Sanskrit and Prākrit passages dealing with religious topics. Besides a large number of Jaina texts, a few non-Jaina works like the Mahā-bhārata, Manusmṛti etc., are also quoted. There is an introduction in Gujarāti by Mr. M. B. Jhaveri; and it gives all that we want to know about the author, his works and the contents of the present text. The fourth publication is the Vidhimārgaprapā which presents an able exposition of the duties of laymen and monks especially as

accepted by the Kharataragaccha. It contains a good deal of useful information for a student of Jaina literature. Various discussions, mostly in simple Prākrit prose with occasional quotations from canonical texts, clearly indicate Jinaprabhasūri's depth of learning and facility of expression. The text is very well edited by Śrī Jinavijayajī who has spared no pains in making the edition worthy of its author. The editorial introduction gives a summary of the contents; and Śrī Nahatas have added a detailed biography of Jinaprabhasūri who was not only a deep scholar but also an outstanding personality that weilded good deal of influence on Muhammad Tughluq. Recently Prof. N. V. Vaidya has given to us the entire text of Nāyādhammakahāo (Poona 1940) with variant readings in a handy volume.

Among the latest Pāli and Buddhist publications mention may be made of the Paramatthadīpanī of Dhammapāla on the Cariyāpiṭaka edited by D. L. Barua (PTS, London 1939); Saddhammapajjotikā of Upatissa on the Mahāniddesa, Vol. II, edited by A. P. Buddhadatta (PTS, London 1939); Manorathapūraṇī, on the Aṅguttaranikāya, Vol. 4, ed. by H. Kopp (PTS, London 1940); and Paramatthadīpani, on the Theragāthā-Aṭṭhakathā, ed by F. L. Woodward, Vol. I. (PTS, Londan 1940). With regard to Mahāyāna and Sanskrit texts we have lately La Somme du Grand Vehicle d' Asanga by Etienne Lammotte (Louvain 1939) which is a remarkable contribution to our knowledge of Mahāyāna Buddhism; Bruchstucke des Āṭānāṭikasūtra aus dem Zentralascachen Sanskrit-Kanon der Buddhisten by H. Hoffman (Leipzig 1339); and Gilgit Manuscripts, Buddhist Sk. Texts, Vol. I, by N. Dutt, Srinagara 1939. As to the translations and other accessories of study we have lately the English translation of Buddhavaṁsa and Cariyāpiṭaka by Dr B. C. Law in The Minor Anthologies of Pāli canon (Sacred Books of the Buddhists, No. 9 pt. 3, London 1938). and so also 'Manual of Buddhist Historical Tradition (Saddhammasaṁgraha)' by the same author (Calcutta 1941).

Thr Roman script has decided advantages in reproducing Indo-Aryan words in grammatical and linguistic discussions. But for an

average Indian student, the Sanskrit or Prākrit texts, printed in continuous roman characters, present a good deal of difficulty for study. Naturally many of our students feel the need of Devanāgarī editions of Pāli works published by the PTS. The University of Bombay has already started a Devanāgarī Pāli Text Series in which Milindapañho (Bombay 1940) is lately brought forth by Prof. R. D. Vadekar. As the first volume of the newly started Bhandarkar Oriental Series Prof. R. D. Vadekar has edited in Devanāgarī the Pātimokkha (Poona 1939); and the second volume is represented by the sumptuous Devanāgarī edition of the Dhammasaṅgaṇi (Poona 1940) by Dr. P. V. Bapat and Prof. Vadekar.

It was exactly ten years back that the Siṅghī Jaina Series was started through the enlightened liberality of Babu Bahaddur Singhji Singhi of Calcutta and the scholarly forethought of Śrī Jinavijayaji. Within this short period of a decade, a dozen sumptuous volumes have been published and nearly an equal number of important works is under preparation: this success of the Mālā is remarkable and unique. Śrī Jinavijayaji is a gifted editor of great experience; and under his general editorship these volumes are prepared to fulfil the needs of critical scholarship; and they meet a real want of Indology. Some of them are fresh additions to the published stock of Indian literature. Among the latest publications of the Mālā, I have already referred to the Nyāya works like the Akalaṅka-granthatrayam etc. above. The Prabhāvaka-carita of Prabhācandra is a store-house of traditional information about some of the eminent Jaina authors, and its composition too is characterised by some literary flavour. The text is critically edited by Śri Jinavijaya himself; and this edition far surpasses the earlier edition (Bombay 1909) with regard to the authenticity and the presentation of the text. The four volumes of the Singhi Jain Series, Prabandhacintāmaṇi, Prabandhakośa, Vividhatīrtha-kalpa and Prabhāvaka-carita, present a thesaurus of Jaina tradition carefully and earnestly collected by ancient teachers; and now it is for the critical historian to sort out solid facts and co-ordinate them with corresponding events known from other sources. The latest publication in the Series is the Bhānucandracarita of Siddhicandra. It is an unique work in Sanskrit literature. It is not

only a biography of the teacher Bhānucandra but also an autobiography of the pupil Siddhicandra. Quite vividly he narrates "how he became an object of Akbar's filial love, how he stood by the side of his Guru as his co-worker in rendering social services, how he enjoyed the favour of Jahangira and afterwards fell a victim to his displeasure and finally how he passed through the ordeal for the sake of his vows and religion without being scared away by exile, imprisonment or death." Dalal, Smith and others had already touched the topic of the Jaina teachers at the court of Akbar. The exhaustive Introduction of this volume, however, completely supersedes earlier discussions Mr. M. D. Desai, with his usual indefatigable energy and rare erudition, has contributed a solid Introduction in which he has systematically collected a vast range of information that fully depicts the position of Bhānucandra and others in the Mughul court and their literary activities. The discussion is so well planned that it serves as a good back-ground for the history of Jainism under the two great Mughuls. The Praśastis, Farmans and the Appendices have a great documentary value. The Bhānucandracarita with its learned Introduction of Mr M. D. Desai is a distinct addition to the historical chronicles of Sanskrit literature.

Despite the financial difficulties, the Māṇikchandra D. Jaina Granthamālā has lately published Nyāyakumudacandra I-II and Mahāpurāṇa I-III which have been already referred to. The Ātmānanda Sabhā has issued the Vols 4 and 5 of the Bṛhatkalpasūtra edited by Śri Chaturavijaya and Punyavijaya. The Jaina Sāstramālā Kāryālaya, Lahore, has published some of the canonical texts like the Daśāśrutaskandha, Uttarādhyayana etc. with Sankrit chāyā, word-for-word meaning, mūlārtha etc. in Hindi in luxurious volumes. These may be useful in popularising the canon among the Hindi-knowing readers, but we would request the editors that the text could be presented more carefully and the interpretations could be offered more critically taking into account the earlier studies. The Āvaśyaka-niryukti-dīpikā of Māṇikyasūri is lately published from Bhavanagar. The Jaina-grantha-prakāśa-sabhā of Ahmedabad is issuing in an uniform size all the works of Haribhadra; the first volume (Ahmedabad 1939) is already out and contains eleven texts

Yogadṛṣṭisamuccaya etc. The newly started Jīvarāja Jaina Granthamālā has undertaken an edition of Tiloyapaṇṇatti with Hindi paraphrase.

The Sacred Books of the Jainas, the latest and the tenth volume of which is the Gommaṭasāra Karmakāṇḍa with English translation, part 2, (Lucknow 1937), was conceived by the late lamented D. P. Jaina and later on well supported by the late lamented J L. Jaini with a view to present the important Jaina texts with English translation. Unluckily the subsequent Volumes have not reached the critical standard of the first volume, Davvasaṁgaha, so able edited by Prof. S. C. Ghoshal. Most of the volumes do not use even diacritical marks for technical terms and names. The Series is soon issuing the Āptaparīkṣā etc. with English translation; and if the organisers want these texts to be used by Oriental scholars for any research, it is necessary that their contents should be presented in an authentic and critical form.

The orientalists would be interested to learn that an Āgamamandira is being built at Palithana through the advice of Śri Sāgarānanda Sūriśvarajī. As far as I know, the plan is to inscribe the text of forty-five canonical works in stone on the walls etc., in this temple. It is also planned that the whole text of the Ardhamāgadhī canon should be inscribed on copper-plates and also printed on paper in an uniform size. This reminds us of Maindum, the king of Burma, who inscribed the entire Tripiṭaka on slabs of stone.

Under the liberal patronage of rich laymen and through the encouragement of zealous monks many Granthamālās, especially in Gujarat, are bringing out many a text. Oriental scholars do appreciate their piety and zeal, but at the same time the organisers of the Mālās are to be requested that duplication of works should be avoided as far as possible. It is better that the major portion of the zeal should be diverted towards editing and publishing unpublished works. Some of these editions, may it be noted, have not reached our critical standards; but as first editions of unpublished texts, whose Mss. are not always within our easy reach, they are to be welcomed like the Sanskrit texts published in the Kāvyamālā etc.

Students of oriental learning can make the best use of these editions, how-so-ever imperfect they might be, by studying their contents in comparison with those of similar works already known to us. They contain fresh material which is not duly sorted and no definite positions are assigned to these texts in our scheme of Indian literature.

The Jaina literature is found in various languages of India, both Āryan and Dravidian; the material lies scattered over different parts of the country; and to day the results of researches are being published in various languages, both Indian and European. It is necessary for an active scholar to keep himself in touch with all that is being written on the subject, irrespective of the languages; it is a difficult task but it has to be faced. We cannot ignore the valuable fresh material that is being brought to light say in magazines like Anekānta, Nāgarī-pracāriṇī Patrikā, Kannaḍa Sāhitya-pariṣat Patrike etc. It is necessary, therefore, that some scholars who are better equipped with the knowledge of more than one language should write Reviews of such articles and books, either in English or Hindī, so that these topics might fall within an all-India access. Books after books, some of them published for the first time, are coming out in different parts of the country; but unluckily there is no organ or organisation which takes note of all these publications for the benifit of scholars. I would appeal to the Editors of Journals that are more interested in Jaina and Prākritic studies to include notices of such publications in their Journals. Forthcoming publications may also be included to avoid duplication of work If the Journals make a beginning, I do believe that Editors and publishers, in their own interest, would co-operate with them. Thus alone the Jaina and Prākritic studies can march on in the ranks of Oriental learning.

We have many biographies of Buddha in different languages, but as yet no exhaustive attempt is made to pool together various bits of information scattered over the wide range of Buddhist and Jaina literature and to give an authentic and detailed biography of Mahāvīra. The latest brochure is that of Dr. B. C. Law. It gives me great pleasure to note that Muni Kalyanavijayaji, with whose masterly monograph on the Jaina chronology we are already acquainted

(Nāgarī-pracāriṇī-patrikā, Vols. X & XI), has written a comprehensive biography of Mahāvīra in Hindi and it would be published in the next few months. Lately Pt. Nathuram Premi, who has been a pioneer researcher, along with Pt. Jugalkishore, in the chronology of especially Digambara works, has put together his studies in a revised form; and his Hindī book, Jaina Sāhitya aura Itihāsa, is a rich mine of information and references.

Buddhism is the professed religion of many countries in the East; naturally the Orientalist has to study Buddhism both in India and outside. The adventures of the spread of Buddhism not only in different parts of India but also of the whole globe are one of the most fascinating branches of Indological study; and the Greater India Society has done much useful work in this respect. Lately some studies are conducted both by way of fresh exploration and survey. Space prohibits me from summarising the results in details, so I would just list the important papers. Expansion of Buddhism in India and Abroad (NIA, II. 11, III. 1) by Dr. B. C. Law is a good account of the spread of Buddhism. The influence of Buddhism on Japanese culture is discussed by R. Sandilyan (Young East, Vol. 8, No. 2). Buddhist influence in Gujarat and Kathiawar is reviewed by Mr. A. G. Gadre (Journal of the Gujarat R. Society, Vol. I. No. 4). Jainism on the other hand is mostly confined to India, but no systematic and exhaustive attempt is made to survey its history in different parts of the country excepting perhaps Karnāṭaka and Gujarata. The material being scattered all over India and in different languages of different ages, it is necessary that specialised monographs should be prepared first, according to the locality and the political or literary period, before an all-India Survey of the Jaina church can be confidently attempted. Lately some scholars have directed their attention to this aspect of study, and a few papers have been published. The Jainas in Pudukottai State by K. R. Venkat Raman (Journal of Oriental R., Madras, XIII, part 1); Jaina Tradition in Telugu by S. Lakshmipathi Shastri (Annals of Oriental R., Madras Vol. IV, part 2); Jaina Religious orders in the Kushan Period by B. N. Puri (Journal of I. History, XX, Part I, Special Number, April, 1941); Jainism under the Muslim Rule by K. P. Jain (NIA I. 8);

New Studies in South-Indian Jainism by B. S. Rao (Jaina A. V, p. 147 ff,; VI, p. 66 ff ; VII, p. 26 ff). In this connection I might note that Prof. Hiralal has lately issued his earlier contributions in a book form viz., Jaina Itihāsakī Pūrvapīṭhikā (Bombay 1939).

Both Jainism and Buddhism have been subjected to various divisions in the church: some of them are doctrinal, some are social, and there are others which owe their origin to differences in the ascetic practices. The Jaina Saṁghas, Gaṇas, Gacchas etc, are not fully discussed as yet, though rich material is available in epigraphical and literary records. It is a difficult task, but dispassionate attempts have to be made Lately Mr. K P. Jain has written an article on the Digambara and Śvetāmbara Sects of Jainism (Kane Volume, p. 228 ff.). Good deal is done in this respect in the field of Buddhism, and we have some latest contributions also; Buddhist Tantric literature of Bengal by S. K. De. (NIA, I, i); Doctrines of the Sammitiya School by N. K. Dutt (IHQ, XV, 1); Lalitavistara and Sarvāstivāda by E. J. Thomas (IHQ, XVI, 2); Dārṣṭantika, Sautrāntika and Sarvāstivādin by J. Przyluski (IHQ, XVI, 2); etc.

Between the Pāli and the Ardhamāgadhi canons, the latter is not extensively studied as yet; and the material for cultural study therein is arousing interest very lately. Prof. K. P. Mitra has very nicely touched various interesting topics such as Crime and Punishment, Magic and Miracle and the reference to Pāṇḍyas in the Jaina literature (IHQ, XV, parts 1-3). Prof H. R. Kapadia has taken a review of the Jaina system of Education and has drawn upon different branches of Jaina literature (JUB, Vol. VIII, part 4) He is also reviewing the whole canon in his Gujarati Ārhata Āgamonu Avalokana (part 1, Surat 1939). Among the Buddhist works, the Dhammasaṁgaṇī has been studied afresh by Dr. Dutt for a further elucidation of the principal topics and the method of treatment adopted in it (IHQ, XV, part 3). The Brahmacālasūtra of Dighāgama has been translated into German by F. Weller (Woolner Vol., p. 260 ff.). The Jātakas have been a rich material for sociological study. Bhadanta Ananda Kausalyayan has on hand a Hindi translation of the Jātakas, the first volume of which is already out. When

completed it would be a first rate addition to the wealth of Hindi literature. Based on Jātakas we have lately the Pre-Buddhist India by R. N. Mehta (Bombay 1939); and Dr. B. C. Law has given some observations on the same (JRAS, April, 1939) Prof. Lüders has contributed a paper on Die Vidyādharas in der buddhistischen Literature and Kunst (ZDMG, 93, part 1); while Dr. Alsdorf has made an equally interesting attempt to elucidate the idea of Vidyādharas and their abode in his article Zur Gechichte der Jaina Kosmographie und Mythologie (ZDMG, 92, parts 2-3, Leipzing 1938).

Asceticism plays an important role in Jainism and Buddhism, and in many respects it is a logical culmination of the highest spiritual and humanitarian principles preached by these religions. Though excellent lines of study are already indicated by Jacobi, Wintermitz and others, the Jaina monachism is as good as not studied at all. The contents of voluminous works like Bhagavatī Ārādhanā and Bṛhat Kalpasūtra are not examined at all with a view to study the practices of Jaina monks and their organisation. The picture of Indian monachism is incomplete, if the material from these sources is not utilised in its proper perspective. Lately Miss D. N. Bhagwat has contributed a good deal of discussion on Buddhist monachism (Early Buddhist Jurisprudence, Poona 1939; Buddhist Monachism and post-Asokan Brāhmī Inscriptions JUB, Vol. IX, part 2; and also Origin of Indian Monachism, JUB, Vol. VIII, part 2). The latest publication, Early Monastic Buddhism, Vol. I (Calcutta 1941) by Dr. N. Dutt, embraces a wider range of topics connected with Buddhism and the history of Buddhist thought.

It is a fact and more than once the scholars have complained that the Jaina community has not much encouraged the critical study of Jaina texts. Jaina community, like other communities in India, is orthodox and still caught in the old moulds of thought. Some of the publications do show that better sense is gradually prevailing and a bright future is visible. Mere publication of the texts is not an end in itself; in fact it is the beginning of study. It has to be accompanied or followed by critical and comparative study of their contents in their various aspects. Even though the Jaina community is

indifferent in encouraging critical studies on modern lines, the orientalists cannot ignore their duty of studying the various facets of ancient Indian learning. Some sixty years back the late lamented Dr. H Jacobi, when he visited Patana (Baroda) with Dr. Buhler, was not allowed to see the books ; but in 1914 he was given access to the famous Bhaṇḍāras ; and to-day, however, many of us are using Mss. and their transcripts from Patana through the courtesy of local authorities and pious monks like Śrī Punyavijayaji It is a great change, and I do expect still greater changes. If orientalists turn more attention to the different branches of Jain literature, many sections of Indian literature would be further enriched, thus adding a respectable dignity to Indian literature in the eye of world literature. The ultimate values which inspired Jinabhadra, Saṅghadāsa, Vīrasena-Jinasena or even Puṣpadanta to put forth their stupendous compositions are still there, but they may not necessarily appeal to us. But the rigorous toil in the field of learning gives a joy of scientific work; and when any positive result is achieved in one's field of study, there is some satisfaction for the humble worker, apart from the fact that the bounds of human knowledge are widened in the long run.

The Prākrit dialects or the Middle Indo-Aryan languages in which Mahāvīra and Buddha preached their humanitarian principles, in which Aśoka inscribed his memorable edicts, in which hundreds of poets (only a few names from whom have come down to us through Hālas collection and Svayambhū's references) jubilantly sang about the various aspects of popular life, in which Kālidāsa's heroines wrote their letters, in which Vākpati, Pravarasena, Uddyotana, Haribhadra, Rajaśekhara, Svayambhū, Puṣpadanta, Guṇacandra, Rāma Pāṇivāda and others composed their ornate poetry and prose, in which saints like Joindu and Kāṇha poured their mystic musings, in which the heroic songs of Rajput bards resounded the four corners of Āryāvarta, and on the laps of which are grown the various Modern Indo-Aryan languages which we are struggling to enrich and of which we are so proud, cannot be ignored for a full understanding of Indian culture and civilization.

On account of the war, the great curse on humanity, which has plunged the whole of Europe into a fatal feud and is drenching the continent with blood, our relations with our co-workers abroad are severed, and naturally we have not been in touch with their studies, in the last two years, connected with this section. If I have failed to mention any of the important contributions of my colleagues at home, their value is not likely to be detracted by this unfortunate omission; but I feel sorry, and I offer my apologies to them, that I am ignorant of their learned studies due to poor library facilities at my disposal. I offer my sincere thanks to you all for the patient hearing that you have given me. All of us are working in the field of Indian literature which has evolved and stood as the champion of the highest humanitarian principles in thought, word and deed; and we are meeting here at a critical hour in the human history when the whole civilized world is overcast with clouds of war: so I cannot better conclude than with the prayer of Amitagati:

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वम् ।
माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ सदा ममात्मा विदधातु देव ॥

SOME JAINA GURUS IN KANNAḌA INSCRIPTIONS.

By

S. Śrīkaṇṭha Śāstri, M. A.

Guerinot in his *Repertoire d' Epigraphie Jaina* made use of the various archaeological publications for preparing a chronological list of the most important inscriptions mentioning Jaina gurus, donees, and patrons with approximate dates, and as Dr. A. N. Upādhye* has pointed out there is an urgent necessity to collate systematically the information from Praśastis and inscriptions published since Guerinot's pioneer publication I propose here to give a dynastic and chronological index of names and dates pertaining to Jainism, chiefly culled from *recent* publications of inscriptions in the Kannaḍa country like the Madras Epigraphic Reports (*M. E. R.-E.*), Mysore Archaeological Reports (*M. A. R.*), Inscriptions of Northern Karṇāṭak and Kolhapur (*N. K. K. I.*) Karṇāṭaka Inscriptions (*K I.*) etc. The dynastic arrangement has been followed and when ever possible the *guruparampara* and exact dates have been given.

CHĀLUKYAS OF BĀDĀMI.

1. Aḍūr: (Gangi Pāṇḍivūr). Kīrti Varma II. Jinālaya erected by a Gāmuṇḍa. Paralūr Gaṇa: Vinayanandi, Vāsudēva, Prabhā.... Śrīpāla, disciple of Prabhācandra of Paralūrcētya and (?) son of Dharma Gāvuṇḍa erected the Cētya with consent of Paramēśvara Mādhavattiyarasa, under Sindarasa governing Pāṇḍivūr. (*K. I* no. 3)
2. Nagarūr: ... ditya Bhaṭāra; a caitya given by Toṇḍimānā Muttarasa (?) (*S. I. I. IX.* I. no. 52).
3. Purigere: Vijayāditya. 20 August, 733, A. D. Vikki Rāṇaka at request of one Vijaya gave grant to Śanikha Jinālaya at Purigere. (*M.E.R.* 1936 E. 34 cf. *I. A.* VII. p. 112).

---

* *Presidential Address. Prakṛt Pali and Ardha Māgadhi Section, Eleventh Oriental Conference.* Hyderabad 1941.

4. Rāṇi Bennūr : Ś. 781...(859 A. D.) Nāganandyāchārya of Singhavura Gaṇa Gave land to basadi built by Nāguḷara Pollabbe. (*M. E. R.* 1934. E. No. 116.)

RĀṢTRAKŪṬAS.

5. Ālūr : Nityavarṣa. Ś 854 Pārthiva. (933 A. D. ?). Candiyabbe, wife of Kannara of Sindavāḍi built basadi to Padmanandi Bhaṭāra of Nandavura. (*S. I. I.* IX—I. no. 62)

6. Dānavulapāḍu : Nityavarṣa. Jaina image at Kaḍapa. A *Snapana śālā* for śānti built (*S. I. I.* IX—I. 63)

7. Bāguḷi : Nityavarṣa. 972 A. D. A basadi for Mahēndra dēva Paṇḍita at Mincungeṛe (*S. I. I.* IX—I 71).

8. Daṇḍāpura : Prabhūta Varṣa. Ś. 840. 918 A. D. Grant of marriage incomes by Nanni Veḍanga at request of Dhōra for Kannengere. Composed by Ravi Nāga Bhaṭṭa and engraved by Śrī Vijaya, (*M. E. R.* E. 1934 63).

9. .. 9th C. Candranandi Bhaṭāra of Paḷḷivaḷḷa. Grant composed by Karaṇa Kundamayya sēnabōva of Indara Piṭṭamma. (*M. E. R.* 1934. E. 95).

10 Bankāpur : Nityavarṣa. 925 A. D. Candraprabha bhaṭāra in charge of Pasuṇḍi and Bankāpura Dhōra Jinālaya. Written by Lokayya. (*Bom. K. I.* I. no. 34).

11 Rōṇa : Akālavarṣa. Būtuga II in Gangavāḍi. His wife Pa(dma)bbarasi to her basadi and Dānaśālā. Dec. 23. 950 A. D. Koṇḍakundānvaya, Dēśigaṇa, Mahēndra Paṇḍita

|

Viraṇandi

|

Gunacandra.

donee of Mārasingha.

975 A. D. 21 June. Padmanandi Bhaṭāra. Death of Amṛtabbe Kanti (*M. A. R.* 1939. 65).

KADAMBAS.

12. Kogōḍu : Nīti Mahārāja. C. 1034. A. D. Nīti died by sannyasana. (*M.A.R.* 1939. 36).

13. Tumbadēvana Haḷḷi : Eṛeyanga Kādamba Cakrēśvara. 27 Oct. 1906 A.D, to Dēśigaṇa Ravicandrākhya Sai...and Mācavve Ganti. (*M. A. R.* 1939. 37).

14. Banavāsi : Kadamba Cakravarti Virama (?). Oct. 25. 1081 A.D. To Dēśi gaṇa, Pustaka gaccha Sakala candra. Death of his disciple Bhōgavve, wife of Tippi Seṭṭi Sātayya. (*M.E.R.* 1936. E. 143).

WESTERN GANGAS.

15. Hosakōṭe c. p. of Avinīta: 12 yr. Kārtika Śn. 15. An arhat dēvā yatana built for the merit of the mother of simha Viṣṇu Pallavādhirāja and for his own merit—grant of land near the tank of the village Pulliūr in Korikunda, with śramaṇa-kēdāra. (*M. A. R.* 1938. 1.)

NOḶAMBAS.

16. Mayindamma : to a Basadi and Kamala Prabha Gorava. 9 c. A D. (*S. I. I.* IX—I. 19).

17. Dharma Puri : Iruḷcōra. To Māngabbe Kanti of Tagaḍūr (*S. I. I.* IX—I. 23) Feb. 5. 929 A.D. (*S. I. I.* IX—I. 23)

KALYĀṆI CĀLUKYAS.

18. ... Jagadeka Malla. 1148 A. D. Jan. 5 or 25 Dec 1147 A.D. Malla Gāvuṇda of Nēralige in Belahuge to Mallinātha Jinēśvara. Mūla Samgha Sūrasthagaṇa Chitrakūṭa Gaccha—Digambara Harinandi. (*M E. R* 1934. E. 61).

19-20 ... Paḍevaḷa Taila and Attimabbe. (*Bom. K. I.* no. 52, 53)

21. Nandi Bēvūr: Āhavamalla (Sōmēśvara I) Dec. 24. 1054 A. D. Brāhmaṇas gave to the basadi of Dēśigaṇa Pottage Vaḷi Aṣṭōpavāsi, disciple of Vīraṇandi Siddhanti (*S.I.I.* IX—I. 115).

22. Kogali Basti: Trailōkyamalla (Somēśvara I). Oct. 27 1055 A. D. Basadi formerly constructed by Durvinita, then in-charge of Indra kīrti of Konḍakundānvaya, Dēśigaṇa, ornament of the court of Trailōkya malla. (*S.I.I.* IX—I. 117)

23. „ Indranandi's disciple Vādi Bhēruṇḍa Candranandi Paṇḍita of Kantiyara Jinālaya. Grant of chatra by Nolamba Seṭṭi and his wife Padmāvati abbe to the sthāna guru (*S. I. I.* IX—I. 130).

24\. ... 1074 A. D. March. 9. Nandīśvarāṣṭami. Jayakēśi of Maṇala Vamśa visited Purigere Permadi Basadi, Tribhuvana candra disciple of Gaṇḍavimukta of Bālātkāra Gaṇa (*M. E. R.* 1936. E. 29).

25\. ... 1077 A. D. July 5. Wednesday; April 14, 1078. A. D. Śrīnandi Paṇḍita of Sūrastha gaṇa died by sallekhana at Ane Sajje Basadi of Purikara (1077). His elder brother Bhāskara nandi also died (1078 A.D.), (*M.E.R.* 1936. E. 6)

26\. Marol. Jayasimha II Kamala Dēva Traikāla yogi

|

Vimukta dēva

|

...Siddhānta dēva.

Aṇṇiya Bhaṭṭāraka.

Prabhācandra of...Parṇa vatsala Vamśa.

Anantavīrya

... Kīrti dēva of Maravoḷala Basadi under Sattiga's daughter Mahādēvi. 1024 A. D. Dec. 24. Grant to Dēvakīrti Paṇḍita disciple of Guṇa kīrti (*Bom. K.I.T.* 61) Cf. Ālūr Ins. of Vikrama V. Ś 933.(*E. I.* XVI. p. 27).

27\. ... Yāpunīya Samgha...Śrīvara Traividya dēva

|

Jayakīrti.

Nāgacandra Siddhānti·

28\. .... Grant to Nāgcandra on Dec. 24. 1029 A. D. (*Bom K. I.* I—65).

29\. Mugad : Somēśvara I. (Yāpunīya) Śrī Kumudigaṇa Śrīkīrti.

|

Prabhā and Śaśanka munīndrar.

Their Sahadharmas :

Nayakīrti bratinātha

Ekavīrar

Mahāvīrar

Viśruta kīrti (?)

...ndyācārya

Narēndra Kīrti. His disciple Nāga (bi) kkivrati. His sahadharmi Niravadya Kīrti. Vāsudēva Svāmi Pārśvadēva Svāmi. His sadharmas Śubhacandra and Mādhavēndu brati. Mādhavēndra's Sadharmi Bālacandra

|
Rāmacandra
His agra śiṣyas Municandra,
Ravikīrti (Dayānidhi ?)

In Niravadya Kīrti's line Gōvardhana Dēva I, his Samapada Anantavīrya who wrote many sat kathā. His sahadharma Kumārakīrti, his priya śiṣya Dāmanandi, his sahadharmi Traividya Cūḍāmaṇi, Gōvardhana II, his śiṣya mukhya Dāmanandi gaṇḍavimukta. Vaḍḍācāryas of Kumudigaṇa.

Āhavamalla's subordinate Kadamba Caṭṭayya ruling Palasige 1200, Mahārājavāḍi, Mugunda 30 whose Nārgāvuṇḍa Cāvuṇḍa made Samyaktva Ratnākara Caityālaya in Mugunda for Piriya Gōvardhandēva. Ś. 966. Pārthiva. 1045 A. D. March 25 Cāvuṇḍa
|
Nāgadēva
|
Mārtaṇḍa.

constructed a nāṭaka śāla in the basadi built by his muttayya (? on the above date). (*Bom K. I.* I. 78)

30. **Arasībīḍi**: Akkādēvi at Gōkāge to Hogari gaccha Vīrasēna gaṇa Nāgasēna Paṇḍita of Goṇada Beḍangi Jinālaya of Vikrampura (Arasībīḍi). March 29. 1047 A. D. (*Bom. K. I.* I. no 80; *E. I.* XVII. p. 121).

31. Dambal: Bīrayya Seṭṭi built Nagara Jinālaya at Dharmavoḷal. 1059 A. D. March, 28.

32. Soraṭūr: Sōmēśvara II. Baladēva Daṇḍanāyaka, disciple of Nayasena. Sūrasthagaṇa, Citrakūṭāṇavaya :

Candaṇandi.
Sakalacandra.
Dāvaṇandi.

Sakalacandra's sahadharmi Kaṇakanandi Saiddhāntika; his disciple Siriṇandi paravādi śarabhabhēruṇḍa; his

disciple Hulliyyabbājjike in Saraṭavura Baladēva Jinālaya. Dec. 25. 1071 A D. (*Bom. K. I.* I. 111).

33. Pongunḍa; Rājadhāni Pongunda Arasara Basadi of Sūrasta Gaṇa, Citrakūṭāṇvaya.

Kanakanandi.
|
Uttarā (sanga) Bhaṭṭāraka.
|
Bhāskaranandi; his sadharmi
Aruhaṇa nandi; his disciple
Ārya Paṇḍita. Dec. 24, 1074 A. D.
(*Bom. K. I.* I. 113).

34. Bijapur : Vikrama VI. ? Trailōkyamalla. Āyicamayya built Beṇṇūr. basadi at Beṇṇevūr, under Lakkharasa of Banavāsi. Mūla Samgha Candrikāvāṭavamśa Śantinandi. Ś. 988· Parābhava (1066-7 A.D.). (*M. E. R.* 1934 E. 113)

35. .... Bijji Seṭṭi established Pārśvanātha at Kannavuri. Koṇḍakundānvaya Mūla Samgha Dēśi Gaṇa Pustaka Gaccha Arhanandi Beṭṭedēva. Dec. 21, 1113 A. D. (*M. E. R.* 1934 E. 117).

36. ... Mūrujāvidēva of Purigere 1088 A. D. Dec. 31 (*M. E. R* 1936. E. 76).

37. Konakonḍla: Jōyima in Sindavāḍi. Nālikabbe's grant for the merit of her husband to Caṭṭa Jinālaya at Koṇḍakundeya tīrtha. 1081 A. D. Dec. 23. (*S.I.I.* IX—I. 150).

38. .. Inscription written by Malliyaṇṇa, chātra of Śrī Sarsvatī gaṇa. 1126 A. D. Dec. 16. Śaiva inscription. (*S. I. I.* IX—I. 215).

39. Togarikuṇṭe : Queen Candala's son Kumāra Tailapa in Sindavāḍi Daṇ. Kommaṇayya on solar eclipse (no date) to Togarikuṇṭe Basadi of Candraprabha. Ācārya Padmaṇandi Siddhānti's disciple Pra...tīrthadēva. (*S. I. I.* IX—I. 221).

40. Seram : Tribhuvanamalla. yr. 48. Sōbhakṛt Māgha, Śn. 10. monday. Brāhmaṇas of Sēḍimba constructed Brahma

Jinālaya for Śāntinātha and gave it to Prabhācandra Traividya with the land of Lōka-Jinālaya of Sēḍimba.

Maḍuvagaṇa Vīrapura tīrthādhipati
Prabhācandra Traividya.
|
Rāmacandra Traividya.
|
Prabhēndu Traividya.
(*S. I. I.* VII. 723).

41. ... Bhūlōkamalla : Brāhmaṇa Barmidēva Vibhu and Sēḍimba Vipras made Śāntinātha Basadi to Prabhācandra Traividya Vādībha Kaṇṭhīrava.
Rāmacandra Traividya.
|
Traividya Prabhēndu.

42. Purigere : Indrakīrti Paṇḍita of Goggi Basadi and Pergaḍe Malliyaṇṇa. 1132 A. D. May 31. (*M. E R* 1936 E. 48)..
Ś. 1117. Ānanda. Caitra Ba. 2. Vaḍḍavāra. Tirtha Candraprabha dēva's disciple Peṇḍara Bāci Muttabbe died (*M. E. R.* 1935 E. 14).

43. Henjeru : Somēśvara IV. Bhōgadēva Cōla in Henjera to Mūla Samgha, Dēśigaṇa, Pustaka gaccha :
Vīraṇandi Siddhānta Cakravarti.
|
Padma prabhamaladhāri (donee)
Kīrtisēna (I. 38) (S. I. I. IX—I. 278)
Feb. 24. 1185 A. D.
Tribhuvana malla (Vikrama VI ?). Kumāra Tailapa in Sindavāḍi. No Date. Koṇḍakundānvaya Indra Kīrti (?)
Padmaṇandi ...
Nayakīrti dēva.

44. Śirasangi : Jagadēka malla II. Dec. 22. 1148 A. D. Śaiva inscription composed by Kalideva Paṇḍita, guḍḍa of Śrīmat Bhuvana candra Siddhānta Dēva (*N. K. K. I* no. 24).

KĀLACHŪRYAS OF KALYĀṆI

45. Babānagar : Basadi at Kannaḍige to Dēśi gaṇa Māṇikya Bhaṭṭa-

raka of Mangalivēḍa. Ś. 1083 Vikrama (1151? A. D.) (*M. E. R.* 1934, E. 120).

46, ... Ś 1084 (?) Kīrti Seṭṭi in Ponnavatti, Beḷahuge and Beṇṇeyūr built Pārśvadēva temple. Pustaka gaccha Maladhāridēva (*M. E. R.* 1933. 51).

YĀDAVAS OF DĒVAGIRI

47. Puligere: Rājala Dēvi, daughter of Bīcirāja. Her rājaguru Padmasēna of Śrīvijaya Jinālaya at Purikara. Ś. 1169. Plavanga, Jyēṣṭha, Amāvāsya, (*M. E. R.* 1936 E. 9).

48. Kallukere: Ananta Tirthankara established by Mahāpradhāna Malla, Bāca and Pāyi Seṭṭi. Kamalasēna muni. 1243 A. D. August 30. (*M. E R.* 1937 E. 53), 22. January 1251 A. D. to same God. (*M E. R* 1937 E 54).

49. ... Kṛshṇa. Kulacandra
|
Sakala candra died. 6 yr. of Kṛshṇa, Virōdhi, Bhadra, Śu. 14 Thursday. (*M. E. R.* 1933. E 162).

50. Pūvina Paḍangili: Kusuma Jinanātha basadi (1 59). Ś 1181, 1258 A. D. (*S. I. I.* IX. 1—371)

51 ... Mahādēva: Nandi Bhaṭṭāraka
(9 yr. Vibhava) |
Naya kīrti, his disciple Nāḷprabhu Gangara Sāmanta Sova died by sannyasana at Cengūr. (Havēri Taluk) (*M. E. R.* 1933. E. 168).

52. ... Rāmacandra: January 1. 1289 A D. Mādayya, disciple of Samantabhadra Dēva died, (*M. E. R.* 1936 E. 72).

RAṬṬAS OF SAUNDATTI.

53. Hannikēri: Jaina inscription in Śiva temple. Kārtivīrya's son Lakshmidēva with his wife in Vēṇugrāma to Pārśva Jinēndra Bhavana constructed by Hollana. 1209 A. D. 9 Feb

Yāpanīya Kāreyagaṇa Maiḷapānvaya
Kanakaprabha (jātarūpadharavikhyāta)
|
Śrīdharadēva Traividya.
|
Kanakaprabha paṇḍita in Kūṇḍi
(*N. K. K. I.* no. 22. *K. I.* I.)

54. Räyabāg (Kolhapur Museum) : Kārtavīrya. Ś. 500 (?) Bhāva. Mentions Yāpanīya Saṃgha Mūla Basadi. (*K.I.* I *W.K.K.*I.)

55. Baḍli : Raṭṭa Lakṣma Bhūpa, Municandra. Ś. 1141. Pramādhi. Temple of Abhinandana Siddhā...(?)
Yāpanīya Kāreyagaṇa......Mahāmaṇḍalācārya.
...Mādhava Bhaṭṭāraka.
...dvinaya Dēva.
...Kīrti bhaṭṭāraka.
...Jina Dēva.
Yāpanīya Kanakaprabha.
|
Śrīdhara Traividya (*K. I.* no. 32).

HOYSAḶAS.

56. Viṣṇuvardhana ; For merit of Gangarāja's younger brother (?) Sōvaṇa to Hādiravāgilu Basadi. Nov. 16. 1121 A. D. (*M. A. R.* 1938. 38).

57. Kambada haḷḷi : C. 1130 Gangarāja's son Boppa caused Śāntīśavara Basadi to be made by Rūvāri Drōhagharaṭṭācāri Kanne, (*M. A. R* 1939. 66.)

58. Daḍiga : Mariyāne and Bharaṭa built five basadis, four for Dēśigaṇa and one for Krāṇūrgaṇa at Daḍigaṇa Kere.
Kāṇūrgaṇa, Tintriṇīgachha
Jāvaḷige Munibhadra (not candra)
|
Mēghacandra Siddhānti.

59. Bhadrabāhu : Dec. 25. 1153 A. D. (*M. A. R.* 1938. 10).

60. Narasimha III. 12 March, 1271 A D. Sōmayyadaṇḍanāyaka's Maiduna Bācayya renovated Honkunda Basadi (near Halebīḍu). (*M. A. R.* 1937. 39).

61. Kogali : Rāmanātha : To Cenna Pārśva Rāmanātha of Kōgaḷi Nāḷprabhu Dēvi Seṭṭi gave land. Sindaviga Bhadrasēna Paṇḍita. 24 Sep. 1276 A. D.
Kolhāpurasthāna Sāmanta Jinālaya
Kanakanandi
|
Prabhāca... (*S. I. I.* IX—1. 346. 47).

62 ... Ubhayācārya of Kōgaḷi. (*S. I I*—1. no. 360).

63. Varuṇa : Draviḷa Samgha, Arumguḷānvaya Śrīpāla.
|
Padmaprabha
|
(putra) Dharmasēna died.
(*M. A. R.* 1940. 43).

64. Kelagere : Narasimha (III ?). Balātkāragaṇa :
Vardhamāna Bhaṭṭāraka.
Srīdharācārya.
Devanandi Traividya.
Vāsupūjya Siddhānti deva.
Śubhacandra.
Abhayanandi.
Arhanandi.
Dēvacandra Siddhānti.
Kanakacandra Aṣṭōpavāsi.
Nayakirti.
Cāndrāyaṇa Dēva
Ravicandra māsōpavasi.
Hariyanandi Siddhānti
Srutakìrti Traividya.
Vīraṇandi Siddhāntadeva.
Gaṇḍavimukta Nēmicandra.
...māna munīndra.
Śrīdharācārya.
Vāsupūjya Traividya.
Udayacandra Siddhānti.
Kumudacandra Dēvara Mā (ghanandi ?)

To Māghanandi Siddhānta Cakravarti of Trikūṭaratnatraya Śāntinātha Basadi of Dorasamundra, Narasimha gave a village. (*M. A. R.* 1940. 37 cf. Halebīd Ins. *M A R.* 1911. p. 49).

65. Bāḍli : Ganga Kandarpa Jinālaya. Under a Hoysaḷa......Kīrti paṇḍita Cikkayya and Dūsiga Pārisa Seṭṭi; mentions Permāḍi Basadi (*K. I.* 29).

66. Mūgūr : Dēśigaṇa Pustaka gaccha Ingaṇēśvara samgha.

Bhāṇukīrti
Paṇḍita dēva
|
Kāna
|
...nandi renovated Basadi. c. 13 c. A. D.
(*M. A. R.* 1938. 57.)

67. Dēśigaṇa, Pustaka gaccha, Hagare tirtha pratibaddha Bharata Paṇḍita received a grant from the daugher of Jakkiyabbe. 13 c. ? (*M. A. R.* 1938. 58.)

68. Tagaḍūr : Koṇḍakundānvaya Mula Samgha Nāganandi 14 c. A. D.
|
Anantabhaṭṭāraka
|
Nandibhaṭṭāraka.
|
...Kanti died at Tagaḍur
(*M. A. R.* 1938. 44).

69. Maisunāḍa...Saiddhānti dēva. His priyaguḍḍi Kēśavadēvi; her eldest sister Māradēvi died. 1384 A. D. June 5. (*M. A. R.* 1938. 36).

70. Bēlūr : Bhadrabāhu, Bhūtabali, Puṣpadanta, Ēkasandhi sumati, Akalamka, Vakragrīva, Vajranaṇdi, Śimhaṇandi, Kanaka sēna Vādirāja, Śrīvijaya, Śāntideva, Puṣpasēna, Ajitasēna Paṇḍita, Kumārasēna, Malliṣeṇa Maladhāri......Śrutakīrti, Śrīpāla, Sadharma Anantavīrya, Vāsupūjyavratīndra, Vādirāja, Śrīpāla's disciple Māca Daṇḍanāyaka. His *vrata* and *Śrutaguru* paravādimalla Vādībhasimha mahā-maṇḍalācārya Śrīpāla traividya made Ādidēvara Basadi. 1153 A. D. Dec 25, Hoysala Narasımha gave Nāgarahāḷu. Guṇasēna Paṇḍita mentioned. (*M. A. R.* 1938. 10).

71. Bōgādi : Ballāḷa II. 1173 A. D. 13 Oct. Mācirāja gave a village to Śrīkaraṇa Jinālaya Pārśvadēva at Bōgavadi, Akalamka dēva simhāsana Padmaprabha svāmi (*M. A. R.* 1940. 29).

VIJAYANAGARA.

72. Rāyadurga : Nandi Samgha Balātkāragaṇa Sārasvatagaccha
Amarakīrti
|
(suta) Māghaṇandi Siddhānti. His disciple Bhōgarāja established Ananta Jina at Rāyadurga. Nov. 20, 1355 A. D. (*S. I. I.* IX—2, 404).

73. Kampa. Grant to Mallinātha (Jaina ?) April 15, 1365 A. D. (*S. I. I.* II. 411).

74. Irugappa son of Bayica Daṇḍanāyaka at Celu Mullūr. 1367 A. D. June, 11. (*S. I. I.* IX. II—412).

75. Cittāmūr (Gingee Taluk). Branch of Śravaṇa Beḷagoḷa Maṭha. Ś. 1500. Jagatāpi Gutti Buśśeṭṭi son of Bāyi Seṭṭi of Mahānāgakula. Nemināṭha of Mylapore established here. (*M. E. R.* 1938. p. 109).

76. [Abhinava Ādisēna Bhaṭṭāraka of Cittamūr maṭha. Ś. 1787 —V. N 2529. (*M. E. R.* 1938. 520.)]

77. Kurugōḍu : Acyuta 1545 A. D. Dec., 28. Mahāmaṇḍalēśvara Koṭagāra Rāmarāja Oḍeya's grandson Aḷiya Lingarāja's elder brother Rāmarājayya for the merit of his father Mallarāja Oḍeya gave grant to Kuṛigōḍa Basti Jinna dēva. Kamme Vaiśya Gōmi Seṭṭi restored the basadi for Padmarasa Paṇḍita of ŚrīMūlasangha, Balātkārāgaṇa. A. D. 1546. Feb. 8. (*S. I. I.* IX—2. 618).

TUḶUVA BHAIRARASAS.

78. Bhaṭkal : Malli Rāya's nisidhi in Bhaṭṭakaḷa. 1408 A, D. Oct 29. (*K. I.* no. 38).

79. Bhairādēvi's nisidhi. 1408 A. D, Oct. 27. (*Ibid.* 39).

80. Grants Kāyikiṇi Basadi of Pārśvanātha. 1417 A. D. Feb. 21. Pāyaṇārya established Kāikani caitya.

Balātkāragaṇa Sarasvatī Gaccha Vidyānanda Traividya Cakrēśvara. (*Ibid* 41.)

81. Hāḍuvaḷḷi : Māṇikyasēna, disciple of Jayasēna requested Sanga to allow saltēkhana. 1429 A. D. July, 2. (*Ibid* 49).
Sāḷvīndra Kṣitipa established Candraprabha and Mānastambha. 1484 A. D. June, 13. Paramaguru Paṇḍitārya of Sangītapura, (*Ibid.* 65.)

82. Mūḍa Bhaṭkal : Cenna Rāja disciple of Akalamka constructed a caitya: his queen Gangānvaya Bhāminī died by sallēkhana. 1490 A D. April 30. .... dyānandārya. Bammaṇa (?) mentioned.

83. Mūḍa Bidre : Vēṇupura Abhinava Cārukīrti Paṇḍita made Tribhuvana Cūḍāmaṇi Caityālaya. Ś 1351 Saumya, Māgha, Śu. 5 Thursday. Mukhamaṇṭapa on Ś 1373 Prajāpati, Vaisākha Śu. 7 Thursday. (*S. I. I.* VII. 196.)

84. Aṇṇa Sāmanta of Vamśapura. Ś. 1384. Khara, Kārtika. Śu. 5 Thursday. Cārukīrti Paṇḍita. (*Ibid.* 198).

85. ... Ś. 1409. Parābhava, Kārtika Śu. 1. Sunday. (*Ibid.* 199).

86. ... Ś. 1382 Vikrama. Phālguṇa Śu. 7. Paṇḍitadēva (*Ibid* 200)

87. ... Bhairava, disciple of Abhinava Cārukīrti began the Tribhuvana Cūḍāmaṇi caitya. Ś. 1351. Saumya, Māgha. Śu. 5 Thursday; at Bhallātakīpura, Beḷagolapura, Candragutti, Honnāvara. Vēṇupura-Candra Jina mandira was covered with copper for Vīra sēna guru. Queen Nāgala established mānastambha. (*Ibid.* no. 202).

88. ... Ś. 1384 Viṣu. Puṣya. Śu. 1. Wednesday. Nagire Hire Bhairava very ill. Grant to Bidire Candranātha. His younger brothers Bhairarasa and Ambirāya to Beḷagoḷa Paṇḍita dēva. (*Ibid.* no. 203).

89. ... Paṇḍita Dēva (*Ibid.* No. 204).

90. ... Abhinava Cārukīrti and Sārakhēti Bhadradeva, Ś. 1454. Nandana, Caitra Śu. 1. Friday. (*Ibid.* 205).

91. ... Paṇḍita Dēva. (*Ibid.* 206).

92. ... Bhairādēvi Maṇṭapa. Kṣhēmapura Cārukīrti Sāluva Malla. (*Ibid.* 207).

93. ... Cārukīrti Paṇḍita. Ś. 1368. Durmukhi. Māgha Śu. 10. Friday. (*Ibid.* 209).

94. ... Abhinava Cārukirti; Munibhadra; Sēna gaṇa Vardhamāna. Ś. 1437 Yuva. Vaiśākha Śu. 5 Thursday. (*Ibid* 212).

95. ... Cārukīrti. Ś 1460. Bahudhānya. Caitra (*Ibid* 214).

96. ... Candra Kīrti died. Balātkāragaṇa Traividya Cakravarti Śrī Pārśvanātha Mahēndrakīrti Dēva ... (*Ibid.* 217).

97. ... Death of Prabhēndu of Dēśi gaṇa (*Ibid.* 216).

98. ... Kulaśēkhara Āḷpēndra. Ś 1306. Kali 4484. Cārukīrti of Bidire Basadi. (*Ibid.* 225).

99. ... Abhinava Cārukīrti. Ś. 1312. Śukla. Mithuna. 15, Friday. (*Ibid.* 229).

100. ... Maladhāri Lalitakīrti. Ś. 1397, Manmatha, Mārgaśira Śu. 5. Sunday. (*Ibid.* 242).

101. ... Bhairavarasa. Lalitakīrti's disciple Śāntikīrti, Ś. 1501, Kārtika, Śu. 1. Wednesday. (*Ibid.* 243).

102. ... Kārkaḷa Kumāra Pāṇḍyappa Oḍeya. Lalitakirti. Ś. 1514, Vijaya. Bhādrapada Śu. 3. Sunday.

113. ... Panaśōkāvalīśvara Dēśi Gaṇa Maladhāri Lalitakirti's disciple Abhinava Paṇḍya of Humca. Ś. 1379, Īśvara, Kārtika Śu. 1. Wednesday. (*Ibid.* 246).

104. .... Rāya Jiva Rakṣāpāla Ballāḷa rāya citta camatkāra Cārukīrti Paṇḍita. His disciple Lokanātha Dēvarasa of Humca. Ś. 1256. Bhāva, Phālguṇa Śu. 5 Wednesday.

105. ... Tribhuvana vidyācakravarti Madhyānha Kalpa vṛkṣa Vādībhavajrāmkuśa Kāṇur gaṇa Bhānukīrti maladhāri. His agraśiṣya Kumudacandra in Karkala Śāntinātha basadi. (*Ibid.* 247).

106. ... Pāṇḍya, son of Bhairavarāja and Candalāmbā constructed Caturbhadra Basti. Dēśigaṇa Parasāravalīsvara Lalitakīrti, Ś. 1467. Krōdhi, Magha, Śu. 4. Sunday. (*Ibid* 248).

107. Veṇūr : Cārukīrti's disciple Vīra Timmarāja Oḍeya Ajila's wife constructed Cendanātha Jinālaya to the left of Yenur Gummaṭa. Ś. 1526. Śobhakṛt, Mīna. 2. Sundy. (*Ibid* 251).

108. ... The chief constructed on right side Śāntinātha temple on same date. (*Ibid.* 252).

109. ... Lalitakīrti. Ś. 1544 Durmati, Kārtika. Śu. 1. **Sthiravāra.** (*Ibid* 255).

110. ... Lalitakīrti. Ś. 1459. Hēmaḷambi, Kārtika, Śu. 10. Sunday, His disciple Sālva Pāṇḍya dēva Ajila. (*Ibid.* 256).

111. Mulki ; Mānastambha inscription. (*Ibid.* 260).

112. ... Abhinava Cārukīrti. Ś. 1464. Śubhakṛt, Simha 13, Sunday. Kinnika Sāmanta's aḷiya Dugganna Sāmanta. (*Ibid* 262).

113. ... Cārukīrti Paṇḍita. Ś 1421. Siddhārthi. Māgha Śu. 1, (*Ibid* 369).

114. ... Nisidi of Kīrtibhaṭṭāraka of Kālōgragaṇa. Ś. 1314, Prajāpati. Caitra. Śu. 8. Tuesday. (*Ibid.* 370).

115. .. Abhinava Caritadēva's grant tō a basadi, under Rājaśēkhara of Vijayanagara. Ś. 1390 Sarwadhāri. Magha. Śu. 1. Monday. *Ibid.* 371)

116. Bārakur. Harihara. Sarvappa Daṇḍanāyaka's grant to Pārśavanātha of Mūrukēri Basadi at Bārakūr. Ś. 1312. Śukla, Vṛṣabha māsa. (*Ibid.* 391)

117. Penukoṇḍa : Nisidi of Nāgāyi, guḍḍi of Mahāsakala vidvajjana Cakravarti Śri Dharma bhūṣaṇa Bhāṭṭāraka. (*Ibid.* 576.).

HARATI CHIEFS.

118. ... Harati Rāyappa granted a village to Ratnagiri basadi renovated by Lakṣmīsēna (Contemporary of Dēva Rāja Odeyar. *E. C.* IV. *Nāgamangala* 43.) 1680 A. D. Sep. 7.

Samantabhadra
|
Vīrasēna
|
Lakṣmīsēna. (*M. A. R.* 1939. 62).

MISCELLANEOUS.

119. ... Padmanandi Bhaṭāra. Death of Amrtabbe Kanti. 975 A. D. June. 21 (*M. A. R.* 1939. 65).

120. ... Kolhapur Pillar Inscription. (*N. K. K.* I. no. 1.)

THE CONTRIBUTION OF JAINISM TO WORLD CULTURE.

A. Chakravarati.

History of Jainism : The year 527 B. C., the date of Mahāvīra's Nirvāṇa, is a landmark in Indian History. We may say that an accurate knowledge of Indian History begins with the date of Mahāvīra's Nirvāṇa. Mahāvīra was an elder contemporary of Gautama Buddha. He was also the contemporary and a relation of Śreṇika Bimbasāra who was the king of Magadha with the capital of Rājagriha. People whose knowledge of Indian history is derived from old Sinclair's school history of India have got extremely erroneous notions about Jainism and its relationship to the other faiths in India. Sinclair because of inadequate knowledge gave currency to untruths and errors such as "Jainism is an offshoot of Hinduism and Buddhism and that Mahāvīra was the founder of Jainism." It is extremely unfortunate that even after accurate knowledge is obtained by oriental scholars and made available to the public, these erroneous views are prevalent among the educated Indians even now. We have only to state that Mahāvira was the last and the 24th of a series of Tīrthaṅkaras who were supposed to be the custodians of Jaina doctrines. Oriental scholars have now definitely accepted that Mahāvīra was not the founder, but he was only a reviver of a Faith that existed even before him. The 23rd Tirthaṅkara, Lord Pārśvanātha, who lived a couple of centuries prior to Vardhamāna Mahāvīra, is generally recognised now to be a historical personage. Even the 22nd Tīrthaṅkara, Arishṭa Nemi is considered to be a historical personage. This Arishṭa Nemi was a cousin of Śrī Krishṇa of Mahābhārata fame. Though he was the heir to the kingdom of the Harivaṁśas, he renounced the kingdom as a youth even before marriage and adopted asceticism as Gautama Buddha and Mahāvīra did long after him. His place of Nirvāṇa at Mount Girnar in Junagad state is still a place of pilgrimage for the Jains. Krishṇa's age as also the age of Mahābhārata war is supposed to be the beginning of Kaliyuga. Therefore Arishṭa Nemi who was a cousin of Śrī Krishna must be in the beginning of

the Kaliyuga. If Śrī Krishṇa is admitted to be a historical personality there is no reason why the same should not be said about Arishṭa Nemi Further, Arishṭa Nemi is mentioned in some of the Rigvedic hymns as one of the important Rishis. Hence, the Jaina tradition and the non Jaina tradition seem to accept the historicity of Arishṭa Nemi. Hence, it would not be altogether an improbable thing to suppose that the Ahiṁsā doctrine must have been prevalent even at the time of Arishṭa Nemi who is assigned to the beginning of Kaliyuga. To go beyond that would be to cross the border of history and to enter into pre-historic period whose events cannot be clearly vouchsafed for. But we have to go to the beginning of Jainism, according to the Jaina tradition to the age of Lord Rishabha. Lord Rishabha is considered to be first of the Tīrthaṅkaras. He is placed almost in the Kritayuga according to the Jaina tradition. He is supposed to be the last of the Manus and the first of the Jinas. We have very interesting account of this period.

Just prior to his appearance in the world, the people were living in a golden age where they had everything necessary for life provided for them by Kalpaka *vrikshas.* The earth itself was surrounded by a sort of luminous atmosphere shedding light over the the surface of the earth and preventing a view of the heavenly bodies, Sun, Moon and Stars About the time of Rishabha all these things disappeared. Heavenly bodies were seen by the people giving rise to succession of night and day. Kalpaka trees disappeared throwing the people into a consternation not knowing how to live. Under these circumstances, Rishabha is said to have instructed the people to get on with different professions such as agriculture and trade, and taught them how to live at peace. He also explained to them the significance of the appearance of the Sun, the Moon and other heavenly bodies so that their novelty need not be a source of fear to the people. Because of this work of social organisation leading to the settled life of people occupied in different vocations, Lord Rishabha is very often described as a Creator of the world in the sense of Socio-economic foundation. After ruling over the land for several years he renounced the kingdom in favour of his son Bharata after whom the land is called Bharata-khaṇḍa and went to perform

Tapas. After obtaining Sravajñahood or Omniscience, he spent several years in preaching the Dharma to the people, and finally obtaining Nirvāṇa on Mount Kailāsa which is a sacred place according to the Jainas. For this achievement Lord Rishaba is designated as Ādi Jina, Ādi Bhagavān, Ādi Īśvara, Yogīśvara, Mahā Yogi and such other names of adoration. For this cycle of time, therefore, Lord Rishabha is considered to be the first to preach Ahiṁsā Dharma and to lay the foundation of Jainism. We need not repeat the fact that this would take us to a far distant pre-historic period whose date cannot be accurately determined.

Here, it would not be altogether inappropriate to mention the fact that the story of Lord Rishabha, in almost identical words, is described in Bhāgavata Purāṇa and Vishṇu Purāṇa of the Hindus. There also, long long prior to the period of Avatāras, Vishṇu, in order to satisfy the request of Nābhi Rāja, was born as his son, Rishabha. In this Purāṇic account also, Lord Rishabha after reigning over his kingdom for sometime, abdicates the throne in favour of his son, Bharata, and retires into a forest to perform Yoga. There also, he is mentioned to have preached the Ahiṁsā Dharma and Yoga practice But, according to the Purāṇic account, this new wisdom was not understood and appreciated by the people at large who mistook him as a madman, bringing in unintelligible innovations. This lack of appreciation given currency in the Purāṇic story may be explained as a result of unsympathetic attitude of the non-Jain author of Purāṇas. From these accounts, Jaina and non-Jaina, it would not be altogether improbable hypothesis to suggest that long before the so-called period of Avatāras, a sort of religious cult associated with Lord Vrishabha and based upon Ahiṁsā Dharma must have been prevalent in India. Though Lord Rishabha's activities were associated with Northern India, it may be safely asserted that his cult was prevalent probably throughout India and beyond. The ground for such a statement is the account of the rise of the Vidyādharas according to Jaina traditions. When Lord Rishabha abdicated his kingdom in favour of his son, he portioned out the country to his descendants before adopting Tapas. He forgot to assign any territories to Nami and Vinami, two junior members of

the tribe. These appealed to him very late and through the intervention of one of the Devas they were asked to settle down in the territory south of the Vindhya hills and found the kingdoms associated with the Vidyādharas. This tribe of Vidyādharas must, therefore, be considered as an allied tribe to the Ikshvāku group to which Lord Rishabha and Bharata belonged. These Vidyādhara kings who settled down in South of India are supposed to be the forefathers of the great Rāvaṇa who ruled over Laṅkā and Vāli and Sugrīva who had their kingdom in Kishkindha. Though Vālmīki Rāmāyaṇa described these as cannibalic Rākshasas and sub-human tribe of monkeys, the Jaina tradition is entirely different and describes them as highly cultured human tribes of Vidyādharas consisting of two branches of which one is associated with Vāli and Sugrīva of Kishkindha. Jaina writers make it quite clear that the latter called Vānaras by Vālmīki, is called so by a mistake due to a confusion. They had a Kapi-dhvaja; a monkey was inscribed on their banner for which they were called Vānara Dhvajas, in short, Vānaras. The point to be noted here is that the Jaina tradition that is found in all the Jaina works of Sanskrit and Tamil makes it clear that these Vidyādharas were the followers of Ahiṁsā Dharma because of their association with Lord Rishabha. As followers of Ahiṁsā Dharma they were certainly worshippers of Jina and were deadly opposed to animal sacrifice which was prevalent about that time. There is an interesting chapter in Padma Puarāṇa, the Jaina Rāmāyaṇa, with the heading, "Maruta Yajña Dhvaṁsa Parva", the chapter dealing with the destruction of Yāga or animal sacrifice proposed to be performed under the patronage of Maruta. Rāvaṇa who was ruling in Laṅkā and who prevented any attempt of animal sacrifice throughout his kingdom comes to know of the elaborate preparation made by Maruta for conducting Yāga according to Brahmanic Vedic rites. He hastened to prevent this, destroyed all the preparations made therein, drove away the congregations from the place of Yāgaśālā and issued strict orders to his officers not to permit any kind of sacrifice within his jurisdiction. This story clearly indicates the fact that these Vidyādhara kings who were in the south were of the Rishabha cult and hence were strictly opposed to Vedic sacrifice in the form of Yajña. This, obviously, explains why there was so

much opposition between the so called Rākshasas of the South and Āryan invaders of the north and why the Āryan Rishis had to obtain armed help for the conduct of their Vedic sacrifices as a protection against the interference by the Rākshasas ? Taking an impartial view of these Jaina Traditions, it would not be altogether wrong to suggest that throughout India there was prevalent the Rishabha cult of Ahiṁsā, not only in the North India but also in the South. That the Rishabha cult had been prevalent in North India long before the Āryan invasion is supported by the archeological research at Mohenjodaro and Harappa. The objects found there clearly point out the existence of culture and civilisation introduced by Lord Rishabha, the Mahāyogi. The abundance of the symbols of the Bull and the figures of Yogi is a clear evidence of that nature of the culture prevalent in that region. This may represent an indigenous culture or the culture of an earlisr tribe of foreigners who came to India. The question may be left open.

Confining ourselves to South India, we may assert without contradiction that the Rishabha cult must have been prevalent here long before the origin of Purāṇic Hinduism which supplanted Jainism in the South. Probably, the Śaivite cult of the later Purāṇic age is a corrupt modification of the Rishabha cult of the earlier age. According to the Jaina Tradition, the symbol or Lāñchana for Lord Rishabha is the Bull which according to Jaina Iconography is found inscribed even now in the 'pīṭha' on which the Idol of Rishabha is put up. Rishabha-Lāñchana, mark of the bull, carved in the pedestel on which Rishabha's idol is situated may easily be mistaken for Rishabha-vāhana, and the God above may be mistaken easily as Rishabha, Rudra or Śiva. Curiously, the term "Śiva" is one of the names of Lord Rishabha and we have already mentioned that Mount Kailāsa was the place of Nirvāṇa of Lord Rishabha. We may also mention here that according to the Jaina Tradition, the day of the year which is called Śivarātri now-a-days is Parinirvāṇa day of Lord Rishabha. Hence, Śivarātri is an important festival for the Jainas who celebrate the Nirvāṇa day of Rishabha, just as Dīpāvali, the Nirvāṇa day of Mahāvīra Vardhamāna. Strangely, both these days are celebrated by the non-Jain Hindus also who invented different stories for their

celebrations. When we take these facts into consideration, it is obviously quite easy to change Rishabha cult of Ahiṁsā to the Śaivite cult of Rudra Śiva of the later day. But it is a deplorable thing that this change introduced an extremely regrettable form of religion. In place of Lord Rishabha, the earlier Śiva, who was Sarva-Jīva-Dayāpara, we have a Kapāli Śiva with a skull borne in his hand which is said to be drippling with blood. At one stroke, the Ahiṁsā Rishabha cult is converted into a cult of Hiṁsā giving sanction to Vedic sacrifice involving slaughter of animals. This introduction of Kapālic cult in the South is associated with the Hindu Revivalistic period of Thevara hymns, when a terrible religious animosity sprang up between the Hindu Revivalist and the older representatives of South Indian Culture, the Śramaṇas. Any impartial reading of the Thevara hymns will bring out the fact that the Hindu opposition was mainly due to the condemnation by Jainas of the Vedic sacrifice involving slaughter of animals.

The above account of prevalence of Jainism in the whole of India would naturally imply the rejection of the theory that Jainism was introduced in the South about the time of Chandragupta Maurya who with his Guru, Bhadrabāhu, the head of the Jaina Saṅgha, migrated to the South to escape from horrors of a terrible famine in Norther n India about 3 centuries prior to the Christian era. This short account will give an idea of the antiquity of the Jaina Faith in India. We may also mention another fact which is borne out by Vedic literature. The people who were dwelling in the countries of the Ganges valley such as Kāśi, Kosala, Videha, and Magadha, though of Āryan origin had fundamental differences in their Faith and social values from the Kurupāñchāla Āryans. They were condemned by the more orthodox western Āryans because they were deadly opposed to animal sacrifice and were preaching the philosophy of the Ātman as more important aspect of Dharma than the Dharma associated with the Yajña. The group of philosophical literature under the name Upanishads has sprung from the Kshatriya heroes of the Gangetic valley to whom also belong the founder of Buddhism, Gautama Buddha, and also the last of Tīrthaṅkaras, Mahāvīra Vardhamāna. Oriental scholars are generally of the opinion

that the Aryans who settled down in Indus Valley came later into India and pushed earlier Āryans who were living there towards the East. The theory of two different waves of invasions of Āryans not only implies two political groups but also two different cultural groups. The former group of Āryans according to our theory were the followers of Ahiṁsā doctrines associated with Jainism which probably was responsible for the springing up of Upanishads, a new ātman cult accepted by the Āryans of the Gangetic valley and which pushed to the background as inferior and unimportant the cult of Vedic sacrifice. Rishabha Deva according to the traditional account belongs to this group of Āryans. the tribe of Ikshāvaku is referred to in Rigvedic literature as an ancient tribe. Therefore. by the time the Āryans of the Indus valley composed their hymns, these Ikshvākus of which tribe Lord Rishabha was the greatest hero was considered an ancient clan and almost forgotten. All these facts go to support our theory that even before the advent of the Āryans and the Vedic hymns, there was an Āryan group in India from the Himalayas in the North to the island of Cylon in the South and who were characterised by an entirely different culture and civilisation mainly opposed to the other Āryan cult of Vedic sacrifice. In a later period of medieval India, the later Āryan cult characterised by Vedic Secrifice had a predominant influence and eclipsed completely the earlier Āryan cult associated with Lord Rishabha and characterised by the doctrine of Ahiṁsā. This domination of Vedic culture may be seen even in present day India as the main characteristic of Hindu Faith. Though the later revivalist cult of Hinduism successfully crushed out of India the Buddhism and completely subordinated Jainism, both being based upon Ahiṁsā doctrine, the revivalist Hindu cult of South India still retains important marks associated with the previous Ahiṁsā cult. The very word "Śaivam" in Tamil parlance means strict vegetarianism. The temple worship in the form of the worshipping the god with the flower instead of by sacrificing animals is also a characteristic of the earlier Ahiṁsā form of religion ; Śaivism though modified and degraded by the influence of Kāpālikas still retains essential characteristics of the earlier Rishabha cult which was the foundation of South Indian Religion.

Not only the Kāpālika faith had its influence on the older Ahiṁsā cult but also the śaktaism left its indelible mark on the earlier faith. Lord Rishabha who was Yogīśvara was given a wife and made a householder. Śakti the wife of Rudra Śiva with a garland of skull bones is consistent with Śiva the Kāpālika The old lord who was 'Sarvajīva-dayāpara', the 'Aravashi andanan' the symbol of harmony of love and peace was made at one stroke Rudra, the terrible destroyer of the Universe. This may be enough for the historical survey of Jainism in South India.

JAINISM AS HIGHLY DEMOCRATIC IN ITS SOCIAL ORGANISATION AND HIGHLY RATIONALISTIC IN ITS PHILOSOPHY AND RELIGION.

The introduction of the Purāṇic Hindu cult of the revivalists not only brought in such deplorable change in the religious ideal but also brought in equally deplorable change in the social organisation. According to Jainism there was no Varṇāśrama Dharma as is associated with Purāṇic Hinduism. Lord Rishabha, when he organised the society on functional basis of trade, agriculture and defence, did not introduce the sect of Brahmins. Bharata, Lord Rishabha's son and successor to the kingdom, felt the necessity of creating a new group of people to look after religious worship and propagation of higher Dharma. How he created the Brahmin group is an interesting study. He devised a method of selecting the best men in the society who would pay unswerving loyalty to Ahiṁsā Dharma and these were called Brahmins not by birth but because of qualification, and they were ordained to be the custodians of religious ceremonies and the propagation of religious Dharma. Thus the differentiation in social organisation according to Jainism is entirely due to qualification and not to birth. Even a low born Chāṇḍāla, if he had necessary qualification, had the chance of being considered the highest in society. That such was the organisation of society in the South is borne out by Tamil literature. Ancient Tamil literature has two distinct words, one to designate the Brahmin by birth and the other to designate the Brahmin by qualification. The former is

always referred to as *Parpan* and the latter because of his loyalty to Ahiṁsā Faith is called *Andanar.* The definition in Kural of an Andanar as one who is of the Ahiṁsā Faith and who is characterised by his love and sympathy to all living creatures is an evidence in support of this view. The social organisation based upon culture and qualification has at one stroke been converted to the Varṇāśrama Dharma claiming superiority merely on the ground of birth. Thus South India not only lost its noble religion of Ahiṁsā but also lost its democratic organisation of society and instead voluntarily submitted to a form of social slavery from which it has not been able to liberate itself in spite of strenuous efforts made by it in recent years. The revivalists introduced a form of social serfdom in place of the noble social democracy of the earlier days. In this connection it will not be out of place to mention that the Tamil term "Aram" which is considered to be a translation of the Sanskrit term Dharma has nothing to do with *Varṇāśrama,* which is the only meaning of the term Dharma in Hindu Dharma Śāstra

RATIONALISTIC PHILOSOPHY IN RELIGION

An impartial study of Jaina literature relating to philosophy and religion reveals the important characteristics of its rationalism. In this respect it may be said to be diametrically opposed to the Purāṇic Hinduism. Though it is opposed to Purāṇic Hinduism yet it is very closely allied to the earlier *Darśanas* such as Sāṅkhya, Yoga, Pūrva Mīmāṁsā and Vedānta. The philosophic Darśanas of early Hindu faith the systematisation of which must be placed just after the period of the Upanishads have a good deal in common with Jaina philosophy. The so-called orthodox six Darśanas agree with Jainism in one important fact that the Ultimate Reality of Cosmos was always permanently existing, uncreated and indestructible. The story of creation as is associated with Semitic relgions such as of the Jews, Muhammadans and the Christians has no place in Indian thought. Creation of the world out of nothing by the will of the creator is entirely a non-Indian concept. Even the Hindu Darśanas such as Nyāya and Vaiśeshika which speak of an Īśvara

or the Creator admit the existence of Jivas and Paramāaṇus or atoms of matter, the living and non-living elements as eternal and uncreated. Out of these existing materials Iśvara is supposed to fashion out living beings by bringing together the already existing life and matter. Sāṅkhya Darśana and Pūrva Mīmāṁsā utterly ridicule the idea of a creator and reject the creating theory wholly. Vedānta Darśana in all its forms adopts a similar attitude in rejecting the creation theory. It favours the theory of manifestation according to which the world is a result of a manifestation of an already existing reality, a process of evolution, from a reality which is parmanent, eternal and uncreated. Jainism does the same thing. It rejects creation theory in toto and it does not accept an Iśvara as a creator of the world and life. Though it agrees with the other Darśanas in this fundamental doctrine, the Purāṇic Hinduism which developed a sort of religious animosity against Jains condemned Jainism as atheistic or the Nāstikas because of its rejection of the creation theory. To an impartial student of the history of religions in India it must appear that all the Darśanas, irrespective of the difference of orthodox or Heterodox must be Nāstika Darśanas according to the criterian of the creation theory. Hence a condemnation due to religious enmity, need not be considered as of any great philosophical importance, for one knows fully well that Jainism has this as a common ground with the other Darśanas of Indian thought.

THE CONSTITUTION OF REALITY ACCORDING TO JAINA PHILOSOPHY.

Reality according to Jaina philosophy is of complex structure. It always embodies in itself various characteristics, some of which may be opposed to one another. An exact parallel to it in modern thought is the biological concept of Metabolism Modern biology traces living organism to the fundamental biological concept of metabolism which consists of two opposite processes, Anabolism and Catabolism, the process of breaking up and process of building up, held together by a synthetic process of equilibrium which wholly comes under the designation of Netabolism. In non-scientific language this may be described thus: that the living process is a

combination of alternative processes of birth and death the equilibrium between which is maintained by a life process itself. Disintegration is necessary for the release of energy for life, integration is necessary for building up latent energy, and maintenance of a suitable equilibrium between the both is absolutely necessary for continuance of life. This is taken as a symbol of reality by Jaina philosophers and has been extended to the whole realm of reality. Everywhere we have as an object which embodies in itself two opposite processes of breaking up and building up, appearance and disappearance, through an underlying persistent reality which guarantees the permanence of the world. We may find an illustration of this concept throughout the botanical and zoological kingdoms. Take the case of the life of a plant. It begins with a seed. The seed must change if it is to sprout out into a plant. If it remains permanently as a seed it will cease to germinate and die, i.e., it will cease to be a seed. Thus a seed must die and yield place to sprouting plant. Similarly the sprouting plant must shed leaves if it is to continue as a living organism till it grows into huge tree with fruits and flowers. At every stage it must lose its old self and grow into a new self thus alternating its life with birth and death, appearance and disappearance, through a continued existence. This concept of reality is variously described in modern thought as unity in multiplicity, identity in the midst of difference, permanency in midst of change. In western thought such a concept is associated with Hegel, the German philosopher, whose dialectic concept implies two opposite processes of thesis and antithesis both combined by synthesis. Thus in popular language reality may be said to be a combination of opposites.

This concept of reality which is the foundation of Jaina philosophy is technically known as Anekāntavāda, multisided reality. Jaina philosophers themselves adopting Anekāntavāda concept of reality criticise and reject all the other schools of thought as Ekāntavādins, philosophers who mainly stick to one particular aspect of reality to neglect of the other aspects. Thus the Vedāntin who speaks of an unchanging permanent reality and who dismisses all the changes as unreal is an Ekāntavādin according to Jainism. If as is claimed by

the Vedāntin, reality is an unchanging permanency there is no scope for life, no scope for Saṁsāra, no necessity for Moksha, or Mokshamārga. The whole religious framework will thus appear to be superfluous and useless, as it is based upon unreality. Change must be accepted as real, if life is to be real and if Saṁsāra is accepted to be as real. It is only then that we can appreciate the utility of religion, and religious doctrines contributing to salvation of the soul. Similarly onesided is the Buddhistic emphasis of change alone as real. According to its Kshaṇikavāda, momentariness of reality, a permanent underlying reality is denied altogether. Both the self as well as the outside world is analysed into momentary ephemeral elements coming and going in a series without implying an underlying reality of self or non-self. Hence Buddhistic philosophy is known as Anātma Vāda, a doctrine that does not recognise the existence of a permanent self or ātman. This philosophy is also condemned by the Jainas as an Ekānta Vāda of an opposite type. If the world consisted of merely ephemeral elements coming and going in a series, it cannot accommodate a religious philosophy contemplated by Buddhism. Since there is no permanent self, there is no responsible person who can be taken to be the author of his conduct. Moral conduct and its evolution would become meaningless. The person who did the act passes away and a different person comes to enjoy the fruits thereof. There is no justification why a different personality should enjoy the fruits of the Karma by another distinct personality. Ethical responsibility loses its meaning and value in this Anātmavāda. Thus the Jaina philosophy combines in its own system both the aspects and describes reality as an ever changing one with its permanent reality as foundation. The self according to Jainism is thus not only a permanent reality but a permanent reality which maintains its permanency through a continuous process of change and may for a certain other purpose emphasise changes. But a complete comprehension of reality must take into consideration both these opposing aspects. In other view it will be incomplete and partial. Hence Ekāntavāda implies a partial aspect of reality whereas Anekāntavāda implies a complete comprehension of reality in toto.

To be Continued.

Editorial Note.*

It seems that the learned writer has written this article on the authority of the Śvetāmbara Jaina canonical books only and so it narrates the Śvetāmbara view. The Digambara tradition is quite different from it; and the canonical books of the Digambaras were recorded in black and white by Yativraṣabha, Bhūtabali and Puṣpsdanta long before Devardhigaṇi Kṣmāśramaṇa, who recorded the Śvetāmbara Angas at Vallabhi in the sixth century A. C. The Digambaras differ in respect of the life stories of both the Tîrthankaras; i.e. Pārśva and Mahāvira. They say that like all other Tîrthankras Pārśva and Mahāvīra also adopted the vows of a Śramana in naked state and as ascetics they never wore clothes. Pārśva and his disciples observed the vows of conduct in the form of the Sāmāyika-cāritra; but Mahāvîra, however, propogated the rules of conduct according to the Chhedopasthāpanā-cāritra (See Mûlā-cāra 7/32). Mahāvîra was a celibate all through of his life. He was married never and had no progeny. The Digambara tradition is not akin with the Śvetāmbaras in naming a brother of Mahāvîra by name Nandivardhana and it is obscure to name any schism in the Jaina Church during the life time of Mahāvīra. According to the Digambaras, Mahāvîra's embryo was never replaced in the womb of Triśalā from that of Brāhmaṇî Devanaṇdā. It looks absurd in the face of the assertion of the "Kalpasūtra" that the Tîrthankaras are ever born in the noble families of the Kṣatriyas, that Mahāvîra was an exception to this eternal law of the Karma theory. It seems an innovation by the Śvetāmbaras in order to gain votaries from amongst the Vaiṣaṇavas, to whom the God of Progeny (Naigmeṣa) belongs originally. (J. A. III, 83—92). Likewise the life story of Mahāvîra as narrated by the Śvetāmbaras, betray the influence of the Buddhists and it seems most probable that in order to win over the Buddhist Rulers of Vallabhi and to give an ancient appearance to their canonical Books the Śvetambaras borrowed much from the Pālî Pitakas of the Buddhists[1]. Hieun Tsang, who visited India nearabout the period when Devardhigaṇi Kṣamāśramaṇa

* See Vol.IX, No. I, P. 32.

1. *Buhler*, Indian Sect of the Jainas, p. & Cambridge Hist. of India, I. pp.

recorded and arranged the Śvetambara conons, brought a similar charge against the Śvetambaras[1]. It seems the reason for the close resemblance of the life stories of Gotama Buddha and Mahāvira narrated by the Śvetāmbaras. Moreover there is a tradition among the Śvetāmbaras themselves that along with other four Tīrthankaras, Mahāvīra was also a celibate all through his life[2]. In their more ancient portion of 'Acārānga-Sūtra' where the life of Mahāvîra is narrated, there is no mention of marriage etc of Mahāvīra. If it was a fact, the Digambaras would have gladly narrated it, since it has no dogmatical influence on either side.

The Digambara tradition about the nudity of asectic Tīrthankara Pārśva is corroborated by the evidence of the Buddhist canonical books and epigraphical one as well. In whole of the Buddhist literature the Jaina ascetics (Nirgranthas) are described as naked monks[3]. These notices refer not only to the Niganṭha Samanas of the Order of Mahāvira, but indirectly they describe the pre-Mahāvira Niganṭha samanas as naked as well. For it is said in the "Mahāvagga" (I, 70, 3) :—

"At that time the Bhikkus cenferred the *upasampadā* ordination on persons that had neither alms-bowl nor robes. They went out for alms naked and (received alms) with their hands. People were annoyed, murmured and became angry, saying : Like the Tithiyas, etc." (Vinaya Texts, S. B. E., XIII, 223).

---

1. The Chinese traveller in describing his Ketas (Sinhapur) writes : "Not far from the tope was the place at which the founder of the 'white clothes' Śvetapata) sect having come to realize in thought the principles for which he had been seeking, first preached his system......... The disciples [of the founder of the white clothes sect] practise austerities persevering day and night without any realisation. The system which their founder preached......*was largely taken from the doctrines of the Buddhist canon......*"

— *Watters*, 'Yuan Chwang', Vol. I, pp. 251—252.

2. It is clearly stated in the "Āvaśyaka—Niryukti" of the Śvetambaras that Mahāvīra adopted the vows of a Śramaṇa without undergoing the ceremonies of marriage and coronation during his life. (नय इत्थि अभिसेआ कुमारवासंमि पव्वइया)

3. Kane Presentation volume (Poona), pp. 228—229.

These *Titthiyas* were, no doubt, the non-Buddhistic monks, belonging to older orders than those of Mahāvira and Buddha[1] and the description of them as given above, coincides exactly with that of Digambar Jaina monks. Hence Rev. Dr. Stevenson is right in assuming the use of the term 'Titthiya' in the sense of the Jainas[2]. Thus it goes to prove that the monks of the Order of Pārśva lived naked. Likewise the images of Pārśva found at Mathurā bearing inscriptions of the Śvetāmbara lineage of pontiffs, are naked[3],

As to the four vows of Pārśva, it cannot be said that they are referred to by the Buddhists. We find the following statement in their "Sāmaññaphala Sutta" *put forth* from the mouth of Lord Mahāvīra himself :—

"A Niganṭha, O king, is restrained with a fourfold self-restraint. He lives restrained as regards all water; restrained as regards all evil; all evil has he washed away; and he lives suffused with the sense of evil held at bay. Such is the fourfold restraint."

There are not mentioned four vows of Lord Pārva in it, as alleged by the Śvetāmbaras. This passage refers to the *saman*-hood (asceticship) as preached by Lord Mahāvīra[4] and T. W. Rhys-Davids is justified to remark that four vows of Pārśva are not referred to in it[5].

K. P. Jain.

---

1. *Law*, Historical Gleanings, pp. 11—12.

2. Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society, January 1855, IV. 401.

3. *Smith*, Jaina stupa & other Antiquities of Mathura, p. 24 ft.

4. Studi E. Materiali Di Storia Delle Religions, III, 7—10.

5. "Prof. Jacobi (JS., II, XXIII) Thinks the 'Four Restraints', are intended to represent the four vows kept by the followers of Pārśva. But this surely cannot be so, for these vows were quite different."

—T. W. Rhys Davids (Dialogues of Buddha) (S. B. B. Tr.)

The Genealogy of Maṇḍana, the Jaina Prime Minister of Hoshang Ghori of Malwa - Between A. D. 1405 and 1432.

By

P. K. Gode, M. A

Curator,

B. O. R. Institute, Poona 4

In a paper contributed by me to the "Dr. A. B. Dhruva Commemoration Volume" on "*Maṇḍana, the Prime Minister of Malwa and his Works*" I have assigned this Jaina author to the period. A. D., 1400 to 1432 on the following grounds :—

(1) Mss. of Maṇḍana's works श्रृङ्गारमण्डन and काव्यमण्डन are dated *Saṁvat 1504 = A. D. 1448.*[1]

(2) अलमसाहि or आलमसाहि the patron of Maṇḍana has been identified by me with अलपखान or Hoshang Ghori, who ruled Malwa between A. D. 1405 and 1432 or so.

Since the above paper was sent for publication I have discovered the following chronological evidence in support of my chronology for Maṇḍana and his works .—

(1) Prof. H. D. Velankar in his जिनरत्नकोश or *Catalogus Catalogorum of Jaina Mss* that is now being published by the B. O. R. Institute, Poona, makes the following entry about an author धनदराज :—

"शतकत्रय (नीति, वैराग्य and शृंगार) by धनदराज संघपति, son of देहड— Chani. 69; PAPR. 18 (19); PAZB. 1 (28; 29—MS dated *Saṁvat 1504*); 23 (8—MS dated *Saṁvat 1504*)."

It is evident from the above entry that MSS of the शतकत्रय of this author धनदराज were copied in *Saṁvat 1504* (= A. D. 1448) the very

---

1. Vide मण्डनग्रन्थसंग्रह (काव्य-मण्डन-शृङ्गारमण्डनौ) ed. by Prabhudāsa and Vīra-Candra, Patan, 1919 (हेमचन्द्राचार्यग्रन्थावली No. 17)

year in which the MSS of Maṇḍana's शृङ्गारमण्डन and काव्यमण्डन were copied. Let us now see if धनद्राज has any connection with मण्डन the Prime Minister of Almsāhi of Malwa.

I have already pointed out in my paper on Maṇḍana that his father बाहड was a संघपति connected with the खरतरान्वय and that he himself was a संघपति like his father and a devout follower of Jain religion as he calls himself "श्रीमद्धन्यजिनेन्द्रनिर्भररतेः ··· कवेः". Maṇḍana further gives us the following information about his family :—

(1) झंझण was his grand-father.

(2) झंझण had six sons :—

(i) चाहड, (ii) बाहड, (iii) देहड, (iv) पद्म, (v) पाहुराज and (vi) कोल्हाभद्र (?)

(3) बाहड in the above list was Maṇḍana's father. Unfortunately Maṇḍana does not record the names of his cousins, the sons of चाहड, बाहड, देहड etc. This deficiency has, however, been partially made up by the entry regarding the शतकत्रय of धनद्राज, son of देहड. I am inclined to identify देहड the father of संघपति धनद्राज with Maṇḍana's uncle देहड. The title संघपति appears to have been held by many members of the family as मण्डन calls himself संघपति. He also calls his father संघेश्वर (or संघपति). धनद्राज was also a संघपति and MSS of his शतकत्रय were copied at मण्डपदुर्ग in A. D. 1448, the very year in which the MSS of Maṇḍana's works were copied.

धनद्राज composed his शतकत्रय at Maṇḍapadurga or Maṇḍu fort in *Saṁvat 1490 = A. D. 1434.* This date confirms my chronology for Maṇḍana viz. A. D. 1405 to 1432, a period during which his patron Hoshang Ghori ruled Malwa. Both these cousins मण्डन and धनद्राज were men of literary taste and ability and if one of them composed a work in A. D. 1434 the chronology of the other cousin's works may be safely assigned to the period, A. D. 1405—1432, as determined by me already on the strength of probable evidence which now gets confirmed by the date of धनद्राज viz. A. D. 1434.

---

1. Ed. in Kāvyamālā, 13 (N. S. Press, Bombay). Vide p. 318 of *Classical Sans. Literature* by Krishnamachariar, 1937—"Dhanadarāja, son of Dehala, wrote three Śatakas like Bhartṛhari in 1434 A. D."

The genealogy of Maṇḍana's family may now be reconstructed as follows :—
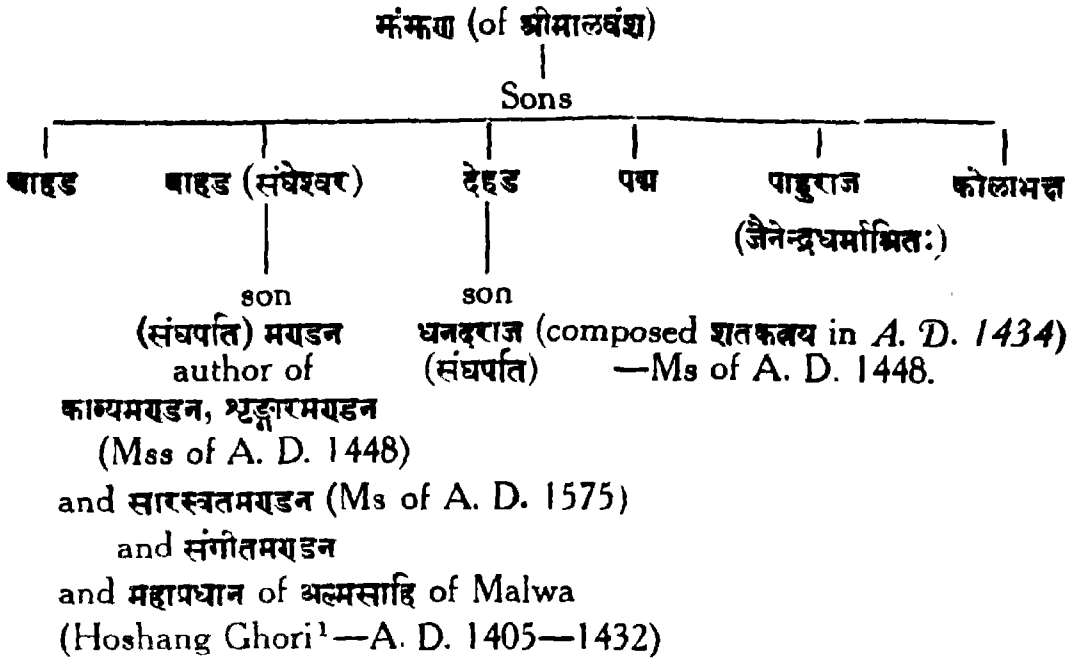
In the following stanzas we find Maṇḍana recording his ministership with अलमसाहि, his Jaina faith, his श्रीमालवंश, and his father's name :—

MSS of सारस्वतमण्डन (B. O. R. Institute, Poona) *No. 675 of 1891—95* fol. 17 a and *No. 13 of 1877—78*, folio 17—

"सविग्रहाणामुभये स्वराणामिति प्रकृत्या सहसाहसानां ।
श्रीमण्डनः सूभविदल्मसाहिमहाप्रधानो व्यदधात्सुसंधीन् ॥
सद्यःसांद्रजिनेंद्रसुंदरपदद्वंद्वप्रसादोद्भव—
द्भूयोभीष्टमर्थसार्थकजनुः श्रीमालमालामणिः ।
सोयं सोनगिरान्वयः खरतरः श्रीबाहडास्यात्मजः
श्रीसारस्वतमंडनं रचयति क्ष्मामंडनं मंडनः ॥"

Udayarāja[2], a court-poet of Mahamūda Begḍā, Sultan of Gujarat composed a poem in praise of his patron called the राजविनोद. In this

1. Cf. *Ain-i-Akbari* (Tr. by Jarrett Vol. II, 1891).
p. 218—"*Alp Khān*, son of Dilāwar Khān was elected to the succession under the tile of *Hoshang*············Sultan Muzaffer of Gujarat marched against him."

2. Vide pp. 101—115 of *Journal of the Bombay University*, Vol. IX, Part 2, Sept., 1940. (My paper en the *Rājavinoda* of Udayarāja).

poem he refers to the confinement and release of अल्पखान[1] (= अल्म-साहि patron of मण्डन) or Hoshang Ghori of Malwa as follows :—

"मुमोच बंदीकृतमल्पखानमनल्पवीर्यं बलवत्तरोयः ।
वंशास्ततो मालवराजबंदिमोक्षं यशाख्यं विरुदं वहन्ति ॥"

This confinement and release was carried out by Muzaffer, Sultan of Gujarat (A D. 1392-1410) sometime about A. D. 1409. The poem राजविनोद was composed between A. D 1458 and 1469 and consequently the use of the name अल्मसाहि for Hoshang Ghori is earlier than the use of the name अल्पखान recorded by Udayarāja.

The students of the history of Malwa should investigate and determine the exact period of Maṇḍana's Prime-ministership and the influence exercised by this Jaina Prime-minister on the policy of Hoshang Ghori This association of a Jaina संघपति with a muslim ruler of Malwa in the first half of the 15th century is as interesting as it is instructive. Maṇḍana refers to his Muslim patron in glowing terms in his काव्यमण्डन and शृंगारमण्डन, as also in his सारस्वतमंडन. The MS of Maṇḍana's संगीतमंडन is not available to me and hence I am unable to say what information it contains about its author and his Muslim patron.

---

1. Ibid, p. 105, foot-note 1.

Review.

PROGRESS OF INDIC STUDIES 1917—1942.

Ed. by R. N. Dandekar, M. A., Ph. D.

The Bhandarkar Oriental Institute is to be congratulated upon bringing out such a valuable reference book. The immense progress made in almost all the branches of Indic studies during the last quarter of the century has been recorded with commendable exactness. As the late Dr. Har Dutt Sharma points out the disturbed international situation has certainly proved a handicap to the learned contributors. If the bibliographies compiled by them are not up-to-date as far as foreign scholars and Journals are concerned it is through no fault of theirs.

It was high time that we paused to have a retrospective view of the panoramic efforts made by a generation of scholars to unravel successfully the tangled skein of Vedic, Puranic, classical, Prākritic, Linguistic, sociological and Philosophical problems and kindred matters. The Editors could not include a paper on Islamic studies inspite of their best efforts but they have published a valuable article on the progress of Iranian studies.

It is specially noteworthy that the 'fugitive literature' of the different journals has been collected together so diligently by the learned contributors. The collection, therefore, is a veritable encyclopaedia of Oriental studies making easily available to scholars useful material for which they have to hunt in libraries.

Its utility would have been increased if an Index would have been appended. One would have expected separate papers on Pali, Buddhism and Jainism in such a collection which aims to be comprehensive and undeniably is to a considerable extent.

N. V. Sarma.

PRAŚASTI SAMGRAHA.

The Mss. described in this Vol. are about 54 in all and give a valuable indication of the range of intellectual culture of the Jains. The Mss. are valuable from many other points of view also which a specialist can appreciate·

The study and description uf Mss. form one of the fundamentals of research, which require not only learning but also patience and patient iabour. Bhujabali Shastri shows himself in an admirable form in the present work. He has given a brief description of each Ms. in the usual style, giving Subject No., General No., name of the work, author's name, indication oi pages, condition of the Mss., date of writing if available, languages, script and remarks if any are required on the special features of the Mss. or the work and its authors. The editor has considerably enhanced the usefulness of the work by including in it an index comprising subject, author and general.

The Jaina Siddhanta Bhavan and Pt. K. Bhujabali Shastri deserve to be complimented for turning out the above work· The printing and general get up are quite good.

—Journal of Sri Venkatesvara Oriental
Institute, Tirupati.

THE JAINA ANTIQUARY

VOL. IX. 1943

Edited by

Prof. Hiralal Jain, M. A., LL.B.
Prof. A. N. Upadhye, M. A., D. Litt
Babu Kamata Prasad Jain, M. R. A. S.
Pt. K. Bhujabali Shastri, Vidyabhushana.

Published at

THE CENTRAL JAINA ORIENTAL LIBRARY,
[JAINA SIDDHANTA BHAVANA]
ARRAH, BIHAR, INDIA.

Annual Subscription

Inland Rs. 3. Foreign 4s. 8d. **Single Copy** Rs. 1-8

CONTENTS.

प्रशस्ति-संग्रह

"प्रशस्ति-संग्रह आद्योपान्त पढ़ा। इसमें ५४ शास्त्रों की प्रशस्तियां हैं। ग्रन्थ-प्रशस्तियां इतिहास-निर्माण के बहुमूल्य साधन हैं। इतिहास अन्वेषकों के लिये प्रशस्ति-संग्रह की अत्यावश्यकता है। आपने बड़ी खोज और श्रम के साथ जो प्रशस्ति-संग्रह जनता के सामने रक्खा है, वह आप का अपूर्व कार्य है। उक्त संग्रह में करीब ४० ग्रन्थकर्त्ताओं का परिचय है। आप की इस खोज और विद्वत्ता से मैं ही नहीं बल्कि सारी जैन समाज आभारी रहेगी।"

—नन्हेंलाल शास्त्री, कुचामन

"प्रशस्ति-संग्रह लिखकर आपने जैनसाहित्य के महत्त्व-पूर्ण ग्रन्थों के समय निरूपण का बड़ा ही श्लाघनीय प्रयत्न किया है। इस ग्रन्थ को देखकर कोई भी व्यक्ति आप की विस्तृत ऐतिहासिक गवेषणा तथा अनुशीलन की प्रशंसा किये विना नहीं रह सकता।"

—प्रो० बलदेव उपाध्याय एम० ए०, बनारस

THE PRAŚASTI SAMGRAHA

Edited by

Pt. K. Bhujabali Śāstri, Vidyābhūsan.

With an introduction by—Mahamahopādhyaya Dr R. Shamshastri. pp 5+200+25 = 230 Price Rs. 1-8-0

'It is indeed a very valuable reference book, full of information and presented in a neat form.'

Dr. A. N. Upadhye, Kolhapur.

'It is a very useful compilation. Very carefully prepared.'

Prof. D. L Narasimhachar, Mysore.

'You are doing real service to culture by publishing notes on literary works on Jainism and other works also hitherto unpublished.'

Dr S. Sheshgiri Rao, Vizianagaram

'The descriptive catalogue of Sanskrit Mss. will be highly useful publication when completed '

Prof. Chintaharan Chakravarti Calcutta.

'Thank you very much for the Copy of the Prasasti Samgraha which will be of great use for my Catalogue work.'

Dr. Raghavan

University of Madras.

'Pras'astisamgraha, by Pt K Bhujabali Shastri. This is a good descriptive Catalogue of Sanskrit & Prakrit Mss.'

—The Poona Orientalist

PRINTED BY D. K. JAIN, SHREE SARASWATI PRINTING WORKS, LTD.

ARRAH.